हत्थ पायं च कायं च पणिहाय जिइंदिए।
अल्लीण गुत्तो निसिए सगासे गुरुणो मुणी।

गुरु जनों के समीप बैठने वालों को किस तरह से रहना चाहिए ? इसका स्पष्ट वर्णन करते हुए कहा है—हाथ को, पैर को, शरीर को (मुख आंख आदि को) सभी इन्द्रियों को गुप्त रखकर अर्थात् उन्हें ठीक ढंग से रखकर गुरुजनों के समीप बैठना चाहिए। इस प्रकार से अपनी शिष्टता भी प्रदर्शित होती है, गुरु जनों का विनय भी होता है और संयम की साधना भी हो जाती है।

यह पूजा भी है

शरीर अवयवों का संकोच करने वाला प्रसंगानुसार चार बातों में निपुण हो सकता है।

१ सभा आदि में शिष्टता सभ्यता के रूप में

२ गुरुजनों के समक्ष विनय-भक्ति के रूप में

३ प्रभु के समक्ष पूजा के रूप में

४ अपने आप के समक्ष संयम साधना के रूप मे

सभ्यता का प्रसंग ऊपर बताया जा चुका है। विनय के सम्बन्ध में आगमों में स्थान-स्थान पर बताया गया है—गुरुजनों के सामने पैर फैलाना, हाथ फैलाना, बार-बार उठना-बैठना, आंखें मटकाना, बीच में बोलना, यह सब अविनीत शिष्य के लक्षण हैं। विनीत शिष्य शरीर की इन चंचल वृत्तियों को त्याग कर, गम्भीरता के साथ—पसायपेही—गुरुजनों की प्रसन्नता का ध्यान रखता है।[1]

शरीर आदि का संकोच करने से ही प्रभु पूजा या प्रभु भक्ति रूप उपासना की जा सकती है। हाथ, पैर, सिर आदि का संकोच करके उन्हें विधिपूर्वक प्रभुचरणों में झुकाना—यह वन्दना की विधि है, इसे भक्ति एवं पूजा कहा गया है। आवश्यक सूत्र के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य नमि ने कहा है—**कर-शिरः पादादि सन्यासो द्रव्य संकोचः (द्रव्यपूजा) भाव संकोचस्तु विशुद्ध मनसो नियोग.।**"—हाथ पैर सिर आदि को स्थिर करना द्रव्य संकोच अर्थात् द्रव्य पूजा है और मन को विशुद्ध कर प्रभु भक्ति में लीन करना-भाव संकोच-अर्थात् भाव पूजा है यही बात आचार्य अमितगति ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ श्रावकाचार में कही है—

> **वचोविग्रह-संकोचो द्रव्य पूजा निगद्यते !**
> **तत्र मानस संकोचो भावपूजा पुरातनैः !**[2]

---

१ उत्तराध्ययन १।१८-१९-२०,

२ श्रावकाचार

जैन धर्म में तप

स्वरूप
और
विश्लेषण

श्री मरुधर केसरी प्रवचन माला : पुष्प

जैन धर्म में तप

स्वरूप और विश्लेषण

मरुधर केसरी, प्रवर्तक, आशुकविरत्न

मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज

संपादक

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशक

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति

जोधपुर—व्यावर

भगवान महावीर के पच्चीस सौवें निर्वाण महोत्सव समारोह
के उपलक्ष में

प्रकाशक :	संप्रेरक :
मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति	तपस्वी श्री रजत मुनि
जोधपुर-ब्यावर	विद्याप्रेमी श्री सुकन मुनि

प्रथम प्रकाशन	मुद्रणव्यवस्था :
दीपावली वि० सं० २०२६	संजय साहित्य संगम के लिए—
नवम्बर १९७२	रामनारायन मेड़तवाल
	श्रीविष्णु प्रिंटिंग प्रेस,
	राजा की मंडी, आगरा-२

मूल्य : दस रुपये मात्र

और सत्साहित्य के निर्माण में एवं प्रसार के लिए उनके हृदय में अपूर्व उत्साह है, अद्‌भुत प्रेरणा है—और इस दिशा में राजस्थान के अंचलों में जो कुछ उन्होंने किया है वह एक बहुत बड़ा कार्य है।

श्री मरुधर केसरी जी म. की वाणी में ओज है, प्रेरणा है, और मानव मात्र के कल्याण की गूंज है। उनकी लेखनी भी इस दिशा में पीछे नहीं है। कहा जा सकता है, वे वाणी एवं लेखिनी के धनी है। राजस्थानी भाषा के साहित्य में उनकी कविता एवं काव्य अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। धार्मिकता के साथ-साथ नैतिकता एवं राष्ट्रीय भावना उनके साहित्य का मूलतत्व है!

कुछ वर्षों से समिति ने श्री मरुधरकेसरी जी म. के पद्य एवं गद्य साहित्य का प्रकाशन प्रारंभ किया है। प्रवचन साहित्य की भी चार पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। जनता में उनका आदर हुआ है, पाठकों ने हृदय से अपनाया है।

प्रस्तुत पुस्तक 'जैनधर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण' इसी प्रवचन माला का पांचवां पुष्प है। यद्यपि यह पुस्तक अब तक के प्रकाशनों में शैली एवं विषय वस्तु की दृष्टि से अपना विशिष्ट स्थान रखती है। यह पुस्तक श्री मरुधर केसरी जी म. के प्रकाशित एवं अप्रकाशित प्रवचन साहित्य का दोहन है, मंथन है। तप के सम्बन्ध में उन्होंने आज तक जो कुछ प्रवचन किये हैं, जो कि लिपिबद्ध हैं, तथा जो काव्य-कविताएं आदि लिखी है उन सब के भावों को, सामग्री को बटोर कर—उसका वर्गीकरण किया गया है, उसके मूल प्रामाणिक स्थलों का अनुसंधान किया गया है—और उसे आधुनिक-भाव-भाषा के परिवेश में उपस्थित किया गया है। इस दृष्टि से यह पुस्तक महाराज श्री के सीधे प्रवचन नहीं, किंतु उनके प्रवचन साहित्य का दोहन कहा जा सकता है। पाठकों को इसमें बहुत ही उपयोगी व साधना प्रधान सामग्री मिलेगी।

प्रस्तुत प्रस्तक का संपादन श्रीचंद जी सुराना 'सरस' ने किया है। श्री सुराना जी एक विद्वान् है, लेखनी के धनी है, जैन आगमों के अभ्यासी

है, और साथ ही सरलहृदय एवं सरस प्रकृति के सज्जन हैं। गुरुदेव श्री के प्रति उनकी अनन्यभक्ति है। यही कारण है कि उन्होंने बड़ी निष्ठा और लगन के साथ प्रस्तुत पुस्तक का संपादन कर जैनधर्म के तप सम्बन्धी चितन प्रवाह को बड़ी स्पष्टता व सरलता के साथ मूर्त रूप दिया है।

गुरुदेवश्री का स्वास्थ्य इधर में कुछ अस्वस्थ सा रहा और फिर अनेक प्रवृत्तियों में अत्यंत व्यस्त भी रहे। इसी कारण संपादित सामग्री को पूरी गहराई के साथ नहीं देख पाये। उन्हें विश्वास है कि संपादक बंधु जैनधर्म के मर्मज्ञ हैं, अतः कोई विचार व तथ्य उसके प्रतिकूल होने का प्रश्न ही नहीं। फिर भी यदि प्रमादवश सैद्धान्तिक दृष्टि से, अथवा प्रस्तुत करने की शैली व भाषा की दृष्टि से कोई विचार त्रुटि पूर्ण रह गया हो, तो वह संपादक की भूल मानकर सहृदयता पूर्वक सूचित करने का कष्ट करें।

हमारी प्रार्थना को मान देकर इस पुस्तक की महत्वपूर्ण भूमिका श्रद्धास्पद कवि श्री अमरचंद जी महाराज ने लिखने की कृपा की है। स्वयं अस्वस्थ व व्यस्त होते हुए भी उन्होंने हम पर जो अनुग्रह किया है, उसके लिए हम हृदय से आभारी हैं।

इस प्रकाशन को जनता के हाथों में पहुंचाने के लिए जिन उदार सज्जनों ने हमें आर्थिक सहयोग प्रदान किया, समिति की ओर से मैं उन सबका हार्दिक आभार मानता हूं और विश्वास करता हूं कि भविष्य में भी इसी प्रकार सहयोग का हाथ बढ़ाते रहेंगे। पाठकों को यह पुस्तक अधिक से अधिक उपयोगी व प्रेरणादायी सिद्ध हो इसी शुभ आशा के साथ...

पुखराज शिशोदिया
अध्यक्ष
श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन, समिति
जोधपुर-ब्यावर

प्रकाशकीय

'तप' सिर्फ हमारी अध्यात्म साधना का ही नहीं, किंतु संपूर्ण जीव-जगत् का प्राण तत्व है। 'तप' के बिना मनुष्य जीवन जीने के योग्य भी नहीं बन सकता। तप जीवन की ऊर्जा है, सृष्टि का मूल चक्र है। सेवा, सहयोग, तितिक्षा, स्वाध्याय, आदान-प्रदान, भोजन-विवेक ये जो तप के अंग हैं क्या वे ही जीवन के अंग नहीं हैं ? उनके बिना जीवन का अस्तित्व ही क्या है ? इसलिए मैं मानता हूं—तप ही जीवन है। तप से ही मनुष्य, जीवन जीने की क्षमता प्राप्त कर सकता है—यह मेरी तप सम्बन्धी निष्ठा है।

तप की महिमा, भारतीय धर्मों में ही नहीं, किंतु विश्व के प्रत्येक धर्म में, यहां तक कि धर्म को नहीं मानने वाले विद्वानों व विचारकों के शब्दों में, भावनाओं में भी गूंजती रही है। किंतु अधिकांश धर्मप्रवक्ताओं एवं विचारकों ने तप के सम्बन्ध में कोई व्यवस्थित चिन्तन एवं उसकी साधना विधि का वैज्ञानिक निरूपण करने का कष्ट नहीं किया।

जैन धर्म, चूंकि एक वैज्ञानिक धर्म है, एक व्यवस्थित साधनामार्ग है, और चिन्तन-मनन का पक्षपाती है, इसलिए धर्म के प्राण तत्व 'तप' के सम्बन्ध में वह मौन रहे, या अव्यवस्थित रहे—यह कैसे संभव था ! यही कारण है कि 'तप' को एक जीवनव्यापी, सर्व-ग्राही रूप देकर जैन धर्म ने तप के विषय

में चिंतन किया है, धारणाएं स्थिर की हैं, मर्यादाएं बनाइ हैं, साधना का मार्ग निश्चित किया है।

जैन आगमों में, टीका, भाष्य आदि ग्रंथों में, संतों के प्रवचन आदि साहित्य में तप के सम्बन्ध में हजारों विचार बिखरे पड़े हैं। इस विषय की सामग्री इतनी विशाल है कि यदि संपूर्ण रूप से संकलित करने का निश्चय किया जाय तो सिर्फ संकलन में ही कई वर्ष लग सकते हैं, और शायद कई हजार पृष्ठों में भी वह पूरी नहीं हो पायेगी !

प्रस्तुत पुस्तक में मैंने उस सामग्री को मात्र एक संक्षिप्त रूपरेखा की तरह प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इसकी प्रेरणा जगी श्रद्धेय श्री मरुधर केसरीजी म० के साहित्य का संपादन-प्रकाशन करते समय। उनके प्रवचनों में तप के सम्बन्ध में कई महत्वपूर्ण प्रवचन थे, जिन्हें देखकर मेरे मन में कल्पना जगी, "तप सम्बन्धी प्रवचनों का एक स्वतंत्र संकलन ही कर लिया जाय तो सामग्री काफी उपयोगी व संकलन की दृष्टि से कुछ नवीनता लिए होगी।" बस, उसी भावना ने इस ओर उन्मुख किया। उनके प्रवचन साहित्य को टटोला, अलग-अलग खण्डों में बांटा, और उस वर्णन के मूल उद्गम स्थलों का अनुसंधान किया—इस प्रकार यह पुस्तक "जैनधर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण" अपने रूप में प्रकट हो गई। इस संपादन में लगभग एक वर्ष से कुछ अधिक ही समय लगा। इस बीच मैं श्रद्धेय मरुधरकेसरीजी म० सा० से अनेक बार मार्गदर्शन भी लेता रहा। साथ ही श्रद्धास्पद उपाध्याय श्री अमरमुनि जी, एवं सिद्धहस्त लेखक श्री विजयमुनि जी म० का मार्ग दर्शन भी मिला। अनेक प्रश्नों के, जिज्ञासाओं के समाधान के लिए समय-समय पर उन्हें कष्ट भी देता रहा। उन्हीं के अनुग्रह से सन्मति पुस्तकालय के दुर्लभ ग्रंथ भी देखने को मिले। इन सब श्रद्धास्पद गुरुजनों का आत्मीय स्नेह एवं मार्गदर्शन न मिलता तो शायद यह संपादन इस रूप में प्रस्तुत नहीं कर पाता; मैं उनकी कृपा एवं सौजन्य का आभारी हूं।

तपस्वी श्री रजत मुनि जी एवं विद्या विनोदी श्री सुकन मुनि जी भी इस कार्य के लिए बराबर प्रेरणा देते रहे, बढ़ाते रहे—वास्तव में यह उन्हीं की

प्रस्तावनीय

'तप' सिर्फ हमारी अध्यात्म साधना का ही नहीं, किंतु संपूर्ण जीव-जगत् का प्राण तत्व है। 'तप' के बिना मनुष्य जीवन जीने के योग्य भी नहीं बन सकता। तप जीवन की ऊर्जा है, सृष्टि का मूल चक्र है। सेवा, सहयोग, तितिक्षा, स्वाध्याय, आदान-प्रदान, भोजन-विवेक ये जो तप के अंग हैं क्या वे ही जीवन के अंग नहीं हैं? उनके बिना जीवन का अस्तित्व ही क्या है? इसलिए मैं मानता हूं—तप ही जीवन है। तप से ही मनुष्य, जीवन जीने की क्षमता प्राप्त कर सकता है—यह मेरी तप सम्बन्धी निष्ठा है।

तप की महिमा, भारतीय धर्मों में ही नहीं, किंतु विश्व के प्रत्येक धर्म में, यहां तक कि धर्म को नहीं मानने वाले विद्वानों व विचारकों के शब्दों में, भावनाओं में भी गूंजती रही है। किंतु अधिकांश धर्मप्रवक्ताओं एवं विचारकों ने तप के सम्बन्ध में कोई व्यवस्थित चिन्तन एवं उसकी साधना विधि का वैज्ञानिक निरूपण करने का कष्ट नहीं किया।

जैन धर्म, चूंकि एक वैज्ञानिक धर्म है, एक व्यवस्थित साधनामार्ग है, और चिन्तन-मनन का पक्षपाती है, इसलिए धर्म के प्राण तत्व 'तप' के सम्बन्ध में वह मौन रहे, या अव्यवस्थित रहे—यह कैसे संभव था! यही कारण है कि 'तप' को एक जीवनव्यापी, सर्व-ग्राही रूप देकर जैन धर्म ने तप के विषय

में चिंतन किया है, धारणाएं स्थिर की हैं, मर्यादाएं बनाई हैं, साधना का मार्ग निश्चित किया है।

जैन आगमों में, टीका, भाष्य आदि ग्रंथों में, संतों के प्रवचन आदि साहित्य में तप के सम्बन्ध में हजारों विचार बिखरे पड़े हैं। इस विषय की सामग्री इतनी विशाल है कि यदि संपूर्ण रूप से संकलित करने का निश्चय किया जाय तो सिर्फ संकलन में ही कई वर्ष लग सकते हैं, और शायद कई हजार पृष्ठों में भी वह पूरी नहीं हो पायेगी!

प्रस्तुत पुस्तक में मैंने उस सामग्री को मात्र एक संक्षिप्त रूपरेखा की तरह प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इसकी प्रेरणा जगी श्रद्धेय श्री मरुधर केसरीजी म० के साहित्य का संपादन-प्रकाशन करते समय। उनके प्रवचनों में तप के सम्बन्ध में कई महत्वपूर्ण प्रवचन थे, जिन्हें देखकर मेरे मन में कल्पना जगी, "तप सम्बन्धी प्रवचनों का एक स्वतंत्र संकलन ही कर लिया जाय तो सामग्री काफी उपयोगी व संकलन की दृष्टि से कुछ नवीनता लिए होगी।" बस, उसी भावना ने इस ओर उन्मुख किया। उनके प्रवचन साहित्य को टटोला, अलग-अलग खण्डों में बांटा, और उस वर्णन के मूल उद्गम स्थलों का अनुसंधान किया—इस प्रकार यह पुस्तक "जैनधर्म में तप: स्वरूप और विश्लेषण" अपने रूप में प्रकट हो गई। इस संपादन में लगभग एक वर्ष से कुछ अधिक ही समय लगा। इस बीच में श्रद्धेय मरुधरकेसरीजी म० सा० से अनेक बार मार्गदर्शन भी लेता रहा। साथ ही श्रद्धास्पद उपाध्याय श्री अमरमुनि जी, एवं सिद्धहस्त लेखक श्री विजयमुनि जी म० का मार्ग दर्शन भी मिला। अनेक प्रश्नों के, जिज्ञासाओं के समाधान के लिए समय-समय पर उन्हें कष्ट भी देता रहा। उन्हीं के अनुग्रह से सन्मति पुस्तकालय के दुर्लभ ग्रंथ भी देखने को मिले। इन सब श्रद्धास्पद गुरुजनों का आत्मीय स्नेह एवं मार्गदर्शन न मिलता तो शायद यह संपादन इस रूप में प्रस्तुत नहीं कर पाता; मैं उनकी कृपा एवं सौजन्य का आभारी हूं।

तपस्वी श्री रजत मुनि जी एवं विद्या विनोदी श्री सुकन मुनि जी भी इस कार्य के लिए बराबर प्रेरणा देते रहे, बढ़ाते रहे—वास्तव में यह उन्हीं की

प्राक्कथन

भारतीय साधना, सहस्रधारा तीर्थ है। साधना का जो विराट् एवं व्यापक रूप यहां मिलता है, वैसा अन्यत्र कहां मिलेगा ? भारतीय जीवन का हर सांस, साधना का सांस होता है, हर चरण, साधना का चरण होता है, हर रूप, साधना का रूप होता है, यही कारण है कि भारत का, चाहे व्यक्तिगत जीवन हो या पारिवारिक जीवन, सामाजिक जीवन हो, या धार्मिक जीवन, सर्वत्र जीवनधारा में साधना की उर्मियां लहराती हैं, साधना का स्वर मुखरित होता रहता है, लगता है भारतीय जीवन साधना के लिए ही अस्तित्व में है।

तप, भारतीय साधना का प्राण है। जिस प्रकार शरीर में उष्मा जीवन के अस्तित्व का द्योतक है, उसी प्रकार साधना में तप भी उसके दिव्य अस्तित्व का बोध कराता है। वह आध्यात्मिक उष्मा है। तप के बिना धर्म का, अहिंसा का, सत्य का कोई अस्तित्व नहीं है। तप रहित अहिंसा, अहिंसा नहीं है, तप रहित सत्य, सत्य नहीं है। इसीलिए धर्म की व्याख्या करते हुए भगवान् महावीर ने कहा है—

'अहिंसा संजमो तवो'

अहिंसा, संयम और तप—यह धर्म की त्रिवेणी है, त्रिपथगा है। धर्म की इस त्रिपथगा में तप अन्त में है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह तृतीय श्रेणी का धर्म है, किन्तु इससे यही सिद्ध होता है कि तप सर्वोपरि है और

वह अहिंसा एवं संयम की साधना के लिए भी अपेक्षित है। विना तप के अहिंसा व सत्य में गरिमा नहीं आती। इसीलिए मैंने एक जगह लिखा है—

—"तप ज्वाला भी है, ज्योति भी। ज्वाला इस अर्थ में कि मन के चिर संचित विकारों को तप जलाकर भस्म कर डालता है और ज्योति इस अर्थ में कि तप अन्तर्मन के सघन अन्धकार को नष्ट कर एक दिव्य प्रकाश जगमगा देता है।

तप निग्रह नहीं, अभिग्रह है। तप दमन नहीं, शमन है। तप भोजन निरोध ही नहीं, वासना निरोध भी है। तप विना जल का अन्तरंग स्नान है, जो जीवन पर से विकारों के मल का कण-कण धोकर साफ कर देता है।

तप जीवन को सौम्य, स्वच्छ, सात्विक एवं सर्वांगपूर्ण वनाने की दिव्य साधना है। यह एक ऐसी अद्भुत साधना है, जिस पर से आध्यात्मिक परिपूर्णता की सिद्धि मिलती है, और अन्त में साधक जन्म-जरा-मरण के चक्र से विमुक्त होकर परमात्म पद की प्राप्ति करता है।"

जैन धर्म, तप के वीज में से ही अंकुरित होने वाला कल्पवृक्ष है। तप के सम्वन्ध में जितना व्यापक, तलस्पर्शी तथा सर्वग्राही चिन्तन जैन परम्परा में हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। अन्य परम्पराओं में प्रायः वाह्य (शरीराश्रित) अनशन आदि तपों का ही उल्लेख मिलता है। और वह एक देहदण्ड की स्थिति में ही अटक कर रह जाता है। देह दण्ड—देह उत्पीड़न कभी भी साधना का अंग नहीं बन पाता। अस्तु।

जैन धर्म ही वह धर्म है, जिसने वाहर में अनर्गल फैलते और देहोत्पीड़न का रूप लेते वाह्य तप को अन्तर्मुख धारा में वदला है, आध्यात्मिकता के अमृत स्रोत की ओर मोड़ा है। उसने आन्तरिक समत्व पर वल दिया है कि— उत्पीड़न यदि अनुभूति में रहता है तो चेतना दुःखाक्रांत रहती है और उस स्थिति में अन्तरवृत्तियों में व्याकुलता छायी रहती है। ऐसी स्थिति में समत्व कैसे रह सकता है, यदि उसे अन्तर चेतना में समाहित न किया जाय! इसी दृष्टि से जैन धर्म ने तप के दो भेद किये हैं—वाह्य तप और अन्तरंग

तप ! और कहा है कि बाह्य तप अन्तरंग तप के परिबृंहण के लिए ही है, आचार्य समन्तभद्र के शब्दों में—

अध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्

यदि तप केवल बाहर में ही रहता है और उसका केन्द्र केवल उत्पीड़न तक ही सीमित रहता है तो वह जैन दर्शन की भाषा में—'**तनुविशोषण मेव न चाऽपरम्**—शरीर शोषण से अधिक कुछ नहीं हैं। उससे अन्तरंग जीवन की विशुद्धि—कर्म निर्जरा तो क्या, पुण्य भी नहीं हो पाता है। और कभी कभी तो वह पाप बंध का भी हेतु हो जाता है। अन्तरंग समत्व की चेतना जागृत हुए बिना जो तप किया जाता है, वह बाल तप है, अर्थात् अज्ञान कष्ट है—जिसकी जैन परम्परा ने भर्त्सना की है।

तप का मूल भाव, देह में रहते हुए भी देह बुद्धि का विसर्जन है। साधक देह में रहता है, यह कोई पाप नहीं है, देह में तो देवाधिदेव तीर्थङ्कर भी रहे हैं, केवल ज्ञानी भी तथा अन्य साधक भी ! अत: मूल प्रश्न देह का नहीं, देह-बुद्धि का है। आत्मानुलक्षी साधक के अनशन आदि बाह्य तप भी अन्तरंग समत्व के निर्मल प्रकाश में होते हैं, इसलिए वे देहबुद्धि के विसर्जन की एक आध्यात्मिक प्रक्रिया के रूप में हमारे जीवन में आने चाहिए। साधक देह में रहकर भी देह से पृथक् अपनी स्वतन्त्र आत्मसत्ता की अनुभूति करता है। भूख लगती है तो वह सोचता है, यह भूख शरीर को है, मुझे नहीं, प्यास शरीर को लगी है, मुझे नहीं। शीत-उष्ण आदि की पीड़ाएं भी शरीर को है, मुझे नहीं। मैं आत्मा हूं, चैतन हूं। यह शरीर पुद्गल पिंड है, जड़ है। अत: यह शरीर न मेरा है और न मैं शरीर का।

बाह्य तप भी इस प्रकार अन्तरंग में—कायोत्सर्ग की, अर्थात् देह विसर्जन की, अर्थात् देह भाव के विसर्जन की भूमिका में पहुंचता है, तभी जैन दर्शन की दृष्टि में वह तप का रूप लेता है, अन्यथा नहीं ! अत एव जैनाचार्यों ने तप का गंभीर एवं व्यापक विश्लेषण किया है। आज तक प्राकृत, संस्कृत अपभ्रंश, हिन्दी तथा गुजराती आदि भाषाओं में तप के सम्बन्ध में इतना

कुछ लिखा गया है कि यदि उसे एक जगह संगृहीत किया जाये तो वह एक विशाल पुस्तकालय का रूप ले सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक

'जैनधर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण' पुस्तक मेरे समक्ष है। अस्वस्थता के कारण मैं इसे पूरा-पूरा तो नहीं पढ़ पाया हूँ, फिर भी जो कुछ मैंने इधर-उधर, बिखरा-बिखरा देखा है, उसने मुझे प्रभावित किया है, आर्कषित किया है। तप के सम्बन्ध में दूर-दूर तक बिखरी हुई सामग्री को एकत्र संकलन करना आसान नहीं है। किन्तु मैं देखता हूं, प्रस्तुत पुस्तक में उस सामग्री का काफी अच्छा संकलन एवं विवेचन किया गया है। जिज्ञासु साधक को एक ही पुस्तक में वह सब कुछ मिल जाता है, जो वह 'तप' के सम्बन्ध में जानना चाहता है। और यह केवल संकलन ही नहीं है, बीच-बीच में तप के सम्बन्ध में वह बौद्धिक चिन्तन भी है, जो तप सम्बन्धी कितनी ही गूढ़-ग्रन्थियों को खोलता है, और तप के अन्तर मर्म को उद्‌घाटित करता है, उजागर करता है। प्रस्तुत पुस्तक के द्वारा श्रद्धेय मरुधर केसरी जी म. ने एक बहुत बड़े अभाव की, एक बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति की है, एतदर्थ वे शतशः धन्यवाद के पात्र हैं।

श्रद्धेय मरुधर केसरी जी जैनपरम्परा के एक जाने-माने सुप्रसिद्ध संत हैं। वे वस्तुतः केसरी हैं, वन के नहीं, मन के। उनका अन्तर्मन इतना दीप्तिमान है कि जिनशासन की शोभा एवं सेवा के लिए वह हजार-हजार किरणों के साथ प्रदीप्त रहता है। उनकी वाणी में वह ओज है, जो श्रोताओं के अन्तर्मन को झकझोर देता है। वे एक महान निर्भीक प्रवक्ता है। उन्होंने राजस्थान की मरुधरा में जिनशासन को गौरवशाली बनाने में जो महान कार्य किये हैं, और एतदर्थ अनेक संस्थाओं को पालित-पोषित किया है, वे युग-युग तक उनकी गौरव गाथा के प्रतीक रहेंगे।

जैसा कि सुना है, आज अस्सी वर्ष की दीर्घ आयु में भी, जबकि मनुष्य का तन ही नहीं, मन भी जर्जर हो जाता है, उत्साह क्षीण हो जाता है, तब भी हम देखते हैं कि श्री मरुधरकेसरी जी अभी युवा हैं, तन बूढा हो चला

है, किन्तु उनके मन को बुढ़ापा नहीं आया है, लगता है आयेगा भी नहीं ! युवकों जैसी कार्यशक्ति उनमें देखी जाती है, जो हर किसी के लिए मूर्तिमती प्रेरणा है।

श्री मरुधर केसरी जी म. ने साहित्य के क्षेत्र में भी काफी कार्य किया है। पद्य व गद्य में उनकी अनेक रचनाएं प्रकाश में आ चुकी हैं। इन रचनाओं में भी उनका वही जन्मजात ओज मुखरित रहता है। सामाजिक एवं राष्ट्रीय चेतना के स्वर भी उनकी कृतियों में गूंजते हुए सुनाई देते हैं। प्रस्तुत पुस्तक उनकी साहित्य मणिमाला की एक जाज्वल्यमान मणि है। अब तब प्रकाशित कृतियों में इसका कुछ विशिष्ट स्थान है। उनके जीवन के लंबे अनुभवों और विचारों का दिव्य रूप भी उक्त पुस्तक में निखरा हुआ मिलता है। मैं आशा करता हूं, और आशा ही नहीं मंगलकामना करता हूं, कि श्री मरुधर केसरी जी चिरायु हों, और उनके द्वारा यथावसर भविष्य के क्षणों में महत्व पूर्ण उपलब्धियां जिन शासन को मिलती रहें।

प्रस्तुत पुस्तक के विषय में एक बात और कहना चाहूँगा, इसका संपादन श्री श्रीचन्द सुराना 'सरस' ने किया है। 'सरस' जी वस्तुतः सरस है, उनके हाथों से जो भी चीज छू जाती है, वह सरस हो जाती है। संपादन कला में तो मुझे कहना चाहिए—वे पारंगत हैं। उनके द्वारा अनेक रचनाएं संस्कार-परिष्कार पा चुकी हैं और वे साहित्य के क्षेत्र में अभिनंदनीय हुई हैं। श्री 'सरस' जी मेरे निकट के सहयोगी हैं, उन्हें मैंने निकट से देखा है ! देखा ही नहीं, परखा भी है। जैन समाज उनकी सेवाएं प्राप्त करता रहे और हमारा जैन साहित्य आधुनिक साज-सज्जा, संस्कार-परिष्कार के साथ जन मन को प्रमुदित करता रहे—यही मंगल कामना !

विजयादशमी

जैनभवन, मोती कटरा

आगरा

—उपाध्याय अमरमुनि

शुभ कामना

मनहर कवित्त

विश्व को विकास पुन्य-पुंज को प्रकाश अहा,
पापों के विनाश-हेतु तप ही प्रधान है।
ज्ञान को निवास, सत्य-शील को आवास महा,
दया को उजास खास कहा वर्धमान है।
ताही को स्वरूप अनुरुप मेरे गुरुदेव,
करि के प्रयास उसे रक्खा एक स्थान है।
श्रीचन्द चार चाँद सजाकर लगाय दिये,
पायेंगे सरस यश 'शुकन' महान है ॥१॥

सवैया

अति उज्वल आतम की करणी, तप रूप जिनेश्वर ने वरणी,
तरणी-भवसागर नाव बनी, दिव-लोक-थवा शिव निस्सरणी।
अरनी अघ जाल जरावन को, तप दोय विधी जग-उद्धरणी,
इस पोथिन में सहि राह मिली, जिम बालक को जु मिली जननी ॥२॥

सोरठा

आछो ओ आनन्द, मैं पिण पायो मोकलो,
गह्यो हाथ में ग्रन्थ, तपरो तत्वों सुं भर्‌यो ॥३॥
मरुधर के शिरमोड़, मरुधरकेसरी जाणिये,
ग्रन्थ लिखा अनमोल, जैन-धर्म में तप महा ॥४॥

दोहा

फली शुकन मन भावना, पूर्ण करी गुरुदेव।
शासणपति दीजो सदा, सुगुरु-पद-कज सेव ॥५॥

बगड़ी नगर
जेतसिंह जैनगढ़
२१-१०-७२

—मुनि शुकन

जैन धर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण

मनीषी मुनिवरों की दृष्टि में

●

श्रमणसंघ के द्वितीय पट्टधर

—आचार्य श्री आनंद ऋषि जी महाराज

●

तप जीवन के अभ्युत्थान का मार्ग है। उससे आत्म विशुद्धि तो होती ही है, व्यक्ति का पारिवारिक सामाजिक, एवं राष्ट्रीय जीवन भी समुन्नत एवं शक्तिसम्पन्न बनता है।

तप के विषय पर श्री मरुधरकेसरी जी म० ने जो सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया है, वह देखने से लगता है गागर में सागर भर दिया है।

जिज्ञासुओं के लिए यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगी—ऐसा विश्वास है।

★

—मालवकेसरी श्री सौभाग्यमल जी महाराज

●

'जैन धर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण' का विहंगावलोकन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें मरुधरकेशरी मिश्रीमलजी महाराज का मौलिक चिन्तन और विचारों के ज्योतिष्कण पद-पद पर बिखरे पड़े हैं। प्रस्तुत पुस्तक ताप-तप्त इस विश्व-मानव को अपने आध्यात्मिक विचारों और क्रान्तिकारी सुझावों से आत्मा पर बैठी अज्ञान की परतों को हटाकर शान्ति, सद्भाव और स्नेह का शीतल अनुलेप प्रदान करने में समर्थ होती है।

प्रस्तुत पुस्तक तप के विशाल विराट स्वरूप को लेकर लिखी गयी है। इसके प्रत्येक पृष्ठों पर तप का मूल्यांकन आलोकित हो रहा है। तप, त्याग, और संयम प्रधान साहित्य से हमारा जीवन उत्तरोत्तर विकसित होता रहे यही शुभेच्छा।

★

योगनिष्ठ मुनि श्री फूलचंद जी 'श्रमण'

●

'जैन धर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण' पुस्तक देखी, अपूर्ण पुस्तक (छपे हुए ४०० पेज) ने भी मुझे पूर्ण ज्ञान करा दिया अपने स्वरूप का, अपने विषय का, अपनी प्रतिपादन शैली का एवं अपनी विश्लेषण की गम्भीरता का।

बाह्य ज्ञान के आधार पर मनुष्य कुछ लिख सकता है, परन्तु स्वानुभूति की उर्वराभूमि से रहित होने के कारण वह अभिव्यक्ति के सौष्ठव को प्राप्त नहीं कर सकता। श्री मरुधर केसरी श्री मिश्रीमल जी महाराज एक तपस्वी सन्त है, अतः उनके मुख से तप के विषय में जो भी प्रकट होता है वह स्वानुभूति की उर्वरभूमिका से उद्भूत होता है, और ऐसा ही हुआ है। तप का सर्वाङ्गीण विश्लेषण इसमें है।

लेखन में गम्भीरता आ जाती है, यह नैसर्गिक नियम है, परन्तु भाषण में अभिव्यक्ति सरलता को अपनालेती है। श्री मरुधरकेसरी जी महाराज ने भाषणों के रूप में जो विश्लेपण किया है, वह सरल नहीं, सरलतम है और उसमें तप के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने की एक विशेप कला है।

तीन खण्ड व २८ अध्यायों में तप के साकार रूप को प्रस्तुत करने वाला यह "ग्रन्थ रत्न" भारतीय आध्यात्मिक साहित्यकोप में अद्भुत रत्न के रूप में चमकेगा और अपने दिव्यालोक से जन-मन को भी आलोकित करेगा, यह मेरा दृढ़ विश्वास है, मेरा यही विश्वास इस ग्रन्थरत्न के प्रचार और प्रसार की कामना करता हुआ श्री मरुधरकेसरी जी से इसी प्रकार की अन्य कृति-मणियों की अपेक्षा रखता हूं।

★

बहुश्रुत विद्वान्, मधुर वक्ता

श्री मधुकर मुनि जी महाराज

जैन धर्म की साधना का प्राणतत्व 'तप है। जैसे पुष्प की कली-कली में सौरभ समाया हुआ है, ईख के पौर-पौर में माधुर्य परिव्याप्त है और तिल के कण-कण में स्नेह संचरित है, वैसे ही जैन धर्म के प्रत्येक चिन्तन में तप परिव्याप्त है।

जैन आगमों में तथा प्रकीर्ण ग्रन्थों—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि एवं टीका आदि में तप का बहुविध विवेचन किया गया है। वह विवेचन-चिंतन है तो बहुत ही सूक्ष्म एवं उपयोगी, किन्तु बिखरा हुआ होने से पाठक उससे उपयुक्त लाभ नहीं उठा पाते। ऐसे एक ग्रन्थ की बहुत बड़ी कमी थी जो उस समग्र विवेचन को सरल, सुबोध एवं सरस शैली के साथ पाठकों को उपलब्ध करा सके।

श्रद्धेय श्री मरुधरकेसरी जी महाराज ने उस अभाव की पूर्ति कर एक महनीय कार्य संपन्न किया है। तप के विषय में इतना विशाल, प्रामाणिक तथा हृदयग्राही विवेचन अपनी समग्रता के साथ शायद पहली बार हिन्दी भाषा में प्राप्त हुआ है। प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश आदि भाषाओं में भी इस शैली का ग्रंथ मेरे देखने में नहीं आया।

ग्रन्थकार मुनि श्री जी कोटिश: धन्यवादार्ह है, साथ ही संपादक श्री 'सरस' जी भी इस सत्प्रयत्न एवं कुशल संपादन के लिए बधाई के पात्र हैं।

☆

विश्व धर्म सम्मेलन के प्रवर्तक

मुनि श्री सुशीलकुमार जी महाराज

विश्व के क्षितिज पर छाये सर्वनाश के संकेत एवं मानव जीवन पर भय एवं लोभ के घुमड़-घुमड़ कर आये दुःखों को क्षणमात्र में नष्ट कर देने की शक्ति केवल तप में ही है ।

जैन वाङ्‌यम तप का विज्ञान है, प्रभु महावीर का जीवन तप का साक्षत् जीवन्त रूप है, प्रकृति विजय एव आत्मदर्शन की कुंजी भी तप ही है ।

अनन्तसामर्थ्य तथा शक्ति के अक्षयस्रोत तप के विषय में श्रद्धेय श्री मरुधर केसरी जी महाराज ने लिखकर जगत् पर अनन्त उपकार किया है ।

मेरे मन में अनेकों बार धर्म साहित्य में तप विषयक बिखरी सामग्री को संकलित कर तपकोष सम्पादन करने का विचार आता रहा है । भारतीय साहित्य तथा विशेष कर जैन साहित्य में तप सम्बन्धी विपुल सामग्री को व्यवस्थित रूप देने की इच्छा थी । किन्तु यह अदृष्ट चमत्कार हुआ कि मरुधरकेसरी जी महाराज ने तप विषयक ग्रन्थ का प्रणयन कर एक वहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति कर दी ।

आज आवश्यकता है तप के विषय को लेकर जैन साधक, संसार को अनुभव पूर्ण जानकारी दें,जिससे मानव जाति भय ताप से विमुक्त हो सके । इस क्षेत्र में मरुधर केसरी जी महाराज ने पहल की है, मैं उनके स्तुत्य प्रयास की सफलता चाहता हूं । साथ में लब्धियों के विवरण ने तप माहात्म्य को और भी उज्ज्वलता प्रदान की है, इसके लिए पुनः मंगल कामना प्रगट करता हूं ।

आगम अनुयोग विशारद
मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'

अखिल विश्व की अनन्त आत्माओं का यदि वर्गीकरण किया जाय तो केवल दो वर्ग बनते हैं।

पहला वर्ग कर्ममल से लिप्त आत्माओं का और दूसरा वर्ग कर्ममल से मुक्त आत्माओं का है। पहले वर्ग की आत्माओं को "सांसारिक" और दूसरे वर्ग की आत्माओ को "सिद्ध" कहा गया है।

सांसारिक आत्माओं की वाह्याभ्यन्तर शुद्धि के लिये तपश्चर्या एक वैज्ञानिक साधना है। विधिपूर्वक की हुई तपश्चर्या से ही साधक की आत्मशुद्धि होती है यह एक तथ्य है।

अनेक जिज्ञासु बहुत लम्बे समय से एक ऐसी पुस्तक की आवश्यकता अनुभव कर रहे थे—जिसमें जैन, वैदिक और वौद्ध-ग्रन्थों में प्रतिपादित तपश्चर्या का वैज्ञानिक रूप, तपश्चर्या के विविध प्रकार और तपश्चर्या के विधि विधानों का संक्षिप्त एवं सारगर्भित संकलन हो।

परम श्रद्धेय प्रवर्तक श्री मरुधर केशरी जी महाराज के तत्त्वावधान में श्री "सरस" जी द्वारा संपादित "जैन धर्म में तप" नामक इस ग्रन्थ से अनेक साधकों की जिज्ञासा परिपूर्ण होगी। इसमें प्रवर्तक श्री जी की विशाल ज्ञानराशि का दोहन, अनेक ग्रन्थों का मन्थन और तपश्चर्या के अनेक अनुभवों का चिन्तन मनन ऐसी सरस एवं सरल भाषा में दिया गया है — कि सभी स्तर के साधक इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से लाभान्वित होंगे।

इस ग्रन्थ की प्रभावना करने वाले श्रद्धालु सद्गृहस्थ भी अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग एवं पुण्योपार्जन करके यशस्वी बनेंगे।

☆

सुप्रसिद्ध विचारक एवं अनेक ग्रन्थों के लेखक
श्री विजय मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

●

तप एक अध्यात्म शक्ति है। जीवन की ऊर्जा जो अधोवाहिनी हो रही है, उसे ऊर्ध्ववाहिनी करना ही तप का एक मात्र लक्ष्य है। मन की वृत्तियों को बदलना ही, तप का उद्देश्य नहीं है, तप का उद्देश्य है समग्र जीवन का रूपान्तरण ! तप जीवन को खण्डित होने से बचाता है, और उसे अखण्ड एवं समग्र रखने की जो कुछ साधना है, वह है तप !

तीर्थङ्करों ने एवं गणधरों ने तप की साधना से जो कुछ उपलब्ध किया वस्तुतः वही वीतरागदर्शन है। वीतरागता प्राप्ति का अनन्य साधन तप ही है। जैन परम्परा का तप इतना व्यापक और इतना विशाल है कि उसमें जीवन को उच्चतम शिखर पर पहुँचाने के सभी साधनों का समावेश हो जाता है।

जैन आगमों में तप के बारह भेद किये गये हैं। अनशन से लेकर ध्यान और व्युत्सर्ग तक तप का जो विभाजन किया गया है उससे परिलक्षित होता है कि साधक को बाहर से भीतर की ओर जाना है, स्थूल से सूक्ष्म में प्रवेश करना है।

तप के सम्बन्ध में आज तक जो कुछ लिखा गया वह अति संक्षिप्त ही था। यद्यपि शास्त्रों में यत्र-तत्र तप के अनेक वर्णन उपलब्ध हैं, किन्तु तप के सम्बन्ध में सर्वांगीण दृष्टिकोण से आज तक लिखने का प्रयत्न नहीं हुआ, और कम से कम हिन्दी भाषा में तो अब तक ऐसी पुस्तक प्राप्त नहीं थी।

"जैन धर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण" पुस्तक वस्तुतः अपने विषय का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ कहा जा सकता है।

इसमें तप के समस्त अंगों का विशद विवेचन शास्त्रीय आधार पर किया गया है। फिर भी शैली काफी सरल, सरस और रुचिवर्धक है। श्री मरुधर केसरी जी महाराज ने इस महान ग्रन्थ का प्रणयन कर जिज्ञासु साधकों के लिए बहुत बड़ा उपकार किया है, वे कोटिशः धन्यवादार्ह हैं।

जैसा कि मुझे मालूम हुआ है—प्रस्तुत ग्रन्थ श्री मरुधर केसरी जी महाराज के प्रवचन साहित्य के दोहन का परिणाम है, इसका सम्पादन श्री श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' ने किया है। ग्रन्थ में सम्पादक की प्रबुद्धता, व्यापक अध्ययन और गहरी विद्वत्ता की छाप भी परिलक्षित होती है। इसमें आगमों के साथ-साथ व्यावहारिक ज्ञान का भी पूरा-पूरा उपयोग एवं प्रयोग कर ग्रन्थ को सर्वग्राही लोग भोग्य एवं साथ ही विद्वद्भोग्य बनाने का सफल प्रयास किया है। लेखक महोदय के साथ-साथ मैं सम्पादक बन्धु के प्रयास की भी प्रशंसा करता हूँ और हार्दिक भाव से अभिनन्दता !

प्रसिद्धवक्ता श्री ज्ञान मुनि जी

●

हमारे श्रद्धास्पद प्रवर्तक, मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमल जी महाराज बड़े दूरदर्शी, गम्भीर विचारक, आदर्श संयमी, प्रखर व्याख्याता और जैन जगत के जाने-माने तेजस्वी मुनिराज हैं। सौहार्द और सौजन्य तो इनकी जन्मसिद्ध पावन सम्पदा है। इनकी वाणी में ओज, और माधुर्य का विलक्षण संगम मिलता है। इनमें "यथानाम तथा गुण" के अनुसार जहां वास्त

विकता के दर्शन होते हैं, वहां आकृति और प्रकृति में भी पूर्ण सामंजस्य उपलब्ध होता है। धर्म प्रचार, साहित्य सेवा, समाजोत्थान की सेवा का महानव्रत इनके जीवन की सर्व प्रधान मङ्गलमयी साधना है।

परम श्रद्धेय मरुधर केसरी जी द्वारा लिखित "जैन धर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण" नामक ग्रन्थरत्न का परिशीलन किया। प्रकाशन तो बहुत देखने में आए परन्तु तपोदेवता के पावन चरणों में व्यापक रूप से, खुले दिल के साथ इतनी अधिक मात्रा में श्रद्धासुमनों का समर्पण जीवन में पहली बार देखा है। तप के सम्बन्ध में जितने दृष्टिकोण उपलब्ध हो सकते हैं, इसमें उन सबको ध्यान में रखा गया है। ग्रन्थ क्या है? मानों तप सम्बन्धी मान्यताओं और आवश्यक ज्ञातव्य तथ्यों का अक्षय भण्डार है। जैन-जैनेतर शास्त्रों तथा महापुरुषों के वच-

पं० श्री मोहनलाल जी गोटेचा, साहित्याचार्य
एम. ए. एच-पी. ए., स्वर्णपदक प्राप्त
वरिष्ठ अनुसंधान अधिकारी
क्षेत्रीय अनुसंधान संस्थान, (आयुर्वेद)
जयपुर (राजस्थान)

प्रस्तुत ग्रंथ एक उत्कृष्ट एवं परम उपादेय रचना है। इससे मानव को सही मार्गदर्शन प्राप्त हो सकेगा। जीवन को किस प्रकार संयम तप की साधना में संलग्न किया जाय—इसका अनुभूतिपूर्ण मार्ग-अवबोध-प्रस्तुत ग्रन्थ रत्न से प्राप्त किया जा सकता है।

श्रद्धास्पद श्री मरुधर केसरी मिश्रीमल जी महाराज एक त्यागी, तपस्वी, विद्वान एवं प्रखर प्रवक्ता योगी हैं, साधक हैं। उनका जीवन सचमुच में पारस है, जो इसका स्पर्श करता है, वह स्वर्णत्व को अवश्य प्राप्त होगा।

समस्त ग्रन्थ का अनुशीलन करने के बाद यह धारणा पुष्ट होती है, कि प्रस्तुत ग्रन्थ **'जैन धर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण'** वास्तव में ही तप का सर्वाङ्गीण स्वरूप व्यक्त करने में सक्षम है। इसके अध्ययन अनुशीलन से पाठकों को अखण्ड-आत्म-आनन्द की प्राप्ति होगी।

भव कोडिय संचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ ।

—उत्तराध्ययन सूत्र ३०।६

करोड़ों जन्मों के संचित कर्म तप से नष्ट हो जाते हैं ।

तपो ब्रह्मेति ।

—तैत्तिरीय आरण्यक ६।२

तप स्वयं ही भगवान है ।

तप : एक विश्लेषण 1

१ हमारा लक्ष्य

लक्ष्य क्या है ?

आप ही मंजिल, आप ही मुसाफिर !

अनन्त सुखमय रूप

मोक्ष की परिभाषा एवं स्वरूप

२ लक्ष्य साधना

मोक्ष के दो मार्ग—ज्ञान और क्रिया

तीन मार्ग

चार मार्ग

विविध दृष्टियां

समन्वय

३ तप की परिभाषा

तप की विविध व्याख्याएँ

१

हमारा लक्ष्य

किसी मार्ग पर एक राही चल रहा था। उसे देखने से लगता था, वहुत दूर से चला आ रहा है, वड़ी लम्बी सफर तय की है। उसके चेहरे पर थकावट थी, हाथ-पांव फूले हुए से, वड़ा खेदखिन्न ! सुस्त ! लोगों ने उससे पूछा—"कहां से चले आ रहे हो भाई !"

यात्री ने उत्तर दिया—"बहुत दूर से !"

"कहां जाना है ?"– दूसरा प्रश्न हुआ।

यात्री ठिठक कर उन लोगों के चेहरों की ओर देखने लगा, जैसे इस प्रश्न का उत्तर उन्हीं के पास हो, वह दिग्भ्रांत-सा कुछ देर देखता रहा। लोगो ने फिर पूछा—"जाना कहां है ?"

यात्री ने कहा—"यह तो पता नहीं ! वस, चल रहा हूं, जहां यह रास्ता पहुंचा देगा·······देखा जायेगा।"

लोग उत्तर सुनकर खिल-खिला उठे ! कुछ लोग खीझ भी गये—"वाह ! क्या खूब यात्री है, चला जा रहा है और कहां जाना है, मंजिल कहां है कुछ अता-पता भी नहीं ? यात्री है या भटकोड़ ! गुमराह !"

बन्धुओ ! आप भी ऐसे यात्री को सच्चा यात्री नहीं कहेंगे न ? यात्री होता तो उसे अपने लक्ष्य का, अपनी मंजिल का अवश्य ही पता रहता। आप गाड़ी में बैठे हो, और किस स्टेशन पर उतरना है यह पता ही न हो, तो क्या वह यात्रा कभी पूरी हो सकेगी ?

एक यात्री स्टेशन पर टिकट लेने गया। बाबू से टिकट मांगी। बाबू ने पूछा—"कहां जाना है ?"

"ससुराल !"

"कहां है ससुराल ?"—बाबू ने पूछा।

"जहां गाड़ी जाती है।"—उस यात्री ने उत्तर दिया।

तो उस यात्री को कहा का टिकट दिया जाय····?

जिसे अपनी ससुराल का पता भी नहीं मालूम, गांव भी नहीं मालूम, वह ससुराल कैसे पहुंचेगा ? और कौन बाबू उसे कहां का टिकट देगा ?

बंधुओ ! दुनिया देखकर हँसिए मत ! सोचिए, क्या इस स्थिति में आज आप, या आपके समाज का बहुत-सा वर्ग नहीं गुजर रहा है ? जीवन एक यात्रा है, इस यात्रा पर हजारों-लाखों-करोड़ों लोग चल रहे हैं, कोई दस वर्ष से, कोई बीस वर्ष से, और कोई पचास-साठ वर्ष से भी। चलते-चलते कमर टेढ़ी हो गई, घुटने कमजोर पड़ गये, पिंडलियां पणिहारी गाने लग गईं, पर अभी तक मंजिल का कुछ पता नहीं है। आपसे कोई पूछे, अरे, मैं ही पूछ लेता हूँ, "भाई, आपकी इस लम्बी यात्रा का लक्ष्य क्या है ? आपको कौन से गांव पहुँचना है ? मंजिल का नाम क्या है, किधर है वह····?" क्या आप इस प्रश्न पर सकपकाकर मेरा मुँह ताकने नहीं लगेंगे···· 'महाराज ! यह तो पता नहीं ?" अरे ! भोले यात्री ! पता नहीं तो चला कहां जा रहा है ? पहले मंजिल तय कर, फिर चल।" आप कहेंगे—"आप ही बता दीजिये।" यह भी क्या खूब है ! जाना आपको, और मंजिल मैं बताऊँ !

कोई आपसे पूछे—"भाई साब, नाम क्या है ?

आप बोले—"आप ही बता दीजिये····?"

कैसा मजेदार उत्तर है यह ! पर, सचमुच आज की स्थिति ऐसी ही है,

आपका नाम, आपके बाप का नाम भी पूछने वाले को ही बताना पड़ेगा, क्योंकि आपको तो कुछ मालूम ही नहीं है।

हां, तो मैं कह रहा था--आप यात्री हैं, पथिक हैं, आपको अपने गंतव्य का पता हो तो बता दीजिये, यदि बिना पते के लिफाफे हों तो आइए मेरे पास—मैं पता किये देता हूं, आपको अपनी मंजिल के बारे में बताता हूं।

हम सब यात्री हैं, इस यात्री का बाहर में अलग-अलग रूप है, कोई रूपचन्द है, कोई कर्मचन्द है और कोई धर्मचन्द है। किन्तु भीतर में सब यात्रियों का एक ही रूप है, एक ही नाम है—"आत्माराम !" आत्माराम जिस मार्ग पर चल रहा है, जिस पथ से गुजर रहा है—उस पथ का नाम है 'संसार पथ।' जैसे दिल्ली का 'जनपथ' है, वैसे ही आत्माराम की यात्रा का राजमार्ग संसार पथ है। इस संसार पथ को आत्माराम विभिन्न रूप, विभिन्न जन्म और विभिन्न देह धारण करके पार कर रहा है, कोई पशु देह धारकर, कोई देव, नरक या कोई मानव देह धारकर। आप और हम मानव देह धार कर इस संसार पथ पर चल रहे हैं, इसलिए हम अपनी ही बात करेंगे "पर की छोड़ घर की सुधि लेह"—"धान खाना बाप का और गीत गाना मामा का"—यह ठीक बात नहीं, इसलिए आज हम दूसरे सब देहधारियों की चर्चा छोड़कर सिर्फ मानव की ही चर्चा करेंगे।

मानव देहधारी हम यात्री इस संसार पथ पर चल रहे हे और बहुत समय से, बहुत वर्षों से चले जा रहे हैं, दौड़ा-दौड़ लगा रखी है, फुटबॉल और हॉकी के खिलाड़ियों से भी ज्यादा तेज ! पर किधर....? बस यही टेढ़ा प्रश्न है। किधर का उत्तर देना ही आज टेढ़ी खीर है। सीधी खीर होती तो, हर कोई चाट जाता, मीठा हलवा होता तो कोई भी चट कर जाता, पर यह नमकीन हलवा है, टेढ़ा प्रश्न है।

बन्धुओ ! आप भी ऐसे यात्री को सच्चा यात्री नहीं कहेंगे न ? यात्री होता तो उसे अपने लक्ष्य का, अपनी मंजिल का अवश्य ही पता रहता । आप गाड़ी में बैठे हो, और किस स्टेशन पर उतरना है यह पता ही न हो, तो क्या वह यात्रा कभी पूरी हो सकेगी ?

एक यात्री स्टेशन पर टिकट लेने गया । बाबू से टिकट मांगा । बाबू ने पूछा—"कहां जाना है ?"

"ससुराल !"

"कहां है ससुराल ?"—बाबू ने पूछा ।

"जहां गाड़ी जाती है ।"—उस यात्री ने उत्तर दिया ।

तो उस यात्री को कहां का टिकट दिया जाय····?

जिसे अपनी ससुराल का पता भी नहीं मालूम, गांव भी नहीं मालूम, वह ससुराल कैसे पहुंचेगा ? और कौन बाबू उसे कहां का टिकट देगा ?

बंधुओ ! दुनिया देखकर हँसिए मत ! सोचिए, क्या इस स्थिति में आज आप, या आपके समाज का बहुत-सा वर्ग नहीं गुजर रहा है ? जीवन एक यात्रा है, इस यात्रा पर हजारों-लाखों-करोड़ों लोग चल रहे हैं, कोई दस वर्ष से, कोई बीस वर्ष से, और कोई पचास-साठ वर्ष से भी । चलते-चलते कमर टेढ़ी हो गई, घुटने कमजोर पड़ गये, पिंडलियां पणिहारी गाने लग गई, पर अभी तक मंजिल का कुछ पता नहीं है । आपसे कोई पूछे, अरे, मैं ही पूछ लेता हूं, "भाई, आपकी इस लम्बी यात्रा का लक्ष्य क्या है ? आपको कौन से गांव पहुँचना है ? मंजिल का नाम क्या है, किधर है वह····?" क्या आप इस प्रश्न पर सकपकाकर मेरा मुँह ताकने नहीं लगेंगे···· 'महाराज ! यह तो पता नहीं ?" अरे ! भोले यात्री ! पता नहीं तो चला कहां जा रहा है ? पहले मंजिल तय कर, फिर चल ।" आप कहेंगे—"आप ही बता दीजिये ।" यह भी क्या खूब है ! जाना आपको, और मंजिल मैं बताऊँ !

कोई आपसे पूछे—"भाई साब, नाम क्या है ?

आप बोले—"आप ही बता दीजिये····?"

कैसा मजेदार उत्तर है यह ! पर, सचमुच आज की स्थिति ऐसी ही है,

आपका नाम, आपके बाप का नाम भी पूछने वाले को ही बताना पड़ेगा, क्योंकि आपको तो कुछ मालूम ही नहीं है।

हां, तो मैं कह रहा था—आप यात्री हैं, पथिक हैं, आपको अपने गंतव्य का पता हो तो बता दीजिये, यदि बिना पते के लिफाफे हों तो आइए मेरे पास—मैं पता किये देता हूं, आपको अपनी मंजिल के बारे में बताता हूं।

हम सब यात्री हैं, इस यात्री का बाहर में अलग-अलग रूप है, कोई रूपचन्द है, कोई कर्मचन्द है और कोई धर्मचन्द है। किन्तु भीतर में सब यात्रियों का एक ही रूप है, एक ही नाम है—"आत्माराम !" आत्माराम जिस मार्ग पर चल रहा है, जिस पथ से गुजर रहा है—उस पथ का नाम है 'संसार पथ।' जैसे दिल्ली का 'जनपथ' है, वैसे ही आत्माराम की यात्रा का राजमार्ग संसार पथ है। इस संसार पथ को आत्माराम विभिन्न रूप, विभिन्न जन्म और विभिन्न देह धारण करके पार कर रहा है, कोई पशु देह धारकर, कोई देव, नरक या कोई मानव देह धारकर। आप और हम मानव देह धारे कर इस संसार पथ पर चल रहे हैं, इसलिए हम अपनी ही बात करेंगे "पर की छोड़ घर की सुधि लेह"—"धान खाना बाप का और गीत गाना मामा का"—यह ठीक बात नहीं, इसलिए आज हम दूसरे सब देहधारियों की चर्चा छोड़कर सिर्फ मानव की ही चर्चा करेंगे।

मानव देहधारी हम यात्री इस संसार पथ पर चल रहे हैं और बहुत समय से, बहुत वर्षों से चले जा रहे हैं, दौड़ा-दौड़ लगा रखी है, फुटबॉल और हॉकी के खिलाड़ियों से भी ज्यादा तेज ! पर किधर....? बस यही टेढ़ा प्रश्न है। किधर का उत्तर देना ही आज टेढ़ी खीर है। सीधी खीर होती तो, हर कोई चाट जाता, मीठा हलवा होता तो कोई भी चट कर जाता, पर यह नमकीन हलवा है, टेढ़ा प्रश्न है।

आप ही मंजिल : आप ही मुसाफिर

शास्त्रों में बताया है, विद्वानों और बुद्धिमानों ने भी कहा है—आत्मा का लक्ष्य है—अपने स्वरूप को प्राप्त करना ! जो आत्माराम का स्वरूप है, अर्थात् उसका असली रूप है, उसे प्राप्त करना यही उसका लक्ष्य है। स्वरूप

ही उसका स्वस्थान है, उसी का नाम किसी ने 'मोक्ष' रखा है, किसी ने 'सिद्धि' और किसी ने 'परमपद' या 'निर्वाण।'

अनादिकाल से आतमाराम संसार पथ की भूल-भुलैय्या में भटक रहा है। इसे अभी तक अपना असली स्वरूप, अपना असली स्थान मिला नहीं है। यह चल रहा है,किन्तु कभी सौ योजन पूरब में चलता है,तो फिर कभी वापिस लौटकर दो सौ योजन पश्चिम में आ जाता है। कभी उत्तर की राह पर चलता है, सौ-दो-सौ योजन पार करता है तो फिर दक्षिण की तरफ मुँह कर लेता है, फल यह होता है कि जिन्दगी बीत गई, एक नहीं, कई जिन्दगियां बीत गईं फिर भी रहा वहीं का वहीं— "ज्यों तेली के बैल को घर ही कोस पचास" बस, यह यात्री तेली के बैल की तरह ही चक्कर काटता रहा है।

एक बार कुछ यात्री हरिद्वार में गंगा के किनारे गये, संध्या का समय था, घूमते-घूमते एक तट पर लगी नौका के पास पहुंचे। सब ने निश्चय किया, चलो नौका में बैठकर अमुक गांव चलें, रात भर चलते रहेंगे तो सुबह अपनी मंजिल पर पहुंच जायेंगे। सब यात्री नौका में बैठ गये, और चार जवान आकर डटे डांड हिलाने! रातभर डांड हिलाते रहे, खूब ताकत लगा कर, मस्तूल भी हवा में हिलता रहा, सुबह जब मुँह उजाला होने लगा और यात्रियों ने आँख खोलकर देखा कि सामने एक सुन्दर नगर है, बड़ा सुहावना घाट है और लोग घाट पर नहाने को आ रहे हैं, उनकी नौका भी घाट के पास खड़ी है तो खुशी से नाच उठे। लोगों से पूछा— यह कौन सा गांव है भाई!" लोगों ने कहा—'हरिद्वार!' यात्री चौंके—"हैं? हरिद्वार से तो हम रात को चले ही थे, रात भर नौका चलाकर क्या अभी तक हरिद्वार ही पहुंचे हैं।" सब यात्री एक दूसरे का मुँह ताकने लगे! तभी घाट पर खड़े एक स्नानार्थी ने कहा—"मूर्खो! नौका तो अभी लंगर से बंधी है, चले क्या तुम्हारा सिर····!"

यात्री चौंके—'ओ हो! यही तो भूल रह गई! लंगर तो खोला ही नहीं, नौका क्या चलेगी····और कहाँ पहुंचेगी····?'

मनुष्य की जीवन नौका भी इसी प्रकार अज्ञान और मोह के लंगर से

बंधी है, जीवन भर हाथ-पैर मारकर भी वह वहीं का वहीं रहता है, जहां पहले था।

तो इस दुनिया में यह आत्माराम फुटबॉल की तरह इधर से उधर चक्कर खा रहा है। इसे समझाना है कि तेरी मंजिल तेरा स्वरूप ही है, अर्थात् तू जो मुसाफिर है, वही तू अपनी मंजिल है। उर्दू के शायर इकबाल ने यही बात कही है—

ढूंढ़ता फिरता है ऐ 'इकबाल' अपने-आपको,
आप ही गोया मुसाफिर, आप ही मंजिल हूं मैं।

आज यात्री को अपने इस स्वरूप को समझना है कि जो स्वरूप तेरा है, वही स्वरूप भगवान का है, आत्मा और परमात्मा में क्या अन्तर है?

सिद्धां जैसा जीव है, जीव सोही सिद्ध होय,
कर्म मैल का आंतरा, बूझे बिरला कोय।

जैनदर्शन के अध्यात्मवादी आचार्य कुंदकुंद ने भी यही बात कही है—

अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्को होइ य फुडं।[1]

आत्मा जब कर्ममल से मुक्त हो जाता है तो वही परमात्मा बन जाता है।

यह मत समझो कि परमात्मा कोई दूसरी दुनिया से आता है। जिस दुनिया में आत्मा है उसी दुनिया में परमात्मा है, सच बात तो यह है कि राह चलता आत्माराम आत्मा है, और अपनी मंजिल पर पहुँचा हुआ आत्माराम ही परमात्मा है। इन्सान और खुदा, मैन और गोड (Man & God) भक्त और भगवान नर और नारायण, जीव और शिव तथा जन और जिन में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है, केवल एक सिक्के के दो पहलू हैं, एक अशुद्ध आत्मा है एक शुद्ध आत्मा। एक सूफी कवि कहता है—

हम हैं खुद खुदा, न वो हम से जुदा,
जो जाने जुदा सो न पावे खुदा।

हम खुद ही खुदा हैं, खुदा खुद से जुदा नहीं है, इसी खुद से जब खुदी (अहंकार) दूर हो गई तो यह ही खुदा बन गया। कहा है—

---

१ भावपाहुड़ १५१।

शक्ले-इन्सां में खुदा था, मुझे मालूम न था,
चांद बादल में छिपा था, मुझे मालूम न था।

मैं यही बता रहा था कि हमारा स्वरूप क्या है ? वह कहां है ? हमारा स्वरूप है परम विशुद्ध, निर्मल कर्म मुक्त दशा। शंकराचार्य के शब्दों में कहूँ तो—

जाति-नीति-कुल-गोत्र दूरगं
नाम रूप-गुण-दोष-वर्जितम्।
देशकाल-विषयातिवर्ति यद्
ब्रह्मतत्वमसि भावयमात्मनि।[1]

जो जाति, नीति, कुल और गोत्र के झमेलों से दूर है, रूप, गुण और दोष से रहित हैं, देशकाल और विषय से भी पृथक् है, उनका भी जिस पर कोई प्रभाव नहीं होता, तुम वही ब्रह्म हो, अपने अन्तःकरण में ऐसी भावना करते रहो।

यह है आत्मा का स्वरूप। जैनदर्शन ने भी आत्मा के मूल स्वरूप की चर्चा करते हुए कहा है—आत्मा परम ज्ञानमय, ज्योति स्वरूप है। कहा है—

जे आया से विन्नाया[2]

जो आत्मा है, वही विज्ञाता है—वहां अंधकार तो कुछ नाम मात्र का भी नहीं है, परम ज्योति जल रही है, वह ज्योति कभी बुझती नहीं, क्षय नहीं होती, हाँ कर्मावरणों से आवृत जरूर हो जाती है, किंतु बुझ नहीं सकती है।

अनन्त सुखमय रूप

आत्मा का अपना रूप है अनन्त सुखमय ! भगवान महावीर से पूछा—आत्मस्वरूप कैसा है ? तो बताया—

अउलं सुह संपन्ना
उवमा जस्स नत्थि उ[3]

---

१ विवेक चूडामणि २५५।
२ आचारांग १।५।५
३ उत्तराध्ययन ३६।६६

—आत्मा अनन्त सुखमय, अव्याबाध सुखों में स्थिर रहने वाला है, यही उसका स्वरूप है, जिसे मोक्ष भी कहा है, उन सुखों का वर्णन करने के लिए कोई उपमा नहीं है।

बंधुओ ! इस विवेचन से आपके सामने यह स्पष्ट हो गया होगा कि आत्मा चिदानन्दमय सुखरूप है—

चिदानन्दरूपो शिवोऽहं शिवोऽहं

यही उसका स्वरूप है, हमारी यात्रा, इस स्वरूप की प्राप्ति के लिए ही है—इसलिए हमारा लक्ष्य, हमारी मंजिल है—**स्वरूप की प्राप्ति** ! अर्थात् आत्मा को अपने ही रूप का दर्शन। "**संपिक्खए अप्पगमप्पएण**"[१]। आत्मा को अपनी दृष्टि से देखना है, आत्मदर्शन करना है ! अपने भीतर क्या-क्या शक्तियां छिपी हैं, किन-किन विभूतियों का यह पुंज है, बस, इसका अवलोकन करना यही हमारी यात्रा का लक्ष्य है। इसे देखने, समझने के लिए कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं, अन्यत्र भटकने की आवश्यकता नहीं। यह हीरों की खान तो तुम्हारे ही पास में है—

महाकवि 'निराला' के शब्दों में—

पास ही रे, हीरे की खान
खोजता कहां अरे नादान !
स्पर्शमणि तू ही अमल-अपार,
रूप का फैला, पारावार
खोलते-खिलते तेरे प्राण
खोजता कहां उसे नादान !

आवश्यकता है—इन हीरो की खान को देखने वाली तेज दृष्टि की। इन चर्मचक्षुओं से यह खान नहीं दिखाई देगी, इसे देखना होगा—अन्तरदृष्टि से। अध्यात्म जगत की यह विचित्र बात है कि जब तक बाहर में दृष्टि खुली है, अन्तर सृष्टि नहीं दिखाई देगी, बाहर की दृष्टि भेदकर अन्तर दृष्टि खोलो

---

१ दशवैकालिक चूलिका २।१२

इसी प्रकार भगवान में लय होना भी जैन दर्शन को मान्य नहीं है, इससे तो आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता ही समाप्त हो जायेगी, जबकि प्रत्येक आत्मा एक अखण्ड स्वतन्त्र सत्ता है। बौद्ध दर्शन ने तो मुक्ति के विषय में कुछ भिन्न बात ही कही है—वहां कहा गया है जिस प्रकार तैल क्षय हो जाने पर दीपक बुझ जाता है। विलय हो जाता है, वैसे ही आत्मा इधर उधर कहीं नहीं जाता, किन्तु क्लेश क्षय होने पर वह शांत हो जाता है—आचार्य अश्वघोष की यह उक्ति प्रसिद्ध है—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतः····
स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।
····तथा कृती निर्वृति मभ्युपेत्य····
क्लेश क्षयात् केवलमेति शान्तिम्।[1]

किन्तु उनका यह विश्वास दर्शन जगत् में टिक नहीं सका, उनके द्वारा दी गई मोक्ष (निर्वाण) की इस व्याख्या को जैनदर्शन के धुरंधर आचार्यों ने तर्क-वितर्क द्वारा जीर्ण शीर्ण कर डाली है। हां तो मैं बता रहा था, हमने मोक्ष की चौथी व्याख्या स्वीकार की है—जिसमें 'सारूप्य' मोक्ष का स्वरूप माना गया है, आत्मा परमात्मा के समान ही स्वरूप प्राप्त कर लेता है, अर्थात् स्वयं परमात्मा बन जाता है।

यही बात जैन दर्शन में, जैन आचार्यों ने बार-बार दुहराई है। आचार्य अकलंक का कथन है—

आत्मलाभं विदुर्मोक्ष जीवस्यान्तर्मलक्षयात्[2]

जीव के अन्तर्मलों का क्षय होने पर आत्मा को जो स्वरूप लाभ अर्थात् स्वरूपदर्शन प्राप्त होता है, आत्मा आत्मा में स्थिर हो जाता है—वही मुक्ति है।

---

१ सौदरानन्द १६।२८-२६

२ आचार्य अकलंक (समय वि० ७ वीं सदी) सिद्धिविनिश्चय पृ० ३८४

इस प्रकार आपके सामने मैंने पहली बात स्पष्ट की—हमारा लक्ष्य है—मोक्ष ! अतः उसका स्वरूप है—आत्मलाभ ! अर्थात् हम जहां है, वहीं बैठे आत्म-दर्शन कर सकते हैं और वहीं से मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। भरत चक्रवर्ती, मरुदेवी माता के उदाहरण आपके समक्ष हैं। भरत जी आरीशा भवन में बैठे-बैठे ही केवलज्ञान प्राप्त कर गये, रागद्वेष से मुक्त हो गये और मरुदेवी माता तो हाथी के हौदे पर विराजमान रही और मुक्त हो गई। इन उदाहरणों से यही बात स्पष्ट की गई है कि आत्मा जहाँ भी राग-द्वेष से मुक्त हो जायेगा वहीं वह मोक्ष प्राप्त कर लेगा।

अब प्रश्न दूसरा है—इस लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन क्या है ? कैसे हम अपनी उस मंजिल तक पहुँच सकते हैं। इस प्रश्न पर अगले प्रकरण में विचार किया जायेगा।

२

लक्ष्य साधना

एक प्रसिद्ध आचार्य ने कहा है—'भगवान ने अपने समस्त प्रवचनों में जो कुछ कहा है उसे यों बताया जा सकता है, कि भगवान ने सिर्फ दो ही बातें बताई हैं—मार्ग और मार्ग का फल—

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणं समक्खादं ।[1]

इन दो बातो में ही संपूर्ण जिन प्रवचन का समावेश हो गया है। मार्ग का अर्थ है—रास्ता, साधना, पथ और मार्ग फल का अर्थ है—मंजिल ! साध्य और गंतव्य ! रास्ता पार कर, यात्रा पूरी कर जिस ध्येय को हम पाना चाहते हैं, उसे 'मार्ग फल' कहा जाता है। उस मार्ग फल के सम्बन्ध में यहां विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं। आपने समझा ही होगा कि हमारी यात्रा का अंतिम ध्येय है —आत्मस्वरूप का दर्शन ! अर्थात् रागद्वेष का क्षय कर संपूर्ण कर्मों से मुक्ति ! संसार के समस्त साधकों के सामने यही एक मात्र ध्येय रहता है कि हम मोक्ष प्राप्त करें। साधक को 'मुमुक्षु' कहा जाता है ! मुमुक्षु शब्द के अर्थ पर विचार करेंगे तो आपको पता चलेगा,

---

१ मूलाचार २०२

"जो मुक्ति की इच्छा रखता हो, वह मुमुक्षु है।" साधु भी और श्रावक भी—दोनों ही मुमुक्षु कहलाते हैं। क्योंकि दोनों की कामना एक ही है—मुक्ति !

अब प्रश्न यह है कि ध्येय तो हम सबका एक है, एक ही हमारी मंजिल है, एक ही लक्ष्य की ओर हमें चलना है, किन्तु उस ध्येय को प्राप्त करने का मार्ग कौन-सा है ? नगर में जाना है, तो मार्ग भी मिलना चाहिए ! यदि मार्ग का ज्ञान न होगा तो मंजिल सामने दिखाई देने पर भी हम उस तक पहुँच नहीं सकेंगे। समुद्र के बीच द्वीप है, वहां रत्नों का ढेर लगा है, पत्थर और कंकर की तरह वहां हीरे-मोती बिखरे पड़े हैं, वहां की मिट्टी सोना है, और यह देख-देखकर आपकी आंखें ललचा रही हैं, आपके पांव उछल-कूद मचा रहे हैं वहां तक जाने को, किंतु प्रश्न यह है कि वहां तक जायें कैसे ? रास्ता भी तो मिलना चाहिए ! कोई साधन भी तो मिले कि हम वहां तक पहुँच जायँ।

यही प्रश्न हमारे सामने है—मोक्ष के अनन्त और अव्याबाध सुख, अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त आत्मशक्तियां और आध्यात्मिक विभूतियां देखकर हम चाहते हैं उन्हें प्राप्त करें, किंतु कैसे ? आज के प्रसंग में हम इसी प्रश्न पर विचार करेंगे कि मोक्ष प्राप्ति के उपाय क्या हैं ?

मोक्ष के दो मार्ग : ज्ञान और क्रिया

स्थानांग सूत्र के दूसरे स्थान में बताया गया है—मोक्ष मार्ग का पथिक अणगार दो मार्गों पर चलता हुआ इस अनादि-दीर्घ संसार रूप कांतार (जंगल) का पार पा सकता है—

दोहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अणाइयं, अणवदग्गं दीहमद्धं संसारकंतारं वीइवएज्जा, तं जहा—

विज्जाए चेव, चरणेण चेव।[1]

---

1 स्थानांग सूत्र २।१।६५

दो कारणों से इस संसार अटवी का पार पाया जा सकता है। ये दो कारण (मार्ग) हैं—विद्या और चारित्र !

विद्या का अर्थ है—ज्ञान और चारित्र का अर्थ है—संयम ! ज्ञान और क्रिया—ये दो मोक्ष के मार्ग हैं। सूत्रकृतांग में भी इसी बात पर बल देकर कहा गया है—

आहंसु विज्जा चरणं पमोक्खो—[1]

विद्या और चरण—अर्थात् ज्ञान और कर्म के समन्वय से ही मुक्ति हो सकती है। इसीलिए मोक्ष मार्ग के पथिक मुमुक्षु जनों को **'विज्जाचरण पारगा'**—विद्या और चरण के पारगामी कहा गया है।

प्रसिद्ध निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु ने एक दृष्टांत देकर बताया है—"किसी जंगल में एक पंगु मनुष्य पड़ा था, उसने देखा कि जंगल में भयंकर आग लग गई है, धू-धूकर लपटें उठ रही हैं, बड़े-बड़े वृक्ष जलकर राख हो रहे है। आग की लपटें बढ़ती हुई उसकी ओर आने लगीं। पांगले मनुष्य का कलेजा धक्-धक् करने लगा, जंगल के सभी जीव इधर-उधर दौड़ रहे थे, पर बिचारा पंगु आग को पास में आती देखकर भी हताश-निराश बैठा रहा, उसके पांव नहीं थे, चल नहीं सकता था, देखकर भी करे तो क्या करे ? वह मन ही मन भगवान का नाम ले रहा है, और जोर-जोर से पुकार रहा है—"कोई परोपकारी मनुष्य इधर आकर मुझे बचालो !"

तभी एक सूरदास महाराज रास्ते में भटकते हुए उधर आ गये। 'जंगल में हाहाकार क्यों मच रहा है ?' पर कौन उत्तर दे। वह इसी प्रकार चिल्लाता हुआ उधर ही जाने लगा, जिधर आग की लपटें उछल रही थी। पंगु महाराज ने देखा तो पुकारा—"सूरदास महाराज ! कहां जा रहे हो ?"

सूरदास—"यह क्या हो रहा है ?"

---

१ सूत्रकृतांग १।११

पंगु—"अरे महाराज ! आपको पता नहीं, जंगल में आग लग गई है, आग ! जिधर आप जा रहे हैं, उधर ही आग की लपटें बढ़ी आ रही हैं, कहीं भुन जाओगे।"

सूरदास घबराकर बोला—"भाई ! मुझे तो कुछ दिखाई नहीं दे रहा है। किधर जाऊँ ? तुम मुझे रास्ता बता दो, भगवान तुम्हारा भला करेगा ...... !"

पंगु मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न हुआ, कहा—"महाराज ! रास्ता तो मैं बता दूं, किन्तु मैं चल नहीं सकता, आंखें तो हैं, किंतु भगवान ने पांव छीन लिये...चलूं कैसे...?"

सूरदास की बांछें खिलगई, बोला—"भाई ! पांव न हो तो, क्या है, आंखे सलामत चाहिए, यही बड़ी चीज है, देख पांव तो मेरे बड़े मजबूत हैं, पांच मन भार कंधे पर उठाकर चल सकता हूं, बस रास्ता दिखाना चाहिए।"

पंगु ने कहा—"बाबा, तब तो घी-खीचड़ी मिल गई, आओ मैं तुम्हें रास्ता बताऊंगा।"

सूरदास—"बैठो, मेरे कंधे पर ! तुम रास्ता दिखाते जाओ, मैं चलता हुआ अभी इस जंगल से पार हो जाता हूँ, चलो दोनों मिल गये तो दोनों की ही सवा लाख की जान बच गई, वर्ना आज दोनों का सकरकंद सिक जाता।"

इस प्रकार पंगु अंधे के कंधे पर बैठ गया, और दोनों ने मिलकर अग्नि-ज्वालाओं से दहकते उस जंगल को पार कर लिया। जब तक दोनों मिले नहीं, तो दोनों कष्ट पाते रहे—

पासंतो पंगुलो दड्ढो धावमाणो य अंधओ—

पंगु देखता हुआ भी जलता रहा, अंधा दौड़ता हुआ भी आग की लपटों में फंस गया।

इस कहानी का सार बताते हुए आचार्य भद्रबाहु ने कहा है—

संजोग सिद्धीइ फलं वयंति

न हु एग चक्केण रहो पयाइ।

अंधो य पंगू य वणे समिच्चा
ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा।[1]

—संयोग सिद्धि (ज्ञान और क्रिया का संयोग) ही संसार में फलदायी कही जाती है। इसी से मोक्ष रूप फल की प्राप्ति होती है। एक पहिए से कभी रथ नहीं चलता। जैसे अंधा और पंगु मिलकर वन के दावानल से बचकर नगर के सुरक्षित स्थान में पहुंच गये, दोनों ने ही अपना जीवन बचा लिया, वैसे ही साधक ज्ञान और क्रिया के समन्वित रूप के साथ चलकर मोक्ष रूप नगर को प्राप्त कर लेता है, अपनी मंजिल पर पहुंच जाता है।

ज्ञान-क्रिया का यह महत्त्व प्रत्येक विचारक और प्रत्येक अध्यात्मवेत्ता ने माना है। महर्षि वशिष्ठ ने कहा है—

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां जायते परमं पदम्।[2]

—जिस प्रकार पक्षी को आकाश में उड़ने के लिए दो परों की आवश्यकता होती है, दोनों पर बराबर होने से ही उड़ सकता है उसी प्रकार ज्ञान और कर्म—दोनों के समन्वय से ही परमपद अर्थात् मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

जैसे सृष्टि में दिन-रात का, धूप-छांह का, नर-नारी का युगल है, दोनों सही रहने से ही सृष्टि का क्रम ठीक से चलता है, वैसे ही ज्ञान-क्रिया मोक्ष यात्रा का अनिवार्य युगल है, जोड़ी है, इन दोनों में से एक को भी छोड़ देने से काम नहीं चलेगा। क्रिया के बिना ज्ञान पंगु की तरह पड़ा रहेगा और ज्ञान के बिना क्रिया अंधे की तरह भटकती रहेगी।

गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा—"कुछ लोग शील (आचार) को श्रेष्ठ मानते हैं और कुछ श्रुत (ज्ञान) को इन दोनों में कौन ठीक है कौन श्रेष्ठ हैं……?"

१　आवश्यक निर्युक्ति १०१
२　योगवाशिष्ठ, वैराग्य प्रकरण १।७

भगवान ने उत्तर दिया—"न अकेला शील ठीक है, और न अकेला श्रुत। शील और श्रुत—चारित्र और ज्ञान दोनों एक साथ मिलेंगे तभी साधना ठीक चल सकेगी। अतः जो शीलवान (सदाचारी) और श्रुतवान (ज्ञानी) है वही वास्तव में धर्म का सच्चा आराधक है—

सीलवं सुयवं, उवरए विन्नायधम्मे....[1]

शीलवान और श्रुतवान ही धर्म का ज्ञाता और विषयों से विरक्त हो सकता है।

इस प्रकार आप देखेंगे कि मोक्ष की प्राप्ति का—हमारे समक्ष ज्ञान और क्रिया का समन्वित मार्ग है।

तीन मार्ग

ज्ञान और क्रिया का विस्तार करके कहीं-कहीं पर मोक्ष के साधन रूप तीन मार्ग भी बताये गये हैं। आचार्य भद्रबाहु ने कहा है—

णाणं पयासगं, सोहवो तवो
संजमो य गुत्तिकरो।
तिण्हं पि समाजोगे,
मोक्खो जिणसासणे भणिओ।[2]

ज्ञान प्रकाश करने वाला है, तप आत्मा की शुद्धि करने वाला है, और संयम पाप-मार्गों का निरोध करने वाला है, बस, इन तीनों का सम-योग अर्थात् तीनों की उचित आराधना करने से ही मोक्ष मिलता है, इन्हें ही मोक्ष समझ लें तब भी ठीक है।

भगवान महावीर स्वामी ने अपने अंतिम प्रवचन में मोक्ष का मार्ग बताते हुए शिष्यों से कहा है—

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए
अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए।

---

१ भगवती सूत्र १०।८

२ आवश्यक निर्युक्ति गाथा १०३

रागस्स दोसस्स य संखएणं
एगंतसोक्खं समुवेई मोक्खं ।[1]

—जब आत्मा के समस्त अज्ञान और मोह दूर हट जाते हैं, निरावरण रूप केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है, जिसके प्रकाश में समस्त लोकालोक हथेली की रेखाओं की तरह जाना-देखा जाता है, और आत्मा के घोर शत्रु, राग-द्वेष का क्षय हो जाता है, तो फिर आत्मा को एकांत सुखरूप मोक्ष प्राप्त करने में कोई समय नहीं लगता ।

इन्ही तीन मार्गों की चर्चा करते हुए आचार्य उमास्वाति ने कहा है—

सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः ।[2]

तत्त्वार्थ सूत्र का यह पहला ही सूत्र है, इसी पर समूचे जैन दर्शन रूप महल की नींव टिकी है । क्योंकि जब तक सम्यक् दर्शन नहीं होता, तब तक ज्ञान भी सम्यक् नहीं होगा । मुख्य वस्तु मन का विश्वास है, आस्था है । आस्था सच्ची है, तो ज्ञान भी सच्चा है, आस्था ही झूठी है, तो समझलो नींव खोखली है । विना आस्था का मनुष्य विना दस्तखत का पत्र है । विना हस्ताक्षर का चैक है । चैक चाहे एक लाख रुपये का हो, आप बैंक में ले जाकर दे देंगे तो बैंक आपको पैसा दे देगा, पर कब ? जब उस पर हस्ताक्षर सही होंगे । यदि चैक देने वाले का हस्ताक्षर सही नहीं होगा तो बैंक आपको बैरंग ही लौटा देगा, एक पैसा भी नहीं मिलेगा ।

तो यही बात आस्था की है, सम्यक् दर्शन जब हो जाता है, तो ज्ञान भी सम्यक् होता है, और तब जो आचरण किया जाता है, वह मोक्षरूप फल भी देने वाला होता है, तो ये तीन मार्ग बताये हैं मोक्ष के—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र !

मोक्ष साधना के मार्ग में ज्ञान-दर्शन-चारित्र इन तीनों की कितनी घनिष्ठता है, तथा तीनों किस प्रकार एक दूसरे के पूरक हैं, इस बात को कई युक्तियों से समझाया गया है । जैसे—

---

१ उत्तराध्ययन ३२।२
२ तत्त्वार्थ सूत्र १।१

हरड़-बेहड़े-आंवला त्रिफला हरै त्रिदोष।
ज्ञान-दर्श-चारित्र त्रय देत मनुज को मोक्ष।
मेदा-सक्कर-घीय से सीरो वणै सटाक।
ज्ञान-दर्श-चारित्र ते मिटे कर्म की छाक।
तेल-बती-दीपक मिलत अंधकार को नास।
ज्ञान-दर्श-चारित्र ते मिले मोक्ष को वास।
दाम-ठाम-हिय तीन ते बढ़ै विणज व्यापार।
ज्ञान-दर्श-चारित्र तिहुं करदे भव जल पार।
जल-वायु-अरु अग्नि त्रय करे यंत्र विस्तार।
ज्ञान-दर्श-चारित्र तें छूटे आतमविकार।
नीम-गिलोय-चिरायता ज्वरनाशक ये तीन।
ज्ञान-दर्श चारित्र तिन राग-द्वेष क्षय लीन।
मसि-कागज-अरु लेखिनी लिखे जु मन का भाव।
ज्ञान-दर्श-चारित्र तें समजे आत्म-स्वभाव।
वर्षा-धरती-बीज तें होवे शाख सवाय।
ज्ञान-दर्श-चारित्र तें क्रोड़ों अघ मिट जाय।[1]

चलने से पहले अपनी शक्ति को तोलकर देख लेना चाहिए। धीरे-धीरे चलने की शक्ति हो तो कोई बात नहीं, श्रावक धर्म बताया गया है, धीरे-धीरे ही चलो, पर चलते रहो, यह नही कि एक कोस चले और वहीं रुक गये, बैठ गये, थक गये और ली हुई जिम्मेदारी छोड़ भागे। यह मार्ग तो ऐसा है, जो चल पड़ा उसे सतत चलते ही रहना चाहिए। हर समय उसके कानो में यही मंत्र गूँजता रहे—

चरैवेति चरैवेति
चरन् वै मधु विंदति
चरन् भद्राणि पश्यति

चलते रहो, चलते रहो, चलने वाला ही अमृत प्राप्त करता है, चलने वाला ही मंगल और कल्याण के दर्शन करता है। इसलिए साधक को बार-बार यही प्रेरणा दी गई है—

ओ चलने वाले, रुकने का तुम नाम कहीं भी मत लेना,
पथ में जो बाधाएँ आयें, विजय उन्हीं पर कर लेना।

हां, तो यह बता रहा था मैं कि मोक्ष प्राप्ति के ये चार मार्ग भी बताये गये हैं। वैसे इनके नाम चार है, किन्तु देखा जाय तो सब एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, ज्ञान जहाँ होगा, वहां दर्शन अर्थात् श्रद्धा (सम्यक्त्व) भी होगी, क्योंकि श्रद्धा शून्य ज्ञान निर्बल होता है। उस ज्ञान में कोई शान्ति नहीं, बल नहीं, और तेज नहीं, जिस ज्ञान में श्रद्धा नहीं हो। भगवान ने तो यहाँ तक कह दिया है कि जिसे सम्यक्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई हो उसे सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति हो ही नहीं सकती—

नादंसणिस्स नाणं
नाणेन विणा न हुंति चरणगुणा।[1]

और सम्यक् ज्ञान के बिना चारित्र भी नहीं, चारित्र के बिना तप नहीं, और यह चारों नहीं तो फिर कुछ भी नहीं। बारह में से चार निकल गये तो....?

---

१ उत्तराध्ययन २८।३०

—क्षमा, संतोष, सरलता और नम्रता-ये चार धर्म रूप नगर में प्रवेश करने के लिए द्वार हैं। जिस जीवन में ये द्वार खुले होंगे, वही धर्म-नगर में प्रवेश कर सकेगा।

इन्हीं विचारों की प्रतिध्वनि वैदिक साहित्य में भी मिलती है। महर्षि वशिष्ठ ने भी कहा है—

मोक्षद्वारे द्वारपाला श्चत्वारः परिकीर्तिताः।
शमो विचारः सन्तोषश्चतुर्थः साधुसंगमः॥[1]

—मोक्ष द्वार के चार द्वारपाल हैं—शम—(वैराग्य) विचार (ज्ञान) संतोष और साधु संगति। इन चारों की सेवा किये बिना मोक्ष नगर में प्रवेश नहीं हो सकता। अर्थात् ये भी मोक्ष प्राप्ति के चार साधन हैं।

विविध दृष्टियाँ

आप जानते हैं—जैन धर्म स्याद्वादी है, अनेकांतवादी है, वह प्रत्येक विषय को अनेक दृष्टियों से सोचता है, समझता है। जैसे वैज्ञानिक लोग आजकल उपग्रह छोड़कर चन्द्रमा के तरह-तरह के चित्र ले रहे हैं, अलग-अलग दिशाओं के फोटू लेकर फिर सब को मिलाकर देखते हैं कि कुल मिलाकर—चन्द्रमा का रूप कैसा है? वहां क्या-क्या है? इसी प्रकार जैन धर्म में अनेक दृष्टियों से विचार करके अलग-अलग बातें बताई गई हैं, धर्म के अलग-अलग चित्र प्रस्तुत किये गये हैं—मोक्ष के अलग-अलग उपाय बताये गये हैं—कुछ तो मैंने आपके समक्ष रखे है। कुछ और रख रहा हूं किन्तु आगे चलकर फिर सब एकत्रित हो गये हैं। जैसे सब नदियाँ एक समुद्र में मिल जाती हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया है—

तस्सेस मग्गो गुरु विद्धसेवा
विवज्जणा बालजणस्स दूरा।

---

१ योगवाशिष्ठ ११।५६

सज्झाय एगंत निसेवणा य
सुत्तत्थ संचितणया धिई य।[1]

उस एकांत सुख रूप मोक्ष स्थान तक पहुंचने का मार्ग है—गुरु एवं वृद्ध जनों की सेवा, अज्ञानी और मूर्खजनों से दूर रहना, स्वाध्याय करना, एकांत निर्दोष शुद्ध स्थान में रहना, और धृति से सूत्र-अर्थ का चिन्तन करते रहना। यह है मोक्ष का मार्ग।

मुख्य रूप से इसमें भी ज्ञान और चारित्र की विशेष साधना ही वताई गई है, भाषा अवश्य भिन्न है, किन्तु भावना में कोई अन्तर नहीं है। यह सब साथ-साथ तप-चारित्र और ज्ञान के ही अंग है।

आचार्य हरिभद्र ने एक स्थान पर मुक्ति का एक मार्ग वताते हुए कहा है, "**कषाय मुक्तिः किल मुक्तिरेव**—कषायों से मुक्त होना ही मुक्ति है। कषाय विजय ही मोक्ष का एक मार्ग है। यह भी बात सही है, कषायों को जीते विना राग-द्वेष का क्षय नहीं होगा और वीतराग बने विना मुक्ति कैसे होगी?

एक सूक्ति यह भी प्रसिद्ध है—

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात !
विषान् विषवत् त्यज !

वंधु ! यदि मुक्ति चाहता है, तो विषयों को विष समझकर छोड़ दे ! जब तक विषय वासना मन से नहीं हटेगी, तव तक मुक्ति नहीं होगी। क्योंकि विषयों के चिन्तन से मन अपवित्र होता है, विषयों के आचरण से चारित्र का पतन होता है और अपवित्र एवं पतित व्यक्ति को भी यदि मुक्ति मिल जाये तो फिर संसार पवित्रता और सदाचार का नाम ही भूल जायेगा।

इस प्रकार मोक्ष मार्ग की विविध दृष्टियां हमारे सामने आई हैं, विविध मार्ग वताये गये हैं, इन मार्गों की विविधता से घवराने की या चिंता करने की आवश्यकता नहीं है कि अव किस रास्ते से चलें ? कौन सा रास्ता ठीक है ? वास्तव में ये सभी रास्ते ठीक हैं, सभी मार्ग आपको उसी केन्द्र

---

१ उत्तराध्ययन ३२

पर पहुंचायेंगे। जैसे बड़े नगर में पहुंचने के अनेक दिशाओं से अनेक मार्ग होते हैं, सभी मार्ग आकर उसके मुख्य केन्द्र पर मिल जाते हैं, यही बात इन मार्गों की है। फिर जैन धर्म तो समन्वयवादी है, वह विभिन्न मार्गों को देखकर झगड़ा नहीं करता, किंतु उनमें समन्वय करता है, वह कैंची का काम करने वाला धर्म नहीं, किंतु सूई का काम करने वाला है, टुकड़ों को जोड़ने वाला धर्म है। इसी दृष्टि से भगवान ने सब मार्गों को समन्वय करते हुए कहा है—

जे आसवा ते परिस्सवा
जे परिस्सवा ते आसवा ।[1]

जितने भी आश्रव—अर्थात् कर्म आने के, संसार में भटकने के मार्ग हैं, उतने ही, अर्थात् वे सब मोक्ष के मार्ग बन सकते हैं, उन सब मार्गों से साधक निर्जरा भी कर सकता है, सिर्फ उसकी दृष्टि शुद्ध चाहिए। ध्येय मोक्ष का चाहिए, फिर तो विष भी अमृत बनाया जा सकता है। आचार्य ने कहा है—

जे जत्तिआ अ हेउ भवस्स
ते चेव तत्तिया मुक्खे ।[2]

जो, जितने हेतु, कारण संसार के हैं, वे और उतने ही हेतु मोक्ष के बन सकते हैं, बस, बनाने की कला आनी चाहिए। वह कला है वीतराग, दृष्टि !

समन्वय

बंधुओ ! इस प्रकार अनेक बातें, अनेक मार्ग आपके सामने मैंने बताये हैं, शायद यह सुनकर आप भ्रम में पड़ गये होंगे कि अब कौन से मार्ग का आचरण करें ! ज्ञान, क्रिया, दान, शील, तप, भाव, गुरु सेवा, स्वाध्याय सूत्र चिंतन, एकांत निसेवन, कषायपरिहार, विषयत्याग, शम, संतोष, वैराग्य, सरलता आदि विविध मार्ग आपने बता दिये, इनका निश्चय करना

---

१ आचारांग सूत्र १।४।२
२ ओघनिर्युक्ति ५३

तप की परिभाषा

आपके सामने दो बातें स्पष्ट हो जानी चाहिए कि हमारा लक्ष्य क्या है? और उस लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन क्या है? लक्ष्य है मोक्ष ! और उसका साधन है—तप !

शायद तप के नाम से आप चौंक उठेंगे ! जैसे बच्चा सिंह का या भूत का नाम सुनकर भयभीत हो उठता है, उसके रोंगटे खड़े हो जाते हैं, कानों की लवें लाल-लाल हो जाती हैं, वैसे ही तप का नाम सुनकर शायद् आपकी हालत हो जाये ! आप सोचेंगे—तप " ? भूख मरना ? पेट पर पाटी बांधना ····ओह ! कितना कठिन काम है ? मनुष्य तलवारों के घाव सह सकता है, बाणों की पीड़ा भी हँसते-हँसते सह सकता है, किंतु भूख नहीं सह सकता । 'भूख भूवाजी पाजी' इसीलिए तो कही गई है ! इसीलिए तो हमारे यहाँ के बारठ जी कहते रहे हैं—"**सबै बात खोटी एक सिरै दाल रोटी है ।**"

किंतु बंधुओ ! किसने बताया कि तप का अर्थ केवल भूखों रहना है । जिस तप के नाम से आपके कान खड़े हो जाते हैं, आपको मालूम भी है वह तप क्या है ? या खाली तप को बच्चों का 'हौवा' समझ रखा है । आइये,

६५०-७५०) ने भी तप की व्युत्पत्तिजन्य परिभाषा करते हुए यही बात कही है—

तप्पते अणेण पावं कम्ममिति तपो ।[1]

जिस साधना आराधना से, उपासना से पाप कर्म तप्त हो जाते हैं—उसे तप कहा जाता है। जैसे पहाड़ों पर बर्फ जमती है, पानी की बड़ी-बड़ी चट्टानें बन जाती हैं, उन पर चलो तो पांव फिसलने लगता है, ठिठुरने लगता है, किन्तु यदि कोई उन चट्टानों के पास में आग जलादे, तो उसके ताप से वे चट्टानें धीरे-धीरे पिघलने लगती हैं और पानी बन कर बह जाती हैं। इसी प्रकार आत्मा पर कर्मों की बड़ी बड़ी बर्फीली चट्टानें जमीं हैं, जब तप की अग्नि प्रज्वलित होती है तो उसके ताप से ये चट्टानें पिघल कर बह जाती है। इसलिए उन कर्म रूप हिमखण्डों को उत्तप्त करने वाली शक्ति को 'तप' कहा गया है।

आचार्य अभयदेवसूरि ने तप का निरुक्त—शाब्दिक अर्थ करते हुए कहा है—

रसरुधिर मांस मेदाऽस्थि मज्जा शुक्राण्यनेन तप्यन्ते, कर्माणि वाऽशुभानी-त्यतस्तपो नाम निरुक्तः ।[2]

—जिस साधना के द्वारा शरीर के रस, रक्त, मांस, हड्डियां, मज्जा, शुक्र आदि तप जाते हैं, सूख जाते हैं, वह तप है, तथा जिसके द्वारा अशुभ कर्म जल जाते हैं वह तप है। यह तप की शाब्दिक परिभाषा है, जिसे संस्कृत में निरुक्त कहते हैं। तप से देह भी जर्जर हो जाती है, शास्त्रों में तपस्वियों का वर्णन किया है—**सुक्खे, लुक्खे निम्मंसे**—'शरीर लूखा, सूखा, मांस रहित, रक्त रहित हड्डियों का ढांचा मात्र बनजाता है, और कर्म तो उससे निर्मूल होते ही हैं। इस प्रकार देहगत प्रभाव और आत्मगत प्रभाव—दोनों ही दृष्टियों से तप की परिभाषा की है—तप्त करने वाला तप !

---

१ निशीथचूर्णि ४६

२ स्थानांग वृत्ति ५।

कायक्लेश और कायोत्सर्ग तप होगा ! मन के अहंकार और कषायों का त्याग होगा—तभी विनय तप एवं वैयावृत्य तप होगा। इस प्रकार जबतक इच्छाएँ नहीं रुकेंगी तब तक तप नहीं हो सकेगा, सिर्फ मुंह पर या पेट पर पट्टी बांध लेने से कोई तपस्वी नहीं हो सकता किन्तु जो इच्छाओं पर संयम कर लेगा, मन को जीत लेगा तभी वह तपस्वी हो सकेगा। हां, तो इसी दृष्टि से तप का अर्थ हुआ—इच्छाओं का संयम ! इच्छाओं का निरोध !

तप की इस परिभाषा ने यह स्पष्ट उद्घोषित कर दिया है कि जो परम्पराएँ सिर्फ देहदमन मात्र को तप मानती हैं वे तप के संपूर्ण स्वरूप से अनभिज्ञ है। तप वास्तव में देह दमन तक सीमित नहीं है उसका अंकुश इच्छा और वासना पर रहता है। इस परिभाषा ने तप के बाह्य और आभ्यन्तर—ये दो स्वरूप बताकर दोनों को ही महत्व दिया है।

संयम भी तप है :

शास्त्रों में जहां-जहां संयम का वर्णन आया है, वहां-वहां तप का वर्णन अवश्य आया है, क्योंकि जैसे जल के बिना मछली जीवित नहीं रह सकती, हवा के बिना अग्नि प्रज्वलित नहीं हो सकती, वैसे ही संयम के बिना तप की साधना भी चल नहीं सकती, वास्तव में संयम और तप दो शब्द हैं, दोनों का भाव एक ही है। इन्द्रिय संयम, मन संयम, वचन संयम, ये सब तप के ही अन्तर्गत आते हैं। भगवान महावीर ने धर्म का स्वरूप बताते हुए कहा है—

अहिंसा संजमो तवो[1]

धर्म—अहिंसा, संयम एवं तप रूप है। ऊपर से तीनों शब्दों का अर्थ अलग-अलग लगता है, किन्तु गहराई में उतरने से तीनों में ही अभेद दृष्टिगोचर होगा। तीनों एक ही वस्तु के तीन दृश्य जैसे लगेंगे। इसलिए मुख्य रूप से संयम, नियम, इच्छा-निरोध आदि को तप ही कहा जा सकता है। आचार्य सोमदेव सूरि ने कहा है—

इन्द्रियमनसो नियमानुष्ठानं तपः[2]

---

१ दशवैकालिक १।१

२ नीतिवाक्यामृत १।२२

पांच इन्द्रियाँ-स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु एवं श्रोत्र, और मन इनको वश में करना, इन पर संयम रखना, इच्छाओं पर अंकुश लगाना—बस इसी का नाम तप है। यही तप की सर्वमान्य परिभाषा है।

तप का जैसा व्यापक और विस्तृत वर्णन जैन आगमों व ग्रन्थों में किया गया है—उसके अनुशीलन से यह निश्चित ही पता चलता है कि—जैन धर्म की समस्त साधना जो आचार प्रधान और ज्ञान प्रधान है, वह सब तपोमय ही है, तप का क्षेत्र इतना व्यापक माना गया है कि स्वाध्याय, अध्ययन, सेवा, भक्ति, अनशन, प्रायश्चित्त आदि जीवन की समस्त क्रियाएं ही उसके अन्तर्गत आती हैं। अगले प्रकरणों में पृष्ठ स्वयं यह बतायेंगे।

तप की महिमा

जैनेतर ग्रन्थों में

तप तेज है

संसार में वही जीवन श्रेष्ठ होता है जो तेजस्वी होता है, प्रभावशाली, ओजस्वी और ज्योतिर्मय होता है। तेजोहीन, ज्योतिहीन निष्प्रभ-जीवन निष्प्राण शरीर के समान है।

आपको जानना चाहिए कि जीवन में 'तेजस्' ही मुख्य तत्त्व है। इसी तेजस् तत्व को 'तप' कहा जाता है। वैदिक संहिताओं में प्रायः तपस् के स्थान पर व तपस् के अर्थ में 'तेजस् शब्द का ही प्रयोग किया गया है। तेजस्वी बनने के लिए 'तपस्' की साधना का उपदेश किया गया है।

तप रहित जीवन मिट्टी का वह दीपक है, जिसके पास आकार तो है, किन्तु ज्योति नहीं है, क्या ऐसे ज्योतिहीन हजार-लाख दीपकों से भी कुछ बनने वाला है ? "दीव सयसहस्स कोडीवि ?"[1] उन करोड़ों दीपकों से भी क्या लाभ है, जिनमें ज्योति नहीं है।

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति ९८

कहावत है—

अमावस की रात आये बराती,
घर में खाये ठोकर, न तेल, न बाती।

तो तप रहित जीवन भी ऐसा मिट्टी का दीपक है, जिसमें न तेल है न बाती, वह किसी भी काम का नहीं, उसका कोई महत्व नहीं!

जैसे फूल तो हो, पर उसमें मीठी सुगन्ध न हो, देखने में बड़ा सुन्दर लगे, आखें तो ललचाती रहें, किन्तु जब नाक के पास लें तो बस, मुरझा हो जाय ""न सौरभ न परिमल!—जिसके लिए कहा जाता है—

रूप रूड़ो गुणवायरो
रोहीड़ा रो फूल!

नदी में यदि जल न हो, अग्नि में यदि तेज न हो, गाय को यदि दूध न हो, तो जैसे वे निरुपयोगी और सारहीन मानी जाती है, वैसे ही तप रहित जीवन-सारहीन, महत्वहीन, तेजोहीन और पृथ्वी का भारभूत माना जाता है। क्षत्रिय में यदि तेज न हो, घोड़े में यदि तेजी न हो और साधक में यदि तपस् की तेजस्विता न हो तो वे मिट्टी माने जाते हैं।

राजस्थानी में कहावत है—**दीधी पण लागी नहीं रीतै चूल्है फूंक**—चूल्हा खाली पड़ा हो, ठंडा पड़ा हो. देवता-अग्नि बुझ गयी हो, एक भी चिनगारी न हो और भोजन बनाने वाली बहन लकड़ियाँ डालकर फू-फू-फूंक मारती रहें तो क्या होगा? राख उड़कर उलटी मुंह पर ही तो आयेगी! आँखों में राख भर जायेगी। न ज्योति जलेगी, न खाना पकेगा। एक नहीं, हजार लाख फूंक भी बेकार है, ठंडे चूल्हे पर! इसी प्रकार तप अग्नि से शून्य जीवन—'ठंडा जीवन है, खाली चूल्हा है, उसे कितनी ही प्रेरणा दो, कोई लाभ नहीं!'

तप जीवन का प्राण है, जीवन का ही क्या, धर्म का, संस्कृति का, राष्ट्र का और समस्त विश्व का प्राण तत्व है। वैदिक ग्रन्थों में बताया गया है—

तपसा वै लोकं जयन्ति[1]

---

१ शतपथ ब्राह्मण ३।४।४।२७

तप रूप तेजस् शक्ति के द्वारा ही मनुष्य संसार में विजय श्री एवं समृद्धि प्राप्त कर सकता है।

सिद्धियों का मूल : तप

जितनी भी शक्तियां हैं, विभूतियां हैं, लब्धियां है, यहां तक कि केवल ज्ञान और मोक्ष भी जो हैं, वह तप के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। समूचे धर्म ग्रन्थों के इतिहास में, संसार के इतिहास में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलेगा कि तप के बिना किसी ने कुछ लब्धि, उपलब्धि, ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त की हों। तप से असंख्य शक्तियां प्राप्त होती हैं। अगणित विभूतियां प्राप्त होती हैं। शास्त्र में कहा हैं—

परिणाम तव वसेणं इमाइं हुंति लद्धीओ।[1]

जितनी भी लब्धियां हैं, वे सब तप का ही परिणाम हैं। तप: साधना से आत्मा में अद्‌भुत ज्योति प्रदीप्त होती है, एक विचित्र, प्रबल शक्ति जाग्रत होती है, और उस शक्ति से आत्मा में ये समस्त विभूतियां ऐसे प्रस्फुटित हो जाती हैं जैसे कमल कलिका में अपूर्व रूप एवं सौरभ।

कहावत है—वर्षा भी कब होती है, जब सूर्य तपता है, यदि जेठ में सूर्य न तपे, मिगसर पौष जैसा ठंडा बना रहे तो क्या समय पर वृष्टि हो सकती है ? और वृष्टि के बिना सृष्टि का क्या हाल होगा ? तो सृष्टि का आधार वृष्टि है, और वृष्टि का कारण है सूर्य का तपना ! यह तो एक प्राकृतिक उदाहरण है जिसे आस्तिक और नास्तिक सभी स्वीकार करते हैं, मुझे आश्चर्य है इस बात का कि प्राकृतिक उदाहरण आपके सामने होते हुए भी आप यह क्यों नहीं समझ सकते कि जीवन की सृष्टि में भी सद्‌गुणों की वृष्टि तभी होगी, प्रभाव और तेज की वृद्धि तभी होगी जब जीवन तपेगा, तप से निखरेगा, तेजस्वी बनेगा। भारतीय संस्कृति का एक प्रसिद्ध सूक्त है—तपोमूला हि सिद्धयः—समस्त सिद्धियां तप: मूलक हैं, सब की जड़ तप है।

---

१. प्रवचन सारोद्धार, द्वार २९०, गाथा १४९२।

वैदिक ग्रन्थों में तप की गरिमा

वेदों एवं उपनिषदों में स्थान-स्थान पर तप की महिमा गाई गई है और बड़े ही मुक्त मन से, श्रद्धा भरे हृदय से !

कुछ सूत्र देखिए—

तपो मे प्रतिष्ठा[१]

तप ही मेरी प्रतिष्ठा है ।

श्रेष्ठो ह वेदस्तपसो ऽधिजातः[२]

श्रेष्ठ और परम ज्ञान तप के द्वारा ही प्रकट हो जाता है ।

यो ऽसौ तपति स वै शंसति[३]

जो तपता है, अपने कर्तव्य में जुटा रहता है, वह संसार में सर्वत्र यश कीर्ति प्राप्त करता है ।

तपो वाऽग्नि स्तपो वा दीक्षा[४]

तप एक अग्नि है, तप एक दीक्षा है ।

श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति[५]

श्रम (संयम—इन्द्रिय निग्रह) एवं तप के द्वारा संसार की रक्षा की जाती है ।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत[६]

ब्रह्मचर्य एवं तप के द्वारा देवताओं ने मृत्यु को जीत लिया, अर्थात् तप से ही वे अमर बन सके ।

सामवेद में बताया है—सरलात्मा देवताओं ने धूर्त एवं दुष्ट राक्षसों को कैसे जीता ? तो कहा कि अपने तपस् के द्वारा—

---

१ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।७।७०

२ गोपथ ब्राह्मण १।१।६

३ गोपथ ब्राह्मण २।५।१४

४ शतपथ ब्राह्मण ३।४।३।३

५ अथर्ववेद ११।५।४

६ अथर्ववेद ११।५।१६

दर्शन हो सकता है। महर्षि मनु ने तो कह दिया है कि संसार में जो कुछ है सो तप ही है—

यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम्
सर्वं तत् तपसा साध्यं तपोहि दुरतिक्रमः।[1]

संसार में जो कुछ भी दुस्तर है, दुष्प्राप्य है—अर्थात् कठिनता से प्राप्त होने वाला है, दुर्गम है, दुष्कर है वह सब कुछ तप के द्वारा पाया जा सकता है, साधा जा सकता है। तप की शक्ति के समक्ष अन्य कुछ भी दुष्कर नहीं है, जो दुष्कर है, दुर्लंघ्य है, वह स्वयं तप ही है। यही एक अमोघ महाशक्ति है, जो इसे साध लेता है वह संसार की समस्त कठिनाइयों पर, समस्त शक्तियों पर विजय प्राप्त कर सकता है। तप सब को जीत सकता है, तप को कोई नहीं जीत सकता।"

तो यह है तप की महिमा। अब बौद्धधर्म के पृष्ठों को भी पलट लीजिए, देखिए वहाँ भी कितने मुक्तमन से तप की महान् शक्तियों का, तप की सार्वभौमता का वर्णन किया गया है।

बौद्ध धर्म में तप का स्थान

हमारे जैन धर्म का एक निकट पड़ौसी धर्म है बौद्धधर्म ! जैन और बौद्ध दोनों ही श्रमण नाम से पुकारे जाते हैं। इन दोनों धर्म परम्पराओं में काफी निकटता भी रही है, यद्यपि आज भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का वह स्थान नहीं रहा, जो प्राचीन समय में था, फिर भी उस धर्म का विश्व में काफी फैलाव हुआ है। हां, तो बौद्ध धर्म में भी तप के सम्बन्ध में क्या विचार है—संक्षेप में मैं आपको बता दूं।

आमलोगों में यह धारणा है कि महात्मा बुद्ध तप के विरोधी थे। कहते हैं कि—छह वर्ष तक कठोर तपस्या करते-करते वे तप से ऊब गये थे, साधना में सफलता नहीं मिल रही थी। एक दिन वे उदासीन, चिन्ता-मग्न से बैठे थे, तभी कोई गायक मंडली उनके पास से निकली। उनमें एक अनुभवी गायिका किसी नवशिक्षित युवती से कह रही थी—"देखो, सितार के

---

१ मनुस्मृति ११।२२९

तारों को इतना ढीला न छोड़ो, कि वे वजे ही नहीं, और न इतना ज्यादा कसो, कि वस टूट जाये।"

तपस्या से उद्विग्न बुद्ध ने ये शब्द सुने तो उनके मन में एक प्रकाश सा जगा, कि सचमुच जीवन इतना आराम-भोगप्रधान भी नहीं होना चाहिये कि वह एकदम शिथिल, दुर्वल और क्षीण हो जाय कि संयम का स्वर भी नहीं सध सके, और न इतना कठोर, देहदण्ड भी हो कि वस मन अशांत और उद्विग्न रहे। ध्यान में स्थिरता व शान्ति भी न रह सके। इसी विचार से प्रेरित हो बुद्ध ने कठोर देह दण्ड का मार्ग छोड़कर मध्यम मार्ग अपनाया।

महात्मा बुद्ध के जीवन की यह घटना वहुत प्रसिद्ध है और मध्यम मार्ग के समर्थक इसका जोरदार शब्दों में मण्डन भी करते हैं। किन्तु वौद्ध धर्म को गहराई से पढ़ने वाले जानते हैं कि इस घटना के वावजूद भी उस धर्म में तप का महत्व कम नहीं हुआ। प्रारम्भ में बुद्ध स्वयं छह वर्ष तक कठोर तप करते रहे हैं। और इस घटना प्रसंग के वाद भी उन्होंने तपः साधना का मार्ग छोड़ा नहीं। मज्झिमनिकाय के महासीहनाद सुत्त में सारिपुत्र के समक्ष वे अपनी कठिन तपश्चर्या का रोमांचक वर्णन सुनाते हैं। अपने पूर्वजन्मों में की गई कठोर तपश्चर्या की अनेक कहानियां वे लोगों को वताते हैं और तपस्या की प्रेरणा भी देते हैं। जीवन रूप खेत में धर्म और सत्कर्म की फसल लगाने के लिए वे श्रद्धा को वीज वताते हैं और तपश्चर्या को वृष्टि—

सद्धा वीजं तपो वुट्ठि[1]

श्रद्धा मेरा वीज है, तप मेरी वर्षा है।

बुद्ध ने चार उत्तम मंगलों में 'तप' को सर्व प्रथम उत्तम मंगल माना है और इसकी आराधना की प्रेरणा दी है।[2]

एक वात यह भी जान लेनी चाहिए कि वैदिक और जैन दर्शन की भांति

---

१ सुत्तनिपात १।४।२

२ महामंगल सूत्र

बुद्ध ने तप को कठोर देह दण्ड के अर्थ में कम लिया है, चित्त शुद्धि के प्रयास के अर्थ में अधिक ! हां, यह बात भी समझ लेनी है कि जैन धर्म भी तप को केवल देहदण्ड नहीं मानता, चित्त शुद्धि, ध्यान आदि को भी वह तप ही मानता है, और इस प्रकार विचार करें तो जैन धर्म का आभ्यन्तर तप बौद्ध धर्म में भी अपनाया गया है।

बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए अति भोजन का वर्जन किया है, साथ ही एक समय भोजन का विधान भी ! रसासक्ति का निषेध है। प्रायश्चित के रूप में बौद्ध ग्रंथों में प्रावारणा का विस्तृत विधान है। स्वाध्याय एवं ध्यान का भी बौद्ध साधना में काफी विस्तार के साथ वर्णन है !

बुद्ध के निर्वाण के बाद तो सिद्ध, नाथ, धुतंग आदि साधुओं में तप की अनेक कठोर प्रक्रियाएँ चल पड़ीं। वे जंगलों में रहकर विविध प्रकार की तपश्चर्या करते थे।[१] इसीलिए डा० राधाकृष्णन बौद्ध साधकों की तपस्या के विषय में लिखते हैं—"यद्यपि बुद्ध सैद्धान्तिक दृष्टि से निर्वाण की उपलब्धि तपश्चर्या के अभाव में भी संभव मानते हैं फिर भी व्यवहार में तप उनके अनुसार अति आवश्यक सा प्रतीत होता है।[२] बौद्ध साधकों की तपस्या ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित तपश्चर्या से कम कठोर प्रतीत नहीं होती है।"[३]

भारत के वैदिक एवं बौद्ध-दोनों ही धर्मों में तप का अपार महत्व है, तप को जीवन-शुद्धि और सिद्धि का प्रमुख तत्त्व माना है।

---

१ दीपवंश

२ इंडियन फिलोसफी, पृष्ठ ४३६ प्रथम भाग

३ वहीं ,, ,,

से पुकारा गया है इससे यह पता चलता है कि पूर्वकाल में जैन मुनियों को निर्ग्रन्थ और श्रमण ही कहा जाता था।

भगवान महावीर ने साधु के चार नाम बताये हैं—

माहणे त्ति वा, समणे त्ति वा,

भिक्खु त्ति वा, निग्गन्थे त्ति वा।[1]

इन नामों पर विवेचना करते हुये वृत्तिकार आचार्य शीलांक ने बताया है—किसी भी प्राणी का हनन मत करो, अर्थात् सब प्राणियों पर दयाभाव रखो जिसकी ऐसी वृत्ति हो, वह माहन है—

मा हण त्ति प्रवृत्तिर्यस्याऽसौ माहनः।

(जो शास्त्र की नीति व मर्यादा के अनुसार तपः साधना करता हुआ कर्म बंधनों का भेदन करता है वह भिक्षु है—)

यः शास्त्रनीत्या तपसा कर्म भिनत्ति स भिक्षुः[2]

आचार्य भद्रबाहु ने भिक्षु की एक सुन्दर व्याख्या और की है—**जो भिंदेइ खुहं खलु सो भिक्खू भावओ होइ**[3] जो मन की भूख—अर्थात् तृष्णा एवं आसक्ति का भेदन करता है, वही भावरूप में भिक्षु है।

अब आप देखिये निर्ग्रन्थ का अर्थ क्या है? ग्रन्थि का अर्थ है—गांठ और परिग्रह। जो राग-द्वेष की गांठ से मुक्त हो, अथवा धन-धान्य आदि बाह्य परिग्रह एवं राग-द्वेष मोह आदि आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त हो, वह निर्ग्रन्थ है। निर्ग्रन्थ की परिभाषा करते हुए बताया गया है—**निर्गतो ग्रंथाद निर्ग्रन्थः**[4]—जो ग्रंथि अर्थात् गांठ से रहित है वह निर्ग्रन्थ है। आचार्य उमास्वाति ने प्रशमरति में बताया है—

ग्रन्थः कर्माष्टविधं, मिथ्यात्वाविरतिदुष्टयोगाश्च।

तज्जय-हेतोरशठं संयतते यः स निर्ग्रन्थः।[5]

---

१ सूत्रकृतांग १।१६।१

२ दशवैकालिक वृत्ति अध्ययन १०, (आचार्य हरिभद्र)

३ उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा ३७५

४ दशवैकालिक वृत्ति अध्ययन १, (आचार्य हरिभद्र)

५ प्रशमरति प्रकरण १४२

(—आठ कर्म, मिथ्यात्व, अव्रत और दुष्टयोग ये ग्रन्थ कहलाते हैं, जो इन्हें जीतने के लिए सरलभाव से प्रयत्न करता है, वह निर्ग्रन्थ है।)

श्रमण-तप का प्रतीक

जैनमुनि का एक नाम है—'श्रमण'! श्रमण का अर्थ क्या है? सीधी भाषा में कहें तो—श्रम करने वाला श्रमण! जो परिश्रम और मेहनत करता है वह श्रमण! आप कहेंगे परिश्रम तो हम भी करते हैं, एक मजदूर और किसान सबसे अधिक श्रम करता है, तो क्या उसे भी 'श्रमण' कहें। फिर तो सबसे अधिक मेहनत करने वाला ही सबसे बड़ा 'श्रमण' होगा और उसी के चरणों में सिर झुकाना चाहिए।

बंधुओ! श्रम करने वाला 'श्रमण' होता है यह तो ठीक है, पर उस श्रम का कुछ लक्ष्य और उद्देश्य भी तो होना चाहिए! मजदूर श्रम किस-लिये करता है? पैसे के लिये? और किसान दिन भर खेत में मेहनत करता है, आखिर किसलिये? अन्न उत्पादन के लिये? सीधे शब्दों में 'पेट भरने के लिये'? जो पेट भरने के लिये श्रम करता है, वह तो पेट का मजदूर हो गया। उसका श्रम 'मजदूरी' कहलायेगा! आप जानते हैं श्रम करने वालों की तीन कोटियाँ बताई गई हैं—

१ जो आत्मा और परमात्मा के लिये श्रम करता है, वह साधक है।
२ जो यश-कीर्ति और प्रतिष्ठा के लिये श्रम करता है वह नेता या कलाकार है।
३ जो पेट के लिये और पैसे के लिये श्रम करता है, वह मजदूर है।

अब आप समझ लीजिये कि जो साधु का वेश पहनकर भी यश और प्रतिष्ठा के लिये अथवा पेट पालने के लिए सिर्फ तप करता है, सेवा आदि करता है, तो वह साधु होकर भी साधु नहीं, मजदूर है। पेट का पाजी है। और जो घर में रहकर भी यदि आत्म-सुधार के लिए प्रभु पद प्राप्ति के लिये और लोक-कल्याण के लिए कष्ट करता है, तप करता है, तो वह गृहस्थ होकर भी साधक कहलाने का अधिकारी है।

हां, तो मेरे कथन का अभिप्राय है कि जो आत्म-साधना के लिये, पर-

उपकार के लिये, नर से नारायण बनने के लिए, जन से जिन बनने के लिए श्रम करता है, वही सच्चा श्रमण है। जैन आचार्यों ने उसे तपस्वी कहा है। देखिये आप प्राचीन आचार्यों के अमर वचन—

श्राम्यति तपसा खिद्यति इति कृत्वा श्रमणो वाच्यः[1]

जो श्रम करता है, अर्थात् तपःसाधना करता है, तप से शरीर को खेदखिन्न करता है—इस कारण उसे श्रमण कहा जाता है। यही बात आचार्य हरिभद्रसूरि ने कही है—

श्राम्यतीति श्रमणा तपस्यन्तीत्यर्थः[2]

वास्तव में श्रमण शब्द तपस्वी का ही वाचक बन गया है, और जैनमुनि कठोर तपस्या का प्रतीक माना गया है। जैन श्रमण का जीवन मंत्र ही तप था। तप ही उसका धर्म था।

महानता का मार्ग तप

जैन धर्म का इतिहास पढ़ेंगे तो पता चलेगा कि यहाँ जितने भी महापुरुष हुए हैं वे सब तपस्या करके हुए हैं। जितने भी ऊंचे और श्रेष्ठ पद हैं, उनको तप के द्वारा ही प्राप्त किया गया है। भगवान ऋषभदेव जो इस युग के आदि पुरुष थे उन्होंने एक हजार वर्ष तक कठोर तपस्या करके केवल ज्ञान प्राप्त किया। यह नहीं कि महापुरुष को वैसे ही कुछ सिद्धि प्राप्त हो जाये। वास्तव में तो तपस्या द्वारा ही महापुरुष बना जाता है। ऋषभदेव जैसे युग के आदिकर्ता को भी एक हजार वर्ष तक उग्र तप करना पड़ा।[3] भगवान महावीर ने भी बारह वर्ष और साढ़े छह मास तक कठोर उग्र और लोम-हर्षक तपःसाधना की थी, उनकी उग्र तपस्या को देखकर पास-पड़ौस के अनेक धर्माचार्य चकित हो गये थे, वे आश्चर्य और विस्मय के साथ भगवान महावीर की कठोर तपश्चर्या का उल्लेख भी करते

---

१ सूत्रकृतांग १।१६ की टीका, आचार्य शीलांक
२ दशवैकालिक वृत्ति १।३ आचार्य हरिभद्र
३ कल्पसूत्र १९६

एक महान साधक थे। उनके विषय में आज भी हम श्रद्धा के साथ यह पद्य बोलते हैं—

अंगूठे अमृतबसै लब्धितणां भंडार।
श्री गुरु गौतम सुमरियै बांछित फलदातार।

गौतम स्वामी के अंगूठे में अमृत भरा था—इसका क्या अर्थ है ? अर्थात् तपस्या के द्वारा उनके शरीर का रोम-रोम, प्रत्येक अंग रसायन बन गया था, पारस बन गया था, अमृत हो गया था। जिस वस्तु को भी उनका स्पर्श हो जाता, वह कंचन हो जाती। यह लब्धि कठोर तप:साधना के द्वारा ही उन्हें प्राप्त हुई थी। भगवान महावीर ने गौतम गणधर की कठोर तप:-साधना का वर्णन करते हुए शास्त्रों में स्थान-स्थान पर बताया है—**उग्गतवे-घोरतवे·तत्ततवे, महातवे**[1] गौतम बड़े उग्रतपस्वी घोरतपस्वी और एक अद्भुत महान तपस्वी थे। तपस्या के द्वारा उनका शरीर अग्नि में तपे स्वर्ण की भाँति, कसौटी पर खिची स्वर्ण रेखा की भाँति दमकने लग गया था। और उनका तपश्चरण दुर्धर्ष तो इतना था कि साधारण मनुष्य उसकी कल्पना करने मात्र से कांप उठता था। आचार्य अभयदेव सूरि ने लिखा है—**यदन्येन प्राकृत पुंसा न शक्यते चिन्तयितुमपि तद्विधेन तपसा युक्तः**[2] साधारण मनुष्य जिस उग्र तपश्चरण की कल्पना भी नहीं कर सकता ऐसा, उग्रतप-श्चरण गौतम करते थे। इसी कठोर तप:साधना के द्वारा उनका शरीर कंचन कहो, पारस कहो या अमृत कहो वह बन गया था। इसी तपस्या के द्वारा ही उन्हें ऐसी महान तेजोलेश्या प्राप्त हुई थी जिसके प्रभाव से थोड़ा सा भी क्रोध आने पर सोलह महाजनपदों को क्षण भर में भस्मसात् किया जा सकता था।[3]

तो यह अदभुत महानता, प्रभावकता गौतम को कैसे प्राप्त हुई ? इसके उत्तर में एक ही उत्तर है कि तपस्या के द्वारा !

---

१ (क) भगवती सूत्र १।१ (ख) औपपातिक सूत्र
२ भगवती सूत्र १।१। वृत्ति पृ० ३५
३ भगवती सूत्र शतक १५

तप से चक्रवर्तित्व

संसार में भौतिक समृद्धि की दृष्टि से चक्रवर्ती का पद सबसे श्रेष्ठ और सबसे दुर्लभ माना गया है। वह चक्रवर्ती पद कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? तपश्चरण के द्वारा। भरत चक्रवर्ती ने अपने पूर्व जन्मों में हजारों वर्ष तक तपस्या, सेवा और स्वाध्याय तप की आराधना की थी, उसी के प्रभाव से वे चक्रवर्ती पद प्राप्त कर सके। सनत्कुमार चक्रवर्ती का भी पूर्व-जीवन आपने पढ़ा होगा ? हजारों हजार वर्ष की तपस्या करने के बाद वे चक्रवर्ती पद पर आरूढ़ हुए। चक्रवर्ती के भव में जन्म लेने पर भी वे सहसा चक्रवर्ती नहीं बन गये। हरएक भौतिक उपलब्धि, समृद्धि के लिए उन्हें तप करना पड़ता है। चक्रवर्ती के तेरह तेले जैन परम्परा में प्रसिद्ध है। समय-समय पर तेले की तपस्या करके वे अपने कार्य को सिद्ध करते हैं।

जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र[1] में बताया है कि इस अवसर्पिणी काल के प्रथम चक्रवर्ती भरत की आयुधशाला में जब सर्वप्रथम चक्ररत्न प्रकट हुआ, (जिसके बल पर ही वे चक्रवर्ती कहलाये) तब आयुधशाला के रक्षक ने महाराज भरत को बधाई दी ! यह शुभ संवाद सुनकर भरत प्रसन्नता में झूम उठे। उन्होंने बधाई लाने वाले को बहुत-सा प्रीतिदान दिया, फिर चक्ररत्न की पूजा की और पश्चात् चक्ररत्न के अधिष्ठायक देव को प्रसन्न करने के लिए पौषधशाला में जाकर तीन दिन का निर्जल तप (अट्ठमभत्तं पगिण्हइ) तेला करके मागध तीर्थ कुमार नामक देव को प्रसन्न किया।

चक्रवर्ती की भांति वासुदेव बलदेव को भी जब अपने अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिए विशेष सहयोग एवं दिव्यबल की आवश्यकता होती— तब-तब उन्होंने तप करके देवताओं की उपासना की और उन्हें प्रसन्न कर अपने कार्य में सिद्धि प्राप्त की !

वासुदेव श्री कृष्ण, जो महान बलशाली, चतुर और अद्भुत पराक्रमी थे, सब यंत्र मंत्र तंत्र के मूल रहस्यों के वेत्ता थे वे भी द्रौपदी को धातकी

---

१. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, ३. वक्षस्कार

खंड से लाने के लिए जाते-आते समय समुद्र को पार करने के लिए तेला करके देवता को बुलाते हैं और उनका सहयोग मांगते हैं। माता देवकी की पुत्र को रमाने की इच्छा पूरी करने के लिए तेला करके देवता को प्रसन्न करते हैं और एक भाई की याचना करते हैं, जिसके फलस्वरूप गजसुकुमाल का जन्म होता है। तो इस प्रकार प्रत्येक कठिन कार्य की सिद्धि के लिए तप का सहारा लिया जाता रहा है। हर दुःस्साध्य कार्य को तप के द्वारा सुसाध्य बनाया जाता रहा है। हर एक दुष्कर और मानव के लिए असंभव लगने वाले कार्य को तप के द्वारा सुकर और सम्भव बनाया जा सकता है।

तपस्वी को देवता भी चाहते हैं

तपस्या के द्वारा आत्मा की सुप्त शक्तियाँ जागृत होती हैं, दिव्य बल प्रकट होता है और आत्मा एक प्रचंड शक्तिस्रोत के रूप में व्यक्त होता है। तपस्वी का तपोबल इतना प्रखर होता है कि मानव ही क्या, देवता और इन्द्र भी उसके चरणों में झुकते हैं, उसको चाहते हैं, और उसकी शक्तियों से भय खाते हैं। वैदिक पुराणों में बहुत सी कथाएँ ऐसी आती हैं जिनमें बताया गया है कि अमुक तपस्वी के तपोबल से इन्द्र महाराज का सिंहासन कांप उठा। इन्द्र भय खाने लगा कि कहीं मेरा राज्य यह तपस्वी छीन न ले। जैनशास्त्र भगवती सूत्र में वर्णन आता है कि एक बार असुरों की राजधानी बलिचंचा नगरी का इन्द्र आयु पूर्ण कर गया। दूसरा कोई इन्द्र वहां उत्पन्न नहीं हुआ। अब असुर घबराये—हम अनाथ-स्वामी रहित हो गये ? क्या करें ? नये स्वामी को कैसे कहाँ से प्राप्त करें जो शत्रुओं से हमारे राज्य की रक्षा कर सके ! ऐसा तेजस्वी स्वामी कहाँ से लाए ? इसी चिंता में उलझे हुए असुरकुमारों की दृष्टि पड़ी एक घोर बाल तपस्वी पर ! वह बाल तपस्वी था तामली तापस। तामली तापस घोर तपश्चर्या कर रहा था, साठ हजार वर्ष तक वह लगातार बेले-बेले तप करता और पारणे में इक्कीस बार धोया हुआ चावल का सत्वहीन पानी लेता। इस कठोर तप से उसका शरीर अत्यंत जर्जर हो गया, किन्तु तपस्तेज अत्यंत प्रचण्ड होकर दमक रहा था। असुरकुमारों ने तामली तापस को देखा तो सोचा—"यह

कठोर उग्र तप:कार्य करने वाला बालतपस्वी यदि हमारा स्वामी बनने का निदान कर वहाँ से आयुपूर्ण करे तो हमें सचमुच ही में एक महान प्रतापी तेजस्वी स्वामी प्राप्त हो सकता है।" बस फिर क्या था, अगणित असुरकुमार और असुरकुमारियाँ सुन्दर दिव्य रूप बनाकर उसके सामने आये, बत्तीस प्रकार के दिव्य नाटक, संगीत आदि का प्रदर्शन कर तपस्वी को प्रसन्न करने की चेष्टा करने लगे। बड़े ही विनय के साथ वंदना कर उसे प्रार्थना करने लगे—हे महान तपस्वी ! हम पर दया करो, हम अनाथ हैं, स्वामिहीन हैं, आप जैसे स्वामी हमें प्राप्त हो जाय तो हम सब सुरक्षित और आनन्द-पूर्वक जीवन यापन कर सकते हैं। इसलिए हम पर करुणा कर आप निदान (नियाणा) करें और यहाँ से आयु:पूर्ण कर हमारी बलिचंचा राजधानी के इन्द्र बनना स्वीकार करें।[1]

असुरकुमारों के द्वारा दीनता और विनय के साथ बार-बार प्रार्थना करने पर भी तामली तापस ने उसे स्वीकार नहीं किया और अपने चिंतन में ही मस्त रहा। फिर आयुष्यपूर्ण कर वह ईशान कल्प में ईशानेन्द्र के रूप में जन्म लेता है।

कहने का अभिप्राय: यह है कि उस तपस्वी को अपने स्वामी के रूप में प्राप्त करने के लिए असुरकुमारों ने कितनी प्रार्थनाएँ की, कितनी दीनता दिखाई ? किसलिये ? इसीलिये कि यदि ऐसा तपस्वी हमारा स्वामी बन जाता है तो यह अपने तपस्तेज से समूचे स्वर्ग-विमानों को भयभीत और निस्तेज बना सकता है। तपस्या की शक्ति के समक्ष देवता और इन्द्र की भी शक्ति तुच्छ है, अल्प है, वे भी तपस्वी के चरणों की धूल सिर पर चढ़ाने को लालायित रहते हैं और उन्हें अपना स्वामी बनाने को उत्सुक !

आदिमंगल : तप

तप सिर्फ भौतिक सिद्धि और समृद्धि का प्रदाता ही नहीं, किन्तु वह अनन्त आध्यात्मिक समृद्धि का प्रदाता भी हैं। मैंने बताया है आपको कि तीर्थ-करत्व भी तप के द्वारा ही प्राप्त होता है। यही नहीं, किन्तु तीर्थंकर बनने के

---

१. ततेणं तुम्हें अम्हं ईंदा भविस्सह—भगवती सूत्र ३।१

वाद भी अर्थात् तीर्थंकर के भव में भी तपःसाधना करनी पड़ती है। अनन्तवली तीर्थंकरों ने जीवन में जो भी शुभकार्य किये हैं, जैसे दीक्षा, केवल ज्ञान, धर्मदेशना आदि उनके प्रारंभ में भी सर्वप्रथम तपश्चरण करते हैं। प्रत्येक शुभकार्य की आदि में तप करते हैं। तपको उन्होंने परम मंगल माना है, महामंगल माना है।[1]

कल्पसूत्र में भगवान ऋषभदेव के जीवन का वर्णन करते हुए वताया है कि जव वे संसार त्याग कर दीक्षा लेते हैं तो पहले दो दिन का तप करते हैं—**छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं** केवलज्ञान के समय भी वे तपस्या में लीन रहते हैं। और सिर्फ भगवान ऋषभदेव ही क्या, सभी तीर्थंकर दीक्षा के, केवलज्ञान के और निर्वाण के समय तपःसाधना करते पाये जाते हैं। भगवान महावीर भी जिस दिन घर से अभिनिष्क्रमण कर दीक्षा के लिए प्रस्थान करते हैं उस दिन उनको वेले का तप होता है। केवलज्ञान के पूर्व भी वे वेले का तप कर ध्यान में लीन रहते हैं। इसका अर्थ है हर एक सिद्धि के मूल में तप ही मुख्य रहता है, तप मंगलमय है, वह सव विघ्नों का नाश करने वाला है, सव अरिष्ट उपद्रव को शांत करने वाला है। आपको ज्ञात होगा, प्राचीन समय में चातुर्मास प्रवेश के दिन, शास्त्र वाचन की आदि में मुनिजन तप का अनुष्ठान करते थे। इसका अभिप्राय यही था कि तपानुष्ठान के दिव्य प्रभाव से सव अनिष्ट दूर हो जाते, कार्य सुखपूर्वक संपन्न होता और मंगलमय वातावरण रहता।

जैन परम्परा में तप को महानता का प्रशस्त मार्ग माना गया है, सव मंगलों में प्रमुख मंगल के रूप में ध्याया गया है और सर्वसद्धियों का मूल मंत्र मानकर इसकी आराधना की गई है।

✻✻

---

१. धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो— दशवैकालिक १।१.

६

तप का उद्देश्य और लाभ

बंधुओ ! एक व्यक्ति आम का वृक्ष लगाता है, उसकी खूब सेवा और सार-संभाल करता है, रातदिन उसकी देखरेख करता है, कोई उससे पूछे कि भाई, आम की इतनी सेवा कर रहे हो—आखिर किसलिए ? वह उत्तर देता है कि "समय पर आम पकेगा, बौर आयेगा और मीठे-मीठे फल लगेंगे—उन फलों के लिए ही मैं इतना कष्ट कर रहा हूँ।"

अब उसके पड़ोस में एक दूसरा व्यक्ति भी आम की वैसी ही सेवा कर रहा है। उससे भी किसी ने पूछा—आप आम की इतनी देख-भाल किसलिये कर रहे हैं ? वह उत्तर देता है—"इस विशाल वृक्ष से छाया मिलेगी, कटेगा तब ढेर सारी लकड़ियाँ मिलेगी।"

आप सोचिए—उन दोनों में चतुर कौन है और मूर्ख कौन है ? जो आम का फल चाहता है वह अथवा आम से लकड़ियाँ और पान-पत्ते चाहता है वह ? आप कहेंगे—आम से तो फल ही चाहना चाहिए, छाया, पान पत्ते और लकड़ियाँ तो अपने आप ही मिलेगी। उसकी इच्छा और लालसा करने की जरूरत क्या है ?

वंधुओ ! आचार्यों ने तप के विषय में भी यही वात कही है। तप रूप महावृक्ष से जो कि निर्जरा रूप मधुर फल चाहता है, वह सच्चा और चतुर साधक है और जो शरीर को भयंकर कष्ट व यंत्रणा देकर भी उस तप से सिर्फ यश, कीर्ति, ऋद्धि-सिद्धि और स्वर्ग की कामना करता है, वह मूर्ख, अज्ञान अथवा बालतपस्वी है।

जैन सूत्रों में तप की अद्भुत और अपार महिमा गाई गयी है, जिसकी एक झलक आप देख चुके हैं। उस तप के प्रभाव से अचिन्त्य लब्धियाँ, ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। यह सुनकर आपके मन में भी ललक उठेगी कि हम भी तप करें और अमुक शक्ति, अमुक लब्धि प्राप्त करलें, अमुक देवता को प्रसन्न करलें ! किंतु वंधुओ ! जैसा मैंने कहा—किसी ऋद्धि सिद्धि अथवा देवता आदि को प्रसन्न करने के लिए तप करना तो आम के महावृक्ष से लकड़ियाँ चाहने जैसा है। वास्तव में तप का उद्देश्य यह नहीं है। तप तो किसी महान लाभ के लिये किया जाता है—ऋद्धि-सिद्धि तो स्वतः ही प्राप्त हो जाती है जैसे धान की खेती में धान के साथ भुसा-पलाल भी होता है। किंतु क्या कोई पलाल व भुसा के लिए ही खेती करता है ? नहीं। इसी प्रकार किसी भौतिक लाभ के लिए तप नहीं किया जाता, (तप आत्मशुद्धि के महान उद्देश्य से प्रेरित होकर ही किया जाना चाहिए।)

तप का फल : निर्जरा

मैंने आपको तप की परिभाषा करते हुए बताया है कि जैसे अग्नि सोने को शुद्ध करती है, फिटकरी मैले जल को निर्मल बनाती है, सोड़ा या साबुन मलिन वस्त्र को उज्वल बनाता है उसी प्रकार (तप आत्मा को शुद्ध निर्मल और उज्वल रूप प्रदान करता है)।

आचार्य भद्रबाहु ने कहा है—

> जह खलु मइलं वत्थं सुज्झए उदगाहिएहिं दव्वेहिं,
> एवं भावुवहाणेण, सुज्झए कम्मट्ठविहं।[1]

जैसे मैला वस्त्र जल आदि शोधक द्रव्यों से उज्ज्वल हो जाता है, वैसे

---

१ आचारांग निर्युक्ति २८२

ही भाव तप के द्वारा कर्म मल से मुक्त होकर आत्मा शुद्ध व पवित्र बन जाता है।

आत्मा के साथ जो अनन्त अनन्त कर्म दल चिपक कर उसे मलिन बना रहा है, उसके शुद्ध ज्योतिर्मय स्वरूप को ढक रहा है—तप की तेज पवन उन कर्म दलों को तितर-बितर कर आत्म-सूर्य की निर्मल ज्योति को प्रकट कर देती है। बस, तप का यही उद्देश्य है, यही उसका फल है।

मनुष्य कोई काम करता है तो उसके सामने उसके फल की कल्पना भी रहती है। उद्देश्य और लक्ष्य भी रहता है।

लक्ष्यहीन फलहीन कार्य को
मूरख जन आचरते हैं।
सुज्ञ सुधीजन प्रथम, कार्य का
लक्ष्य सुनिश्चित करते हैं।

जो तप जैसा कठोर, देह दमनीय कार्य करता है वह विना उसका लक्ष्य समझे, विना उसके फल की कल्पना किये कैसे करेगा? क्या कोई किसान अपने खेत में ऐसे-तैसे बीज डालेगा जिनके लिए उसे यह भी नहीं मालूम हो कि इनके फल कैसे लगेगें? नहीं! आप कोई भी कार्य करते हैं, एक कदम भी चलते हैं तो पहले उसके परिणाम को सोचते हैं। फिर कार्य करते हैं। तो तप का फल क्या है? उद्देश्य क्या है? तप किसलिये किया जाता है? इस प्रश्न का उत्तर मैं भगवान महावीर की वाणी में ही दूंगा।

भगवान महावीर एक बार राजगृह नगर में पधारे। वहां पर गणधर इन्द्रभूति गौतम ने भगवान से कई प्रश्न पूछे, उनमें एक प्रश्न याक्ष तप के विषय में। गौतम ने पूछा—

भगवन्! तप करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है? उत्तर में भगवान ने कहा—**तवेण वोदाणं जणयइ।**[1] तप से व्यवदान होता है। व्यवदान का अर्थ है—दूर हटाना। आदान का अर्थ है ग्रहण करना और व्यवदान का अर्थ है छोड़ना, दूर करना। तो

---

१ उत्तराध्ययन २९।२७

तपस्या के द्वारा आत्मा कर्मों को दूर हटाता है। कर्मोंका क्षय करता है। कर्मों की निर्जरा करता है। बस यही तप का उद्देश्य है और यही तप का फल है। तप से जो पाना चाहते हैं—वह यही फल है—निर्जरा! व्यवदान!

जैन परम्परा में भगवान महावीर को तपोयोगी माना गया है। और भगवान पार्श्वनाथ को ध्यानयोगी। भगवान पार्श्वनाथ के युग में अज्ञान तप का बोल-बाला था। लोग भौतिक सिद्धियों के लिए कठोर देहदमन-अज्ञान तप करते थे। पंचाग्नि साधते थे, वृक्षों पर औंधे लटकते थे। शीतकाल की भयंकर सर्दी में भी और हड्कंपी पैदा करने वाली ठंडी हवाओं में भी पानी के भीतर खड़े रहकर तप जप किया करते थे। किन्तु कोई उनसे पूछता कि आप यह तप, जप, यज्ञ आदि क्यों करते हैं ? तो उनका एक ही उत्तर होता—**स्वर्गकामो यजेत** ! स्वर्ग के लिए यज्ञ तप करो ! अमुक सिद्धि के लिए ! अमुक शक्ति को प्राप्त करने के लिए ! बस इससे आगे उनके समक्ष कोई उद्देश्य ही नहीं था। किन्तु भगवान पार्श्वनाथ ने तप का उद्देश्य जनता को समझाया—तप शरीर को सुखाने के लिए नहीं। ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने के लिए नहीं ! किन्तु आत्मा को कर्म बन्धनों से मुक्त करने के लिए हैं। जो बात भगवान महावीर ने कही थी वही बात भगवान पार्श्वनाथ ने भी कही थी। उनके स्वयं के वचन व उपदेश भले ही आज हमारे पास नहीं है, किन्तु उनकी परम्परा के विद्वान श्रमणों के वचन आज भी भगवती सूत्र में इस बात की साक्षी देते हैं कि भगवान पार्श्वनाथ ने तप का उद्देश्य क्या बताया है।

एक बार तुंगियानगरी के तत्त्वज्ञ श्रावको ने भगवान पार्श्वनाथ के स्थविर श्रमणों से तत्त्व चर्चा करते हुए पूछा—भंते ! आप तप क्यों करते हैं ? तप का क्या फल है—**तवे किं फले** ? उत्तर में श्रमणों ने कहा—**तवे वोदाण फले**—तप का फल है व्यवदान ! कर्म निर्जरा ![1] तो जो बात भगवान महावीर ने गौतम स्वामी से कही है, वही बात पार्श्वसंतानीय श्रमणों ने

---

१ भगवती सूत्र २।५

श्रावकों से कही है—और समस्त तीर्थङ्करों ने, आचार्यों ने भी यही बात कही है। सम्पूर्ण जैन संस्कृति का एक ही स्वर है—कि

> नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,
> नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,
> नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा,
> नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।[1]

इह लोक की कामना और अभिलाषा से तप मत करो, परलोक की कामना और लालसा से तप मत करो! यश कीर्ति और प्रतिष्ठा आदि के लिए भी तप मत करो! तप करते हो तो केवल कर्म निर्जरा के लिए करो!

कामनायुक्त तप क्यों नहीं?

अब एक प्रश्न खड़ा होता है कि तप के उद्देश्य के विषय में इतना जोर क्यों दिया गया है कि "किसी भी भौतिक अभिलाषा से तप मत करो! इहलोक परलोक के लिए भी तप मत करो!" इस निषेध का मतलब क्या है? स्वर्ग के लिए तप क्यों नहीं किया जाय?'

इस के उत्तर में आपको जैन दर्शन की दृष्टि समझनी होगी। आपको पता है जैन धर्म सुखवादी धर्म नहीं है, मुक्तिवादी धर्म है।

जो सुखवादी धर्म है, वह सिर्फ संसार के सुखों में उलझा रहता है। इस लोक में धन मिले, सुन्दर पत्नी मिले, यशकीर्ति मिले और परलोक में स्वर्ग मिले। बस, यही उसका दृष्टिकोण रहता है, और इसीलिए वह सब कुछ करना चाहता हैं। लेकिन जो मुक्तिवादी धर्म है, वह कहता है सुख और दुःख दोनों ही बन्धन है। आदमी सुख चाहता है, सुख के लिए प्रयत्न करता है, समझ लो, सुख प्राप्त भी हो जाता है, अब वह सुख भोगता है, ऐशो आराम करता है, किन्तु उस सुख-भोग के साथ नया पाप कर्म भी बांधता जाता है। शुभ कर्म क्षीण होता है, फिर अशुभ कर्म का उदय होता है। थोड़े से सुख के बाद भयंकर दुःख प्राप्त होते है। गीता में बताया है— जो

१　दशवैकालिक ९।४

स-काम कर्म करते हैं, पुण्य की अभिलाषा से, स्वर्ग की कामना से तप करते हैं, वे मर कर स्वर्ग को प्राप्त भी कर लेते हैं, किन्तु वहां अप्सराओं के मोह माया में फँसकर अपने समस्त पुण्यों का क्षय कर डालते हैं, और फिर पुण्य हीन होकर पुनः दुःखों के महागर्त में गिर जाते हैं।

क्षीणे पुण्ये मर्त्यं लोकं विशन्ति

इस प्रकार सुख-दुःख का यह चक्र चलता रहता है। दुख से घबराकर सुख की कामना करते हैं, स-काम कर्म करते हैं और सुख प्राप्त कर पुनः दुःख के योग्य कर्म बांधकर दुःख के गर्त में गिर पड़ते हैं। संसार के जितने भी सुख हैं, वे सब दुःख की खान है।

जितने सुख संसार में सारे दुःख की खान।
जो सच्चा सुख चाहिए ले समता उर ठान।

सुख-दुख का मूल : कर्म

जैन दर्शन कहता है—सुख-दुःख के इस चक्र का मूल है कर्म ! संसार के समस्त सुख और दुःख कर्म से ही उत्पन्न होते हैं—**कम्मुणा उवाही जायई**[1]—कर्म से सभी उपाधियां उत्पन्न होती हैं। सभी प्राणी अपने कर्मों के कारण ही नाना योनियों में जन्म लेते हैं—**सव्वे सय कम्मकप्पिया**[2]—सब प्राणी अपने कर्म के अनुसार चलते हैं।

जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं
तमेव आगच्छति संपराए।[3]

पूर्व जन्म में जिसने जैसा कर्म किया है इस जन्म में वही उसके भोग में आयेगा। कर्मवाद का यह शाश्वत नियम है। अब जैन दर्शन कहता है—सुख-दुःख तो कर्म के अधीन है। सुख-दुःख तो खुद सेवक हैं, राजा तो कर्म है - अशुभ कर्म को क्षीण करो तो दुख अपने आप क्षीण हो जायेगा और दुःख का क्षय होगा तो सुख भी स्वतः प्रगट हो जायेगा। दीपक जलाओगे तो अंधेरा अपने-आप मिट जायेगा, और अंधेरा मिटा तो प्रकाश स्वतः ही

---

१ आचारांग १।३।१
२ सूत्रकृतांग १।२।३।१८
३ सूत्रकृतांग १।५।२।२३

वेश्या बोली—कल इस घर की एक काली-कलौंटी लड़की ने एक मैले कुचेले साधु को उडद के बाकले दिये थे जिससे रत्नों की अपार वर्षा हुई। इधर आप भी न्हाये-धोये उजले कपड़े पहने हैं और मैं भी न्हा धोकर आप को मिष्टान्न खिला रही हूं। तो अभी तक रत्नों की वर्षा क्यों नहीं हुई ?....

वेश्या की मूर्खता पर बाबाजी को हँसी आ गई। वे बोले—

वा सती वो साध थो, तू वेश्या मैं भांड़ !
थांरे-म्हांरे योग सूं पत्थर पड़सी रांड !

तो चंदना के दान में कितनी पवित्रता, कितनी निष्कामता थी, और वेश्या के दान में, वास्तव में वह दान भी नहीं था, वह तो मूर्खता पूर्ण सौदा था। तो बताना यह है कि निष्काम भाव से सुपात्र को दिया हुआ उडद का बाकला भी कितना महान फल देने वाला सिद्ध हुआ ! इसी प्रकार शुद्ध भाव से आत्मशुद्धि के लिए किया गया जप, तप, दान, सत्कर्म सभी अचिंतनीय और महान फल देने वाले हैं। भगवान महावीर ने इसीलिए कहा है—एक उपवास भी, एक नवकारसी भी किसी भौतिक कामना से नहीं करो। तप से पूजा, सत्कार स्वर्ग और देवी देवताओं की आराधना मत चाहो—

नो पूयणं तवसा आवहेज्जा[1]

तप से पूजा आदि की कामना मत करो, किन्तु तपस्या में एक ही पवित्र लक्ष्य सामने रखो—आत्मा की शुद्धि हो, कर्मों की निर्जरा हो ! कर्म दुख का मूल है, वह कर्म जब क्षय हो जायेगा तो दुःख अपने आप ही क्षीण हो जायेगा।

तप से लाभ

भगवान ने बताया है कि तपस्या से आत्मा पवित्र होती है, सम्यक्त्व शुद्ध होता है। और आत्मा का ज्ञान, दर्शन, चारित्र, निर्मल,निर्मल तर होता जाता है—

तवसा अवहट्टु लेसस्स दंसणं परिसुज्झइ[2]

---

१ सूत्रकृतांग ७।२७
२ दशाश्रुतस्कन्ध ५।६

तपस्या से लेश्याओं को संवृत करने वाले साधक का दर्शन—सम्यक्त्व परिशुद्ध होता है, निर्मल होता है। तप से इसी प्रकार के महान फल की प्राप्ति वैदिक ग्रन्थों में भी मानी गयी है। कहा है—

तपसा प्राप्यते सत्वं सत्वात् संप्राप्यते मनः।
मनसा प्राप्यते त्वात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्तते।[1]

तप द्वारा सत्व (मन को विजय करने की ज्ञानशक्ति) प्राप्त होती है सत्व से मन वश में आता है, मन वश में आ जाने से दुर्लभ आत्मतत्व की प्राप्ति होती है और आत्मा की प्राप्ति हो जाने पर संसार से छुटकारा मिल जाता है, आत्मा कर्म बन्धनों से सर्वथा मुक्त हो जाती है। इस प्रकार जैनेतर दर्शनों ने भी तप का अन्तिम लाभ मोक्ष माना है। महर्षि वशिष्ट से पूछा गया कि संसार में सबसे दुर्लभ-दुष्प्राप्य क्या है? तो उन्होंने कहा—मोक्ष! सर्व दुःखों से विमुक्ति! फिर पूछा गया—वह दुष्प्राप्य मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है? तो उत्तर दिया—

तपसैव महोग्रेण यद् दुरापं तदाप्यते।[2]

संसार में जो सर्वाधिक दुष्प्राप्य वस्तु है, वह तपस्या के द्वारा प्राप्त की जा सकती है।

उपर्युक्त विवेचन का सार यही है कि तप का जो उद्देश्य है, वही उसका फल है, लाभ है। तप का उद्देश्य है—आत्म विशुद्धि और मोक्ष प्राप्ति। तप से इसी फल की प्राप्ति होती है। इसलिए कहा जा सकता है मुक्ति लाभ ही तप का मुख्य फल है।

---

१ मैत्रायणी आरण्यक १।४
२ योगवासिष्ठ ३।६८।१४

तप और लब्धियां

आज का युग वैज्ञानिक युग कहलाता है। आज कोई भी वस्तु तब तक सही व सत्य नहीं मानी जाती जब तक विज्ञान उसकी सत्यता स्वीकार नहीं कर लेता। लोगों में एक भावना बन गई है कि जो विज्ञान द्वारा सम्मत हों, वही सत्य है। जिस वस्तु तथ्य का विज्ञान समर्थन नहीं करता वह सत्य नहीं हो सकता। यह धारणा एक लोकप्रवाह मात्र है। वास्तव में विज्ञान ने आज आश्चर्यकारी अनुसंधान तो किये हैं, किन्तु वे सब भौतिक जगत में ही किये हैं। वस्तु, पदार्थ और अणु के विश्लेषण में विज्ञान ने अवश्य आश्चर्यजनक प्रगति की है,किन्तु आध्यात्मिक शक्तियों के बारे में वह आज भी गतिहीन है। मनुष्य की आत्मा में, मन में कितनी अनन्त शक्तियाँ भरी हैं इसका विश्लेषण आज का विज्ञान नहीं कर सकता। आज भी वैज्ञानिक जब किसी योगी के मानसिक शक्तियों के चमत्कार, आध्यात्मिक तेज तथा आत्मा में प्रगट हुई कुछ विचित्र स्वाभाविक शक्तियों को देखते हैं तो दाँतों तले अंगुली दबा लेते हैं और विज्ञान वहाँ हार खा जाता हैं। विज्ञान ने जिसे विल पावर (Will Power) (इच्छा शक्ति) माना है वह भी एक प्रकार की मानसिक शक्ति है। मेस्मेरिज्म के प्रयोग से हजारों मनुष्यों का सम्मोहित किया जाता है, असाध्य रोगों का इलाज किया जाता है—क्या यह भौतिक शक्ति है? नहीं

यह भी एक प्रकार की मानसिक शक्ति है। किन्तु मानसिक शक्ति का बहुत ही छोटा सा तुच्छ रूप है।

'अणु' से आत्मा की शक्ति महान है

आज अणु की शक्ति से संसार चकित है, किंतु जब अत्मा की शक्ति का पता चलेगा तो अनुभव होगा कि अणु से भी अनन्त गुनी शक्तियाँ आत्मा में हैं। आत्मा अक्षय अनन्तशक्तियों का पिंड है। हमारे में जो चेतना है, मनोबल है, चिंतन करने की क्षमता है, भविष्य की बातों का कभी कभी पूर्वाभास हो जाता है; अतीत की हजारों स्मृतियां मस्तिष्क में चक्कर काटती हैं, बहुत से लोगों को मृत्यु से पूर्व ही अपनी अंतिम यात्रा का ज्ञान हो जाता है—ये सब क्या भौतिक शक्तियां हैं? नहीं! आत्मा की ही कुछ विकसित शक्तियाँ हैं और इनके अनुभव से हमें विश्वास होता है कि यदि इन शक्तियों का विकास किया जाय तो ये ही शक्तियां अदभुत चमत्कार दिखा सकती हैं।

लब्धि क्या है ?

चमत्कार को संसार नमस्कार करता है, किंतु चमत्कार पैदा कौन कर सकता है? जिसमें आत्मबल होगा! जिसके पास साधना होगी! यंत्र और तंत्र की शक्तियां भौतिक होती हैं, किंतु साधना, तपस्या से प्राप्त शक्ति आध्यात्मिक होती है। भौतिक शक्ति 'जादू' कहलाती है, आध्यात्मिक शक्ति 'सिद्धि'। आज भी अनेक लोग तांत्रिक प्रयोग करते हैं, देवी की उपासना से कुछ चमत्कार भी दिखाते हैं, भैरव, भवानी, काली आदि की उपासना कर कुछ चमत्कृत करने वाले करिश्में भी दिखाते हैं, किंतु वास्तव में इन प्रयोगों को सिद्धि नहीं कहा जा सकता। सिद्धि तो वह है, जो शुद्ध आध्यात्मिक हो, कर्म आवरणों का क्षय होने पर स्वतः आत्मा से ही जो शक्ति प्रकट होती है उसे 'लब्धि' या 'सिद्धि' कहा जाता है।

लब्धि का अर्थ है—'लाभ'! प्राप्ति! तपस्या आदि के द्वारा जब कर्मों का क्षय होता है तो आत्मा को उतने रूप में विशुद्धि व उज्ज्वलता प्राप्त होती है। आत्मा के गुण व शक्तियां, जो कर्मों के कारण ढंकी हुई थी, छिपी हुई थी, वे कर्मावरणों के हटने से प्रकट हो जाती हैं। जैसे आकाश में सूर्य पर बादल आ जाते हैं तो उसका तेज, प्रकाश धुंधला पड़ जाता है,

लेकिन बादल हटते ही सूर्य चमकने लगता है। रंगमंच पर पर्दा पड़ा रहता है, तब तक अभिनेता दिखाई नहीं देता, किंतु जैसे ही पर्दा हटता है अभिनेता हमारे सामने हंसता-बोलता दिखाई देता है। इसी प्रकार जब जिस विषय के कर्मदलिक दूर होते हैं तब उस-उस सम्बन्ध की आत्मशक्ति प्रकट होकर हमारे सामने आ जाती है। आचार्य अभयदेव ने बताया है—**आत्मनो ज्ञानादि गुणानां तत्कर्म क्षयादितोलाभ.**[1]—आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य आदि गुणों का तत्-तत् सम्बन्धित कर्मों के क्षय व क्षयोपशम से जो लाभ प्राप्त होता है, उसे लब्धि कहते हैं। जैन दर्शन में लब्धि का प्रायः सर्वत्र इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है। लब्धि की प्राप्ति परिणामों की विशुद्धता, चारित्र की अतिशयता तथा उत्कृष्ट तप के आचरण से होती है। आचार्य ने बताया है—

परिणाम तववसेण इमाइं हुंति लद्धीओ।[2]

शुभ परिणाम एवं तप संयम के आचरण से ये लब्धियां प्राप्त होती हैं। इस कारण ये लब्धियां शुद्ध आत्मशक्ति हैं। इनमें कोई देवशक्ति, या मंत्र की शक्ति का सहारा नहीं लिया जाता है।

वैदिक दर्शन में—योगदर्शनकार पंतजलि ने इन्हीं लब्धियों को 'विभूति' कहा है। साधक योगी, अपनी साधना के द्वारा अनेक प्रकार की विभूतियां प्राप्त कर लेता है, अनेक चमत्कार प्राप्त करता है। जैन दर्शन में जैसे कहा है—ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय व क्षयोपशम से ज्ञान सम्बन्धी लब्धियां प्राप्त होती हैं, वैसे ही अन्य कर्मों के क्षयादि से उनसे सम्बन्धित लब्धियां। आचार्य पतंजलि ने योगदर्शन में भी प्रायः इसी प्रकार विभूतियों की प्राप्ति का क्रम दिखाया है, जैसे अहिंसा की साधना से वैरविजय,[3] सत्य की साधना से वचनसिद्धि[4] आदि। बौद्ध दर्शन में इस 'लब्धि' या

---

१ भगवतीसूत्र वृत्ति ८।२

२ प्रवचन सारोद्धार २७०।१४९५

३ अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। —योगदर्शन २।३५

४ योगदर्शन २।३६

'विभूति' को 'अभिज्ञा' कहा गया है। तपस्वी साधक अपनी उत्कृष्ट तपस्या के द्वारा जो शक्ति प्राप्त करता है, उसे वहाँ 'अभिज्ञा' संज्ञा दी गई है। उसके पांच और कहीं-कहीं छह भेद बताये हैं।

लब्धियों के भेद

यों तो आत्मा की शक्ति अनन्त है, और वह अनन्त रूपों में प्रकट हो सकती है। जितने रूपों में प्रकट हों, उतनी ही लब्धियां बन सकती हैं। फिर भी मूल आगमों में तथा उत्तरवर्ती ग्रन्थों में लब्धियों की गणना करके उनका विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। कहीं पर लब्धि के दस भेद, कहीं अठाईस भेद तथा कुछ अन्य नाम गिनाये गये हैं।

भगवती सूत्र में पूछा गया है—भगवन् ! लब्धियां कितनी प्रकार की हैं ?

उत्तर में बताया गया है—**दसविहा लद्धी पण्णत्ता**—दस प्रकार की लब्धियां बताई गई हैं।

१ नाणलद्धी—ज्ञानलब्धि
२ दंसणलद्धी—दर्शनलब्धि
३ चरित्तलद्धी—चारित्रलब्धि
४ चरित्ताचरित्तलद्धी—चरित्रा चरित्र लब्धि
५ दाणलद्धी—दानलब्धि
६ लाभलद्धी लाभलब्धि
७ भोगलद्धी—भोगलब्धि
८ उवभोगलद्धी—उपभोगलब्धि
९ वीरियलद्धी—वीर्यलब्धि
१० इंदिय लद्धी—इन्द्रियलब्धि

ज्ञानलब्धि के, ५ ज्ञान लब्धि और ३ अज्ञान लब्धि यों आठ भेद बताये गये हैं। दर्शन लब्धि के ३, चारित्र लब्धि के ५, चरित्ताचरित्त लब्धि का १,

---

१ भगवती सूत्र ८।२ सूत्र ३१९

दान, लाभ, भोग, उपभोग लब्धि के १-१ वीर्य लब्धि के ३, और इन्द्रिय लब्धि के ५—यों कुल दस लब्धि के २६ अन्तर भेद बताये गये हैं। इन लब्धियों से अभिप्राय है, उन-उन विषयक आत्मशक्तियों का विकास ! जैसे ज्ञान लब्धि के कारण आत्मा की ज्ञान शक्तियों का विकास होता है, जिस आत्मा को जितना क्षय, क्षयोपशम होगा उसके ज्ञान का उतना ही अधिक विकास होता जायेगा। वैसे ही इन्द्रियलब्धि में आत्मा को पांच इन्द्रिय विषयक क्षयोपशम होता है, और उसकी इन्द्रिय शक्तियों का विकास उसी अनुपात में होता रहता है। हां, ये लब्धियां एकान्त तपोजन्य नहीं मानी गई हैं। इनके विकास में तप मुख्य कारण बन सकता है, किंतु आत्मा की विकासशीलता के कारण सहजरूप में भी कुछ न कुछ उनका विकास प्रत्येक आत्मा में होता ही है। एकेन्द्रिय आदि में भी इन लब्धियों का सूक्ष्म विकास रहता है। हां, तपःसाधना के द्वारा इस विकास को अधिक सक्रिय एवं प्रबल फलदायी बनाया जा सकता है।

अठाईस लब्धियां

उपर्युक्त लब्धियों के अतिरिक्त ग्रंथों में अनेक प्रकार की तपोजन्य लब्धियों का बड़ा विस्तृत विवेचन किया गया है। प्रवचन सारोद्धार में २८ प्रकार की तपोजन्य लब्धियों का वर्णन आचार्य ने किया है। वे लब्धियां इस प्रकार हैं[1]—

---

१ आमोसहि विप्पोसहि खेलोसहि जल्लओसही चेव।
सव्वोसहि संभिन्ने ओहीरिउ विउलमइ लद्धी॥
चारण आसीविस केवलिय गणहारिणो य पुव्वधरा।
अरहंत चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा य॥
खीरमहु सप्पि आसव कोट्ठय बुद्धी पयाणुसारी य।
तह बीयबुद्धि तेयग आहारक सीय लेसा य॥
वेउव्विदेहलद्धी अक्खीणमहाणसी पुलाया य।
परिणाम तववसेण एमाइं हुंति लद्धीओ॥
—प्रवचन सारोद्धार, द्वार २७० गाथा १४९२—१४९५

(१) **आमोसहि** आमर्शौषधि....इस लब्धि के धारक तपस्वी किसी रोगी, ग्लान आदि को, स्वयं को अथवा जिस किसी को भी स्वस्थ करना चाहें तो वे पहले मन में संकल्प कर लेते हैं—मेरे स्पर्श से यह नीरोग हों, और फिर उसे स्पर्श करते हैं, तो उनके स्पर्शमात्र से ही रोग शांत हो जाता है, काया कंचन जैसी उज्ज्वल हो जाती है।

एक प्रश्न उठता है कि इस लब्धि के धारक तपस्वी के हाथ आदि का स्पर्श क्या किसी भी समय किसी भी स्थिति में होने से रोगी का रोग शांत हो जाता है या कोई विशेष स्थिति में ? इसका उत्तर हमें आवश्यक चूर्णि के इस शब्द—**तिगिच्छामिति 'संचितेऊण'**[1] में प्राप्त होता है, लब्धिधारी जब मन में यह संकल्प या चिंतन करता है कि 'मैं इसे स्वस्थ करूं, नीरोग बनाऊं, ऐसा संकल्प करके जब रोगी का स्पर्श करता है तभी उसका स्पर्श औषधि रूप में कार्य करता है, अन्यथा नहीं, अन्य लब्धियों के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए। चूंकि लब्धिधारी बहुत बार स्वयं भी असाता वेदनीय के उदय से रोगाक्रांत हो जाते हैं, वे अपने असातावेदनीय को भोगते हैं, किंतु लब्धि के द्वारा सहज में रोग मिटाने का प्रयत्न नहीं करते। जैसा कि सनत्कुमार चक्रवर्ती के विषय में प्रसिद्ध है कि उनका शरीर जब सोलह महारोगों से आक्रांत हो गया तो शरीर की नश्वरता का बोध कर वैराग्य प्राप्त कर वे दीक्षित हो गए और घोरतपश्चर्या करने लगे। उस तपोबल से उन्हें खेलोसहि आदि लब्धियां प्राप्त हो गई। एक बार कोई देवता उनकी सहनशीलता और निस्पृहता की परीक्षा करने वैद्य का रूप बनाकर आया और बोला—"महाराज ! आपका शरीर कुष्ट रोग से गल रहा है, मुझे सेवा का अवसर दीजिये, मैं आपका रोग मिटा दूं।"

मुनि ने सहज शांति के साथ कहा—"भाई ! द्रव्य रोग मिटाता है या भाव रोग ?"

---

१ आमोसहि पत्ताणं रोगाभिभूतं अत्ताणं परं वा जयेवि तिगिच्छामिति संचितेऊण आमुसति ते तक्खणा चेव ववगयरोगातंकं करोति वा।

—आवश्यकचूर्णि १

देवता संभ्रमित हो गया, बोला—"महाराज ! कर्मजन्य भाव रोग मिटाने की शक्ति मुझ में नहीं है, मैं तो स्वयं भी उस रोग से घिरा हूं, मेरा काम सिर्फ शरीर का रोग मिटाना है।"

मुनि ने उपेक्षापूर्वक कहा—"शरीर के रोग की क्या चिंता है," और मुख का अमृत (थूक) लेकर शरीर के एक भाग पर लगाया तो शरीर कंचन की तरह चमक उठा। देवता नतमस्तक होकर वापस चला गया।

तो उन्हें खेलोसहि लब्धि प्राप्त थी, थूक में ही सब रोग मिटाने की शक्ति विद्यमान होते हुए भी उन्होंने कभी अपने शरीर की चिंता नहीं की, अपने लिए अपनी लब्धि का प्रयोग नहीं किया। इससे यह भी पता चलता है कि लब्धिधारी मुनि हर समय लब्धि का उपयोग नहीं करते। आवश्यकता पड़ने पर, संघहित, धर्म प्रभावना या परोपकार की भावना से ही जब अपनी लब्धि का उपयोग करने का संकल्प करते हैं तभी लब्धि अपने प्रभाव में आती है। तो दूसरी लब्धि है—

(२) **विप्पोसहि**[1]—विप्रुडौपधि—'वि' शब्द का अर्थ है शरीर द्वारा त्यक्त मल, और 'प्र' का अर्थ है—प्रश्रवण। पूरे शब्द विप्रुङ् का अर्थ है—मल-मूत्र। अर्थात् जिस लब्धि के प्रभाव से तपस्वी साधक के मल-मूत्र में सुगन्ध आती हो, और जिसका स्पर्श होने पर रोगी का रोग शांत हो जाता हो—उनका मलमूत्र औषधि की भांति रोगोपशमन में समर्थ हो, ऐसी योग शक्ति का नाम है—विप्पोसहि लब्धि।

साधारणतः मलमूत्र महान दुर्गन्धि और अपवित्र वस्तु मानी जाती है,

---

१ (क) विप्पोसहि गहणेण विट्ठस्स गहणं, कीरइ तं चेव विट्ठेओसहि सामत्थजत्तेण विप्पेसहि भवति।

—आवश्यकचूर्णि १

(ख) यन् माहात्म्यात् मूत्र पुरीसावयवमात्रमपि रोगराशि प्रणाशाय संपद्यते, सुरभिच सा विप्रुडौपधिः।

—प्रवचन सारोद्धार वृत्ति द्वार २७०

किंतु तपस्या के प्रभाव से वह दुर्गन्धमय वस्तु भी सुगंधित हो जाती है, और औषधि के रूप में बन जाती है।

(३) **खेलोसहि**—खेल यानी श्लेष्म, खंखार थूक। जिस योगशक्ति के प्रभाव से लब्धिधारी के श्लेष्म में सुगंध आती हो, और उसके प्रयोग-लेपन-स्पर्शन आदि से औषधि की भांति रोग शांत हो जाता हो, वह खेलोसहि लब्धि है। मल-मूत्र की भांति खेल-खंखार से भी घृणा की जाती है, और उसके स्पर्श से बचना चाहते हैं। किंतु खेल खंखार तपस्या के प्रभाव से दुर्गंध के स्थान पर सुगंध देने लगता है, और जहां कहीं भी उसका स्पर्श हो जाता है बस रोग को तुरंत शांत कर देता है। सनत्कुमार चक्रवर्ती ने इसका थोड़ा सा चमत्कार देवता को दिखाया, कि तू जिस शरीर के रोग मिटाने की बात करता है, उस शरीर का रोग मिटाने की दवा तो तेरी जड़ीबूटी में क्या, मेरे थूक में भी है, किंतु मुझे शरीर रोग की चिंता नहीं, कर्म रोग मिटाने की चिंता है। अस्तु।

(४) **जल्लोसहि**—जल्ल नाम है मल का। शरीर के विभिन्न अवयव—जैसे कान, मुख, नाक, जीभ, आँख आदि का जो मल-पसीना अथवा मैल होता है उसे 'जल्ल' कहा जाता है। साधु के २२ परीषहों में अठारहवां 'जल्ल परीषह' बताया गया है, क्योंकि इन मलों के कारण भी शरीर में दुर्गंध आने लगती है, तथा बैचेनी होने लगती है। किंतु तपस्वियों को लब्धि प्रभाव से ये मल भी सुगंध देने लगते हैं, तथा इनका स्पर्श भी औषधि की भांति रोग मिटाने की अद्भुतशक्ति रखता है।

(५) **सव्वोसहि**—सर्वौषधि। प्रथम चार लब्धियों में शरीर के अलग-अलग अवयव एवं वस्तुओं के स्पर्श से रोग शांत होने की शक्ति होती है, किंतु सर्वौषधि लब्धि के धारक तपस्वी के तो शरीर के समस्त अवयव—मल मूत्र, केश, नख, थूक आदि में सुगध आती हैं तथा उनके स्पर्श से रोग शांत होते हैं। इस लब्धिधारी का समूचा शरीर ही जैसे पारस होता है, अमृतमय होता है, जहां से भी, जो भी वस्तु छू लो तुरन्त वह चमत्कार दिखाती है।

(६) **संभिन्नश्रोता**—इस लब्धि की व्याख्या कई प्रकार से की गई है। एक अर्थ है—इस लब्धि के प्रभाव से साधक शरीर के किसी भी भाग से शब्दों को सुन सकता है।[1] साधारणतया कान से ही सुना जाता है, किंतु लब्धि प्रभाव से नाक से भी सुन सकते हैं जीभ से भी, आँख से भी। अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय श्रोत्र-कान का कार्य कर सकती है।

एक दूसरा अर्थ किया गया है—कि साधारणतः एक इन्द्रिय एक ही कार्य कर सकती है। आँख देख सकती है, जीभ सूंघती है, न आँख जीभ का काम कर सकती है, और न जीभ आँख का। किंतु तपस्या के प्रभाव से साधक को ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाती है कि किसी भी एक इन्द्रिय से पांचों इन्द्रियों का काम कर सकता है। आँख मूँदकर बैठा है, आपके शब्द सुन रहा है तो शब्दों के साथ ही आपके हाव-भाव का ज्ञान भी उसे हो रहा है, आपका पूरा रूप उसके कानों से प्रतिबिम्बित हो जाता है, इसी प्रकार जीभ से एक वस्तु को छूने पर उसका रूप रंग स्पर्श गंध आदि सब का ज्ञान कर लिया जाता है। यह इन्द्रियों की अद्भुत विकसित शक्ति है।

प्रकारान्तर से एक अर्थ यह भी किया जाता है—कि संभिन्नश्रोतो लब्धि के धारक योगी की श्रोत्रइन्द्रिय शक्ति बहुत ही प्रचंड हो जाती है। सूक्ष्म से सूक्ष्म ध्वनि को वह अलग-अलग करके ग्रहण कर लेता है। जंगल के वातावरण में जैसे एक साथ सैकड़ों पक्षियों की आवाजें आती हैं, कहीं चिड़िया चहक रही है, कौआ कांव-कांव कर रहा है, कोयल गा रही है, और छोटे-मोटे झींगुर आदि अगणित जीव अलग-अलग शब्द कर रहे हैं। साधारण मनुष्य के लिए वह कोई स्पष्ट शब्द नहीं, केवल एक कोलाहल मात्र होता है, किसी की भी ध्वनि व अर्थ उसकी समझ में नहीं आ सकता। किंतु संभिन्नश्रोतोलब्धि का धारक दूर खड़ा ही उन तमाम शब्दों को, ध्वनियों को सुनकर सबको अलग-अलग पहचान सकता है, कौन किस की ध्वनि है! उदाहरण देकर बताया गया है कि—चक्रवर्ती की विशाल सेना

---

१ सर्वतः सर्वैरपि शरीरदेशैः शृणोति स संभिन्नश्रोताः—

—आवश्यक चूर्णि अ० १

जो बारह योजन में खड़ी है। उसमें एक ही समय में कहीं शंख बज रहा है, कहीं ढोल, कहीं भेरी, कहीं घंटा, कहीं बाजे, कहीं वीणा आदि विभिन्न ध्वनियां एक साथ गूंज रही है, और एक विचित्र कोलाहल सा हो रहा है, लब्धिधारी उन समस्त वाद्य विशेषों के शब्दों को पृथक्-पृथक् रूप से सुनता है। प्रत्येक वाद्य की ध्वनि को अलग-अलग पहचानता है। इतनी सूक्ष्म और दूरस्थ विषय को ग्रहण करने की शक्ति संभिन्नश्रोतोलब्धि कहलाती है।

(७) **अवधि लब्धि**—इस लब्धि के प्रभाव से अवधि ज्ञान की होती प्राप्ति है।

(८-९) **ऋजुमति विपुलमति लब्धि**—मन:पर्यव ज्ञान के दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति। ऋजुमति मन:पर्यव ज्ञान का धारक अढाई द्वीप में कुछ कम (अढाई अंगुल कम) क्षेत्र में रहे हुए संज्ञी, अर्थात् समनस्क प्राणियों के मनोभावों को जानता है। प्राणी मन में जो भी सोचता है, संकल्प करता है उसका सामान्य रूप से ज्ञान करना ऋजुमति मन:पर्यव ज्ञान है। और संपूर्ण अढाई द्वीप में रहे हुए संज्ञी प्राणियों के मनोभावों को स्पष्ट रूप से, सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारों को भी जान लेना विपुलमति मन:पर्यव ज्ञान है। यह मनोज्ञान जिस लब्धि के कारण प्राप्त होता है, उस लब्धि को ऋजुमतिलब्धि तथा विपुलमतिलब्धि कहा जाता है।

(१०) **चारणलब्धि**—जिस लब्धि के कारण आकाश में जाने आने की विशिष्ट शक्ति प्राप्त होती है, उसे चारणलब्धि कहा जाता है। चारण शब्द एक प्रकार का रूढ शब्द है, जिसका आकाशगामिनी शक्ति के रूप में जैन ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर प्रयोग हुआ है।

भगवती सूत्र में[1] चारणलब्धि के दो भेद बताये गये हैं। जंघाचारण और विद्याचारण। जंघाचारण लब्धि का धारक पद्मासन लगाकर जंघा पर हाथ लगाता है और तीव्रगति से आकाश में उड़ जाता है। टीकाकार अभयदेव सूरि ने बताया है कि जंघाचारणवाला मुनि आकाश में उड़ान

---

१ शतक २० उद्देशक ९

भरने से पहले मकड़ी के जाल जैसा तंतु, बटी हुई बाती अथवा सूर्य की किरणों का अवलंबन-निश्राय लेता है, और फिर आकाश में उड़ता है।[1]

जंघाचारण लब्धि चारित्र एवं तप के विशेष प्रभाव से प्राप्त होती है। भगवती सूत्र में इसकी साधनाविधि का वर्णन करते हुए बताया गया है, निरंतर बेले-बेले तप करने वाले को विद्याचारण एवं निरंतर तेले-तेले का उग्र तप करने वाले योगी को जंघाचारण लब्धि की प्राप्ति होती है।[2] जंघा चारण लब्धि वाला एक ही उड़ान में (उत्पात में) तेरहवें रुचकवर द्वीप तक जा सकता है। यह द्वीप भरतक्षेत्र से असंख्यात योजन दूर है। इस लब्धिधारक की पहली उड़ान अधिकशक्तिशाली होती है। किंतु उड़ान करने में प्रमाद और कुतूहल होने के कारण लब्धि की शक्ति क्रमशः हीन व क्षीण होने लग जाती है, इस कारण एक उड़ान में रुचकवर द्वीप जाने वाला जब वहाँ से वापस उड़ान भरता है तो वह बीच में थक जाता है, इसलिए बीच में नंदीश्वर द्वीप में उसे एक विश्राम लेना पड़ता है और वह दूसरी उड़ान में अपने स्थान पर लौट कर आ सकता है।

जघाचारणवाला यदि ऊपर ऊर्ध्व लोक में उड़ान भरता है तो वह सीधा सुमेरुपर्वत के शिखर पर सुरम्य पाण्डुकवन में पहुँच सकता है। यह वन सब वनों में सुन्दर व सबसे अधिक ऊँचाई पर है। जब योगी वहां से वापस लौटता है तो जाने की अपेक्षा आने में उसे अधिक शक्ति व समय लगता है। शक्ति की क्षीणता के कारण उसे नंदनवन में एक विश्राम लेना होता है, और दूसरी उड़ान भरके अपने स्थान पर पहुँच जाता है।

विद्याचारण लब्धि तप के साथ विद्या के विशेष अभ्यास द्वारा प्राप्त होती है। जंघाचारण से इसका तपक्रम कुछ सरल है, उसमें तेले-तेले तप का विधान है, और इसमें बेले-बेले तपका। उसमें चारित्र की अतिशयता

---

१ लूतातन्तुनिर्वर्तित पुटकतन्तून् रवि करान् वा निश्रां कृत्वा जंङ्घाभ्यामाकाशेन चरतीति जंघाचारणः। —भगवती सूत्र वृत्ति २०।९

२ भगवती सूत्र २०।९

रहती है और इसमें ज्ञान की। तप के साथ विद्याभ्यास करने से इस लब्धि की प्राप्ति होती है। किंतु है यह भी तपोजन्य। विद्याधरों की आकाश-गामिनीशक्ति में और विद्याचारणलब्धि में अंतर है। विद्याधरों को भी यद्यपि विद्याभ्यास करना पड़ता है, किंतु वह जन्मगत एवं जातिगत संस्कार रूप में भी प्राप्त होती है। कुछ योगी मंत्र शक्ति से भी आकाश में उड़ान भरते हैं। किंतु विद्याचारण लब्धि वाला मंत्र-तंत्र व जन्मगत कारण से नहीं, किंतु तप के साथ विद्याभ्यास के कारण ही आकाशगमन कर सकता है।

विद्याचारण वाला तिरछे लोक में आठवें नंदीश्वर द्वीप तक उड़कर जा सकता है। विद्याचारण की शक्ति प्रारंभ में कम व बाद में अधिक होती है। चूंकि यह विद्या के वश होती है, विद्या का जितनी बार परिशीलन अधिक होगा यह उतनी ही अधिक शक्तिशाली बनेगी। जैसे भांग को जितनी घोटी जाती है, वह उतनी ही तेज होती जाती है. विद्याचारण लब्धि भी इसी प्रकार पुनः पुनः परिशीलन से अधिक शक्तिशाली बनती है। इसी कारण विद्याचारण को नंदीश्वर द्वीप जाते समय बीच में मानुषोत्तर पर्वत पर एक विश्राम लेना पड़ता है, और दूसरी उड़ान भरकर वह नंदीश्वरद्वीप पहुंचता है किंतु लौटते समय परिशीलन से उसकी विद्या शक्ति प्रखर हो जाती है अतः एक ही उड़ान में सीधा अपने स्थान पर आ जाता है। इसी प्रकार ऊँची उड़ान भरते समय भी जाते समय पहले नंदनवन में विश्राम लेकर फिर दूसरी उड़ान में पाण्डुकवन पहुँचा जाता है, किंतु लौटते समय में सीधे ही एक उड़ान में अपने स्थान पर आ जाते हैं।

जंघाचारण से विद्याचारण की शक्ति कम होती है। ग्रंथों में बताया गया है कि जंघाचारणलब्धि वाला तीन बार आँख की पलक झपकने जितने समय में एक लाख योजन वाले जंबूद्वीप के २१ चक्कर लगा सकता है, किंतु विद्याचारण लब्धि वाले इतने समय में सिर्फ ३ चक्कर ही लगा पाते हैं। गति की तीव्रता जंघाचारण में अधिक है। आज के जैट विमान, फ्रांस के मिराज विमान जो कि शब्द की गति से भी अधिक तेज दौड़ सकते हैं. और चन्द्रयान, जो मिनटों में हजारों मील के चक्कर काट लेते हैं, अभी भी

जंघाचारण और विद्याचारण लब्धि की शक्ति से बहुत पीछे हैं। फिर इनमें यंत्रबल है, जबकि उनमें आत्मबल का ही सारा चमत्कार है। अस्तु,

दिगम्बर आचार्य यति वृषभाचार्य ने चारण लब्धि के अनेक अन्तर्भेदों का भी वर्णन किया है—जैसे जलचारण—जल में भूमि की तरह चलना, पुष्पचारण-फूल का सहारा लेकर चलना, धूमचारण—आकाश में उठते धूएँ का आलंबन लेकर उड़ना, मेघ चारण—बादलों को पकड़कर चलना, ज्योतिश्चारण—सूर्य व चन्द्र की किरणों का आलंबन ग्रहण कर गमन करना आदि।[1]

(११) **आशीविष लब्धि**—जिनकी दाढ़ों में तीव्र विष होता है उन्हें आशीविष कहा जाता है। अर्थात् जिनकी जीभ या मुख में, जिनका थूक या मुंह से निकली सांस विष के समान अनिष्ट प्रभावकारी होती है उन्हें भी आशीविष में माना गया है।

आशीविष के दो भेद किये गये हैं कर्म आशीविष और जातिआशीविष! कर्म आशीविष—तप अनुष्ठान, संयम आदि क्रियाओं द्वारा प्राप्त होता है इसलिये इसे लब्धि माना गया है। इस लब्धि वाला, शाप आदि देकर दूसरों को मार सकता है। उसकी वाणी में इतनी शक्ति और प्रभाव होता है कि क्रोध में आकर किसी को मुंह से कह दिया 'मर जाओ।' या 'तेरा नाश' हो, तो वह वाणी विष की तरह शीघ्र ही उसके प्राण हरण कर लेती है।

प्राचीन ऋषि-मुनियों की शाप आदि की जो घटनाएं हम सुनते हैं वह एक प्रकार की यही लब्धि होगी ऐसा अनुमान होता है। वैसे इस लब्धि के बल से सिर्फ शाप ही दिया जा सकता है, वरदान नहीं, चूंकि विष प्रायः अनिष्ट परिणाम ही लाता है और यह लब्धि 'आशीविष लब्धि' हैं। हां, यह भी प्रायः देखा जाता है कि जो शाप दे सकता है, वह वरदान दे या न भी दे! शाप देने वाले में वरदान देने की शक्ति होना कोई जरूरी नहीं है। बहुत से मनुष्यों के विषय में हम सुनते हैं—जिसकी जीभ काली होती है उसके मुँह से जो बात निकलती है वह प्रायः सही भी हो जाती है ऐसे

---

१ देखिए तिलोयपण्णत्ती

मनुष्यों को 'कल जिह्वा" भी कहा जाता है। चूंकि यह लब्धि मनुष्य व तिर्यंच दोनों में हो सकती है, और सिर्फ वर्तमान में तपस्या करने से ही नहीं, किंतु अतीत में की हुई तपस्या आदि के प्रभाव से भी प्राप्त हो सकती है। देवता शाप आदि से जो अनिष्ट करते हैं वह इस लब्धि का कारण नहीं माना जाता उनमें तो देवभव जन्य ही ऐसी शक्ति होती है और वह सभी देवताओं में सामान्य रूप से पायी जाती है।

यहां यह भी बता देना जरूरी है कि जाति आशीविष कोई लब्धि नहीं होती है, वह तो जन्मजात—जातिगत स्वभाव के कारण प्राप्त हो जाती है। जैसे बिच्छू सांप आदि में जो विष होता है वह जातिगत होता है। इसीलिए कहा जाता है 'सांप का बच्चा क्या छोटा क्या बड़ा? वह तो जनमते ही विषधर होता है।' जाति आशीविष के सम्बन्ध में स्थानांग सूत्र में काफी विस्तार के साथ वर्णन करके बताया है—

जाति आशीविष के चार भेद हैं[1]—

१ बिच्छू,

२ मेंढक,

३ सांप,

४ मनुष्य

बिच्छू से मेंढक का विष अधिक और प्रबल होता है, मेंढक से सांप का और सांप से मनुष्य का। मनुष्य का विष सबसे प्रबल और अधिक विस्तार वाला होता है।

(१२) केवलीलब्धि—चार घनघाती कर्मों के क्षय से लोकालोक-प्रकाशी जो केवलज्ञान, केवल दर्शन की प्राप्ति होती है, वह केवली लब्धि है।

(१३) गणधर लब्धि—गणधर 'गण को धारण करने वाले होते हैं। ये तीर्थंकरों की वाणी रूप पुष्पों को सूत्र रूप में गूंथते हैं—उसे क्रमबद्ध करते हैं और आगम का रूप देते हैं, आज की भाषा में तीर्थंकर प्रवक्ता होते

---

१ चत्तारि जाइ आसीविसा-विच्छुयजाई.... —स्थानांग ४।४

हैं गणधर उस प्रवचन के संपादक। तीर्थंकर सिर्फ अपने विचार व्यक्त करते हैं, गणधर उन्हें शास्त्र या साहित्य का रूप प्रदान करते हैं।[1] किंतु यह महान कार्य हर कोई नहीं कर सकता। इस के लिए विशिष्ट ज्ञान, प्रतिभा और कुशल संयोजन मेधा होनी चाहिए। यह कुछ खास व्यक्तियों में ही होती है। अतः यह माना गया है कि जिनको गणधर लब्धि की प्राप्ति होती है वे ही गणधर पद प्राप्त करते हैं!

(१४) **पूर्वधर लब्धि**—'पूर्व' का शब्दार्थ होता है पहले। जैन परम्परा में पूर्व का अर्थ किया गया है—भगवान ने जो सबसे पहले गणधरों के सामने प्रवचन दिये—जिनमें सार रूप से समस्त वाङ्मय का ज्ञान छिपा था—वे 'पूर्व' कहलाये। बारह अंग जो श्रुतज्ञान का अखूट खजाना है उसमें सबसे पहले जिस अंग (दृष्टिवाद) की रचना हुई उसे 'पूर्व' कहा गया—ऐसा प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य अभयदेव एवं अन्य आचार्यों का मत है।[2] कुछ आचार्यों का कथन है कि जो श्रुतज्ञान भगवान महावीर से भी पहले अर्थात् भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा से चला आ रहा था, उसे पूर्व' (पहले का) कहा गया है।

विश्व विद्या का ऐसा कोई भी विषय नहीं है, जिसका वर्णन 'पूर्व' में नहीं किया गया हो। यंत्र, मंत्र, तंत्र, शब्द शास्त्र, ज्योतिष, भूगोल, रसायन रिद्धि-सिद्धि आदि समस्त विषयों की चर्चा पूर्वों में है। पूर्व चौदह है। जिस मुनि को दश से लेकर चौदह पूर्व तक का ज्ञान होता है वह पूर्वधर कहलाता है। जिस शक्ति के प्रभाव से उक्त पूर्वों का ज्ञान प्राप्त होता हो,

---

१ अत्थंभासई अरहा सुत्तं गुंथति गणहरा निउणा —आवश्यक निर्युक्ति

२ (क) प्रथमं पूर्वं तस्य सर्व प्रवचनात् —समवायांग वृत्ति पत्र १०१

(ख) सर्वश्रुतात् पूर्वं क्रियते इतिपूर्वाणि —स्थानांग वृत्ति १०।१

(ग) तित्थ करो तित्थ पवत्तण काले गणधराणं सव्व सुत्ताधारत्तणतो पुव्वं पुव्वगत सुत्तत्थं भासति ताहा पुव्वं त्ति भणिता।

—नंदीसूत्र (चूर्णि पृ० ११)

वह पूर्वधर लब्धि कहलाती है। वर्तमान परम्परा में चौदह पूर्व के अंतिम ज्ञाता श्रीभद्रबाहु स्वामी हुए। यद्यपि आचार्य स्थूलिभद्र ने दश पूर्व का अर्थ सहित ज्ञान प्राप्त कर लिया था, और ग्यारहवें पूर्व का अनुशीलन (वाचना) चल रहा था, किंतु उसी समय उन्होंने अपनी बहनों को चमत्कार दिखाने के लिये लब्धि फोड़कर सिंह का रूप बना लिया।[1] स्थूलिभद्र का यह कृत्य देखकर भद्रबाहु स्वामी ने सोचा—'इसे विद्या हजम नहीं हो रही है,' अतः अपात्र समझकर आगे वाचना देना बद कर दिया। संघ ने आचार्य से बहुत अनुनय-विनय किया—कि यदि आप ज्ञान नहीं देंगे तो चार पूर्व का ज्ञान लुप्त हो जायेगा। आचार्य ने कहा—"अपात्र को विद्या देने से तो विद्या साथ में लेकर मर जाना ठीक है।" किंतु फिर भी श्रीसंघ के अत्यधिक आग्रह और स्थूलिभद्र के विनय के कारण भद्रबाहु ने अंतिम चार पूर्व का ज्ञान तो दिया, पर केवल शब्दरूप में ही, अर्थरूप में ही नहीं। इसलिए अंतिम चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु स्वामी ही कहलाते हैं। पूर्वो का ज्ञान इतना विशाल है कि वह केवलज्ञान का एक नमूना पेश कर सकता है, इस कारण चतुर्दशपूर्वधर को 'श्रुतकेवली' भी कहते हैं।

(१५) अर्हल्लब्धि—अरिहंत तीर्थंकर को कहते हैं। साधारणतः अरिहंत शब्द का अर्थ होता है—कर्म रूप शत्रुओं का नाश करने वाले। किंतु इस व्याख्या से तो प्रत्येक केवली अरिहंत कहला सकते हैं। इसलिए आचार्यों ने कहा है जिस केवलज्ञानी को अर्हल्लब्धि की प्राप्ति हो, वही सिर्फ अर्हत् कहलाता है, हर एक केवलज्ञानी नहीं। अर्हल्लब्धि की प्राप्ति होने पर अनेक विशिष्ट अतिशय भी प्रगट होते हैं जिनमें अष्ट महाप्रातिहार्य मुख्य हैं।[2]

---

१ आवश्यक वृत्ति. पृ० ६६८

२ अशोक वृक्ष, देवकृत अचित्त पुष्प वृष्टि, दिव्य ध्वनि, चामर, सिंहासन, भामण्डल, देव दुन्दुभि और छत्र—ये आठ महाप्रातिहार्य हैं।
अर्हत् जब माता के गर्भ में आते हैं तो माता चौदह महास्वप्न देखती है। चौदह महास्वप्न का चित्र परिशिष्ट में देखें।

(१६) **चक्रवर्ती लब्धि**—छह खण्ड के स्वामी को चक्रवर्ती कहा जाता है। चक्रवर्ती एक पराक्रमी राजा होता है, जब चक्रवर्ती लब्धि के प्रभाव से उसे चौदह रत्न प्राप्त होते है तो वह छह खण्ड पर विजय करता है और फिर चक्रवर्ती सम्राट का पद प्राप्त करता है।

(१७) **बलदेव लब्धि**—

(१८) **वासुदेव लब्धि**—वासुदेव तीन खंड के स्वामी होते हैं। युद्ध कौशल एवं राजनीति में वासुदेव चक्रवर्ती से भी बढ़-चढ़कर होता है। चक्रवर्ती स्वयं युद्ध कम करते हैं उनका सेनापतिरत्न ही अधिकतर युद्ध करता है, किंतु वासुदेव स्वयं युद्ध करते हैं इसीलिए—**जुद्धे सूरा वासुदेवा**[1] युद्ध में वासुदेव शूर होते हैं—कहा गया है। ये सात रत्नों के स्वामी होते हैं। बलदेव वासुदेव के बड़े भाई होते हैं। बलदेव प्रायः सात्विक व धार्मिक प्रकृति के होते है, किंतु वासुदेव राजसी और तामसी प्रकृति के तथा भोग-प्रिय एवं राज्य सत्ता के आकांक्षी होते हैं। जिस लब्धि के प्रभाव से बलदेव पदवी प्राप्ति हो वह बलदेवलब्धि तथा वासुदेवपदवी प्राप्ति हो वह वासुदेव लब्धि कहलाती है। बलदेव पदवी बड़ी भाग्यशाली है, इस पद में उसकी कभी मृत्यु नहीं होती, किन्तु पद को छोड़कर मुनि बनता है, और कर्म क्षय कर मुक्ति प्राप्त करता है।

वासुदेव में बीस लाख अष्टापद का बल होता है। उसके बल का अनुमान करने के लिये आचार्यों ने एक उदाहरण दिया है—एक वासुदेव कुएँ के तट पर बैठा हो, उसे जंजीरों से बांधकर उसकी समस्त सेना के हाथी, घोड़े, रथ और पदाति (पैदल)—यों चतुरंगिणी सेना के साथ सोलह हजार राजा उस जंजीर को दम लगाकर खींचते रहे, पसीना-पसीना हो जाये फिर भी वे वासुदेव को खींच नहीं सकते। किन्तु वासुदेव उस जंजीर को बाएं हाथ से पकड़ कर बड़ी आसानी के साथ उसे अपनी ओर

---

१ स्थानांग ४।

खींच सकते हैं।[1] वासुदेव में जितना बल होता है उससे दुगुना बल चक्रवर्ती में और जिनेश्वर देव चक्रवर्ती से भी अधिक बलशाली होते हैं।[2] क्योंकि संपूर्ण वीर्यान्तराय कर्म का क्षय हो जाने के कारण तीर्थंकरों का बल अपरिमित होता है।

(१६) **क्षीरमधु-सर्पिराश्रवलब्धि**—इस लब्धि के प्रभाव से वक्ता के वचन सुनने वालों को बड़े ही मधुर (दूध-मधु एवं घृत के समान) प्रिय एवं सुखकारी लगते हैं। आचार्य ने कहा है—**यद् वचनमाकर्ण्यमानं मनः शरीर सुखोत्पादनाय प्रभवति ते क्षीराश्रवाः**—जिनके वचन दूध जैसे, शहद जैसे और घी जैसे मन को, और शरीर को भी सुख एवं प्रीति पैदा करने वाले होते हैं वे क्षीर मधु सर्पिराश्रवलब्धि के धारक होते हैं।

साधारणतः दूध—मधुर भी होता है, प्रिय भी और शरीर एवं मन को प्रीति उत्पन्न करने वाला भी। इस पर भी यदि पुण्ड्रेक्षु चरने वाली गाय का दूध मिले और वह भी वह दूध, जिससे चक्रवर्ती की खीर बनती हो तो उस दूध का कहना ही क्या? उस दूध का वर्णन करते हुए आचार्यों ने बताया है[3]—पुण्ड्र-इक्षु (गन्ने) के खेतों में चरने वाली एक लाख गायों का दूध

---

१ सोलसराय सहस्सा सव्व बलेणं तु संकलनिबद्धं।
अंछंति वासुदेवं अगडतडम्मिठियं संतं॥ १॥
घेत्तूण संकलं सो वामहत्थेण अंछमाणाणं।
भुंजिज्ज विलिं पिज्ज व महुमहणं ते न चाएंति॥ २॥
जं केसवस्स उ बलं तं दुगुणं होइ चक्कवट्टिस्स।
तत्तो बला बलवग्गा अपरिमियबला जिणवरिंदा॥ ३॥
—प्रवचन सारोद्धार

२ करोड़ चक्रवर्ती का बल एक देव में, करोड़ देवों का बल एक इन्द्र में, अनन्त इन्द्रों का बल तीर्थंकर की कनिष्ठ अंगुली में।

३ (क) पुण्ड्रेक्षु चारिणीनामनातंकानां गवां लक्षस्य·······यावदेकस्या गोः सम्वधियत् क्षीरं····
—जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति, वक्षस्कार २

(ख) प्रवचनसारोद्धार वृत्ति द्वार २६९।

(ग) दूध को मधुर एवं स्वादिष्ट बनाने की ऐसी ही एक कथा बौद्ध-

(देखें पृष्ठ ८४ पर)

निकाल कर पचास हजार गायों को पिलाया जाता है। पचास हजार गायों का दूध पच्चीस हजार को। और इसी क्रम से करते करते दो गायों का दूध एक गाय को पिलाया जाता है।[1] उस गाय का दूध जितना मधुर, स्वादिष्ट और शरीर को सुख प्रीति देने वाला होता है उसी प्रकार क्षीराश्रवलब्धि के प्रभाव से वक्ता का वचन भी उस दूध की भाँति मधुर और सुख-प्रीति उत्पन्न करने वाला होता है।

दूध की तरह ही जिसका वचन सुनने में श्रेष्ठ, मधु के समान मीठा लगता हो, वह मध्वाश्रव लब्धि का प्रभाव समझना चाहिए और उन पुण्ड्रेक्षु चरने वाली गायों के घी के समान जिसका वचन तृप्ति कारक लगता हो वह सर्पिराश्रवलब्धि का प्रभाव।

उक्त लब्धि का एक प्रभाव यह भी होता है कि उनके भिक्षापात्र में लूखा-सूखा-नीरस आहार भी आ जाता है तो वह स्वतः ही क्षीर, मधु एवं घृत के समान स्वादिष्ट बन जाता है।—**येषां पात्रे पतितं कदन्नमपि क्षीर-मधुसर्पिरादि सवीर्य विपाकं जायते**—और यह अन्न खाने पर भी उतना ही स्वादिष्ट और प्रीतिकारक लगता है।

कहीं-कहीं लोग मांत्रिक प्रयोगों से भी वस्तु का स्वाद बदल देते हैं। मिसरी का मिट्टी जैसा स्वाद बना देते हैं और मिट्टी को मिश्री जैसा मधुर! किन्तु यह एक मांत्रिक प्रयोग है। किन्तु लब्धिधारी का तो यह

ग्रन्थों में भी प्रसिद्ध है। सुजाता बुद्ध की उपासिका थी। वह एक हजार गायों का दूध पांच सौ गायों को पिलाती, पांचसौ गायों का ढाई सौ को, इसी क्रम से सोलह गायों का दूध आठ गायों को आठ का चार को, चार का दो गायों को दूध पिलाकर उसके दूध की खीर बनाती है। उस खीर की भिक्षा वह बुद्ध को देती है।

—आगम और त्रिपिटक पृ० १७०

१ नोट :—इसी दूध से चक्रवर्ती की खीर बनती है जिसे 'कल्याणक भोजन' कहते हैं।

सहज प्रभाव होता है, और वह शुद्ध आध्यात्मिक ही होता है, उसमें मंत्र-तंत्र का कोई पुट नहीं होता है।

(२०) **कोष्ठक बुद्धि लब्धि**—जिस प्रकार कोठे में डाला हुआ धान्य वहुत काल तक ज्यों का त्यों सुरक्षित रह जाता है, इसी प्रकार जिसे कोष्ठक बुद्धि लब्धि प्राप्त होती है वह आचार्य आदि के मुख से सुना हुआ सूत्र-अर्थ, तथा अन्य जो भी तत्त्व सुनता है उसे ज्यों का त्यों अविकल रूप में धारण करने में समर्थ होता है। इस लब्धि प्रभाव से बुद्धि स्थिर धारणा वाली बन जाती है;

(२१) **पदानुसारिणी लब्धि**—इस लब्धि के प्रभाव से सूत्र के एक पद को सुनकर आगे के वहुत से पदों का ज्ञान बिना सुने ही अपनी बुद्धि से कर लेता है। जैसे कहा जाता है—एक चावल के दाने से पूरे चावलों के पकने का पता चलता है, एक बात सुनते ही पूरी बात का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार एक पद से अनेक पदों का ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता इस लब्धि धारी में होती है।

(२२) **बीजबुद्धि लब्धि**—जैसे बीज विकसित होकर विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार बीज बुद्धि लब्धि के प्रभाव से एक सूत्र, व अर्थ प्रधान वचन को ग्रहण कर अपनी बुद्धि से उसके सम्पूर्ण सूत्र व अर्थ का ज्ञान कर लिया जाता है। यह लब्धि गणधरों में सर्वोत्कृष्ट रूप से होती है। वे तीर्थंकर देव के मुख से सर्वप्रथम उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप त्रिपदी का ज्ञान प्राप्त करते हैं—**उप्पन्ने इ वा विगमे इ वा धुवे इ वा**—बस इन तीन पदों को सुनकर ही संपूर्ण द्वादशांगी का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और बारह अंगों की रचना भी।

(३) **तेजोलेश्या लब्धि**—यह आत्मा की एक प्रकार की तेजस् शक्ति है। इस लब्धि के प्रभाव से योगियों को ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाती है कि कभी क्रोध आ गया तो वे बायें पैर के अंगूठे को घिसकर एक तेज निकालते है जो अग्नि के समान प्रचंड होता है, और विरोधी को वहीं जलाकर भस्मसात् कर डालते हैं। इस शक्ति से कई योजनों तक में रही हुई वस्तु को

भी भस्म किया जा सकता है। उत्कृष्ट शक्ति-प्रयोग में १६।। महाजनपदों को एक साथ भस्म कर डालने की शक्ति भी इस लब्धि धारक में होती है।

भगवती सूत्र[1] में बताया गया है कि जब भगवान महावीर छद्मस्थ थे तो गौशालक उनके साथ-साथ घूमता था। एक बार उसने वैश्यायन नामक बाल तपस्वी को छेड़ लिया। तपस्वी ने क्रुद्ध होकर गौशालक को जला डालने के लिए तेजोलेश्या छोड़ी। तब गौशालक भयभीत होकर चीखता हुआ भगवान महावीर के बगल में आकर छुप गया। भगवान ने उस दीन प्राणी की रक्षा करने के लिए परमशीतललेश्या का प्रयोग किया जिससे आग शांत हो गई।

गौशालक इस शक्ति के चमत्कार से बड़ा प्रभावित हुआ। उसने अनुनय-विनय कर भगवान से तेजोलेश्या साधने की विधि पूछी। प्रभु ने उसे बताया—छह महीने तक निरंतर बेले-बेले तप करके सूर्य मंडल के सामने दृष्टि रखकर खड़े रहना और पारणे में मुट्ठीभर उड़द के बाकले और चुल्लूभर पानी लेना। लगातार छह मास तक इस प्रकार की तपश्चर्या करने से थोड़ी बहुत मात्रा में तेजोलब्धि की प्राप्ति होती है।

गौशालक कुछ समय बाद भगवान से अलग हो जाता है और हाला-हला नामक अपनी भक्त कुम्हारिन की भट्टीशाला में छह महीने तक साधना कर तेजोलब्धि प्राप्त करता है।

यह तेजोलब्धि आज के अणुबम से भी अधिक विस्फोटक है। हां, तेजो-लब्धि का प्रयोग जिस पर जितनी दूर तक संकल्प करके किया जाता है उतने ही क्षेत्र को वह प्रभावित करती है, जबकि बम तो फटने के बाद विध्वंस भी करता है और वायुमंडल को दूषित भी! इस तेजोलेश्या के प्रयोग से वायुमंडल दूषित नहीं होता है।

(२४) **आहारकलब्धि**—कभी-कभी तपस्वी मुनियों के समक्ष कुछ समस्याएँ व कुछ परिस्थितियां आ जाती हैं जिनका समाधान करने के लिए वे इस आहारक लब्धि का प्रयोग करते हैं। किसी प्राणी की रक्षा करना

---

१ भगवती सूत्र शतक १५।

हो, या मन में कभी कुछ संशय खड़ा हो गया हो, और उत्तर देने वाला पास में न हो, तथा तीर्थंकरों की अद्भुत ऋद्धि का दर्शन करने की भावना जग गई हो और वे दूर विचर रहे हों तो मुनि उस प्रयोजन को पूरा करने के लिए आत्म-प्रदेशों से एक स्फटिक के समान उज्ज्वल एक हाथ का पुतला बनाते हैं और उसे तीर्थंकर अथवा सामान्य केवली के पास भेजकर अपने प्रश्नों का उत्तर मांगते हैं, उनके दर्शन करते हैं। तथा किसी की रक्षा करनी हो-तो वह भी कर लेते हैं। पुतला वापस लौट आता है और पुनः आत्म-प्रदेशों में विलीन हो जाता है। यह लब्धि चौदहपूर्वधारी मुनि को ही प्राप्त हो सकती है।

(२५) **शीतललेश्या लब्धि**—यह तेजोलेश्या की प्रतिरोधी शक्ति है। तेजोलेश्या के द्वारा भड़कायी गई अग्नि को समाप्त करने के लिए शीतल लेश्या लब्धि धारक जब करुणाभाव से प्रेरित होकर सौम्यदृष्टि से निहारता है, तो क्षण भर में ही धधकते दावानल को शांत कर देता है। गौशालक पर करुणा-द्रवित होकर भगवान महावीर ने उसे बचाने के लिए शीतल लेश्या का प्रयोग किया तो क्षण मात्र में ही वैश्यायन की तेजोलेश्या शांत हो गई।

शीतल लेश्या भी एक आध्यात्मिक तेज है, किंतु यह उष्ण नहीं,शीत है। इसकी शक्ति मारक नहीं, तारक है, शामक है। अग्नि को शांत करने के लिए जैसे जल है, वैसे ही तेजोलेश्या को शांत करने के लिए उसकी प्रतिरोधी आत्मशक्ति है—शीतललेश्या।

(२६) **वैक्रिय देह लब्धि**—प्रस्तुत में जैनदर्शन विक्रिया का अर्थ करता है विविध क्रिया, अनेक प्रकार के रूप,आकार आदि की रचना करना विक्रिया या वैक्रिय कहलाता है। वैक्रिय देहलब्धि से शरीर के छोटे-बड़े विचित्र सुन्दर और भयंकरतम रूप बनाये जा सकते हैं। एक रूप के हजारों रूप भी बनाये जा सकते हैं। चींटी से भी सूक्ष्म और अति विशाल रूप बनाने की क्षमता वैक्रिय देहलब्धि धारक को प्राप्त होती है।

मुनि विष्णुकुमार ने संघ की रक्षा के लिए नमुचि से तीन पांव रखने

की भूमि मांगी थी। वचन मिलने पर एक लाख योजन का[1] विराट रूप बनाकर एक चरण जगती के इस छोर पर व दूसरा उस छोर पर रखा तथा तीसरे चरण को रखने की भूमि न देने पाने पर उसकी छाती पर रखकर उसे समाप्त कर डाला था। (यह वैक्रिय देह लब्धि का ही चमत्कार था।)

इस लब्धि के प्रभाव से एक साथ सैकड़ों हजारों रूप भी बनाये जा सकते हैं, जिधर देखो उधर वही रूप दिखाई देगा। एक साथ सैकड़ों घरों में घूमा जा सकता है, सैकड़ो जगह एक साथ भोजन आदि का उपभोग किया जा सकता है।

अंबड परिव्राजक वैक्रिय लब्धि से सैकड़ों रूप बना कर लोगों को चमत्कार दिखाया करता था। उववाई सूत्र में प्रसंग है कि एक बार भगवान महावीर कंपिलपुर में पधारे। वहां पर अंबड परिव्राजक का बड़ा ही प्रभाव था। लोग कहते—अंबड परिव्राजक बड़ा सिद्ध पुरुष है। वह एक साथ सौ घरों में भोजन कर सकता है, सौ घरों में एक साथ दर्शन दे सकता है। लोगों के मुंह से गणधर इन्द्रभूति ने यह चर्चा सुनी तो उन्होंने भगवान से पूछा—प्रभो! क्या यह बात सत्य है? उत्तर में भगवान ने कहा—'हां, अंबड परिव्राजक ऐसा कर सकता है।' गौतम ने पुनः आश्चर्य के साथ पूछा—वह यों कैसे कर सकता है? भगवान ने बताया—अंबड परिव्राजक ने दीर्घ काल तक वेले-वेले की कठोर तपश्चर्या की, सूर्य के सामने हाथ ऊपर उठाकर आतापना ली और इस तपःसाधना के कारण उसे वैक्रियलब्धि, वीर्यलब्धि तथा अवधिज्ञानलब्धि की प्राप्ति हुई, उसी लब्धि के बल पर वह ऐसा कर सकता है।[2]

सुलसा की परीक्षा करने के लिए भी अंबड ने अनेक रूप बनाए। और उसकी दृढ़ धार्मिकता की परीक्षा ली।[3] यह सब चमत्कार

---

१ यह लाख योजनउत्सेधा गुंल से किया था, अतः सिद्धांगुल से वह सौ योजन ही माना जाता है, मनुष्य उत्कृष्ट वैक्रिय सौ योजन का ही कर सकता है।

२ उववाई सूत्र

३ आवश्यक चूर्णि, उत्तरार्ध पत्र १६४.

वैक्रियलब्धि के प्रभाव से ही वह दिखा पाता था।

(२७) **अक्षीणमहानस लब्धि**—इस लब्धि के प्रभाव से तपस्वी भिक्षा मे लाये हुये थोड़े से आहार से लाखों व्यक्तियों को भरपेट भोजन करा सकता है। फिर भी उस भिक्षा पात्र का अन्न अखूट बना रहता है। बस, शर्त यही है कि जब तक लब्धिधारी स्वयं भोजन न करे तब तक ही वह अखूट रहता है, जब लब्धिधारी स्वयं उसमें से एक ग्रास भी खा लेता है तो फिर वह अन्न समाप्त हो जाता है।

कल्पसूत्र में गौतम स्वामी की अक्षीणमहानसलब्धि के चमत्कार की एक घटना बताई गई है जिसे देखकर पन्द्रह सौ तापस उनके शिष्य हो गये। घटना इस प्रकार है—

कोडिन्न, दिन्न और सेवाल नाम के तीन तापस गुरु थे। प्रत्येक के पांच-पांच सौ तापसों का शिष्य परिवार था, यों पन्द्रह सौ तीन तापस अष्टापद पर्वत पर आरोहण कर रहे थे। सभी तपस्या से बड़े दुबले हो रहे थे। कोडिन्न तापस पांचसौ शिष्यों के साथ पहली मेखला तक चढ़ा था, दिन्न का परिवार दूसरी मेखला तक और सेवाल का परिवार तीसरी मेखला तक आरोहण कर गया था। अष्टापद पर्वत पर एक-एक योजन की कुल आठ मेखलाएं थीं। ऊपर चढ़ने में तापस खिन्न हो गये थे और हताश से बैठे थे। तभी गौतम स्वामी उधर से आये और देखते-देखते ही लब्धिबल से अष्टापद पर्वत के शिखर पर चढ़ गये। गौतम के इस तपोबल से सभी तापस बड़े प्रभावित हुये, उन्हें आश्चर्य भी हुआ कि "हम तो एक-एक मेखला पार करने में ही थक कर चूर हो जाते हैं और यह तपस्वी एकदम ही शिखर तक जा पहुंचा। जरूर यह महान लब्धिधारी और तपोबली है। जब यह तपस्वी अष्टापद से उतर कर आयेंगे तो हम भी उनके शिष्य बन जायेंगे।"

इन्द्रभूति शिखर से वापस नीचे आये। तापसों ने विनयपूर्वक कहा—'आप हमारे गुरु हैं और हम आपके शिष्य!' तापसों के आग्रह पर इन्द्रभूति ने उन्हें दीक्षा दी। अपने अक्षीण महानस लब्धिबल से खीर के एक ही भरे हुए

पात्र से पन्द्रह सौ तापस-श्रमणों को भर पेट भोजन करवाया। अपने गुरु का यह अद्‌भुत लब्धिबल देखकर सभी तापस-श्रमण बड़े प्रसन्न हुए।[1]

(२८) **पुलाक लब्धि**—यह एक प्रकार की दिव्य लब्धि है, जिससे देवता के समान अपूर्व समृद्धि व बल प्राप्त हो जाता है। यह लब्धि सिर्फ मुनि को ही प्राप्त होती है। इस लब्धिधारी के अपूर्व बल के विषय में कहा गया है—

संघाइआण कज्जे चुण्णेज्जा चक्कवट्टिमवि जीए।
तीए लद्धीए जुओ, लद्धिपुलाओ मुणेयव्वो॥

कभी यदि ऐसा विकट प्रसंग आ जाय कि चक्रवर्ती के कारण से संघ का विनाश होता हो, और किसी भी प्रकार वह संकट टलता न दीखे तो पुलाकलब्धि का धारक मुनि अपने लब्धि बल से चक्रवर्ती का भी विनाश करने में समर्थ हो सकता है। इतनी दिव्य व विशिष्ट शक्ति ही पुलाक लब्धि है।

इस प्रकार संक्षेप में ये अठाईस लब्धियां बताई गई हैं, जो चारित्र व तप की विशिष्ट साधना के द्वारा प्राप्त की जा सकती है। पूर्वो में (दृष्टि-वाद अंग) में इन लब्धियों की प्राप्ति की तपस्या विधि का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया बताते हैं, किन्तु आज वह उपलब्ध नहीं है। अब तो विस्तृत वर्णन प्रवचनसारोद्धार में ही प्राप्त होता है। कुछ ऋद्धियों का वर्णन तिलोयपण्णत्ती में यतिवृषभाचार्य (दिगम्बर) ने भी किया है।

अन्य लब्धियाँ

अठाईस लब्धियों के सिवाय भी अनेक प्रकार की लब्धियों का वर्णन आगमों व ग्रन्थों में अलग-अलग ढंग से किया गया है। उववाई सूत्र में श्रमणों के वर्णन अधिकार में बताया है—भगवान महावीर के अनेक श्रमण मन में संकल्प करके ही किसी को अभिशाप दे सकते थे, और जिसका भला करना चाहते उसे वरदान देकर कृत कृत्य भी कर सकते थे। कुछ मुनि वचन से व कुछ शरीर के कंपन व प्रवर्तन से अभिशाप और अनुग्रह करने

---

१ (क) कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी पृ० १६६ से १७१
(ख) कल्पसूत्र बालावबोध पृ० २६०

पर जल की भांति जैसे सरोवर में उन्मज्जन-निमज्जन की क्रियाएँ होती हैं वैसी ऊपर नीचे आने-जाने की क्रियाएँ करना **प्राकाम्य लब्धि** है।

ईशित्व लब्धि—इस लब्धि के प्रभाव से तपस्वी तीर्थंकरों जैसी तथा इन्द्र जैसी ऋद्धि की विकुर्वणा कर सकता है। यद्यपि यह विकुर्वणा कुछ क्षण ही टिक पाती है, पर लोगों को चमत्कार दिखाने के लिए ऐसी शक्ति का प्रयोग तपस्वी करते हैं।

वशित्व लब्धि—दूसरों को अपने अनुकूल या वश में करने के लिये इस लब्धि का प्रयोग किया जाता है। वशीकरण के लिए यंत्र मंत्र तंत्र आदि भी अनेक प्रचलित हैं, किन्तु वे सब भौतिक वस्तुओं पर आधारित हैं जबकि यह लब्धि आत्म-शक्तिजन्य है।

कुछ योगी पर्वत मालाओं के बीच से, शिलाखंडों के भीतर से बिना रुकावट के ही निकल जाते हैं—और शिलाखंड में कहीं कोई छेद भी नहीं दिखाई देता। इस लब्धि को **अप्रतिघातित्व लब्धि** कहा जाता है। शरीर को अदृश्य करने की लब्धि '**अन्तर्धान लब्धि** है, तथा एक साथ अनेक प्रकार के रूप बनाना, मनचाहे रूप बना लेना **कामरूपित्व लब्धि** है।

लब्धियों का विस्तार के साथ वर्णन इसलिए किया है कि आत्मा की अनन्त शक्तियों का किस-किस रूप में विकास होता है,और क्या-क्या चमत्कार पैदा होते हैं—इसका अनुमान पाठकों को लग सके। यह भी नहीं भूल जाना चाहिए कि तप का सीधा फल लब्धि नही है। तप का फल तो है कर्मनिर्जरा, आत्मा का शुद्ध स्वरूप में आना। आत्मविकास होने पर आत्मा की शक्तियां भी स्वतः जाग्रत होती हैं। वे शक्तियां ही एक प्रकार की लब्धि है। इस तरह तप का मूल लाभ है—कर्म निर्जरा ! और उत्तर लाभ है—लब्धि ! शक्ति !

●●

लब्धि-प्रयोग : निषेध और अनुमति

जैन शास्त्रों में बताया गया है कि तपस्या का फल दो प्रकार का होता है—एक आभ्यन्तर और दूसरा बाह्य! आभ्यन्तर फल है—कर्म आवरणों की निर्जरा, उनका क्षय तथा क्षयोपशम! इससे आत्मा की विशुद्धि होती है, विशुद्धि होने पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र, बल, वीर्य आदि आत्म-शक्तियाँ अपने शुद्ध एवं प्रचंड रूप में प्रकट हो जाती हैं। जैसे किसी स्वर्ण पट्ट पर मिट्टी की तह जमी होती है तो सोने की चमक दिखाई नहीं देती, किन्तु जैसे-जैसे मिट्टी हटती है सोना चमकने लगता है। उसी प्रकार कर्म रूप मिट्टी जैसे-जैसे हटती है आत्मा की शक्तियाँ प्रकट होने लगती हैं।

आत्मशक्ति के रूप में ये शक्तियाँ आभ्यन्तर होती हैं, किन्तु उनका प्रभाव, चमत्कार, तेज बाह्य जगत में दिखाई देता है। उन शक्तियों के सहज विकास, एवं सामयिक प्रयोग से बाह्य वातावरण व समाज पर आश्चर्य-जनक प्रभाव पड़ता है। इस कारण उन शक्तियों को लब्धि आदि के रूप में तप का बाह्य फल माना गया है।

लब्धि तप से स्वतः प्राप्त होती है। तप व चारित्र की उत्कृष्टता होने पर लब्धियों की प्राप्ति अपने आप हो जाती है। जैसे पौष्टिक भोजन करने पर शरीर में शक्ति और स्फूर्ति बढ़ती है, तो रक्त और माँस भी बढ़ता है। भीतर में शक्ति बढ़ने पर बाहर में ओज-तेज जिस प्रकार दिखाई देता है, उसी प्रकार तप के द्वारा तेज प्रकट होता है, तो वह बाहर में स्वतः ही अपना प्रभाव दिखाने लगता है। इसीलिये भगवान महावीर ने कहा है—

सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो

तप का विशिष्ट प्रभाव संसार में साक्षात् दिखाई देता है। राजस्थानी में कहावत है—

घी खायो छानो को रैवेनी

—घी खाया हुआ छिपता नहीं है, शरीर पर अपने आप उसका तेज दमकने लगता है, वैसे ही तप भी तपा हुआ छुपता नहीं है। तपस्वी की ऋद्धि, तेज और प्रभाव अपने आप ही बोलने लग जाती है। कहा है—

जस्सेरिसा रिद्धि महाणुभावा

—उस महानुभाव तपस्वी की अपूर्व ऋद्धि, लब्धि और तेज ऐसा अद्भुत है कि जो देखे वह स्वतः ही नतमस्तक हो जाता है। तपस्वी के चेहरे पर स्वतः ही एक विशिष्ट तेज ओज दमकने लगता है। उसकी वाणी में सिद्धि, उसकी प्रसन्नता में वरदान तथा आक्रोश में शाप की शक्ति अपने आप आ जाती है। इन शक्तियों के लिए उसे प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जब लब्धियों के लिए तप करने की आवश्यकता नहीं है, तो शास्त्र में अलग-अलग लब्धियों के लिए अलग-अलग प्रकार की तपस्याएँ क्यों बताई हैं? जैसे भगवतीसूत्र में गोशालक को तेजोलेश्या की साधना विधि बताई गई है। जंघाचरण विद्याचरण की भी साधना विधि बताई है तथा पूर्वों में लब्धियों की विभिन्न साधना पद्धति का वर्णन उपलब्ध था ऐसा उल्लेख किया जाता है तो इसका क्या अर्थ है? जब लब्धि के लिए तप नहीं किया जाना चाहिए तो फिर उसके लिए तप की विधि क्यों?

इस प्रश्न का उत्तर है कि लब्धि एक अतिशय है, एक प्रभाव है, साधक अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए कभी उत्सुक नहीं होता, भाव बढ़ता है तो प्रभाव अपने आप बढ़ जाता है। सिद्धि मिलती है तो प्रसिद्धि अपने आप हो जाती है। इसलिए तप की जो विधि है वह लब्धि प्राप्त करने के लिए नहीं है, किन्तु तप का एक मार्ग है जिस मार्ग पर चलने से बीच में अमुक सिद्धियाँ मिल जाती हैं। जैसे अमुक नगर को जाना है, यदि इस रास्ते से गये तो बीच में अमुक-अमुक स्थान आयेंगे और अमुक रास्ते से गये तो अमुक-अमुक स्थल ! बीच के स्थल पर पहुँचने के लिए कोई यात्रा नहीं करता, वह तो अपने आप आयेगा ही, यात्रा का लक्ष्य तो मंजिल है। वैसे ही तप का उद्देश्य तो कर्म निर्जरा है, किन्तु अमुक विधि से तप का आचरण करने पर कर्म निर्जरा तो होती ही है, किन्तु जिस प्रकार के कर्मों की अर्थात् जिस वर्गणा के कर्मों की निर्जरा होगी उसके फलस्वरूप आत्मा में स्वतः ही अमुक प्रकार की शक्ति जग जायेगी। जैसे बेले-बेले तप करते रहने से अमुक प्रकार की शक्ति जगेगी, तेले-तेले तप करने से उससे कुछ विशिष्ट आत्म-शक्ति जागृत होगी। उदाहरणार्थ—भगवान महावीर को भी लब्धियाँ प्राप्त थीं, तेजोलब्धि भी और शीतललब्धि भी प्राप्त थी। तो क्या उन्होंने इन लब्धियों के लिए तप किया था ? नहीं ! किन्तु वे बेले-बेले तप करते रहे तो उससे जैसे ही उस लब्धि के योग्य कर्मों की निर्जरा हुई तो वह लब्धि अपने आप प्राप्त हो गई। अतः यह ध्यान में रखने की बात है कि शास्त्र में तप को लब्धि प्राप्त करने की विधि के रूप में नहीं बताया है, किन्तु अमुक प्रकार के तप के फल रूप में लब्धि बतायी गई है, और फल की कामना से रहित होकर ही साधक को तप करना चाहिए।

लब्धि का प्रयोग क्यों ?

एक और महत्व की बात है कि लब्धि जब तप के प्रभाव से स्वतः ही प्राप्त होने वाली एक आत्मशक्ति है तो उसका प्रयोग करना चाहिए या नहीं ? शास्त्रों में इसका प्रयोग करना अनुमत है या नहीं।

इस प्रश्न का समाधान प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम हमें भगवती सूत्र

के एक उल्लेख की ओर ध्यान देना होगा। गौतमस्वामी की विशिष्ट साधना का वर्णन करते हुए भगवान ने बताया है—**गुत्तिंदिए गुत्तबंभयारी संखित्त विउल तेउलेस्से**.... "गौतम इन्द्रिय शक्तियों का संगोपन करते थे, अर्थात् कभी अपनी शक्ति और तेज का प्रदर्शन नहीं करते थे तथा विपुल तेजोलेश्य का भी संगोपन करके रखते थे। लब्धियाँ प्राप्त करके उन्हें पचा लेते थे, उनका अजीर्ण उन्हें नहीं होता था। गरिष्ठ भोजन करने का महत्व नहीं है, महत्व है उसे पचाने का। वैसे ही शक्ति को प्राप्त करना उतना महत्वपूर्ण नहीं है किन्तु शक्ति 'को प्राप्त करके उसे पचा लेना बहुत महत्वपूर्ण है। इसलिए शास्त्रों में जहाँ लब्धियों का वर्णन किया गया है, वहाँ लब्धियों के प्रदर्शन व प्रयोग का निषेध भी किया गया है। प्रसिद्ध है कि आचार्य स्थूलिभद्र ने अपनी बहनों को चमत्कार दिखाने के लिए लब्धि फोड़ कर सिंह का रूप बनाया था। बहनें भाई का दर्शन करने गई थी पर भाई की जगह सिंह को बैठा देखा तो वे भयभीत हुई, घबरा गई। सोचा—अवश्य ही इस सिंह ने हमारे भाई को खा लिया है। वे घबराई हुई आचार्य भद्रबाहु के पास आई और बोली—"भगवन् ! अनर्थ हो गया। स्थूलिभद्र के आसन पर तो एक केसरी सिंह बैठा है।" आचार्य ने ज्ञानबल से देखा तो पता चला कि सिंह और कोई नहीं, स्थूलिभद्र ने ही यह रूप बनाया है। आचार्य को बड़ा खेद हुआ—सोचा स्थूलिभद्र को विद्या सिखाई तो है, परन्तु उसे हजम नहीं हुई। इसी कारण आचार्य ने आगे ज्ञान देने से इन्कार कर दिया। इसका अर्थ है लब्धि फोड़ना एक प्रकार से शक्ति का अजीर्ण है। किन्तु कब ? जब कि वह अपना अहंकार पोषण करने के लिए हो, लोगों को जादूगर जैसा चमत्कार दिखाकर मनोरंजन करने के लिए हो।

लब्धि फोड़ना प्रमाद है

सबसे पहली बात तो यह है कि लब्धि का प्रयोग, लब्धि फोड़ना एक प्रमाद है, प्रमादसेवना है। जितने भी लब्धि प्रयोग किये जाते हैं—सब प्रमत्त दशा में ही होते हैं। छठे गुण स्थान तक ही लब्धि प्रयोग है। सप्तम गुणस्थान वाला कभी भी लब्धि का प्रयोग नहीं करता, क्योंकि वहां अप्रमत्त

भाव है, और लब्धि-विस्फोट प्रमत्तभाव है, प्रमादसेवना है। प्रमाद कर्म बन्धन का कारण है—**पमायं कम्ममाहंसु**[1] प्रमाद स्वयं ही कर्म है। इसीलिए भगवती सूत्र में बताया गया है—जो साधक (गृहस्थ या मुनि) लब्धि का प्रयोग कर, प्रमादसेवना कर यदि पुनः उसकी आलोचना नहीं करता है, और अनालोचना की दशा में ही काल प्राप्त कर जाता है तो वह धर्म की आराधना से च्युत हो जाता है—**नत्थि तस्स आराहणा**[2] अर्थात् वह विराधक हो जाता है।

लब्धि-प्रयोग प्रमाद क्यों है? इसका सीधा सा उत्तर है कि—लब्धि फोड़ना—एक प्रकार की उत्सुकता, कुतूहल और प्रदर्शन, यश एवं प्रतिष्ठा की भावना का परिणाम है। कभी साधक कुतूहल के वश में होकर लब्धि फोड़ता है, कभी अपना प्रभाव लोगों पर जमाने के लिए। कभी-कभी क्रोध के वश होकर किसी का अनिष्ट करने के लिए भी लब्धि का प्रयोग किया जाता है। ये सब भावनाएँ राग-द्वेषात्मक हैं, जो प्रमाद-जन्य हैं, इस कारण लब्धि प्रयोग को भी प्रमाद-भाव माना गया है और प्रमाद भावना से मुक्त होना साधक का लक्ष्य है। तो जो कार्य उसे लक्ष्य के विपरीत दिशा में ले जाता हो, वह उसके लिए करणीय कैसे हो सकता है? लब्धि बल से विविध रूप बनाने वाले अंबड को सुलसा श्राविका ने ढोंगी कहकर पुकारा, उसे नमस्कार नहीं किया इसका अर्थ यही है कि लब्धि का प्रयोग साधक के लिए विहित नहीं है, अनुमत नहीं है।

चमत्कार नहीं, सदाचार का महत्व

यह एक निश्चित तथ्य है कि भगवान महावीर सदाचार को महत्व देते थे, चमत्कार को नहीं। शुद्ध चारित्र, निस्पृहभावना और वीतराग साधना में उनका विश्वास था, अपने शिष्यों को भी वे सदा यही उपदेश

---

१ सूत्रकृतांग १।८।३
२ भगवती सूत्र २०।९

देते थे। यश, प्रतिष्ठा, कीर्ति, प्रभाव जमाने की भूख को वे दल दल कहकर पुकारते थे, और स्वयं इस दल-दल से दूर थे, अपने शिष्यों को भी इस दल-दल से वचते रहने की ही शिक्षा दिया करते थे।

भगवान महावीर के समान गौतम बुद्ध भी लब्धि-प्रयोग व चमत्कार-प्रदर्शन को साधक के लिए त्याज्य मानते थे। उनके संघ में भिक्षु मोद्गल्यायन महान् लब्धिधारी ऋद्धिबली माना जाता था।[1] वह कई बार अपने ऋद्धिवल का प्रदर्शन किया करता था, किन्तु बुद्ध बार-बार उसे ऋद्धिवल के प्रदर्शन की असारता बताते रहते।

एक बार का प्रसंग है कि एक राजा ने एक बहुमूल्य चन्दन का रत्न जटित कटोरा ऊँचे खंभे पर टांग दिया और उसके नीचे लिख दिया—"जो कोई साधक, सिद्धयोगी इस कटोरे को बिना किसी सीढ़ी आदि के एक मात्र अपनी यौगिकशक्ति से उतार लेगा मैं उसकी सारी इच्छाएँ पूर्ण करूंगा।"

वहुत से लोग वहां इकट्ठे हो रहे थे तभी भिक्षु काश्यप वहां पहुँचा, उसने केवल उधर हाथ बढ़ाया और कटोरा उतार लिया। सभी दर्शक व पहरेदार चकित होकर भिक्षु को देखते रहे। भिक्षु कटोरा लेकर बुद्ध विहार की ओर चला गया। लोगों की भीड़ बुद्ध के पास पहुँची और उनकी तथा उनके शिष्य काश्यप के चमत्कारों की प्रशंसा करने लगी।

बुद्ध सीधे काश्यप के पास पहुँचे, उस रत्नजटित कटोरे को लेकर उन्होंने तोड़ डाला और बोले—मैं तुम लोगों को चमत्कारों के प्रदर्शन का बार-बार निषेध करता हूं, यदि तुम लोगों को चमत्कारों का प्रदर्शन ही इष्ट है तो सचमुच तुमने धर्म को समझा ही नहीं है। कल्याण चाहने वाला भिक्षु चमत्कार से बचकर सदाचार का अभ्यास करें।[2]

इससे पता चलता है कि आत्मसाधना के पथ में चमत्कारों व लब्धि-प्रयोगों को सभी अध्यात्मवादियों ने त्याज्य माना है।

---

१ संयुक्त निकाय महावग्ग रिद्धिपाद

२ CARV'S GOSPEL OF BUDDHA. —pp99-101

अनुमति कब ?

एक प्रश्न यहां और आता है कि क्या लब्धि फोड़ना सर्वथा ही निषिद्ध है ? अथवा कभी किसी परिस्थिति विशेष में अनुमत भी है ? इसका उत्तर आचार्य भद्रबाहु ने दिया है—

एगंतेण निसेहो जोगेसु न देसिओ वाऽवि।
दलिअं पप्प निसेहो, होज्ज विही वा जहा रोगे।[1]

जिन शासन में किसी भी क्रिया का, किसी भी आचरण का न तो एकांत रूप से निषेध ही है और न एकांत रूप से विधान ही है। जैसे रोग होने पर चिकित्सक रोगी की प्रकृति, वातावरण व देशकाल को देखकर उसकी चिकित्सा करता है, वैसे ही साधक परिस्थिति विशेष को देखकर कभी अनुमत कार्य का भी निषेध कर देता है, और कभी निषिद्ध कार्य भी अनुमत मान लिया जाता है।

किसी भी कार्य में मुख्यता कार्य की नहीं, भावना की होती है, परिस्थिति की होती है। यदि भावना में कुतूहल नहीं है, स्वयं के प्रभाव व यश-प्रतिष्ठा की कामना नहीं है, और उसके स्थान पर किसी जीव के प्रतिबोध की आशा हो, किसी का कल्याण हो सकता हो, किसी की रक्षा होती हो, अथवा संघ, गण आदि पर कोई संकट आया हो और वह संकट टल कर संघ की रक्षा होती हो तो ऐसी परिस्थिति में किया गया लब्धि-विस्फोट, लब्धि का प्रयोग वास्तव में कल्पप्रतिसेवना है, उसके सेवन से साधक विराधक नहीं होता। यद्यपि परम्परा में उसके लिए भी प्रायश्चित लेने का विधान किया गया है। प्राचीन आचार्यों ने कहा है—

रागद्दोसाणुगता तु दप्पिया कप्पिया तु तदभावा।
आराधतो तु कप्पे, विराधतो होति दप्पेणं।[1]

राग और द्वेष पूर्वक जो आचरण (प्रतिसेवना-निषिद्ध आचरण) किया जाता है, वह दर्पिका है, सदोष है, उसके सेवन से संयम की विराधना होती

---

१ बृहत्कल्प भाष्य ४९४३

है, किन्तु वही प्रतिसेवना, जब अपवाद काल में परिस्थिति आ जाती है, तब रागद्वेष की भावना से अलिप्त रहता हुआ साधक यदि उसका आचरण करता है तो वह निषिद्ध आचरण भी कल्पिका है, उसकी प्रतिसेवना में भी संयम की आराधना है। व्यवहारभाष्य में तो यहाँ तक कह दिया है कि सालंबसेवी समुवेइ मोक्खं[1]—(साधक यदि किसी विशिष्ट उद्देश्य से निषिद्ध का आचरण भी करता है तब भी वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है।)

भावना और परिस्थिति की इसी भूमिका पर जैन धर्म का आचार महल खड़ा है। लब्धि-प्रयोग में भी हमें इसी दृष्टि से सोचना होगा कि सामान्यतः लब्धि फोड़ना निषेध है, लब्धि फोड़ने वाले को प्रायश्चित्त भी बताया है, किन्तु यदि कोई महत्वपूर्ण प्रसंग आ पड़ता है तो उस समय में साधक पीछे भी नहीं देखता, किन्तु अपने तपोबल से, संघ की, धर्म की, एवं किसी प्राणी की रक्षा के लिए लब्धि का प्रयोग भी कर लेता है। भगवान महावीर स्वयं जब साधना काल में थे तब गौशालक की प्राणरक्षा के लिए द्रवित होकर उग्र वैश्यायन तापस की तेजोलेश्या से जलते हुए को बचाया और शीतल लेश्या का प्रयोग किया।[2] यह महान करुणा का प्रसंग था, एक जीव की रक्षा का प्रसंग था और महान दयालु प्रभु महावीर ऐसे अवसर पर मौन कैसे रह सकते थे? (शक्ति होते हुए भी यदि किसी की रक्षा न की जाय, किसी का उपकार न किया जाय तो क्या यह साधु धर्म है?)

रक्षा बन्धन पर्व की कथा सुनने वाले जानते हैं कि जब नमुचि प्रधान की दुष्टता के कारण धर्मशासन पर संकट आ गया था, जैन धर्म पर विपत्ति की काली घटाएँ मंडराने लगी थी तब आचार्य ने लब्धिधारी मुनि विष्णु कुमार को याद किया। शिष्य को मेरु पर्वत पर भेजकर उन्हें आने का आग्रह किया। मुनि विष्णु कुमार ने उस परिस्थिति में अपना ध्यान बन्द करके संघ की रक्षा का बीड़ा उठाया, और नमुचि से सिर्फ तीन पांव रखने

---

१ व्यवहार भाष्य पीठिका १८४

२ भगवती सूत्र १५।

की भूमि माँगी। जब वैक्रिय लब्धिफोड़कर लाख योजन का रूप बनाया और दो चरण में जंबूद्वीप के ओर छोर को नाप कर तीसरा चरण रखने की भूमि माँगी, और आखिर दुष्ट नमुचि के अत्याचारों से धर्म शासन की रक्षा की।

यदि ऐसे प्रसंग पर उनके सामने यह अपवाद मार्ग नहीं होता, तो क्या जैन शासन की रक्षा हो सकती थी ? इसीलिए आचार्यों ने माना है कि लब्धि फोड़ना एकान्तरूप से निषिद्ध ही हो ऐसी बात नहीं है, परिस्थिति का विवेक तो उसमें होना ही चाहिए।

गौतम गणधर ने अष्टापद से उतरते समय जब पन्द्रह सौ तीन तापसों को अपने प्रति आकृष्ट हुए देखा और उनकी प्रार्थना पर उन्हें वहीं दीक्षा देकर खीर का पारणा कराने लगे तो **अक्षीण महानस लब्धि** के प्रभाव से एक ही क्षीर पात्र में से पन्द्रह सौ तीन तापसों को भरपेट पारणा करवा दिया।[1]

उस सम्बन्ध में कहा है—

छोटा क्षीर पात्र भर पनरासै तीन मुनि
ज्यांको पेट-भर-पाई खूटी नांही खीर रे।
दीक्षा निज हाथ दीनी केवली बने हैं वे तो
ऐसे थे दयालु गुरु धारचा जिन वीर रे।
अतिशयवन्त छवि चकित निहार होत,
कंचन समान कान्ति राजती शरीर रे।
कामधेनु मणि सुरतरु तिहुँ नाम छाजे
'मिश्री' लब्धि गौतम की भांजी डारे भीर रे।

तो यह भी एक विशेष परिस्थिति थी, वे जानते थे कि इसके कारण इन तापसों के मन में धर्म के प्रति दृढ़ आस्था उत्पन्न होगी। इस प्रकार के अनेक प्रसंग आगमों में व अन्य ग्रन्थों में आते हैं जिनसे यह पता चलता है कि लब्धि-प्रयोग कभी कभी परिस्थिति विशेष में किया भी जाता था और

---

१ कल्पसूत्र प्रबोधिनी पृ० १६६

उसके सुन्दर परिणाम के कारण उसे कभी हेय नहीं बताया गया। वास्तव में हर एक क्रिया उसके गुण-दोष रूप फल पर निर्भर करती है। सुन्दर फल लाने वाला दोष भी कभी-कभी गुण बन जाता है—

अगुणो वि य होति गुणो जो सुन्दर णिच्छओ होति।[1]

वह दोष भी गुण का कारण बनने से गुण ही मानना चाहिए जिसके परिणाम में सुन्दर फल प्राप्त होता है।

दोष और गुण वस्तु में, नहीं कभी एकान्त!
'मिश्री' कड़वा नीम भी करता पित्त प्रशान्त!

गुण-दोष के परिणाम का विचार करके ही वस्तु को, किसी क्रिया को अच्छी या बुरी कही जाती है, जो नीम कड़वा होता है, जिसे चखते ही थू-थू करते हैं, वह भी पित्त ज्वर को शांत करने में, रक्तशुद्धि करने में तथा चर्म रोगों पर औषधि के रूप में प्रयोग किया जाता है, और बड़ा लाभकारी माना गया है—**सर्व दोषहरो निम्बः** कहा गया है।

तो इसी प्रकार गुण-दोष के विचार पर ही लब्धि-प्रयोग का विधान और निषेध शास्त्रों में किया गया है। मूल बात है, लब्धि व शक्ति का प्रयोग अपने अहंकार आदि के पोषण के लिए निषिद्ध है, किंतु, जीवदया, संघ रक्षा व धर्म प्रभावना आदि के प्रसंगों पर वह अनुमत भी है।

**

---

१ निशीथ भाष्य ५८७७

९

तप (मोक्षमार्ग) का पलिमंथु : निदान

हमारा लक्ष्य है—आत्मशुद्धि ! आत्मा को पवित्र व उज्ज्वल बनाकर स्वरूप दशा को प्राप्त करना ही हमारी समस्त क्रियाओं का अंतिम लक्ष्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति करने वाला श्रेष्ठ व उत्कृष्ट साधन है तप ! तप एक पवित्र व श्रेष्ठ क्रिया है। उसका फल अचिन्त्य और असीम है। जैसे कल्प-वृक्ष से जो चाहे वही वस्तु प्राप्त हो जाती है, चिंतामणि रत्न के प्रभाव से मन में सोचे हुए सब संकल्प सफल हो जाते हैं—तप का प्रभाव इनसे भी अधिक है। इसीलिए तप को सर्व संपत्तियों की 'अमरवेल' कहा है। भगवान ने बताया है—

भव-कोडी संचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ।[1]

करोड़ों भवों के संचित कर्म तप से क्षीण व विलीन हो जाते हैं।

---

१ उत्तराध्ययनसूत्र ३०।

किंतु, कभी कभी तप करने वाला साधक कर्मनिर्जरा का उद्देश्य भूलकर भौतिक लाभ के लिए तप करने लग जाता है। उसके मन में, तप के भौतिक फल की कामना भी जागृत हो जाती है। संसार की भौतिक ऋद्धियों को देखकर, काम भोगों के सुखों की कल्पना कर वह सोचने लगता है—"मेरे तप के प्रभाव से मुझे भी ऐसा लाभ मिलना चाहिए। यदि मेरी तपस्या का कुछ फल हो, तो मैं भी अमुक प्रकार का संपत्तिशाली, यशस्वी व सुखी बनूं।" तपस्या के साथ इस प्रकार का तुच्छ संकल्प पैदा होना 'तप का शल्य' माना गया है। कांटा जिस प्रकार शरीर में चुभकर बैचेनी पैदा कर देता है, वैसे ही इस प्रकार की भोगाभिलाषा तपस्या के आत्मानंद में, एक प्रकार की बैचेनी, पीड़ा व खटक पैदा कर देती है। साथ ही तपस्या के अचित्य व असीम फल को भी तुच्छ भोगों के लिए बांध देती है।

कल्पना करिए—दो मनुष्य अंगूरों की खेती कर रहे हैं, खेती में खूब खाद और पानी दे रहे हैं, अच्छी बढ़िया जाति के पौधे लगाए हैं, समय-समय पर उसकी देखभाल भी कर रहे हैं। अब अंगूर की खेती पकने में तो समय लगता है, खेती में चट रोटी पट दाल नहीं हो सकती। फल आने में महीनों व वर्षों लग जाते हैं। तब उनमें से एक आदमी सोचता है—मैं इतनी मेहनत कर रहा हूँ अभी तक इसका कुछ फल नहीं मिला, दूसरे लोग देखो, बिना मेहनत किये ही मजे से खाते-पीते हैं, घूमते फिरते हैं। कोई मुझे भी यदि मेरी मेहनत के बदले सिर्फ पांच सौ रुपये दे दे तो मैं यह खेती बेच डालूं और मौज करूं।" दूसरा साथी उसे कहता है—"भोले भाई! पांच सौ रुपये के लिए यह इतनी मेहनत की खेती मत बेचो। पता नहीं पांच सौ की जगह पांच हजार और पचीस हजार भी मिल जाये। यह तो अंगूर की खेती है, मेहनत करते जाओ! फल तो मिलेगा ही, फल के लिए बीच में अधीर बन कर मेहनत के मोती को कंकर के भाव मत बेचो!"

किन्तु पहला साथी दूसरों को आजादी से घूमते-फिरते मौज-मजा करते देखकर अधीर हो जाता है। किसान के हाथ में तो खेती पकने पर पैसा आता है, पहले तो बस, जो आये खेती में लगाते जाओ! पहले का धीरज

टूट जाता है, वह भी दूसरों की भांति आजादी से हाथ में नोट लेकर घूमना चाहता है। उसने पांच सौ में अपनी खेती बेच डाली।

दूसरा साथी मेहनत करता गया, फल के लिए उसे कोई अधीरता नहीं थी। मन में कोई लालसा नहीं थी कि मैं भी दूसरों की तरह आजादी से घूमूं-फिरूं! बस, वह तो अपनी खेती की देखभाल में लगा रहा। समय पर फसल पकी, एक-एक बेल को सैंकड़ो अंगूर लगे, ग्राहक आये, पाँच हजार से बोली चढ़ी तो पचीस हजार में खत्म हुई। वह पच्चीस हजार के नोट लेकर घर आया। पहले ने पांच सौ कभी के खत्म कर डाले थे, जब उसने अपने साथी की पच्चीस हजार में फसल बिकी सुनी तो सिर पर हाथ धर कर पछताने लगा— हाय! यदि मैं भी पांच सौ के लालच में नहीं पड़ता, मौज-शौख के चक्कर में नहीं आता, मेहनत करता जाता तो आज मुझे अपनी फसल की कीमत पच्चीस हजार मिल जाती। खन-खन करते कलदार हाथ में आते! फिर मन चाही मौज-शौख सब हो जाती!" हाथ में रुपैया तो सारा जगत भैया।" पर अब तो पछताने और सिर पीटने के सिवाय और क्या हो सकता है?

यही स्थिति तपस्या के बीच भोगों की कामना करने वालों की होती है। दूसरों को मौज-शौख करते देखकर साधक अपने तप को दांव पर लगाने के लिए अधीर हो जाता है कि बस,मुझे भी इस तपस्या के प्रभाव से ऐसा घर मिलना चाहिए, ऐसी पत्नी मिले, राज्य मिले, परिवार मिले, और मैं भी ऐसा आनन्द लूटूं!

भगवान कहते हैं—"मूर्ख साधक! तू तप करता है तो यह सब तो अपने आप मिलेगा, इनसे भी अधिक मिलेगा, किन्तु इन तुच्छ अभिलाषाओं के चक्कर में पड़कर अपनी तपस्या को बेच मत! हीरों को कंकर के मोल मत बेच!" आमों के बगीचे को लकड़ियों के भाव बेच देने वाला मूर्ख होता है, वैसे ही अक्षय मुक्ति सुख प्रदान करने वाले तप को, संसार के तुच्छ भोग-सुखों के लिए बेच देने वाला—मूर्ख, महामूर्ख माना जाता है।

निदान क्या है?

भोगाभिलाषा में फंसकर तपस्या को बेच देने की यह क्रिया ही जैन

दर्शन में 'नियाणा-निदान' के नाम से प्रसिद्ध है। आचार्य अभयदेव ने निदान की परिभाषा करते हुए बताया है—[1] 'अक्षय मोक्ष सुखों का आनन्द रूप फल बरसा देने वाली ज्ञान, तप आदि की लता, जिस इन्द्रचक्रवर्ती आदि के भोगों की अभिलाषा रूप परशु (कुल्हाड़ी) से काटी जाती है—उस भोगाभिलाषा रूप कुल्हाड़ी को निदान कहते हैं।" किसी देवता अथवा राजा आदि मनुष्य की ऋद्धि व सुखों को देखकर, या सुनकर उसकी प्राप्ति के लिए अभिलाषा करना कि मेरे ब्रह्मचर्य व तप आदि के फलस्वरूप मुझे भी ऐसी ऋद्धि व वैभव प्राप्त हो, और अपने तप अनुष्ठान को उसके लिए बद्ध कर देना निदान है।[2] निदान-शब्द का अर्थ है—निश्चय अथवा बांध देना। उच्च तप को, निम्न फल की अभिलाषा के साथ बांध लेना, महान् ध्येय को तुच्छ संकल्प-विकल्प रूप भोग प्रार्थना के लिए जोड़ देना यह होता है निदान का अर्थ। इस निदान को शल्य—अर्थात् आत्मा का कांटा कहा है।

निदान शल्य

श्रमण सूत्र में तीन प्रकार के शल्य बताये गये हैं—माया शल्य, निदान शल्य और मिथ्यादर्शन शल्य ![3] आचार्य हरिभद्र ने शल्य की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है—**शल्यतेऽनेनेति शल्यम्**[4]—जो हमेशा सालता रहे, वह शल्य है। जिस प्रकार शरीर के किसी भाग में कांटा, कील अथवा तीर आदि तीक्ष्ण वस्तु घुस जाये तो वह समूचे शरीर को बेचैन कर देती है, जब तक वह नहीं निकले भीतर-ही भीतर सालती रहती है, उसी प्रकार भोगा-

---

१ निदायते लूयते ज्ञानद्याराधना लताऽऽनन्द-रसोपेत मोक्षफला, येन परशुने व देवेन्द्रादिगुणर्द्धि प्रार्थनाध्यवसायेन तन्निदानम्।

—स्थानांग १० वृत्ति

(ख) स्वर्ग मर्त्यादि ऋद्धि प्रार्थने —स्थानांग, वहीं पर,

२ दिव्य-मानुष ऋद्धि संदर्शन श्रवणाभ्यां तदभिलाषाऽनुष्ठाने—

—आवश्यक ४

(ख) भोगप्रार्थनायाम् —व्यवहार भाष्य वृत्ति

३ श्रमणसूत्र शल्य सूत्र

४ हारिभद्रीय आवश्यक वृत्ति

भिलाषा के वश होकर निदान करने वाले साधक की अन्तर आत्मा को कभी शान्ति नहीं मिलती, वह भीतर-ही-भीतर व्याकुल एवं बैचैन रहती है। जब अपने ही समान अपने से कम तप करने वालों को अधिक ऋद्धिशाली, प्रभावशाली व अपने ऊपर शासन करते देखता है तो वह निदान की असारता से दुःखी भी होता है, और उस चिंता व आर्तध्यान आदि के कारण मन बैचैन बना रहता है। निदान तीव्र कर्म बंधन का भी कारण है। सम्यक्त्व का भी घातक है। इस कारण इसे शल्य कहा है।

निदान करने वाला पछताता है

निशीथ भाष्य में निदान करके तप करने वाले एक यक्ष की कहानी आती है। चंपानगरी में अनंगसेन नामका एक स्वर्णकार रहता था। वह अत्यंत कामुक व भोगासक्त था। उसके पास धन की कमी नहीं थी। जहां कहीं भी किसी सुन्दर कन्या को देखता धन के द्वारा उसे खरीद लेता। इस प्रकार पांच सौ कन्याओं के साथ उसने विवाह किया। फिर भी भोगों में अतृप्त ही रहा।

एक बार हासा-प्रहासा नामकी दो यक्षिणियों ने अनंगसेन को देखा, उनका यक्ष उनसे पहले ही काल कर गया था, इसलिए वे विरह में भटकती हुई अनंगसेन के पास आई। अनंगसेन को अपने रूप-लावण्य हाव-भाव के द्वारा आकृष्ट किया। अनंगसेन उनके सौन्दर्य व काम चेष्टा से उन्मत्त हो हाथ फैलाकर उनकी ओर दौड़ा। तब यक्षिणियाँ बोली – "हमें चाहते हो तो पंचशैल द्वीप में आओ।" बस इतना सा कहकर दोनों अदृश्य हो गई।

अनंगसेन तो उनके पीछे पागल होगया। उसने घोषणा करवाई—"जो कोई व्यक्ति मुझे पंचशैल द्वीप पहुंचा देगा, उसे एक करोड़ स्वर्ण मुद्रा दूंगा।' एक बुड्ढे नाई ने घोषणा स्वीकार की। उसने एक करोड़ स्वर्ण मुद्रा लेकर घर में रखी और अनंगसेन को नौका में बिठाकर पंचशैल द्वीप की ओर चला। बहुत दूर चलने के बाद नाई ने पूछा—कुछ दिखाई दे रहा है ?

अनंगसेन बोला—"बहुत दूर, जल की धारा के बीच एक मनुष्य की खोपड़ी के बराबर लाल गोला दिखाई दे रहा है।"

नापित ने कहा—यह पंचशैल द्वीप की जल धारा में स्थित वट वृक्ष है। नौका चलती हुई इस वृक्ष के नीचे से गुजरेगी। तुम अपना खाने-पीने का सामान लेकर तैयार हो जाओ! जैसे ही हम वहाँ से गुजरें, वृक्ष की शाखा को पकड़ लेना और ऊपर चढ़ जाना। संध्या के समय पंचशैल द्वीप के बड़े-बड़े पक्षी यहाँ आयेंगे। रात भर यहां विश्राम कर प्रातः वापस द्वीप की ओर उड़ेंगे, तब तुम उनके पर पकड़ लेना, वे तुम्हें पंचशैल द्वीप पहुंचा देंगे।"

यक्षिणियों के मोह में फंसा अनंगसेन जान को जोखिम में डाल कर भी सब कुछ करने को तैयार हो गया। वह वृक्ष आया, अनंगसेन ने शाखा पकड़ ली, और प्रातः पक्षियों के पर पकड़कर वह पंचशैल द्वीप में पहुँच गया। यक्षिणियां उसकी राह देख रही थी। वहाँ पहुँचने पर उसने उनसे भोग प्रार्थना की। यक्षिणियाँ नाक मुंह सिकोड़ कर बोली—"मानव का शरीर बड़ा अशुचिमय होता है, हम इस अपवित्र देह के साथ भोग नहीं करतीं। तुम बाल तप करके निदान करो, हमारे स्वामी विद्युन्माली यक्ष के रूप में जन्म लो, तब हम तुम्हारे साथ रमण करेंगी।"

अनंगसेन एक बार हताश हो गया, पर उसने यक्षिणियो का पीछा नहीं छोड़ा। सोचा—"इस जन्म में न सही, अगले जन्म में तो जरूर इन्हें प्राप्त करूंगा।" तभी हासा-प्रहासा ने उसे वहाँ के मादक फल खिलाये। शीतल जल पिलाया। उसे नशे जैसी नींद आने लगी। वह एक वृक्ष की छाया में सो गया। यक्षिणियों ने उसे उठाकर वापस चंपा नगरी में उसके घर पर पहुंचा दिया। कुछ देर बाद उसकी नींद खुली। अपने घर व परिवार को देख कर वह बड़बड़ाने लगा—"मेरी हासा! प्रहासा! कहाँ चली गईं।"....कई दिनों तक वह इसी प्रकार प्रलाप करता रहा।

अनंगसेन का एक मित्र था णाइल श्रावक! उसने उसे समझाया—"तुम उन के चक्कर में मत फंसो! जिनोक्त धर्म का पालन करो, इसके फलस्वरूप तुम्हें सौधर्म आदि स्वर्ग की प्राप्ति होगी, दिव्य देवऋद्धि मिलेगी उनसे भी सुन्दर देवियां मिलेगी व दीर्घकालीन भोग भी प्राप्त होंगे। किन्तु तुम उन भोगों की लालसा छोड़कर धर्म का पालन करते रहो।"

अनंगसेन पर तो बस यक्षिणियों का जादू चढ़ा था उसने किसी की बात नहीं मानी और उन्हीं को प्राप्त करने का निदान कर बाल तप करने लगा। वहाँ से मरकर वह पंचशैल द्वीप में विद्युन्माली यक्ष बना। वह हासा प्रहासा के साथ भोग भोगने लगा।

इधर णाइल श्रावक भी संयम स्वीकार कर तप करता हुआ मृत्यु को प्राप्त हुआ। वह अच्युत कल्प में महान ऋद्धिशाली सामानिक देव बना।

एक बार नन्दीश्वर द्वीप में अष्टान्हिक महोत्सव मनाया जा रहा था। इन्द्र की आज्ञा से सभी देवों को अपना-अपना नियुक्त कार्य करना था! विद्युन्माली देव को ढोल बजाने का कार्य सौंपा गया। वह ढोल बजाना नहीं चाहता था। आखिर इन्द्र के आदेश से जबर्दस्ती उसे वहां जाना पड़ा और ढोल बजाने लगा।

णाइल देव इन्द्र के साथ इस महोत्सव में आया था। उसने जब विद्युन्माली देव को ढोल बजाते देखा तो पूर्व जन्म का स्नेह उमड़ आया। वह उसके पास आया। विद्युन्माली उसके तेज व प्रभाव को सहन नहीं कर सका, वह पीछे-पीछे हटने लगा। णाइल देव और पास में आ गया। तो हत-प्रभ हुआ विद्युन्माली ढोल बजाना भूल गया।

णाइलदेव ने पूछा—तुम मुझे पहचानते हो ?

विद्युन्माली—महाराज ! मैं आपको कैसे जानूं ! आप महान शक्र आदि कौन इन्द्र हैं ?

णाईलदेव—मैं तुम्हारा मित्र हूँ।"

विद्युन्माली—सकुचाता हुआ बोला—"नहीं ! नहीं ! आप महान हैं! मैं तो एक बहुत तुच्छ आतोद्यवादक हूँ।"

णाईल देव—"मैं पूर्व जन्म की बात कह रहा हूँ, याद करो ! हम दोनों मित्र थे।" फिर णाइल देव ने उसे पूर्व जन्म की घटना सुनाई—देखो, मैंने तुम्हें कहा था निदान करके तप मत करो, लालसा रहित होकर तप का आचरण करो। तुमने नहीं माना इसलिए तुमने अपने तप को इसी भव के

लिए बेच डाला, मैंने शुद्ध तप किया जिस कारण इतना ऋद्धिशाली देव बना हूँ।"

मित्र की बात सुनकर विद्युन्माली बहुत पछताने लगा। अपनी भूल पर बहुत दुःख हुआ—"पर अब पछताये होत क्या चिड़िया चुग गई खेत।"

भाष्यकार आचार्य ने इस कथा के मर्म को स्पष्ट करते हुए बताया है, निदान तप करने वाला जब दूसरों की असीम शक्ति व समृद्धि को देखता है तो इसी प्रकार अपने कृत निदान पर पछताता है। शोक करता है। क्योंकि निदान का फल तो उतना ही होगा जितना उसने संकल्प किया था।

तपस्या में बार-बार निदान करने से, भोगों की अभिलाषा के वश होकर अपना तप दांव पर लगाते रहने से वह तप दूषित हो जाता है, तथा उसका तेज क्षीण हो जाता है। लम्बी और कठोर तपस्या करने पर भी तपस्वी के तपस्तेज में वह बल और शक्ति नहीं रहती, कारण वह तप को बार-बार दूषित करता रहता है। इसलिए स्थानांग सूत्र में बताया गया है—जैसे बार-बार बोलने से अर्थात् वाचालता से सत्य वचन का तेज नष्ट हो जाता है, बार-बार लोभ करने से निस्पृहता का प्रभाव क्षीण हो जाता है, वैसे ही बार-बार निदान करने से तप का तेज क्षीण हो जाता है। निदान करने से तप का उत्तम फल नष्ट हो जाता है। (इसलिए भगवान ने सर्वत्र निदान रहित होकर तप करने को श्रेष्ठ बताया है।[1])

निदान का हेतु : तीव्र लालसा

निदान तभी किया जाता है, जब अमुक वस्तु के प्रति साधक के मन में तीव्र राग भाव उत्पन्न होगा, गहरी-आसक्ति और आकर्षण होगा। साधारण स्थिति में कोई भी साधक अपने तप को बेचना या नष्ट करना नहीं चाहता, किन्तु जब अमुक किसी वस्तु पर अथवा दृश्य देखने पर मन राग से चंचल हो उठता है, कामनाओं से प्रताड़ित होने लगता है, और बार-बार उन विषय भोगों के प्रति आसक्त होने लगता है तभी साधक अपने महान उद्देश्य

---

१ मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमंथू...... ......भिज्जा णिदाणकरणे मोक्खमग्गस्स पलिमंथू। सव्वत्थ भगवया अणियाणया पसत्था।

—स्थानांग ६।३

से भटक जाता है, वह भूल जाता है—"चलना अभी है दूर, यहाँ-नहीं है।"

वह अपनी मोक्ष यात्रा के मार्ग को भूलकर संसार की भूल-भुलैया में उलझ जाता है और फिर निदान कर बैठता है—"कि मेरे ब्रह्मचर्य, शील, तप आदि का यही फल मिले, मैं अगले जन्म में इन भोगों को प्राप्त करूँ।"

निदान की भावना जब साधक के मन में जागृत होती है तो वह अपनी साधना से भी पतित हो जाता है। क्योंकि उस भावना के वश होकर वह एक प्रकार से मनसा-भोग भोग लेता है। संयम और साधना तो परिणामों पर ही टिकी है। मन जब संसारी हो गया, तो तन भले ही संन्यासी का रहे, उससे क्या लाभ होगा ? भावना से भोगों में आसक्त हो गया, तो तन से भले ही वह दूर रहे, किन्तु वह अपने तप से तो पतित हो ही जायेगा। फिर जब तक वह अपने इस मनसा पाप की आलोचना नहीं करेगा, धर्म में स्थिर नहीं हो सकेगा, चारित्र की सम्यक् आराधना कैसे कर पायेगा। दशाश्रुत स्कंध में इस सम्बन्ध में एक प्रसंग है—

श्रेणिक नृपाल पटनार चेलना के साथ
वीर जिन वन्दन को मोद धरी आयो रे।
दोनों को दीदार भव्य भाल के श्रमण कैई
महासतियों को वृन्द रूप मन चायो रे।
किया है नियाणा तब प्रभु मगधेश भणी
कह्यो मेरो समोशर्ण डाको तू डलायो रे।
भेद खोलतां ही सबै निजातम शुद्ध करी
'मिश्री' मुनि कहे नाथ साथ कूं बचायो रे।

एक बार महाराज श्रेणिक रानी चेलना आदि राज परिवार के साथ भगवान महावीर की वन्दना करने के लिए आये। राजा श्रेणिक एवं चेलणा के अपूर्व सौन्दर्य, लावण्य एवं सब प्रकार के मानवीय भोगों को आनन्द के साथ भोगते हुए देखकर भगवान के श्रमणों के मन में एक संकल्प उठा—"अहो ! यह राजा श्रेणिक धन्य है ! जो रूप लावण्यवती रानी

चेलना के साथ आनन्द क्रीड़ा करता हुआ अपने यौवन को सफल बना रहा है। इसने सचमुच ही मानव जीवन का आनन्द लिया है। यदि हमारे तप, विनय, ब्रह्मचर्य आदि का भी कुछ सुफल हो तो हम भी अगले जन्म में इसी प्रकार जीवन का आनन्द लेवें।"

इधर रानी चेलना को देखकर श्रमणियों के मन भी चंचल हो उठे। वे भी सोचने लगीं—"यह रानी चेलना धन्य है! इसका जीवन सफल है। इसे कितना सौन्दर्य व लावण्य मिला है, राजा श्रेणिक का प्यार मिला है और कितने आनन्द के साथ यह अपना मानव जीवन सफल बना रही है। यदि हमारे तप, नियम, ब्रह्मचर्य, आदि का कुछ फल हो तो हम भी अगले जन्म में इसी प्रकार के काम-भोग भोग कर जीवन का आनन्द लेवें।"

इन विचारों का प्रवाह ऐसा उमड़ा कि अनेक श्रमण एवं श्रमणी एक ही विचारधारा में बह गये। उनके मन चंचल हो उठे और वे ऐसा संकल्प कर बैठे। सर्वज्ञ प्रभु महावीर ने अपने ही सामने जब अपने शिष्य परिवार को यों इतने दीर्घकालीन तप-नियम व्रतों की बलि देते देखा और तुच्छ भोगाभिलाषा के कीचड़ में फंसते देखा तो प्रभु ने तुरंत संबोधित किया। श्रमण वृन्द को जागृत किया और कहा—"हे श्रमणो! राजा श्रेणिक और चेलना के युगल को देखकर तुम लोगों ने ऐसा संकल्प (निदान) किया है?"

सभी ने नीचे मस्तक झुकाकर स्वीकृति की—"हां! प्रभु! ऐसा संकल्प हमारे मन में जगा है।"

प्रभु ने श्रमण-श्रमणी वृंद को उद्बोधन देते हुए कहा—"आयुष्मान् श्रमणो! जानते हो इस प्रकार के निदान का कितना भयंकर फल होता है? तुम्हारे दीर्घकाल तक आचरण किये हुए तप, नियम, ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का जो महान फल होने वाला था, वह अब अति तुच्छ फल रह गया है। महासमुद्र सूखकर छोटा सा गड्ढा रह गया है। तुमने अपना सर्वस्व खो दिया। इस निदान के कारण तुम अगले जन्म में संकल्पित काम भोग तो प्राप्त कर सकते हो, लेकिन अपने धर्म से, सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो जावोगे, और लाख प्रयत्न करने पर भी केवली प्ररूपित धर्म का श्रवण भी नहीं कर

सकोगे ! दुर्लभबोधि बनकर संसार-चक्र में परिभ्रमण करते रहोगे।[१]
इसलिए हे श्रमणो ! काम-भोगों की आसक्ति से मुक्त होकर, सब संग-अभिलाषाओं का त्याग करके अपने तप-नियम आदि व्रतों की शुद्ध आराधना करो, किये हुए निदान का प्रायश्चित्त करो, ताकि तुम अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप का दर्शन कर सको, कर्मआवरणों का क्षय कर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त अक्षय अव्याबाध सुखरूप मोक्ष को प्राप्त कर सको।"

दशाश्रुतस्कंध के इस प्रसंग से स्पष्ट होता है कि निदान करने से आत्मा तप व संयम से किस प्रकार पतित व भ्रष्ट हो जाती है। उस भव में ही क्या, किंतु अनेक भवों तक उसे सद्धर्म का श्रवण भी मिलना कठिन हो जाता है, और वह संसारचक्र में परिभ्रमण करने लगती है। जैसे कोई कठोर प्रयत्न से प्राप्त अमृत को नदी के प्रवाह में बहा देता है, शुद्ध गाय के घी को राख के ढेर में डाल देता है, और चिंतामणि रत्न को समुद्र में फेंक देता है, वैसी ही बल्कि उससे भी अधिक मूर्खतापूर्ण बात है, निदान करके तप के फल को खत्म कर डालना।

क्या साधना के लिए निदान विहित है ?

एक प्रश्न यहां उपस्थित होता है कि निदान का निषेध इसलिए किया गया है कि उसके मूल में तीव्र भोगाभिलाषा रहती है। यदि कोई भोगा-भिलाषा न रखकर अन्य वस्तुओं के लिए निदान करे तो क्या वह भी निंदनीय है ? जैसे किसी ने संकल्प किया—'मैं अगले जन्म में तीर्थंकर बनूं, अथवा चरम शरीरी बनूं !' तो क्या यह संकल्प भी नहीं करना चाहिए ? इसमें क्या आपत्ति है ?

जैनधर्म इस प्रश्न को बहुत ही गहराई से पकड़ता है और स्पष्ट विश्लेषण करके कहता है कि तीर्थंकरत्व की अभिलाषा भी एक प्रकार की अभिलाषा

---

१ एवं खलु समणाउसो ! तस्स णियाणस्स इमेया रूवे पावकम्म-फलविवागे जं णो संचाएइ केवलिपण्णत्तं धम्मं पडिसुणित्तए।

—दशाश्रुतस्कंध १०

ही है, कामना है, यशःस्पृहा है। क्योंकि जो साधक तीर्थंकर होने की इच्छा करता है वह तीर्थंकरों के देवकृत अतिशयों से, उनके छत्र, चामर भामण्डल आदि वैभव से तथा लोक में उनकी यशः प्रतिष्ठा एवं कीर्ति सुनने से प्रभावित होकर उस पद की अभिलाषा करता है अतः आखिर है तो यह भी एक प्रकार की कामना, पूजा-सत्कार की स्पृहा। इस कारण साधक को इस पद की भी कामना नहीं करनी चाहिए। यदि चाहना हो तो मोक्षगमन की चाहना करे, केवलज्ञान, केवलदर्शन की अभिलाषा रखे, किंतु तीर्थंकर पद की अभिलाषा न करें। क्योंकि पदवी की अभिलाषा रखना ही त्याज्य है।[1] इसी प्रकार चरम शरीर होने की भी अभिलाषा न करें, क्योंकि उसमें भी पुनर्जन्म की अभिलाषा छिपी है।

एक दूसरा प्रश्न आचार्य ने उपस्थित किया है कि ठीक है, कोई भोगों की, यश-प्रतिष्ठा की, पद की, एवं पुनर्जन्म की कामना न करें किंतु यदि ऐसी कामना करे कि—"मैं अगले जन्म में आसानी से मुनि बन सकूं, संसार का त्याग कर सकूं, किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो, अतः किसी दरिद्रकुल में उत्पन्न होऊँ, ताकि सहजतया भोग-त्याग कर दीक्षा ले सकूं" यदि ऐसा निदान करे तो क्या आपत्ति है?

आचार्य ने प्रश्न का उत्तर स्वयं ही देते हुए कहा है—इस प्रकार की कामना भी साधक को नहीं करना चाहिए। क्योंकि जैसी सुख की कामना हैं, वैसी ही दुःख की भी कामना है। वैभव और दरिद्रता दोनों की अभिलाषा ही त्याज्य है। सोने की बेड़ी न चाहकर लोहे की बेड़ी चाहना भी तो मूर्खता ही है—

---

१ इहलोग पर-निमित्तं अवि तित्थकरत्त चरिम देहत्तं।
सव्वत्थेसु भगवता अणिदाणंत्तं पसत्थं तु।
—पंचाशक विवरण गा. २५८

यतस्तीर्थंकर सत्कस्यामरवरनिर्मित - समवसरण कनक-कमल प्रमुख विभवस्य दर्शनात् श्रवणाद् वा संजाततदभिलापः, कोपि विकल्पे करोति भव-भ्रमणतोऽप्यहं तीर्थंकरो भूयासमिति। —पंचाशक विवरण टीका

जो रयणमणग्घेयं विक्किज्जऽप्पेण तत्थ किं साहू ?[1]

मूल्यवान मणि को वेचकर कोई कांच का टुकड़ा चाहे तो क्या यह समझदारी है ? ऊपर से नीचे गिरने की भावना रखना क्या उचित है ? स्पष्ट उत्तर है कि नहीं !

जैन धर्म में पुण्य की स्पृहा भी त्याज्य बताई है, और पाप की भी ! सुख और दुःख दोनों की ही इच्छा रखना खराब है। कारण सुख भोग से राग की उत्पत्ति होती है, दुख भोग से द्वेष की। योगदर्शन में बताया है सुख से भी मन में क्लेशवृत्ति उत्पन्न होती है, पर वह क्लेश मीठा लगता है, अतः उसे राग कहा है, और दुःख जन्य क्लेशवृत्ति बुरी लगती है अतः वह द्वेष है।[2] इसीलिए सुख-दुख के संकल्प से मुक्त होकर निष्कामभाव के साथ जो धर्म का, तप का आचरण करता है, वही शांति व निर्वाण को प्राप्त होता है। गीता में कहा हैं—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमाँश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारोः स शांतिमधिगच्छति।[3]

जो सब प्रकार की कामनाओं को छोड़कर बिल्कुल निस्पृहभाव के साथ तप का आचरण करता है, वह ममता से मुक्त हो जाता है, अहंकार के बंधन तोड़कर शांति को प्राप्त कर लेता है।

गौतम बुद्ध ने भी वितृष्णा को ही परम मोक्ष बताते हुए कहा है—

कथं कथा च यो तिण्णो विमोक्खो तस्स नापरो।[4]

जो सुख-दुख की विचिकित्सा से, कामना और तृष्णा से पार पहुंच गया है, उसके लिए अन्य मोक्ष क्या हो सकता है !

हां तो, निदान का उपर्युक्त विवेचन इसी दृष्टि से किया गया है कि साधक अपने तप में न भौतिक सुख की कामना करें, और न भौतिक दुःख

---

१ पंचाशक विवरण २६८
२ सुखानुशायी रागः। दुःखानुशायी द्वेषः। —योगदर्शन २।७-८
३ गीता. २।७१
४ पटिसम्भिदामग्गो—२।६।५८

की। उसके सामने, तो बस एक ही संकल्प रहे कि मैं अपनी आत्मा को विशुद्ध व उज्ज्वल बनाने के लिए तप करूँ। तपःकर्म में इस प्रकार की निष्कामता जिसे जैनधर्म में अनिदानता कहा है—इसे ही प्रभु ने श्रेष्ठ बताया है। साधक हमेशा, इसी वाक्य को याद रखकर तपः साधना करता रहे—

सव्वत्थ भगवया अनियाणया पसत्था[1]

भगवान ने साधक के लिए निदान रहित तपः साधना ही प्रशस्त बताई है।

---

१ देखे—स्थानांग ६, व्यवहार ६, भगवती ज्ञातासूत्र आदि में भी।

ज्ञान-युक्त तप का फल

जैनधर्म में तप को एक साधना माना गया है। साधना किसलिये की जाती है ? साध्य को प्राप्त करने के लिए ! साध्य क्या है ? साध्य है मुक्ति ! मुक्ति क्या है ? आत्मा का निज स्वरूप में स्थिर होना—**स्वरूपावस्थानं मुक्तिः**—आत्मा का अपने स्वरूप में, अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि गुणों के विकास की पूर्ण स्थिति में पहुंच जाना ही मुक्ति है। अतः यह स्पष्ट हुआ कि (मुक्ति रूप साध्य को प्राप्त करने की साधना है तप !)

कुछ साधक परमात्म-दर्शन की बात करते हैं। भगवत् स्वरूप की प्राप्ति अथवा भगवत्स्वरूप के दर्शन की तीव्र अभिलाषा लेकर साधना करते हैं। इस विषय में मैं कहता हूं, भाई ! परमात्म-दर्शन करने से पहले आत्म-दर्शन तो करो ! जो आत्मा का दर्शन कर लेता है वही परमात्मा का दर्शन कर सकता है। सच बात तो यह है कि आत्मा ही परमात्मा के रूप को प्राप्त कर लेता है। किंतु कब ? जब वह आत्मा के सही रूप का ज्ञान कर लेता है।

साधना का मूल : विवेक

आत्मा का सही रूप पहचानना ही साधना का विवेक है। विवेक के विना साधना चल नहीं सकती, चलती है तो सफल नहीं हो सकती। जैसे अंधा आदमी अपने मार्ग पर अकेला ठीक रूप से नहीं चल सकता। कभी चलता-चलता लड़खड़ा जाता है, कहीं ठोकर खाजाता है, और गिरता पड़ता भी है, कहीं का कहीं पहुंच जाता है। इसीप्रकार विवेक ज्ञान के विना साधना करनेवाला जीवन में अनेक बार गिरता है, पड़ता है, भटक जाता है और सुदीर्घ काल तक चलता हुआ भी अपने सही लक्ष्य पर नहीं पहुँच पाता। अपने साध्य को प्राप्त नहीं कर सकता।

साधना में विवेक की अनिवार्यता वताते हुए आचार्यों ने कहा है— **विवेगमूलो धम्मो**—धर्म का मूल विवेक है। इससे भी आगे कहा है— **विवेगो मोक्खो**[1]—विवेक ही मोक्ष है। इसका भाव है कि—साधना का मूल ज्ञान है। प्रश्न होता है-ज्ञान किसका? उत्तर है अपने आपका! हमारी समस्त साधना का, तप-संयम रूप आचार का अधिष्ठाता है—आत्मा![2] आत्मा ही तप का आचरण करता है, साधना व संयम के पथ पर चलता है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम साधना के अधिष्ठाता का ज्ञान प्राप्त करें! तप के संचालक का दर्शन करें। आत्मज्ञान का अर्थ है हम अपने अन्तर् चैतन्य का अनुभव करें। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है—आत्मज्ञान कैसे प्राप्त किया जा सकता है? उत्तर में कहा है—**आत्म-प्रज्ञा** द्वारा अर्थात् जड और चेतन के भेदविज्ञान द्वारा ही आत्मा का ज्ञान, अनन्तचैतन्य का अनुभव हो सकता है।[3] यह शरीर चेतन नहीं है, यह तो चेतन का क्षणिक आश्रय है। आज मिला है, कल छोड़ना है। शरीर भी पुद्‌गल है, पुद्‌गल जड़ है, भौतिक वैभव, सुख-साधन सव जड़ है, वे सब विभाव है, विकृति है. नश्वर हैं। आत्मा स्व-भाव है, चैतन्य है, शाश्वत है। इस प्रकार का भेद-

---

१ आचारांग चूर्णि १।७।१

२ जीवाहारो भण्णइ आयारो —दशवैकालिक निर्युक्ति २६२

३ कह सो घिप्पइ अप्पा? पण्णाए सोउ घिप्पए अप्पा।—समयसार २९६

विज्ञान जिसे होता है, वही आत्मा का दर्शन कर सकता है। आत्मा का दर्शन करने वाला तपः साधना के द्वारा आत्मा के विभावों को, जड़ आवरणों व वंधनों को तोड़कर सर्वथा मुक्त हो जाता है। आचारांग सूत्र में कहा है—

एगमप्पाणं संपेहाए धुणे कम्म सरीरगं।[1]

आत्मा को शरीर से पृथक् समझकर कर्म शरीर को धुन डालो! कर्मों को धुन दिया तो आत्मा अपने स्वरूप में स्वतः प्रकट हो जायेगा। शरीर और आत्मा का यह भेद समझ पाना ही आत्म-विज्ञान है, आत्म-विज्ञानी में अपने साध्य का विवेक होता है। वह साधना करता है तो किसी भौतिक अभिलापा से नहीं, अथवा अंधों के जैसे भी नहीं कि "चलते चलो, कहीं न कहीं तो पहुंचेगे ही! साधना करते जाओ! शरीर को कष्ट देते जाओ कुछ न कुछ फल तो मिलेगा ही!" आत्मद्रष्टा साधक इतने अंधेरे में नहीं चलता। वह अपने मार्ग को स्पष्ट देखकर ही आगे बढ़ता है। उसके सामने लक्ष्य स्थिर रहता है, दिशा स्पष्ट रहती है कि 'मुझे तो अपनी आत्मा को उज्ज्वल बनाना है, कर्म शरीर को, अर्थात् कर्मों के आवरणों को नष्ट कर परम शुद्ध दशा को प्राप्त करना है।"

साधना के क्षेत्र में उक्त दोनों प्रकार के साधक आते हैं। जो साधक आत्म-ज्ञान के अभाव में, मोक्ष प्राप्ति के लक्ष्य से रहित साधना करते हैं, उनका तप 'अज्ञान तप' कहलाता है। वे तप तो करते हैं, देह को भयंकर कष्ट भी देते हैं, किन्तु उस देह कष्ट में अहिंसा, करुणा, अनासक्ति और आत्म-दर्शन का विवेक नहीं रहता। उदाहरण स्वरूप जैसे एक साधक 'पंचाग्नि तप' कर रहा है, उसके चारों ओर अग्नि की ज्वालाएं धधक रही हैं, ऊपर सूर्य की प्रचंड किरणें आग बरसा रहीं है, इस साधना में देह को कष्ट तो अवश्य होता है, किन्तु साथ में अग्नि की ज्वालाओं से अनेक जीवों की हिंसा भी होती रहती है। कभी-कभी उन ज्वालाओं में बड़े-बड़े जीव भी भस्म हो जाते हैं। जैसे भगवान पार्श्वनाथ ने कमठ तापस की धूनी में

---

१ आचारांग ४।३

जलते हुए नाग को देखा और बचाया था। कुछ तपस्वी इन्द्रासन प्राप्त करने की लालसा से, कुछ लब्धियां प्राप्त करने की अभिलाषा से और कुछ सम्यक् ज्ञान के अभाव में बिना किसी कर्मनिर्जरा की भावना के यों ही तप करते रहते हैं। इस तप में सम्यक्ज्ञान का अभाव होने से कष्ट तो भले ही अधिक हो, किन्तु उसका फल बहुत ही कम होता है। अज्ञान तप से कर्म निर्जरा बहुत कम होती है। जैसे पत्थर ढोने वाला मजदूर सुबह से शाम तक दम तोड़ काम करता है, फिर भी मजदूरी क्या मिलती है? एक-दो रुपये! और हीरे का व्यापार करने वाला तोला भर सामान लिये भी लाखों का वारा-न्यारा कर लेता है, वैसे ही सम्यग्ज्ञान पूर्वक तप करने वाला बहुत अल्प श्रम में अत्यधिक कर्मनिर्जरा रूप लाभ कमा लेता है। सम्यक् ज्ञानपूर्वक और उसके अभाव में तप करने वालों की तुलना करते हुए आचार्य ने बताया है—

> **जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसय-सहस्स कोडीहिं।**
> **तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेदि उस्सासमेत्तेण।**[1]

अज्ञानी साधक लाखों करोड़ों जन्मों तक तप करके जितने कर्म खपाता है, सम्यक् ज्ञानी साधक, मन, वचन और काया को संयत रखकर सांस मात्र में ही उतने कर्म खपा देता है।

अज्ञानी का एक और करोड़ों जन्मों का तप, तथा दूसरी और सम्यक् ज्ञानी का सांस मात्र का तप, कितना महान् अंतर है?

वाल तप क्या है?

जिस तप में सम्यक् ज्ञान का अभाव होता है, मुक्ति की दृष्टि से उस तप का कोई मूल्य नहीं है। इसी कारण उस तप को 'वाल तप' कहा जाता है। जैसे वालक की क्रियाओं में, चेष्टाओं में कोई लक्ष्य नहीं होता, कोई विशिष्ट ध्येय नहीं होता, वे प्रायः कुतूहलप्रधान या उद्देश्य शून्य-सी होती है। इसी कारण किसी व्यर्थ चेष्टा को, या लक्ष्यहीन प्रयत्न को 'वालचेष्टा' कहा

---

१ प्रवचनसार ३।३८

जाता है। इसी तरह मुक्ति के लक्ष्य से शून्य तप को भी 'बाल तप' कहा जाता है। जैन सूत्रों में प्रायः 'अज्ञान' के अर्थ में 'बाल' शब्द का प्रयोग हुआ है। सूत्रकृतांग में स्थान-स्थान पर 'बाल' शब्द का अज्ञानी और मूर्ख के अर्थ में प्रयोग किया गया है—जैसे

णातीणं सरति बाले[1]

बाले पार्वेहि मिज्जती[2]

बालजणो पगब्भई[3]

स्थानांग [4] में भी तीन प्रकार के मरण बताये हैं—बालमरण, पंडित-मरण, बाल-मंडित मरण। यहाँ भी 'बाल' शब्द 'अज्ञानी' का ही द्योतक है। भगवती सूत्र[5] में ६० हजार वर्ष तक कठोर तप करने वाले तामली तापस के लिए भी **'बालतवस्सी'** शब्द का ही प्रयोग किया गया है। क्योंकि वह भी सम्यक् ज्ञान के बिना ही तप कर रहा था। उत्तराध्ययन सूत्र में भी नमिराज ने ऐसे अज्ञान तपस्वियों को **बाला**[6] कह कर पुकारा है। इन सब प्रकरणों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्यक्ज्ञान के बिना जो तप किया जाता है, वह चाहे कितना ही कठोर और दुर्धर्ष हो, वह 'बाल तप' है, फल की दृष्टि से वह प्रायः 'खोदा पहाड़ निकाली चुहिया' के जैसा ही कार्य है।

बाल-तापसों के विभिन्न रूप

भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर के समय में इस प्रकार के बाल तप का बोल-बाला था। भगवान पार्श्वनाथ जब गृहस्थ जीवन में थे। तब इस प्रकार के विवेक हीन बाल तपस्वियों का जनता पर अत्यधिक प्रभाव था। कमठ तापस जो वाराणसी के बाहर ही कठोर बालतप कर

---

१ सूत्र कृतांग १।३।१।१६

२ सूत्र० १।२।२।२१

३ सूत्र० १।१।१।४

४ स्थानांग सूत्र स्थान ३

५ भगवती सूत्र शतक ३। उद्देशक १

६ उत्तराध्ययन सूत्र ९।४४

रहा था, पंचाग्नि तप में शरीर को झौंक रहा था उसकी तत्कालीन जनता पर गहरी धाक थी। वह जब वाराणसी में आया तो नगर की जनता हाथों में भेंट पूजा के थाल सजाकर उसके दर्शनों के लिए उमड़ पड़ी थी। हजारों लोगों को एक ही दिशा में जाते देखकर पार्श्वकुमार ने अपने सेवक से पूछा तो पता चला कि एक महान तपस्वी नगरी में आया है, लोग उसके दर्शन करने जा रहे हैं। पार्श्वकुमार भी उस तपस्वी को देखने के लिए घोड़े पर चढ़कर बाहर निकले। किन्तु जब उसे, अपने चारों ओर बड़े-बड़े लक्कड़ जलाकर बीच में बैठे हुए देखा तो वे स्तंभित रह गये। वे सोचने लग गये—यह कोई तप है? इतनी अग्नि हिंसा! इतना पाखण्ड! इतना प्रदर्शन! एक तरफ तो यह तपस्वी होने का दंभ कर रहा है, और दूसरी ओर इसकी धधकती अग्नि ज्वालाओं में नाग जैसे पंचेन्द्रिय प्राणी जल रहे हैं! प्रभु पार्श्व का हृदय करुणा से द्रवित हो गया। वे तपस्वी के पास आये। उसे यह अज्ञान तप करने से रोकते हुए बताया—'तुम्हारे विवेकहीन आचरण से कितने जीवों की घात हो रही है पता है तुम्हें? इतना कष्ट! भूख, प्यास गर्मी सहन करके भी तुम उल्टा कर्म बन्धन करते जा रहे हो!"

कमठ तापस उल्टा पार्श्वकुमार पर गुर्राया "राजकुमार! तुम्हें क्या पता धर्म क्या होता है? तप क्या होता है?"

पार्श्वकुमार ने शान्ति से तापस को समझाया किन्तु जब वह नहीं समझा तो अपने सेवकों को आदेश दिया—"तपस्वी की धूनी में जो लक्कड़ पड़े हैं उनमें एक नाग जल रहा है, उसे सावधानी से बचाओ!"

सेवकों ने लक्कड़ बाहर निकाले, तो उसमें से एक विशाल नाग तड़फता हुआ निकला। सांप की चमड़ी बहुत कोमल होती है, वह तेज धूप से भी जल जाता है, वहां तो आग की लपटों के बीच पड़ा था, विचारा मरणासन्न हो गया था, प्रभु ने नवकार मंत्र का स्मरण कराकर उसका उद्धार किया।

इस घटना से पता चलता है कि उस युग में अज्ञान तप का कितना जोर था और लोगों के मन पर उसका कितना प्रभाव था! भगवान

पार्श्वनाथ ने इस अज्ञान तप के विरोध में बहुत बड़ी क्रान्ति की थी, लोगों को विवेक पूर्वक तप करने का उपदेश दिया था। आज भी जैनसूत्रों में आये वर्णनों से पता चलता है, गांव-गांव और जंगल उपवनों में ऐसे हजारों लाखों बाल तपस्वी भरे थे। कोई कड़कड़ाती सर्दी में नासाग्र तक जल में खड़ा रहकर रात बिताता था, कोई भुजायें ऊपर उठाकर चिलचिलाती धूप में सूर्य मण्डल के सामने खड़ा आतापना लेता था। कोई वृक्ष की शाखा से पांवों को बाँधकर औंधा लटक जाता था, कोई जीते जी छाती तक भूमि में गड़कर पड़ा रहता था। कोई सिर्फ खलिहानों में धान साफ करने के बाद बचे खुचे दाने बीनकर ही पेट भरते थे[1] तो कोई पानी पर तैरती सेवाल (काई) खाकर ही रहते थे।[2] औपपातिक सूत्र में ४२ प्रकार के वानप्रस्थ तापसों की चर्चा है जो विविध प्रकार के क्रियाकांडों द्वारा तप करते थे, शरीर को कष्ट देते थे। बहुत से मगर मच्छ की तरह रात-दिन जल में पड़े रहते थे, तो बहुत से सांप की तरह सिर्फ वायु भक्षण कर के ही जीते थे।[3]

इस प्रकार सैकड़ों हजारों प्रकार से साधक अपने शरीर को कष्ट देते थे, अज्ञान तप के द्वारा जनता को प्रभावित करते थे।

बाल-तप की असारता

भगवान पार्श्वनाथ के प्रयत्नों से अज्ञान तप का प्रवाह कुछ कम जरूर हुआ, किन्तु फिर भी पूरे भारतवर्ष में इसका बहुत प्रचार था। भगवान महावीर स्वयं कठोर तपोयोगी थे, किन्तु वे इस प्रकार के देहदण्ड को बिल्कुल निरर्थक मानते थे। तप के साथ ज्ञान और विवेक होना बहुत ही

---

१ व्यवहार भाष्य १०।२३-२५।
वैशेषिक दर्शन के प्रणेता कणाद ऋषि भी ऐसा ही व्रत तप करते थे।

२ सेवालभक्खिणो—औपपातिक सूत्र तथा बौद्धग्रन्थ ललितविस्तर पृ० २४८

३ जलवासिणो, अम्बुभक्खिणो····वायुभक्खिणो। —औपपातिक सूत्र
(ख) रामायण (३।११।१२) में मंडकर्णी नामक एक तापस का वर्णन आता है, जो केवल वायु भक्षण करके जीवित रहता था।

आवश्यक मानते थे। अज्ञान तप के विरोध में उन्होंने स्थान-स्थान पर प्रवचन भी दिये, उसकी असारता भी लोगों को समझाई। इस बाल तप की तुच्छता बताते हुए कहा है—

मासे-मासे उ जो बाला कुसग्गेण तु भुंजए।
न सो सुयक्खायधम्मस्स कलं अग्घेइ सोलसिं।[1]

—जो अज्ञानी साधक एक-एक मास का कठोर उपवास करता है और पारणे में सिर्फ घास की नोंक पर टिके उतना सा भोजन लेता है—इतना कठोर तप करने पर भी वह श्रेष्ठ धर्म की सोलहवीं कला की समानता भी नहीं कर सकता। क्योंकि वह देह को दण्ड तो दे रहा है, किन्तु उसके घट में अज्ञान भरा है, माया शल्य (दंभ) भरा है। और जब तक अज्ञान का, माया का शल्य मन में भरा है तब तक—

जइ वि य णिगणे किसेचरे जइ वि य भुंजे मासमंतसो।
जे इह मायाइ मिज्जइ आगन्ता गब्भाय ऽणंतसो।[2]

भगवान महावीर ने इस प्रकार अज्ञान तप की कठोर आलोचना ही नहीं की, किन्तु उसे स्पष्ट रूप से 'बाल तप' कहकर व्यर्थ का देहदण्ड बताया।

केवल शरीर को कष्ट क्यों?

यह बात नहीं है कि जैनधर्म में कठोर तप का महत्व नहीं माना है। तप का महत्व तो बहुत ही अधिक है किन्तु अज्ञान तप का नहीं, ज्ञानपूर्वक तप का महत्व है। भगवान ऋषभदेव एक वर्ष तक निरन्तर कठोर तप करते रहे। भगवान महावीर ने अपने १२॥ वर्ष के साधना काल में इतना उग्र तप किया था कि उसे सुनते ही रोमांच हो जाता है। धन्ना अणगार जैसे अनेक उग्र तपस्वी भिक्षु-भिक्षुणियां उनके संघ में थे। यह सब घटनाएँ बताती हैं कि जैन परम्परा में तप का महत्व कितना है। इसीलिए यहां—**देह दुक्खं महाफलं**—देह को कष्ट देना महान फलप्रद माना है। किन्तु सिर्फ

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र ९।४४
२ सूत्रकृतांग १।२।१।९

देह को तपाना नहीं, देह के साथ मन को तपाना भी आवश्यक है। अन्तर शुद्धि के विना केवल शरीर को दण्ड देना मान्य नहीं है। इसलिए यहां शरीर को कृश करने की जगह आत्मा को (कर्म दलों को) कषायों को कृश करने की बात कही गई है—

कसेहि अप्पाणं जरेहि अप्पाणं[1]

आत्मा को, कषायों को कृश करो, उन्हें जीर्ण करो। सिर्फ तन को जीर्ण करने से क्या लाभ है यदि कषाय जीर्ण न हुई ?

एक कथा आती है कि एक आचार्य का शिष्य बड़ा उग्र तपस्वी था। साथ ही उसका स्वभाव भी बड़ा उग्र था। कषाय भी प्रबल थी। आचार्य ने उसे कषाय को क्षीण करने का उपदेश दिया। शिष्य ने आचार्य के उपदेश से लंबी तपस्या प्रारंभ करदी। एक मासखमण का तप कर एक दिन पारणा लाने के लिए आचार्य की आज्ञा मांगने आया। आचार्य ने शिष्य को संबोधित कर कहा—"पतली पाड़ !" शिष्य ने समझा—आचार्य शरीर को और पतला-दुबला करने के लिए कह रहे हैं। उसने पारणे का विचार त्याग दिया और बोला—गुरुदेव ! दूसरा मासखमण पचखा दीजिए ! गुरु ने पचखा दिया। फिर दूसरा महीना पूरा हुआ ! पुनः पारणा लाने के लिए आज्ञा लेने आया तो आचार्य ने फिर वही बात कही, 'पतली पाड़ !' शिष्य ने फिर तीसरा मास खमण पचख लिया, और उसी प्रकार एक महीने बाद चौथा मासखमण भी पचख लिया।

चार महीने की तपस्या से शिष्य का शरीर एक दम क्षीण हो गया था। हाथ-पांव की अंगुलियां सूखी फली की जैसी हो गई। चौमासी तप का पारणा लाने की आज्ञा लेने शिष्य पहुंचा तो आचार्य ने पुनः वही बात कही, "वत्स ! पतली पाड़ !" बस अब तो तपस्वी का पारा चढ़ गया। वह बोला-पतली करते करते देह को इतनी तो पतली कर डाली हैं,। (और अपनी अंगुली तोड़कर आचार्य की ओर फैंक डाली) अब क्या मुझे मारना ही चाहते हो तो संथारा पचखा दो।"

आचार्य ने शांति के साथ कहा—वत्स ! मैंने इस देह को पतली करने

---

१ आचारांग १।४।३

के लिए नहीं, किन्तु इस तीव्र कषाय को पतली पाड़ने के लिए ही तो कहा था। देह तो तेरी सूख रही है, मुझे भी दीखता है, किन्तु कषाय तो आज भी हरी-भरी हो रही है। यह कषाय पतली नहीं हुई तो देह पतली होने से क्या होगा ?

तो देह दुक्खं महाफलं'—का यह अर्थ तो नहीं कि देह को कष्ट देते जाओ, अन्तःकरण की कोई परवाह ही नहीं। इसी वात पर तो कबीर ने कहा है—

केसन कहा बिगारियो जो मूंडे हर बार।
मनवा क्यों नहीं मूंडता जामें विषय विकार।

तव तक सिर मूंडने से कोई लाभ नहीं है, जव तक कि मन को नहीं मूंडा जाये। मन को मूंडने का अर्थ है—मन के विषय विकारों का परि-मार्जन! अन्तःकरण की शुद्धि, और यह तभी होगी जब मन में ज्ञान का उदय होगा, विवेक जगेगा। यदि विवेक जग गया तो फिर उग्र तपः कर्म की भी कोई खास शर्त नहीं रहती। ज्ञानपूर्वक अल्पकालीन और अल्प तप भी महान फल देने वाला है।

सज्ञान तप का महाफल

पूर्व प्रकरण में तामली तापस का उदाहरण दिया गया है जिसने ६० हजार वर्ष तक कठोर तप किया और उस तप का फल बहुत ही अल्प हुआ। इसी कारण वह आयुष्य पूर्ण कर सिर्फ इशानेन्द्र ही वना। जवकि ज्ञान पूर्वक तप करने वाले कुछ समय में ही समस्त कर्मों से मुक्त हो गये। मरु-देवा माता को जव आत्मज्ञान हो गया तो हाथी के होदे पर वैठे-बैठे ही मुक्त हो गई। गजसुकुमाल मुनि ने एक दिन-रात में ही समस्त कर्मों को क्षय कर अनन्त आनन्दमय मोक्ष पद को प्राप्त कर लिया। महामुनि गज-सुकुमाल की स्तुति में कहा है—

वसुदेव वारो प्यारो देवकी को नैन तारो,
जैन को दुलारो, भारी जादुता दिखारली।
वाल ब्रह्मचारी अहा नेम को नगीनो शिष्य
समता को धार सेरी शिव की निहारली।

कसिके कमर तप, भिक्षु-प्रतिमा को धारी
श्वसुर की रीस सारी ध्यान तें गमारली।
मृदुल पट्टी के पेच कसूंबल रंग वारी
आग हू की पाल धन्य शीस पर धारली।

घोर पाप कर्म करने वाले अर्जुनमाली ज्ञानपूर्वक तप करते हुए सिर्फ छह मास में ही केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो गये !

आचार्यों ने बताया है, बाल तप चाहे जितना कठोर, दीर्घकालीन और निष्काम भाव से किया जाय उसमें मुक्ति हो ही नहीं सकती—

न हु बाल तवेण मुक्खु त्ति[1]

हमने पूर्व में ही बताया है कि साधक के सामने तप साध्य नहीं, साधना है, साध्य है मोक्ष ! जिस साधना से साध्य की प्राप्ति न हो वह साधना वास्तव में साधना नहीं, विराधना ही है। जिस तप के करने से मोक्ष की प्राप्ति न होती हो, उस तप से लाभ क्या ? स्वर्ग, भौतिक वैभव, सुख समृद्धि भले ही मिल जाय, किंतु इनसे तो आत्मा का हित होने वाला नहीं है। ये तो पुनः कर्म बंधन के कारण होंगे और पुनः पतन होगा। ज्ञानी साधक यदि मरकर स्वर्ग में भी जायेगा तब भी वह सुखों में आसक्त नहीं होगा। आत्म ज्ञानी तपस्वी लब्धि प्राप्त करके, समृद्धिशाली बन करके भी उसका दुरुपयोग नहीं करेगा, इस कारण वह सुख भोग कर भी पुनः तीव्र कर्म बंधन नहीं करेगा। इस कारण तपःसाधना के फल में हमें यह विचार करना है कि तप चाहे अल्प ही क्यों न हो, पर जो हो, वह विवेक पूर्वक हो, अन्तःर्ज्ञान से किया जाय। वही तप मोक्ष का साधन बनेगा। अन्यथा तप, ताप बन जायेगा, केवल देह दंड मात्र रहेगा, इसलिए सर्व प्रथम ज्ञान पूर्वक तप करने की साधना जीवन में आनी चाहिए। यही तपोविवेक है।

●●

१ आचारांग निर्युक्ति २१४

तप का वर्गीकरण

तप की अनेक परिभाषाओं में एक सर्वसामान्य परिभाषा बताई गई है—इच्छा का निरोध तप है। वास्तव में जैनधर्म के आगम और उत्तरवर्ती ग्रंथों में तप का इतना विस्तृत और बहुविध वर्णन किया गया है कि उसके समग्र रूप को किसी एक परिभाषा में बांध पाना बहुत कठिन है। जैसे महासागर की गंभीरता को, गगन की असीमता को, हाथ फैलाकर, भुजाएँ लम्बाकर बता पाना एक बाल प्रयत्न है, वैसा ही तप को किसी एक व्याख्या व एक परिभाषा में बांध पाना बाल क्रीड़ा मात्र है।

शुद्धि और सिद्धि

तप जीवन के अन्तर्तम को शोधने की एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है। तप के विविध अंगों पर विचार करने से लगता है, साधना के क्षेत्र में, जीवन शुद्धि के क्षेत्र में ऐसा कोई भी अंग बाकी नहीं बचा है जिसको तप के अन्तर्गत नहीं लिया गया हो। व्यक्तिगत जीवन से लेकर समाज एवं समग्र

११

तप का वर्गीकरण

तप की अनेक परिभाषाओं में एक सर्वसामान्य परिभाषा बताई गई है—इच्छा का निरोध तप है। वास्तव में जैनधर्म के आगम और उत्तरवर्ती ग्रंथों में तप का इतना विस्तृत और बहुविध वर्णन किया गया है कि उसके समग्र रूप को किसी एक परिभाषा में बांध पाना बहुत कठिन है। जैसे महासागर की गंभीरता को, गगन की असीमता को, हाथ फैलाकर, भुजाएँ लम्बाकर बता पाना एक बाल प्रयत्न है, वैसा ही तप को किसी एक व्याख्या व एक परिभाषा में बांध पाना बाल क्रीड़ा मात्र है।

शुद्धि और सिद्धि

तप जीवन के अन्तर्तम को शोधने की एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है। तप के विविध अंगों पर विचार करने से लगता है, साधना के क्षेत्र में, जीवन शुद्धि के क्षेत्र में ऐसा कोई भी अंग बाकी नहीं बचा है जिसको तप के अन्तर्गत नहीं लिया गया हो। व्यक्तिगत जीवन से लेकर समाज एवं समग्र

एक अन्तर्-प्रक्रिया सतत चालू रहती है। उपवास, कायक्लेश जैसी प्रत्यक्ष दीखने वाली साधना और ध्यान, प्रायश्चित्त जैसी अन्तर्तम में चलने वाली गहन गुह्य साधना-दोनों ही तप की सीमा में आ जाती हैं। सेवा और विनय जैसी सामाजिक साधना, जिसका सीधा सम्बन्ध समाज, संघ, गण और अपने निकटतम सहयोगियों के साथ आता है वह भी तप का एक अंग है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तप का क्षेत्र बहुत व्यापक है।

तप का मुख्य ध्येय जीवन-शोधन है। शास्त्रों में जहां-तहां तप का वर्णन किया गया है वहां इसी भाव की प्रतिध्वनि सुनाई देती है **तवेण परिसुज्झइ**[1] **तवसा निज्जरिज्जइ**[2] **तवेण धुणइ पुराण-पावगं,**[3] **'सोहओ तवो'**[4] इन शब्दों की ध्वनि में यही संकेत छिपा है कि तप से आत्मा निर्मल, पवित्र एवं विशुद्ध हो जाता है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि तप केवल शुद्धि का मार्ग ही नहीं, सिद्धि का भी मार्ग है। दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं—तप से शुद्धि होती है, शुद्धि से सिद्धि मिलती है। विना शुद्धि के सिद्धि नहीं—यह जैनधर्म का अटल सिद्धान्त है। सिद्धि का अर्थ है मोक्ष—और शुद्धि कारक तत्त्व है तप! इसलिए तप मोक्ष का अन्यतम कारण है। मोक्ष की इच्छा रखने वाले को तप करना ही होगा।

आत्मा में कर्म रूप मल सतत आता रहता है। वह कषाय, विषय, राग-द्वेष आदि के द्वारा प्रतिक्षण कलुषित होता रहता है। जैसे घी में सना वस्त्र यदि खुली हवा में पड़ा हो तो हवा के साथ उड़कर आने वाली मिट्टी, रजकण उस पर प्रतिक्षण लगते-लगते वह मैला हो जाता है। सड़कों की दुकानों पर लगे नये वस्त्र आप देखते हैं, मिट्टी आदि से धीरे-धीरे वे कितने मैले हो

---

१ उत्तराध्ययन २८।३५,
२ उत्तराध्ययन ३०।६,
३ दशवैकालिक १०।७
४ आवश्यकनिर्युक्ति १०३

तप का वर्गीकरण

तप की अनेक परिभाषाओं में एक सर्वसामान्य परिभाषा बताई गई है—इच्छा का निरोध तप है। वास्तव में जैनधर्म के आगम और उत्तरवर्ती ग्रंथों में तप का इतना विस्तृत और बहुविध वर्णन किया गया है कि उसके समग्र रूप को किसी एक परिभाषा में बांध पाना बहुत कठिन है। जैसे महासागर की गंभीरता को, गगन की असीमता को, हाथ फैलाकर, भुजाएँ लम्बाकर बता पाना एक बाल प्रयत्न है, वैसा ही तप को किसी एक व्याख्या व एक परिभाषा में बांध पाना बाल क्रीड़ा मात्र है।

शुद्धि और सिद्धि

तप जीवन के अन्तर्तम को शोधने की एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है। तप के विविध अंगों पर विचार करने से लगता है, साधना के क्षेत्र में, जीवन शुद्धि के क्षेत्र में ऐसा कोई भी अंग बाकी नहीं बचा है जिसको तप के अन्तर्गत नहीं लिया गया हो। व्यक्तिगत जीवन से लेकर समाज एवं समग्र

एक अन्तर्-प्रक्रिया सतत चालू रहती है। उपवास, कायक्लेश जैसी प्रत्यक्ष दीखने वाली साधना और ध्यान, प्रायश्चित्त जैसी अन्तर्तम में चलने वाली गहन गुह्य साधना-दोनों ही तप की सीमा में आ जाती हैं। सेवा और विनय जैसी सामाजिक साधना, जिसका सीधा सम्बन्ध समाज, संघ, गण और अपने निकटतम सहयोगियों के साथ आता है वह भी तप का एक अंग है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तप का क्षेत्र बहुत व्यापक है।

तप का मुख्य ध्येय जीवन-शोधन है। शास्त्रों में जहां-तहां तप का वर्णन किया गया है वहां इसी भाव की प्रतिध्वनि सुनाई देती है **तवेण परिसुज्झइ**[1] **तवसा निज्जरिज्जइ**[2] **तवेण धुणइ पुराण-पावगं,**[3] **'सोहओ तवो'**[4] इन शब्दों की ध्वनि में यही संकेत छिपा है कि तप से आत्मा निर्मल, पवित्र एवं विशुद्ध हो जाता है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि तप केवल शुद्धि का मार्ग ही नहीं, सिद्धि का भी मार्ग है। दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं—तप से शुद्धि होती हैं, शुद्धि से सिद्धि मिलती है। बिना शुद्धि के सिद्धि नहीं—यह जैनधर्म का अटल सिद्धान्त है। सिद्धि का अर्थ है मोक्ष—और शुद्धि कारक तत्त्व है तप! इसलिए तप मोक्ष का अन्यतम कारण है। मोक्ष की इच्छा रखने वाले को तप करना ही होगा।

आत्मा में कर्म रूप मल सतत आता रहता है। वह कषाय, विषय, राग-द्वेष आदि के द्वारा प्रतिक्षण कलुषित होता रहता है। जैसे घी में सना वस्त्र यदि खुली हवा में पड़ा हो तो हवा के साथ उड़कर आने वाली मिट्टी, रजकण उस पर प्रतिक्षण लगते-लगते वह मैला हो जाता है। सड़कों की दुकानों पर लगे नये वस्त्र आप देखते हैं, मिट्टी आदि से धीरे-धीरे वे कितने मैले हो

---

१ उत्तराध्ययन २८।३५,
२ उत्तराध्ययन ३०।६,
३ दशवैकालिक १०।७
४ आवश्यकनिर्युक्ति १०३

जाते हैं। यही हाल आत्मा का है। जैसे तालाब में प्रतिक्षण पानी आते-आते वह भर जाता है, वैसे ही आत्मा मलिन विचारों के पानी से धीरे-धीरे भर जाता है। तप उस मैल को धोने के लिए साबुन का काम करता है, पानी को सुखाने के लिए तेज धूप का काम करता है, वह भीतर में शोधन करता है। जैसे सोना अग्नि को निर्मल बनाता है वैसे ही तप आत्मा को निर्मल बना देता है। शास्त्र में कहा है—

जहा महातलागस्स सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिचणाए तवणाए कमेणं सोसणा भवे।
एवं तु संजयस्सावि पावकम्म निरासवे।
भव कोडी संचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ।[1]

जिस प्रकार किसी बड़े तालाव का पानी समाप्त करने के लिए पहले जल के आने के मार्ग रोके जाते हैं, फिर कुछ पानी उलीच-उलीच कर बाहर फैंका जाता है और कुछ सूर्य की तेज धूप से सूख जाता है। और इस प्रकार तालाव का समूचा पानी सूख जाता है, वैसे ही संयमी पुरुष व्रत आदि के द्वारा नये कर्मास्रवों को रोक देता है, और पुराने करोड़ों जन्मों के संचित किये हुए कर्मों को तप के द्वारा सर्वथा क्षीण कर डालता है। कर्म क्षीण होने पर आत्मा अपने लक्ष्य में सिद्धि प्राप्त कर लेता है। यही शुद्धि और सिद्धि का क्रम है जो तप के द्वारा फलीभूत होता है।

तप के दो भेद : बाह्य और आभ्यन्तर

वास्तव में आत्म-शोधन रूप तप एक संपूर्ण प्रक्रिया है। वह एक अखड इकाई है। उसके अलग-अलग खंड नहीं है। किंतु फिर भी उसकी प्रक्रियाएं, विधियां अलग अलग होने के कारण उसके अलग-अलग भेद भी बताये गये हैं। मूलतः आगमों में तप के दो भेद बताये हैं—

सो तवो दुविहो वुत्तो बाहिरब्भन्तरो तहा।[2]

---

१ उत्तराध्ययन ३०।५-६
२ उत्तराध्ययन ३०।७

१ वाह्य तप

२ आभ्यन्तर तप—तप के ये दो भेद कहे गये हैं।

वाह्य तप का अर्थ है—वाहर में दिखाई देने वाला तप ! जिस तप की साधना शरीर से अधिक सम्वन्ध रखती हो, और उस कारण वह वाहर में दिखाई देती हो वह तपः साधना वाह्य कहलाती है। जैसे उपवास है। उपवास का स्पष्ट प्रभाव शरीर पर पड़ता है। लंवे उपवासों से शरीर दुर्वल भी होता है, देखने वालों को यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह तपस्वी है। काय-क्लेश, अभिग्रह, भिक्षावृत्ति ये सव ऐसी विधियां है जो वाहर में साफ़ दिखाई देती हैं।

आभ्यन्तर तप का अर्थ हैं—अन्तर में चलने वाली शुद्धि प्रक्रिया। इस का सम्वन्ध मन से अधिक रहता है। मन को मांजना, सरल वनाना, एकाग्र करना और शुभ चिंतन में लगाना—यह आभ्यन्तर तप की विधि है। जैसे ध्यान, स्वाध्याय, विनय आदि। हां यह वात भूल नहीं जाना है कि जैसे वाह्य तप में मन का सम्वन्ध भी रहता है, वैसे आभ्यन्तर तप में शरीर का भी सम्वन्ध जुड़ा रहता है। ऊनोदरी वाह्य तप है, फिर भी उसमें कषायों की ऊनोदरी का सीधा सम्वन्ध अन्तरंग से है। प्रतिसंलीनता वाह्य तप है, किन्तु अकुशल मन का निरोध, कुशल मन की उदीरणा और मनको एकाग्र करना इसका सम्वन्ध भी ध्यान साधना से जुड़ता है जो स्पष्ट ही आभ्यन्तर तप है। वैसे ही विनय, वैयावृत्य आभ्यन्तर तप है, जव कि इनकी प्रवृत्ति का सीधा सम्वन्ध वाह्य जगत से जुड़ता है। गुरुजनों का विनय, अपने सार्धमिकों का विनय क्या वाहर में दिखाई नहीं देते ? गुरु, शैक्ष, रोगी आदि की सेवा करना भी सीधा वाहरी संपर्क में आना है, फिर भी इन्हें आभ्यन्तर तप माना है। इस प्रकार गहराई से देखने पर पता चलता कि वाह्य एवं आभ्यन्तर भेद तप की प्रक्रिया समझाने के लिए है, न कि एक को अधिक महत्व देकर दूसरे का महत्व घटाने के लिए !

कुछ लोगों की यह धारणा वन गई है कि वाह्य तप साधारण तप है, आभ्यन्तर तप वड़ा तप है। वाह्य का महत्व कम है, आभ्यन्तर का महत्व

अधिक ! एक विद्वान मुनिजी से तप की चर्चा चल रही थी। प्रसंग में किसी तपस्वी मुनिराज के दीर्घ उपवास और उसमें आतापना लेने की बात आगई। मैंने कहा—वे सचमुच बड़े उग्र तपस्वी हैं। अपने को विद्वान समझने वाले मुनि जी ने जरा उपेक्षा के साथ कहा—हां, ऐसी तपस्याएँ तो बहुत होती रहती हैं।

मैंने उनसे पूछा—आपने भी काफी लम्बे उपवास किये होंगे ? आतापना आदि ली होगी ?

वे बोले— मैं इन बाह्य तपों में कम विश्वास करता हूं। ये बाह्य तप है, साधना तो आभ्यन्तर तप की होनी चाहिए ? वही तो खास बात है !

विद्वान मुनि के उत्तर ने मुझे झकझोर दिया। मैं सोचने लगा—क्या इनकी विद्वत्ता इतनी ही गहरी है ? अभी तक इन्होंने तप का यही अर्थ समझा है कि बाह्य तप हलका है, आभ्यन्तर तप बड़ा है ? कितनी बड़ी ना समझी है ! लगता है इन्होंने सिर्फ बाह्य-आभ्यन्तर शब्दों को पकड़ा है, इनकी गहराई को नहीं ! वास्तव में तो बाह्य में आभ्यन्तर और आभ्यन्तर में बाह्य समाया हुआ है। और फिर आश्चर्य तो यह कि बाह्य तप को हलका बताकर भी स्वयं कभी आभ्यन्तर तप की ओर नहीं बढ़े ! न कभी ध्यान किया हैं ? न सेवा और न और कुछ ! किन्तु फिर भी बड़ाई तो आभ्यन्तर तप की करते ही हैं।

तो यह एक गलत धारणा है। शास्त्रों में आभ्यन्तर तप का जो महत्व है वही महत्व बाह्य तप का है। हां ! किसी एक तप का ही आग्रह करना गलत है, दोनों की समान आराधना करना ही वास्तव में सम्यक् आराधना है। भगवान महावीर ने कठोर उपवास भी किये और ध्यान साधना भी की। बाह्य-आभ्यन्तर का सुमेल करके उन्होंने अपनी साधना में सिद्धि प्राप्त की। यदि हम गम्भीरता के साथ देखें तो तप में बाह्य आभ्यन्तर का भेद बहुत मौलिक भेद नहीं है। जैसे किसी एक ही राजप्रासाद में एक आभ्यन्तर भाग होता है और दूसरा बाह्य भाग। आभ्यन्तर भाग राजा के अन्तरंग

जीवन का केन्द्र होता है और बाह्य भाग राज्य संचालन आदि व्यवस्था का। किन्तु इसमें यह कहना कि बाह्य भाग कम महत्व का है आभ्यन्तर अधिक ! यह एक गलत बात होगी राज्य की दृष्टि से दोनों का ही महत्व है और दोनों ही अपनी-अपनी जगह में आवश्यक व उपयोगी हैं।

जैसे एक ही पुस्तक के दो अध्याय होते हैं। एक ही महल के दो खण्ड होते हैं, एक सिक्के के दो पहलू होते हैं, वैसे ही तप के ये दो पहलू हैं। दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। बाह्य तप के बिना केवल आभ्यन्तर तप की साधना कठिन क्या, असम्भव प्रायः है। और आभ्यन्तर तप के अभाव में केवल बाह्य तप देह दण्ड मात्र है। जो सिर्फ अपने को तत्त्वज्ञानी व अध्यात्म-वादी दिखाने के लिए बाह्यतप की उपेक्षा करता है, उसकी असारता बताता है वह वास्तव में जैनतत्वज्ञान से ही अपरिचित है। यदि बाह्य तप अनुपयोगी होता—तो भगवान ऋषभदेव क्यों एक वर्ष तक भूखे रहकर कष्ट उठाते, क्यों भगवान महावीर साढ़े बारह वर्ष के साधना काल में ग्यारह वर्ष तक का काल उपवास आदि में व्यतीत करते ! क्यों धन्ना अन-गार चौदह हजार श्रमणों में सर्वश्रेष्ठ तपस्वी घोषित किये जाते ! आखिर बाह्य तप भी कुछ शक्ति है, कुछ साधना है और बड़ी चमत्कारी साधना है। साधक के मनोबल और कष्टसहिष्णुता की जितनी कसौटी बाह्य तप में होती है, उतनी आभ्यन्तर में नहीं, साधक के जीवन स्वर्ण के लिए बाह्य तप अग्नि है और आभ्यन्तर तप उस पर पालिश है। सोना पहले अग्नि में शुद्ध हो जायेगा तभी तो उस पर पोलिश की जायेगी ? क्या कभी अशुद्ध सोने पर पालिश या चमक की जाती है और की जायेगी तो वह कितने समय तक टिकेगी ? इसी प्रकार बाह्य तप से जब तक मानसिक मलिनता दूर नहीं हो जाती, हृदय शुद्ध नहीं हो जाता तब तक ध्यान, विनय, स्वाध्याय कैसे होंगे ? इसीलिए आभ्यन्तर तप से पहले बाह्य तप का क्रम रखा गया है, बाह्य तप को साधने के बाद साधक आभ्यन्तर तप की ओर बढ़ता है।

दोनों का समन्वय

हां,एक बात ध्यान में रखनी है कि जैन धर्म केवल बाह्य तप का ही आग्रह

नहीं करता। यदि आभ्यन्तर तप न हों तो बाह्य तप की असारता भी उसने मानी है। आचार्य संघदास गणी ने कहा है—

इन्दियाणि कसाये य गारवे य किसे कुरु!
णो वयं ते पसंसामो किसं साहु शरीरगं।[1]

हम केवल अनशन आदि से कृश-दुर्बल-क्षीण हुए शरीर की प्रशंसा करने-वाले नहीं हैं, वास्तव में तो वासना, कषाय और अहंकार को क्षीण करना चाहिए। जिसकी वासना कृश हो गई हम उसकी ही प्रशंसा करेंगे।

तप की मर्यादा

इसका अर्थ है बाह्यतप– अनशन,कायक्लेश आदि का अंधानुकरण करना जैनधर्म सम्मत नहीं है। वह तो हर स्थिति में समन्वयवादी, संतुलनवादी दृष्टि देता है। बाह्य तप पर एकांत भार नहीं देता, किंतु संतुलित आचार का ही समर्थन करता है। आचार्य जिनसेन का भी कितना स्पष्ट चिंतन है—

न केवलमयं कायः कर्शनीयो मुमुक्षुभिः।
नाप्युत्कटरसैः पोष्यो मृष्टैरिष्टैश्च वल्भनैः।५।

—मुमुक्षु साधकों को यह शरीर न तो केवल कृश एवं क्षीण ही करना चाहिए और न रसीले एवं मधुर मन चाहे भोजनों से इसे पुष्ट ही करना चाहिए।

दोष निर्हरणायेष्टा उपवासाद्युपक्रमाः।
प्राण संधारणायायम् आहारः सूत्रदर्शितः।७।[2]

दोषों को दूर करने के लिए उपवास आदि का उपक्रम है और संयम साधना हित प्राण धारण करने के लिए आहार का ग्रहण है—यह जैन सिद्धान्त सम्मत साधना सूत्र है।

यह एक बड़ी महत्व की बात है कि जिस तप के सम्बन्ध में, और जिस

---

१ निशीथभाष्य ३७५८
२ महापुराण, पर्व २०

तप की महिमा में जैन धर्म में हजारों पृष्ठ लिखे गये हैं, हजारों गाथाएँ गाई गई हैं उस तप के सम्बन्ध में भी जैनधर्म हठवादी नहीं है। किन्तु समन्वय-वादी है, उस तप की भी उपयोगिता देखकर ही वह चलता है, तप करने की भी सीमा और मर्यादा को मानता है। यह नहीं कि मन संक्लेश से भरा रहे, भूख-प्यास से चित्त आकुल होता रहे, देह-दमन से समस्त क्रियाएं एवं विधियां विश्रृंखल हो जाय और फिर भी वह आग्रह लिए बैठा रहे कि नहीं तप करते जाओ, प्राण निकले तो भले ही निकल जाय, मन चाहे जैसा संत्रास पाये पर तप करते जाओ! ऐसा आग्रह जैन धर्म में नहीं है। वह कहता है—अमृत पीओ, किंतु वह भी मर्यादा के साथ! तप करो, किंतु उसकी भी मर्यादा है, सीमा है। सीमा को समझकर तप करो। भगवान महावीर ने कहा है—

> बलं थामं च पेहाए सद्धामारोग्गमप्पणो।
> खेत्तं कालं च विन्नाय तहप्पाणं निजुंजए।[1]

अपना शरीर बल, मन की दृढ़ता, श्रद्धा, आरोग्य तथा क्षेत्रकाल आदि का पूर्ण विचार करके ही तपश्चर्या में लगना चाहिए। आप कहेंगे—क्या तप में भी कोई सीमा होती है? जितना तप किया जाय उतना ही अच्छा है। हां, बात तो यह ठीक है कि तप जितना भी किया जाय करना चाहिए, किन्तु यदि तप करते समय मन में संक्लेश पैदा हो, आकुलता और क्षुब्धता पैदा हो तो फिर उस तप में समाधि कैसे रहेगी। सोना सभी पहनते हैं, पर उतना सोना पहनना क्या काम का जिससे शरीर ही टूटने लगे—

> वह सोना क्या कामका जिससे टूटे अंग।
> 'मिश्री' तप वह क्यों करे जाहि समाधि भंग।

जिस सोने से शरीर टूटे, जिस तप से समाधि भंग हो, वह सोना और वह तप क्या काम का?

आपको पता है, भगवान ऋषभदेव के समय में उत्कृष्ट तप बारह

---

१ दशवैकालिक ८।३५

मास का माना है, मध्य के बाईस तीर्थंकरों के समय में आठ मास का औ भगवान महावीर के समय में छह मास का ![1] इसका क्या कारण है ? क्य भगवान महावीर में छह मास से अधिक तप करने की क्षमता नहीं थी ? वे त अनन्तबली थे। और फिर भगवान ऋषभदेव और भगवान महावीर क आत्मशक्ति में कोई अन्तर नहीं था। तब क्यों यह अन्तर दिखाया गया कि एक तीर्थंकर के समय में बारह मास का तप (उत्कृष्ट) विहित है तो दूस तीर्थङ्कर के समय में छह मास का ! भगवान महावीर स्वयं भी इस सीम से आगे क्यों नहीं बढ़े ?

इसका कारण और कुछ नहीं, किंतु यही था कि उस काल की शरी स्थिति में अन्तर आ गया था। ऋषभदेव युग के साधक के लिए एक व का तप सहज था, वह अतिभार नहीं था, जबकि भगवान महावीर के यु के साधकों के लिए छह मास तक का तप ही शरीर-स्थिति के अनुकू समझा गया। उससे अधिक लम्बा तप करने पर शरीर पर अतिभार पड़त और उससे इन्द्रिय शक्ति अधिक क्षीण होकर संमयाराधना में भी कठिना आने लगती, इसी कारण यह एक तप की सीमा बताई गई है। यदि किस साधक को दो चार दिन का उपवास करने पर भी अधिक संक्लेश होता ह तो शास्त्र में कहा है---वह उपवास न करके तप के अन्य मार्ग की आराधन करें। क्योंकि तन की तपस्या उपवास है और मन की तपस्या समाधि यदि समाधि भंग होती हो तो फिर तप-समाधि नहीं हो सकती; अतः व तप का मार्ग बदल दें, ध्यान, स्वाध्याय, विनय सेवा आदि के मार्ग प बढ़ें किन्तु मन को क्षुब्ध न बनाएं।

इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने अनशन आदि तप की श्रेष्ठता का माप यंत्र भी यही बताया है कि जिस तप के साथ ताप (उत्ताप-संक्लेश) द अनुभव न हो, तप करते समय यदि मन में ताप होता है, संताप परित बढ़ता है तो उससे तो अच्छा है कि तप न किया जाय। आचार्य यशोविज जी ने अपने तपोष्टक ग्रन्थ में कहा है---

---

1 व्यवहार भाष्य उ० १

तदेव हि तपः कार्यं दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत् ।
येन योगा न हीयन्ते क्षीयन्ते नेन्द्रियणि च ।

वही तप करना चाहिए जिससे कि मन में दुर्ध्यान न हों योगों की हानि न हों और इन्द्रियां क्षीण न हों ।

एक प्राचीन आचार्य का कथन है—

सो नाम अणसण तवो जेण मणोमंगुलं न चिंतेइ ।
जेण न इंदियहाणी जेण य जोगा न हायंति ।

वही अनशन आदि तप श्रेष्ठ है, जिससे कि मन अमंगल न सोचे, इन्द्रियों की हानि न हो और नित्यप्रति की योग—धार्मिकक्रियाओं में विघ्न न आये ।

तो यह तपःविवेक ही जैन धर्म की तपमर्यादा है । तप का संतुलित दृष्टिकोण है । इस दृष्टि का विवेक रखकर ही साधक अपनी शक्ति और रुचि के अनुसार कभी बाह्य तप का आचरण करता है और कभी आभ्यन्तर तप का । वैसे यह भी माना गया है कि बाह्य तप की दृष्टि आभ्यन्तर तप की ओर रहनी चाहिए ।

बाह्य तप के छह भेद

शास्त्र में तप के दो भेद करके प्रत्येक तप के छह-छह भेद बताये गये हैं । बाह्य तप के छह भेद हैं और उसके अन्तर्भेद भी अनेक है । अन्तर्भेदों का वर्णन पढ़ने से लगता है यह तप सिर्फ बाह्य तप ही नहीं, आभ्यन्तर तप तक भी पहुंच गया है । उसके छह भेद ये हैं—

अणसणमूणोयरिया भिक्खायरिया य रस परिच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया य, वज्झो तवो होई ।[1]

(१) **अनशन**—आहार त्याग

(२) **ऊनोदरी**—आहार आदि की कमी ।

(३) **भिक्षाचरी**—अभिग्रह आदि के साथ विधिपूर्वक भिक्षा ग्रहण करना ।

---

१ उत्तराध्ययन ३०।८

तप के अनेक रूप

तप के उक्त बारह भेदों पर जैन आचार्यों ने बहुत ही विस्तार के साथ चिंतन किया है, मनन किया है, और तर्क, युक्ति एवं व्यवहारोपयोगी साहित्य का निर्माण किया है। यह कहा जा सकता है कि तप के विषय में जितना चिंतन जैन धर्म ने प्रस्तुत किया है, उतना शायद किसी अन्य धर्म ने नहीं किया। इतना गहरा विश्लेषण किसी भी धर्म में प्राप्त नहीं होता। तप के उक्त भेदों के अलावा अलग-अलग दृष्टियों से, कारणों से तप के अलग-अलग नाम व परिभाषाएँ भी की गई हैं। कुछ यहां बताई जाती है।

सराग तप—किसी भौतिक आकांक्षा या प्रतिष्ठा, कीर्ति, लब्धि तथा स्वर्ग आदि की भावना से तप करना सराग तप है।

वीतराग तप—आत्मा को कर्म बन्धनों से मुक्त होने के लिए कषाय रहित दृष्टि से जो तप किया जाता है वह वीतराग तप है। सराग तप निम्न कोटि का है, अल्पफलदायी है, वीतराग तप उत्कृष्ट कोटि का उत्तम फल देने वाला है।[1]

बाल तप—आत्म ज्ञान के अभाव में जो तप किया जाता हैं वह बाल तप कहा जाता है, इसे **अज्ञान तप** भी कहा गया है। आचार्य भद्रबाहु ने कषायों की उत्कटता के साथ जो तप किया जाता है उसे भी बाल तप ही है। कहा है—

> **जस्स वि दुप्पणिहिआ होंति कसाया तवं चरंतस्स।**
> **सो बालतवस्सी वि व गयण्हाण परिस्समं कुणइ।**[2]

जिस तपस्वी ने अपने कषायों को क्षीण नहीं किया, कषाय आदि पर काबू नहीं पाया वह बाल तपस्वी हैं, वह चाहे जितना तप करें, उसका सब श्रम केवल कष्ट रूप है, जैसे हाथी स्नान कर के फिर सूंड से मिट्टी उछाल कर शरीर को मैला कर लेता है, उसका स्नान करना व्यर्थ है, वैसे ही उस बाल तपस्वी का सब तप व्यर्थ है।

---

१ निशीथ भाष्य, गाथा ३३३२

२ दशवैकालिक निर्युक्ति ३००

"जैन धर्म में बाल तप को बहुत ही निम्नस्तर का माना है, एक अ

क्षण भर का सज्ञान तप तथा एक और करोड़ों वर्ष का अज्ञान तप—बा

तप ? दोनों की तुलना में ज्ञानी का क्षण भर का सज्ञान तप श्रेष्ठ है, व

एक सांस भर समय में जितने कर्म खपा सकता है अज्ञानी करोड़ों जन्मों ं

उतने कर्म नहीं खपा सकता।[1]

अकाम तप—जो तप की इच्छा किये विना ही परवशता आदि के कारण भूखा रहता है, धूप आदि में कष्ट सहता है, यह सब अकाम तप है। वास्तव में यह तप है ही नहीं, एक प्रकार की विवशता है, किन्तु भूख एवं काय-कष्ट को माने तो उसे अकाम तप कह सकते हैं।

इस तरह अनेक दृष्टियों से, कारणों से जो शारीरिक कष्ट किये जाते हैं उन्हें उस भावना के साथ जोड़ने से उसी प्रकार का तप हो जाता है। किन्तु उक्त सब तपों में सज्ञान तप, तथा वीतराग तप यही तप श्रेष्ठ है!

बौद्ध परम्परा में तप

जैन ग्रन्थों में तप का जितना भी वर्णन है वह प्रायः तप के बारह भेदों में ही समाविष्ट हो जाता हैं। अन्य धर्मों में भी तप की महिमा खूब गाई है, तप की परम्परा भी रही है, किन्तु वहां तप की कोई व्यवस्थित विधि या मर्यादा, नियम आदि का कोई वर्णन प्राप्त नहीं होता। बौद्ध श्रमण भी तप करते थे। बुद्ध के कुछ समय पश्चात् तो तप का काफी जोर बौद्ध श्रमणों में वढ़ा है, उन्हें 'धुतांग तपस्वी' कहा जाता था। स्वयं बुद्ध ने अपने पूर्व साधक जीवन में कठोर तप का आचरण किया था—ऐसा उन्होंने स्वीकार किया है। वह तप जैन तपःसाधना से काफी मिलता-जुलता है। किन्तु उसके पश्चात् बुद्ध ने तप को उतना महत्व नहीं दिया, और न कोई विशेष उपदेश भी इस सम्बन्ध में दिया। साधारणतः वहां तप की श्रेष्ठता एवं निकृष्टता पर विचार किया गया है। इसी दृष्टि से बुद्ध ने चार प्रकार के तप करने वाले वताये है—

---

१ प्रवचनसार ३।३८

(१) आत्मन्तप—कुछ साधक अपने शरीर आदि को कठोर तपश्चर्या के द्वारा सुखा डालते हैं, उसे कष्ट देते हैं, किन्तु दूसरों को कुछ भी पीड़ा नहीं पहुंचाते।

(२) परंन्तप—कुछ व्यक्ति दूसरों को ही कष्ट देते है. स्वयं सदा सुख सुविधा में रहना पसंद करते हैं।

(३) आत्मन्तप-परंतप—कुछ व्यक्ति स्वयं भी धार्मिक अनुष्ठान आदि करके कष्ट उठाते हैं, और दूसरों को भी कष्ट पहुंचाते हैं।

(४) न आत्मन्तप न परंतप—जो लोग न तो स्वयं कष्ट करते हैं और न दूसरों को ही कुछ कष्ट देते हैं।

बुद्ध ने इन चार भेदों में चौथा भेद श्रेष्ठ बताया है। वे अपने अनुयायियों (श्रावकों) से कहते हैं—तुम न स्वयं कष्ट उठाओ और न औरों को कष्ट व पीड़ा दो।[१]

यद्यपि जैन परम्परा में इस प्रकार के तप का कोई खास महत्व नहीं है। वहां तो पहला भेद ही मुख्य रूप से स्वीकार्य है, कि स्वयं को चाहे जितना कष्ट उठाना पड़े, तपस्या करनी पड़े किन्तु दूसरों को बिलकुल ही पीड़ा मत दो। स्वयं कष्ट उठाने से दूसरे का लाभ होता हो तो और भी श्रेष्ठ। चौथा भेद तो एक प्रकार की अकर्मण्यता ही है—न स्वयं कष्ट झेले, न दूसरों को कष्ट दें। दूसरा-तीसरा भेद जैन दृष्टि में सर्वथा त्याज्य है। ऐसे व्यक्ति तपस्वी तो क्या साधारण योग्य नागरिक भी नहीं माने जा सकते।

आजीविकों के चार तप

भगवान महावीर के समय में गोशालक के आजीविक संप्रदाय का भी काफी बल बढ़ गया था। उसके सिद्धान्त प्राय: भगवान महावीर के सिद्धान्तों की नकल मात्र ही थे, हां उनमें कुछ सरलता और लोकों का मनोरंजन हो ऐसी बातें और जोड़ दी गई थी। (तप पर गोशालक का काफी बल था,

---

१ मज्झिम निकाय, कन्दरक सुत्त। भगवान् बुद्ध पृ० २२०

स्वयं उसने भगवान महावीर के साथ रहकर कई प्रकार की तपस्याएं की थी, देखी भी थी, और लोगों पर प्रभाव डालने का एक अचूक साधन तप को वह मानता था। गोशालक के संप्रदाय में तप की क्या परम्परा थी इसका कोई विशेष वर्णन नहीं मिलता। स्थानांग सूत्र में एक स्थान पर आजीविकों का चार प्रकार का तप बताया है—

> **आजीवियाणं चउव्विहे तवे पण्णत्ते[1]—**
> **उग्गतवे, घोरतवे, रसनिज्जूहणया**
> **जिब्भिंदिय पडिसंलीणया।**

आजीविकों का तप चार प्रकार का है—

(१) **उग्रतप**—जो आचरण में कठिन हो।

(२) **घोरतप**—जो दीखने में बड़ा कठोर हो।

(३) **रसनिर्यूहण**—स्वादिष्ट वस्तु न लेना।

(४) **जिह्वेन्द्रिय प्रति-संलीनता**—रसना इन्द्रिय के विषयों का संकोच करना।

गीता में तप का स्वरूप

वैदिक साहित्य में भी तप के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा गया है। मूलतः वेदों में तप का जो उल्लेख है, वह शायद आज के प्रचलित तप-(तपस्या) के अर्थ में कम है, किंतु तेजस् के अर्थ में अधिक है। वहां तपस् को एक दाहक-आग्नेय तत्व माना हैं जो अनिष्टों को, दुष्टों को और कष्टों को भस्मसात् करने की अपूर्व शक्ति है। इसके बाद उपनिषद् साहित्य में तप के विषय में काफी चिंतन किया गया है और उस पर जैन चिंतन की गहरी छाप भी है। वहां तप को साधना के रूप में ग्रहण किया है। कहा गया है—**तपसा चीयते ब्रह्म[2]**—तप से परमात्म स्वरूप (ब्रह्म) की खोज की जा सकती है और तप से ही आत्म स्वरूप—जो शुद्ध ज्योतिर्मय है उसकी

---

१ स्थानांग सूत्र ४।२

२ मुण्डक उपनिषद् १।१।८

ज्ञप्ति (जानकारी) एवं प्राप्ति की जा सकती है—**सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा**[1]—सत्य एवं तपस्या के द्वारा ही आत्मा को प्राप्त किया जा सकता है !| योगदर्शनकार आचार्य पंतजलि ने भी तप का वर्णन किया है, आत्म शुद्धि के साथ-साथ शरीरशुद्धि के लिए भी उन्होंने तप की महत्ता स्वीकार की है—**कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धि क्षयात्तपसः**[2]—तपः साधना के द्वारा अशुद्धि दोष का क्षय होने से शरीर एवं इन्द्रियों की शुद्धि होती है।

गीता में भी तप के सम्बन्ध में कई दृष्टियों से विचार किया गया है। तप के स्वरूप और उसके उद्देश्य को ध्यान में रखकर गीता में तप के तीन-तीन भेद बताए गए हैं ! प्रथम स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा गया है—

देवद्विज-गुरु प्राज्ञ पूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।।१४।।
अनुद्वेग करं वाक्यं सत्यं प्रिय हितं च तत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।।१५।।
मनः प्रसाद सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भाव संशुद्धिरित्येतत् तपो मानस मुच्यते ।।१६।।

तप के तीन प्रकार हैं—

शारीरिक तप
वाचिक तप
मानसिक तप

१—देवता, ब्राह्मण, गुरुजन एवं ज्ञानी जनों का आदर सत्कार करना, उनकी सेवा करना, शौच—शरीर एवं आचरण को पवित्र रखना, सरल व्यवहार करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना तथा किसी जीव को कष्ट नहीं देना—**शारीरिक तप है ।**

---

१ मुण्डक उपनिषद् ३।१।८

२ योगदर्शन, साधनापाद ४३

३ श्रीमद्भगवद् गीता, अध्याय १७ ।

२—दूसरों को उद्विग्न--कष्ट न देने वाला, शांति कारक, सत्य, प्रिय हितकर वचन बोलना, सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय (अनुचिंतन) एवं अध्ययन करना—यह **वाचिक (वचन का) तप** है।

३—मन को प्रसन्न रखना, शांत भाव, मौन, मनोनिग्रह और मन को शुद्ध-पवित्र रखना—यह **मानसिक तप** है।

तप के ये तीन स्वरूप बताकर फिर तीनों ही तप की शुद्धता, ध्येय की पवित्रता एवं आचरण की निष्कपटता पर भी विचार किया गया है।

गीताकार ने बताया है—उपर्युक्त तीनों प्रकार का तप यदि निष्काम-वृत्ति—फल की आकांक्षा से रहित होकर दृढ़ श्रद्धा के साथ किया जाता है तो वह तप **सात्विक तप** है, अर्थात् प्रथम श्रेणी का तप है। यदि वह तप सत्कार, सम्मान एवं लोकों में पूजा प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए किया जाय – तो फिर उसकी उदात्तता एवं पवित्रता में कमी आ जाने से यह तप **'राजस'** श्रेणी में आ जाता है, क्योंकि इस प्रकार के तप में आत्म-शोधन एवं ईश्वर-आराधना की प्रवृत्ति नहीं रहती किन्तु, दिखावा, प्रदर्शन और यश की भूख ही प्रबल रहती है। फिर भी यह तप गीता की दृष्टि में द्वितीय श्रेणी का है, जब कि जैन दर्शन में इस प्रकार के तप का सर्वथा ही निषेध किया गया है।

गीता की दृष्टि से तीसरी श्रेणी का तप तो बिल्कुल निम्नस्तर का ही है—

मूढाग्रहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ।१७।[1]

जिस तप में मूढता, दुराग्रह की भावना छिपी हो, जिद्द पर चढ़ कर ही शरीर को कष्ट दिया जाता हो, अथवा दूसरे का अनिष्ट करने की भावना से जो तप किया जाता हो, वह **'तामस तप'** कहलाता है। यह तप आत्म-शुद्धि की दृष्टि से तो हेय है ही, किन्तु नैतिक दृष्टि से भी त्याज्य है।

१ श्रीमद् भगवद् गीता, अध्याय १७

क्योंकि तप में दूसरे को पीड़ा देने की भावना तो होना ही नहीं चाहिए, हां यदि दूसरे के लाभ के लिए, हित के लिए स्वयं को कष्ट उठाना पड़े तो उस स्थिति में भी साधक सहर्ष स्व-पीड़ा भोगने को तैयार होता है।

इस प्रकार गीता में तप के स्वरूप और ध्येय की दृष्टि से कुछ विचार किया गया है। किन्तु तप के समस्त अंगों पर जितनी गहराई से और वैज्ञानिक वर्गीकरण करके जैन धर्म में विचार किया गया है, उतना विचार, चिन्तन और अनुसंधान तप के विषय में कहीं भी प्राप्त नहीं होता।

जैन धर्म में आत्म-विकास में सहायक प्रत्येक क्रिया पर तप की दृष्टि से विचार किया गया है। यहां तक कि दोष विशुद्धि के लिए जो प्रायश्चित किया जाता है उसे भी आभ्यन्तर तप में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। जबकि वैदिक आचार्यों—खासकर गीताकार ने उसे शरणागति मामेकं शरणं व्रज—प्रभु की शरण में आ जाने से शुद्धि हो जाती है मानकर ही विश्राम ले लिया। किंतु जैन धर्म ने जीवन की उस सरलता एवं निष्कपटता को तप माना है।

जैन धर्म सम्मत तप के समस्त अंगों पर अब विस्तार के साथ अगले खण्ड में विचार किया जायेगा।

●●

तपस्वियों की अमर परम्परा

जैन परम्परा में तप का सिर्फ सैद्धान्तिक महत्व ही नहीं रहा है, किन्तु आचरण में भी उसका अपार महत्व रहा है। जैसे दूध के कण-कण में घृत रमा हुआ है, फूलों की कली-कली में सौरभ बसा हुआ है और ईख के पोरे-पोरे में माधुर्य छलकता रहता है वैसे ही जैन साधकों के जीवन के प्रत्येक कण में, प्रत्येक रूप में तप समाया हुआ है। उनका हर व्यवहार तपोमय होता है, वहाँ तप जीवन की रसायन के रूप में प्रयुक्त होता रहा है। एक से एक बढ़कर तपस्वी, ध्यानी, मौनी वहां हुए हैं जिनका जीवन मोदक की तरह तप का परिपूर्ण माधुर्य लिए हुए है। देखिए—

प्रथम जिनेन्द्र तप धारयो एक अब्द अहा,
बाहुबली ताहि भांति ग्रही तप तेग को।
त्रिशला सपूत, तप कीनो तो अभूत जग
धन्ना नंदीषेण अरु देखो मुनि मेघ को।
चन्दना रु काली राणी दस को बयान पढ़ो,
विचित्र तपस्या तपी वरी शिव वेग को।

भूधर रघुनाथ जयमल भोपत सी
बेनीदास आदि 'मिश्री' पीनो तप पेग को ।

भगवान ऋषभदेव से गौतम

जैन धर्म के आदि तीर्थंकर भगवन ऋषभनाथ एक वर्ष तक कठोर तप करते रहे, भूख-प्यास के भयंकर कष्टों को हँसते-हँसते सहते रहे और जनपद में घूमते रहे। बाहुबली एक वर्ष तक जंगल में खड़े रहे, न खाना-न पीना, न सोना न बैठना ! वृक्ष की भांति अचल ध्यान मुद्रा में खड़े हुए तो पूरा वर्ष ही बीत गया, खड़े ही रहे, पक्षियो ने शिर पर घोंसले डाल लिए, लताएँ वृक्ष की तरह शरीर पर लिपट गई फिर भी वे तप करते रहे।

भगवान महावीर का तप तो आज भी लोमहर्षक सत्य है। कितने भयंकर कष्ट ! उपसर्ग ! कितनी लंबी-लंबी तपस्याएँ। आचार्य भद्रबाहु ने कहा है—२३ तीर्थंकरों के कष्ट-उपसर्ग एक ओर भगवान महावीर का तप एक ओर ! कितना दुर्धर्ष तप था उनका। सिंहों की दहाड़ ! दैत्यों के अट्टहास, तूफानों की झंझावात ! फिर भी कभी क्षुब्ध नहीं हुए, मन चंचल नहीं हुआ ! साढ़े बारह वर्ष के साधना काल में सिर्फ ३४९ दिन पारणा भोजन ग्रहण किया बाकी लगभग साढ़े ग्यारह वर्ष तक तपस्या ! उपवास आदि में लीन रहे।[1] धन्ना अणगार की तपस्या को देखकर तो स्वयं भगवान महावीर ने राजा श्रेणिक से कहा—

इमेसिं चोद्दसण्हं समणसाहस्सीणं धन्ने अणगारे महादुक्करकारए चेव।[2]

इन चौदह हजार श्रमणों में धन्ना अणगार महान दुष्कर और उग्रतप करने वाला है। तप करते-करते उसका शरीर एकदम जर्जर लकड़ियों की भांति सूखा रक्त-मांस रहित हो गया। जिसे देखकर श्रेणिक ने भी दाँतों तले अँगुली दबाली।

इसीप्रकार नंदीषेण, स्कन्दक, गणधर गौतम, जैसे अनेक उग्रपतस्वी प्राचीन परम्परा में होगए जिनके तपस्तेज से आज भी इतिहास जगमगा रहा है।

---

१ आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ५३४
२ अनुत्तरौपपातिक सूत्र ३।३९

तपस्विनी श्रमणियाँ

जैन परम्परा में सिर्फ श्रमण ही नहीं, किन्तु श्रमणियाँ भी तपःसाधना मेंप्रतिस्पर्धा के साथ आगे बढ़ती रही हैं। काली, महाकाली,रामकृष्णा आदि महाराज श्रेणिक की दस रानियों की तपस्याओं का वर्णन अंतगड़ सूत्र में आता है, जिसे पढ़ते-पढ़ते रोमांच होने लगता है—कि एक सुकुमाल नारी जो किसी प्रतापी सम्राट की महिषी रही होगी, फूलों की शय्या में सोती रही होगी, मन चाहे मधुर मिष्ठानों से जिसकी मनुहारें होती होंगी वह नारी जब साध्वी जीवन में आती है तो इतना उग्र तप करना शुरु कर देती है कि जिसे सुन कर बड़े-बड़े योद्धाओं के दिल कांपने लग जाते हैं। चंदना, मृगावती आदि साध्वियों के तपोमय जीवन की घटनाएं तो अभी ढाई हजार वर्ष पुरानी भी नहीं हुई हैं।

और इस मध्यकाल में भी कितने महान श्रमण तपस्वी हुए हैं क्या उनका अमर इतिहास इन कागजों पर कभी उतरा है? शायद बहुत कम! सौ में एकाधा ही, सैकड़ों-हजारो तपस्वियों ने अपनी तपःअग्नि की आहुतियाँ देकर जैन धर्म के तेज को, गौरव को सदा दीप्त किया है, करते रहे हैं।

अर्वाचीन युग में

मध्यकाल में भी अनेक महान तपस्वी, योगी हुए हैं जिनके उग्र तप की भारत के सुदूर प्रांतों तक में बहुत चर्चा थी। दुर्बलिका पुष्यमित्र, पादलिप्त सूरि तथा अन्य अनेक तपः साधकों के नाम लिये जा सकते हैं।

अभी दो सौ-तीन सौ पूर्व भी हमारे समक्ष ऐसे महान तपस्वी आए हैं— आचार्य भूधरदास जी, आचार्य रघुनाथ जी, पूज्य जयमल्ल जी, तपसी भोपत जी, तपस्वी श्री वेणीदास जी म० आदि। उनके तपोमय जीवन की घटनाएँ भी बड़ी प्रेरक रही हैं।

स्थानकवासी परम्परा के पूर्व पुरुष आचार्य भूधरदास जी म० स्वयं एक महान तपस्वी थे। तपस्या के विविध अंगों की उन्होंने कठोर आराधना की थी।

महान तपोधन आचार्य श्री रघुनाथ जी

हमारे प्रातःस्मरणीय आचार्य श्री रघुनाथ जी महाराज का अमर नाम

आज भी स्थानकवासी व तेरापंथी संप्रदायों के लिए स्मरणीय है। वे एक महान श्रुतधर विद्वान आचार्य तो थे ही, किन्तु इससे भी अधिक वे क्रियानिष्ठ एक महान तपोधन थे। उनके रोमांचक तप का वर्णन सुनते हुए आज भी हम आश्चर्य-चकित से रह जाते हैं।

चार विगे टाली चतुर दीक्षा दिन थी जाण।

पांच-पांच लग पारणो अभिग्रह धार्यो आन।

जिस दिन दीक्षा ग्रहण की उसी दिन से जीवन भर के लिए चार विगय का त्याग कर दिया था और पंचोले-पंचोले—अर्थात् पांच-पांच दिन के उपवास प्रारंभ कर दिये थे। आपको आश्चर्य होगा पांच-पाच का उपवास तो उनके जीवन भर का साधारण नियम बन गया था। पांच दिन के बाद एक दिन भोजन करना उसमें भी चार विगय का त्याग और फिर पांच दिन का उपवास। किन्तु उनके तप की सीमा इतनी ही नहीं थी। इस क्रम के बीच अनेक मासखमण, चोमासी, पंचमासी तप भी किये—

पांच मास पाली में कीना, मेड़ते चार रसाल।

चार मास उज्जैन पचखिया, चार जोधाणे रसाल।

तीन मास इग्यारा आदर्या, दोय मास सप्त धार।

मासी तप इकवीस अन्दाता, पक्ष पांच ही लार।

कैसो तप तपियो पूज्य दयाल सुनता आनन्द आवै॥

यह है महामहिम आचार्य श्री के तप का संक्षिप्त वर्णन—

पांच मासी तप—१, चार मासी तप—३ तीन मासी तप—११

दो मासी तप—७ मासखमण तप—२१ पन्द्रह दिन का तप ५

तथा अन्य फुटकर तप अनेक प्रकार का भी करते रहे। आचार्य भद्रबाहु ने बताया है—भगवान महावीर ने साढ़े बारह वर्ष के साधना काल में उग्र· अद्वितीय तप का आचरण किया, साढ़े बारह वर्ष में कुल ३४९ दिन ही आहार ग्रहण किया। किन्तु आप चकित होकर देखेंगे कि आचार्य श्री रघुनाथ जी महाराज ने अपने आराध्यदेव के इस आदर्श को और भी अधिक निष्ठा के साथ अपनाया। अपने साधनामय जीवन के ६० वर्षों

में उन्होंने सिर्फ ६७५ दिन ही आहार किया। अर्थात् ६० वर्ष में तीन वर्ष से भी कम आहार का समय रहा, बीस वर्ष में १ वर्ष से भी कम (१० मास २० दिन) ही सिर्फ आहार ग्रहण किया। कितना महान व दुर्धर्ष तप था उनका !

आचार्य रघुनाथ जी म० के गुरु भाई पूज्य जयमल्ल जी म० भी एक महान तपस्वी साधक थे। वे सोलह वर्ष तक निरंतर एकांतर तप करते रहे। उनके जीवन में एक और महान संकल्प था जो बड़ा उग्र तपश्चरण कहा जा सकता है। जब (संवत् १८०४) श्रद्धेय गुरुवर श्री भूधर जी म० का स्वर्गवास हो गया था तो आपने एक वज्रसंकल्प लिया कि—'आज से आजीवन सोकर नींद नहीं लूंगा।" आप इस तप की कठोरता अनुभव कर सकते हैं कि मनुष्य एक दिन भी यदि आराम से नहीं सोने पाये तो शरीर पर आलस छा जाता है, काम करने का मन नहीं होता, हाथ-पांव टूटते से लगते हैं, जिसमें एक दो वर्ष नहीं, लगभग पचास वर्ष तक, बुढ़ापे में भी कभी सोकर नींद नहीं ली।

भोपत जी तपसी, श्री वेणीदास जी म०, वेणीचन्द जी म० आदि अनेक तपस्वियों की उज्ज्वल परम्परा आज भी हमारे समक्ष है जो जैन धर्म में तप के महत्व को उजागर कर रही है।

यह बात नहीं है कि सिर्फ स्थानकवासी परम्परा में ही महान तपस्वी हुए हैं—श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज में भी अनेक आचार्य, साधु-साध्वियां सुदीर्घ तप करने वाले हुए हैं, तेरापंथी समाज में भी अनेक साधु साध्वियां तथा श्रावक-श्राविकाओं के सुदीर्घ तप की बातें हम सुनते आये हैं। ये सभी तपस्वी जैन धर्म के गौरव को, तप की महिमा को बढ़ाने वाले हैं और जैन धर्म की तप परम्परा की आदरणीय, प्रशंसनीय कड़ियाँ रहीं है। वर्तमान में भी सभी परम्पराओं में ऐसे तपस्वी संत, सतियां, गृहस्थ हैं जो आज के भौतिकवादी युग में सचमुच में अध्यात्म युग का चमत्कार दिखा रहे हैं।

●●

बाह्य-तप का स्वरूप :

●●

अनशन तप

अशन और अनशन

जैन आगमों में स्वरूप की दृष्टि से तप का वर्गीकरण करके उसके बारह भेद बताये गये हैं, जिनमें छह आभ्यन्तर तप के और छह बाह्य तप के भेद हैं। बाह्य तप में सर्वप्रथम अनशन तप माना गया है। अनशन का अर्थ है- उपवास ! निराहार ! अशन कहते हैं—आहार को ! भोजन को ! भोजन का त्याग करना अनशन है। अनशन का महत्व और स्वरूप समझने के पहले अशन—आहार के सम्बन्ध में कुछ बातें जान लेनी आवश्यक है।

विकराल भूख

जब पेट में भूख लगती है तो भोजन की इच्छा जागृत होती है। जब तक भोजन नहीं मिलता मारे भूख के प्राणी तड़फने लगता है। उसके हाथ पैर सत्वहीन हो जाते हैं। इसलिए भूख को सबसे बड़ी वेदना माना गया है—**खुहा समा वेयणा नत्थि**—बुद्ध ने तो कहा है—**जिघच्छा परमारोगा**[1]—

---

१ धम्मपद १५।७।

भूख ही सबसे बड़ा रोग है। पेट जब तक खाली रहता है, कोई काम सूझता नहीं। जैसे तेल के विना दीपक टिमटिमाने लगता है, पानी के विना मछली तड़फड़ाने लगती है, भोजन के विना मनुष्य भी इसी प्रकार आकुल-व्याकुल हो उठता है, भूख से व्याकुल होकर ही किसी ने कहा था—

बुभुक्षितः किं न करोति पापं

—भूखा क्या पाप नहीं कर लेता। सन् १९४५ में जब बंगाल में भयंकर दुष्काल पड़ा था तब भूख से व्याकुल हुई एक माता अपने बच्चे को भी पकाकर खा गई थी। मनुस्मृति में एक स्थान पर बताया है—"अजीगर्त नाम के ऋषि ने भूख से व्याकुल होकर अपने प्यारे पुत्र शुनःशेप को यज्ञ में होम देने के लिए बेच डाला था।"[1] विश्वामित्र[2] जैसे ऋषि भी क्षुधा पीड़ित होकर चंडाल के हाथ से लेकर कुत्ते की जांघ का मांस खाने को तैयार हो गए।" इन उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होती है कि भूखा क्या नहीं करता? संस्कृत के एक कवि ने कहा है—

अस्य दग्धोदरस्यार्थे किं न कुर्वन्ति मानवाः।
वानरीमिव वाग्देवीं नर्तयन्ति गृहे-गृहे।

इस पापी पेट को भरने के लिए मनुष्य कौन-सा पाप नहीं कर लेता? सरस्वती जैसी पवित्र वाग्देवी को भी वानरी की तरह घर-घर में हर किसी के सामने नचाने लगता है। कवि ने कहा है—

कथन कला वोह कूर, किता मुख होय कवीश्वर,
सुत दासी नो सोय, न्याय सुध होय नरेश्वर।
कायर ने सूरा कहै, कहै सूम नैं दाता,
नरां घणां री नार कहै आ लिछमी माता।
जाचवा काज जिण-जिण विधे हुलस हाथ हैठे धरे।
दुभर पेट भरवा भणी करम एह मानव करे।

---

१ मनुस्मृति १०।१०५
२ मनुस्मृति १०।१०८

तो ऐसे अपवित्र कर्म, पाप और निकृष्ट आचरण मनुष्य पेट के लिए करता है। अर्थात् भूख से व्याकुल होकर जो चाहे सो पाप करने को तैयार हो जाता है। जब तक पेट में भूख रहती है, भगवान याद नहीं आते—"भूखे भजन न होय गोपाला।"

अन्न का महत्व

इस दुभर पेट को भरने का, भूख को मिटाने का साधन है रोटी! अन्न! कहावत है—"भूखे पेट को क्या चाहिए? दो रोटी!" अन्न का पुजारी पुकारता है—"**सारी बात खोटी एक सिरे दाल रोटी है।**" जब तक शरीर है तब तक भूख है,[1] और भूख मिटाने के लिए अन्न है। अतः शरीर-धारण के लिए अन्न सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है? इसीलिए वैदिक ऋषियों ने अन्न को प्राण कहा है—**अन्नं वै प्राणाः**[2]—अन्न ही प्राण है। उपनिषद् के अध्यात्मज्ञानी ऋषिजनों ने भी अन्न की महिमा गाते हुए कहा है—**अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते**[3]—अन्न से ही सब प्राणों की महिमा स्थिर रहती है। अन्न न हो, तो हीरे जवाहर मोती माणक क्या काम के? कहा जाता है कि एक धनाढ्य सेठ एक बार अपने घर में सोया था। पहरेदार बाहर से घर बंद करके कहीं चला गया। सेठ भीतर ही बंद रह गया। उसे भूख लगी तो भंडार खोले, मगर अन्न का दाना वहां नहीं मिला। हीरे मोती से तिजोरियां भरी थी, किंतु अन्न के बिना उनका क्या करता? पहरेदार आया नहीं, भूख-प्यास से तिलमिलाता सेठ भीतर ही भीतर दम तोड़ने लगा। तभी पहरेदार पहुंचा, उसने कमरा खोला, सेठ मरणासन्न पड़ा था, मरते दम उसके मुंह से इतना ही निकला "जवाहर के हजार दानों से ज्वार का एक दाना बेहतर है।"

जब पेट में भूख की आग सुलगती है, तब अन्न ही उसे शान्त कर सकता

---

१ छुहा जाव सरीरं ताव अत्थि —आचारांग चूलिका १।२।२

२ ऐतरेय ब्राह्मण ३२।१०

३ तैत्तिरीय उपनिषद् १।४।१

है। एक पौराणिक कथा है कि रामचन्द्र जी वनवास से लौटकर जब अयोध्या में प्रवेश कर रहे थे तो अयोध्या के नागरिक उनके स्वागत में बहुत दूर तक सामने आये। नागरिकों का अभिवादन लेते हुए रामचन्द्र जी ने सर्व प्रथम उनसे पूछा—आप के घरों में अन्न कुशल क्षेम है ?

स्वागत के अवसर पर रामचन्द्रजी का यह प्रश्न लोगों को बड़ा अजीवोगरीब लगा, कुछ लोग मन ही मन हँसने लगे। उन्होंने सोचा—"वनवास में राम को जरूर भूख सताती रही है, इसलिए सबसे पहले अन्न की याद आयी है।" वे बोले—"हां, महाराज ! अन्न की क्या फिकर है ? सब कुशल है ?"

लोगों का छुप-छुपकर हँसना और व्यंग्यपूर्वक बोलना रामचन्द्र जी ने ताड़ लिया, पर उस समय वे कुछ नहीं बोले। स्वागत समारोह के बाद एक दिन नागरिकों को भोज के लिए बुलाया गया। नागरिक आये। काफी देर तक राम उनके साथ गपशप करते रहे। लोगों को भूख सताने लग गई। इधर उधर देखा, पर कहीं अन्न की वास भी नहीं आ रही थी। आखिर भूख से परेशान होकर नागरिकों ने कहा—महाराज ! पहले भोजन हो जाय ! फिर हम आपके साथ विचार चर्चा करेंगे।

पूर्व योजनानुसार रामचन्द्र जी ने सेवकों को संकेत किया—सोने के थालों में हीरे-मोती-मानिक भरे हुए आये ! सब नागरिकों के सामने जवाहरात के थाल रख दिये गये। लोग दिग्मूढ़ से देख रहे थे—कुछ समझ नहीं पाये कि रघुपति राम उनके साथ आज क्या मजाक कर रहे हैं ?

राम बोले—श्रीमानो ! अब भोजन प्रारम्भ कीजिये ?"····अब तो मजाक की हद हो गई ! पेट में चूहे दंड पेल रहे हैं, और सामने हीरे पन्ने के थाल परोसे जा रहे है ? लोग बोले—"महाराज ! आप जैसे नीतिज्ञ आज हम लोगों से साथ क्या मजाक कर रहे हैं ?

राम ने कहा—"नहीं ! कोई मजाक नहीं !"

"तो हम क्या खायें ? अन्न तो है ही नहीं !"

"अन्न का क्या करना है ? राम ने कहा।" अन्न का दाना तो मामूली चीज है, कहीं भी मिल जाता है ! आप लोग हीरे जवाहरात लीजिये न ?

"महाराज ! ये सब चीजें तभी अच्छी लगती हैं—जब पेट में अन्न हो ! पेट भूखा तो जगत रूखा ! भूखे पेट संसार में कहीं भी रस व आनन्द नहीं आता ।"

रामचन्द्र जी ने गंभीर होकर कहा —"यह बात है ? तो फिर मैंने आप लोगों से अन्न की कुशल क्षेम पूछी तो आप लोग हंसे क्यों ? और क्यों मेरे प्रश्न को उपेक्षापूर्वक दुहराया ?"

लोगों की समझ में आया—सचमुच अन्न ही सबसे मुख्य चीज है ! अन्न से ही संसार की गाड़ी चलती है ।

आहार के विविध प्रकार

यहां अन्न से अर्थ है सुपक्व आहार ! इस सृष्टि में प्रत्येक शरीरधारी प्राणी को आहार की अपेक्षा रहती है। बिना आहार के कोई प्राणी जी नहीं सकता । जैन दर्शन का तो यहाँ तक कथन है कि कोई भी प्राणी अनाहारक स्थिति में अधिक समय तक नहीं रह सकता । दो समय से अधिक अनाहारक स्थिति नहीं रहती ।[1] अनन्तबली तीर्थंकर भगवान भी अनाहारक नहीं रहते । वे भी शरीर चलाने के लिए आहार करते हैं ।

आहार की परिभाषा करते हुए जैनाचार्यों ने कहा है—"क्षुधा वेदनीय कर्म के उदय से भोजन रूप में जो वस्तु ली जाती है वह आहार (भाव-आहार) है ।" वह आहार तीन प्रकार का है—

भावाहारो तिविहो ओए लोमे य पक्खेव ।[2]

(१) ओज आहार—जन्म के प्रारम्भ में—माता के गर्भ में सर्वप्रथम लिया जाने वाला आहार !

(२) लोम आहार—त्वचा या रोम द्वारा लिया जाने वाला आहार, जैसे पवन आदि ।

(३) प्रक्षिप्त आहार—मुख या इन्जेक्शन आदि द्वारा शरीर में प्रवेश किया जाने वाला आहार ।

---

१ एकं द्वौ वाऽनाहारकः —तत्वार्थसूत्र २।३१
२ सूत्रकृतांग निर्युक्ति २।३

है। एक पौराणिक कथा है कि रामचन्द्र जी वनवास से लौटकर जब अयोध्या में प्रवेश कर रहे थे तो अयोध्या के नागरिक उनके स्वागत में बहुत दूर तक सामने आये। नागरिकों का अभिवादन लेते हुए रामचन्द्र जी ने सर्व प्रथम उनसे पूछा—आप के घरों में अन्न कुशल क्षेम है ?

स्वागत के अवसर पर रामचन्द्रजी का यह प्रश्न लोगों को बड़ा अजीवो-गरीब लगा, कुछ लोग मन ही मन हँसने लगे। उन्होंने सोचा—"वनवास में राम को जरूर भूख सताती रही है, इसलिए सबसे पहले अन्न की याद आयी है।" वे बोले—"हां, महाराज! अन्न की क्या फिकर है? सब कुशल है?"

लोगों का छुप-छुपकर हँसना और व्यंग्यपूर्वक बोलना रामचन्द्र जी ने ताड़ लिया, पर उस समय वे कुछ नहीं बोले। स्वागत समारोह के बाद एक दिन नागरिकों को भोज के लिए बुलाया गया। नागरिक आये। काफी देर तक राम उनके साथ गपशप करते रहे। लोगों को भूख सताने लग गई। इधर उधर देखा, पर कहीं अन्न की वास भी नहीं आ रही थी। आखिर भूख से परेशान होकर नागरिकों ने कहा—महाराज! पहले भोजन हो जाय! फिर हम आपके साथ विचार चर्चा करेंगे।

पूर्व योजनानुसार रामचन्द्र जी ने सेवकों को संकेत किया—सोने के थालों में हीरे-मोती-मानिक भरे हुए आये! सब नागरिकों के सामने जवा-हरात के थाल रख दिये गये। लोग दिग्मूढ़ से देख रहे थे—कुछ समझ नहीं पाये कि रघुपति राम उनके साथ आज क्या मजाक कर रहे हैं?

राम बोले—श्रीमानो! अब भोजन प्रारम्भ कीजिये?"....अब तो मजाक की हद हो गई! पेट में चूहे दंड पेल रहे हैं, और सामने हीरे पन्ने के थाल परोसे जा रहे है? लोग बोले—"महाराज! आप जैसे नीतिज्ञ आज हम लोगों से साथ क्या मजाक कर रहे हैं?

राम ने कहा—"नहीं! कोई मजाक नहीं!"

"तो हम क्या खायें? अन्न तो है ही नहीं!"

"अन्न का क्या करना है? राम ने कहा।" अन्न का दाना तो मामूली चीज है, कहीं भी मिल जाता है! आप लोग हीरे जवाहरात लीजिये न?

करता है। वर्तमान स्वास्थ्य विशेषज्ञों ने हमारे भोजन के आठ आवश्यक तत्त्व माने हैं—

(१) **प्रोटीन**—दालें आदि।

(२) **फैट्स**—चर्बीले पदार्थ-घी तेल आदि।

(३) **खनिज**—लवण सदृश पदार्थं।

(४) **कार्बोहाइड्रेटस**—शर्करा जातीय चीनी आदि।

(५) **केलशियम**—चूना फासफोरस आदि।

(६) **लोहा**—लोह युक्त पदार्थ।

(७) **पानी** पेय पदार्थ।

(८) **केलोरी**—शरीर को गर्मी और शक्ति देने वाले तत्त्व।

इन आठों तत्त्वों का उचित मात्रा में शरीर में पहुंचना आवश्यक रहता है। शुद्ध दूध और गेहूँ में ये आठों तत्त्व सबसे अधिक मात्रा में पाये जाते हैं अतः शरीर के लिए सबसे अधिक आवश्यकता उन्हीं तत्त्वों की रहती है। फिर भी भोजन में संतुलन और आवश्यक मात्रा का ध्यान रखना जरूरी है।

मात्रा के साथ भी भोजन की वस्तु आदि का विवेक रखना आवश्यक है। जिस पदार्थ के सेवन से शरीर में राजस और तामस भाव की उत्पत्ति होती हो, वह पदार्थ स्वादिष्ट लगने पर भी नहीं खाना चाहिए। गीता में आहार के तीन भेद बताये हैं—

सात्विक आहार

राजस आहार

तामस आहार

इन तीनों आहार का वर्णन करते हुए बताया है—

आयुः सत्व - बलारोग्य - सुखप्रीति - विवर्धनाः।
रम्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विक प्रियाः।

आयु को बढ़ाने वाला, वल, आरोग्य, सुख एवं प्रीति उत्पन्न करने वाला रसीला, चिकना, जल्दी खराब न होने वाला तथा हृदय को पुष्ट बनाने

देव, नरक, तिर्यंच एवं मनुष्य योनि में ये ही तीन प्रकार के आहार लिये जाते हैं। इनमें देवताओं का आहार बड़ा सुन्दर व मधुर रस, गंध, वर्ण व स्पर्श वाला होता है, जबकि नारकों का आहार-अंगारों के समान जलाने वाला, मुर्मुर के समान दाह उत्पन्न करने वाला अथवा बर्फ के समान अत्यन्त शीतल ठिठुरन पैदा करने वाला होता है। पशुओं का आहार सुखद भी होता है तथा दुखद भी ! मनुष्यों के आहार के चार प्रकार बताये हैं[1]—

(१) **अशन**—दाल-रोटी-भात आदि।

(२) **पान**—पानी आदि पेय पदार्थ।

(३) **खादिम**—फल-मेवा आदि।

(४) **स्वादिम**—पान-सुपारी-लौंग आदि।

मनुष्य साधारणतः यह चारों प्रकार का आहार लेता है और इसी में से जीवनी शक्ति प्राप्त करता है।

भोजन के आवश्यक रस व तत्त्व

आयुर्वेद की दृष्टि से आहार के षड्रस माने गये हैं—

मधुर रस—मीठा-चीनी मधु आदि

कटु रस—कड़ुवा-नींब आदि

आम्ल रस—खट्टा-कांजी आदि

तिक्त रस—तीखा-मिर्च, करेला आदि

काषाय रस—कषैला-आंवला आदि

लवण रस—नमक

इन षड्रसों से युक्त आहार मन को प्रीति, शरीर को बल व ओज प्रदान करता है। शरीर निर्माण में सभी रसों की आवश्यकता रहती है। तथा दूध, घृत आदि पदार्थों की भी। किंतु प्रत्येक रस का, घी दूध आदि का उचित प्रमाण ही शरीर के लिए आवश्यक होता है, अधिक मात्रा में कोई भी वस्तु उचित नहीं होती। मात्रा से अधिक तो अमृत भी हानि

---

१ चउव्विहे आहारे-असणे, पाणे, खाइमे, साइमे —स्थानांग ४।४।३४०

करता है । वर्तमान स्वास्थ्य विशेषज्ञों ने हमारे भोजन के आठ आवश्यक तत्त्व माने हैं—

(१) **प्रोटीन**—दालें आदि ।

(२) **फैट्स**—चर्बीले पदार्थ-घी तेल आदि ।

(३) **खनिज**—लवण सदृश पदार्थ ।

(४) **कार्बोहाइड्रेटस**—शर्करा जातीय चीनी आदि ।

(५) **केलशियम**—चूना फासफोरस आदि ।

(६) **लोहा**—लोह युक्त पदार्थ ।

(७) **पानी** पेय पदार्थ ।

(८) **केलोरी**—शरीर को गर्मी और शक्ति देने वाले तत्त्व ।

इन आठों तत्त्वों का उचित मात्रा में शरीर में पहुंचना आवश्यक रहता है । शुद्ध दूध और गेहूँ में ये आठों तत्त्व सबसे अधिक मात्रा में पाये जाते हैं अतः शरीर के लिए सबसे अधिक आवश्यकता उन्हीं तत्त्वों की रहती है । फिर भी भोजन में संतुलन और आवश्यक मात्रा का ध्यान रखना जरूरी है ।

मात्रा के साथ भी भोजन की वस्तु आदि का विवेक रखना आवश्यक है । जिस पदार्थ के सेवन से शरीर में राजस और तामस भाव की उत्पत्ति होती हो, वह पदार्थ स्वादिष्ट लगने पर भी नहीं खाना चाहिए । गीता में आहार के तीन भेद बताये हैं—

सात्विक आहार

राजस आहार

तामस आहार

इन तीनों आहार का वर्णन करते हुए बताया है—

आयुः सत्व - बलारोग्य - सुखप्रीति - विवर्धनाः ।

रम्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विक प्रियाः ।

आयु को बढ़ाने वाला, बल, आरोग्य, सुख एवं प्रीति उत्पन्न करने वाला रसीला, चिकना, जल्दी खराब न होने वाला तथा हृदय को पुष्ट बनाने

वाला भोजन सात्विक प्रकृति वाले मनुष्यों को प्रिय होता है अतः यह सात्विक आहार कहलाता है।

कट्वम्ललवणात्युष्ण- तीक्ष्ण - रुक्ष विदाहिनः।

आहारा राजसस्येष्टा दुःख - शोकामयप्रदाः।

—अति कडुवे, अति खट्टे अति नमकीन, अति उष्ण तीखे, रूखे, जलन पैदा करने वाले, खाने से दुःख शोक एवं रोग उत्पन्न करने वाले भोज्य पदार्थ राजस प्रकृति वाले मनुष्यों को प्रिय लगते है, अतः यह राजस आहार कहलाता है।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च तत्

उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।[1]

बहुत देर का पका हुआ, रस रहित, दुर्गन्धित, बासी, जूठा, तथा अपवित्र भोजन तामस प्रकृति वालों को अच्छा लगता है अतः यह तामस आहार कहा जाता है।

आहार शुद्धि

जिस प्रकार का भोजन किया जाता है, वैसे ही विचार मन में उत्पन्न होते हैं? यदि शुद्ध सात्त्विक भोजन किया जायेगा तो विचार भी शुद्ध और सात्विक रहेंगे। काम, क्रोध आदि की जागृति कम होगी। मन पवित्र रहेगा। इसके विपरीत भोजन में यदि उत्तेजक पदार्थ लिये जायेंगे मिर्च-मसाला, तीखे चर्चरे तथा गरिष्ठ पदार्थों का सेवन किया जायेगा तो वह विकार बढ़ायेगा मन को चंचल बनायेगा। शास्त्र में कहा है—

पणीयं भत्त पाणं तु खिप्पं मयविवड्ढणं

प्रणीत—रसदार तेज मसाले वाला गरिष्ठ भोजन तुरन्त ही शरीर में उत्तेजना फैला देता है, मद—अर्थात् काम-क्रोध की जागृति करता है और मस्तिष्क को अशान्त कर देता है। क्योंकि अन्न का प्रभाव सीधा मन पर पड़ता है। अतः इन कहावतों में बहुत ही सच्चाई है।

---

१ भगवद् गीता १७। श्लोक ८ से १०

जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन्न।
जैसा पीवे पानी वैसी बोले वानी।

जैसा अन्न जल खाइये तैसा ही मन होय !

एक प्राचीन उक्ति है कि एक राज सभा में राजा ने विद्वानों से एक प्रश्न पूछा—दीपक तो मिट्टी का बना हुआ है, उसका रंग लाल है, तेल पीला है, उसमें रुई की बाती बिल्कुल सफेद है, इससे जो ज्योति प्रगट होती है वह भी लाल है, किन्तु काजल काला होता है, इसका क्या कारण ? जब अन्य कोई चीज काली नहीं है तो उनसे उत्पन्न होने वाला काजल ही काला क्यों ? **कज्जले श्यामतां कथम्** ? राजा के प्रश्न पर सभी विद्वान मौन होकर सोचने लगे। तभी एक अनुभवी विद्वान उठा, उसने कहा—महाराज ! आपका प्रश्न ठीक है, तेल पीला है, बाती सफेद है, ज्योति लाल है, फिर कज्जल काला क्यों ? किन्तु महाराज ! जैसा आहार होता है वैसा ही नीहार होता है, जैसा अन्न खाते हैं वैसी ही डकार आती है—

दीपो भक्षयते ध्वान्तं कज्जलं च प्रसूयते।
यदन्नं भक्ष्यते नित्यं जायते तादृशी प्रजा:[1]

आपको मालूम है दीपक का भोजन क्या है ? वह अन्धकार को निगलता है, इसलिए वह काला काजल पैदा करता है। काले अन्धकार को खाने वाला तो काला काजल ही पैदा करेगा। सफेदी कहां से आयेगी ?

तो कवि का यह उत्तर शरीर और मन पर अन्न का प्रभाव बताता है। जैसा भोजन किया जायेगा वैसी ही बुद्धि पैदा होगी। आपने ज्ञाता सूत्र में सुनी है पुंडरीक और कंडरीक की कथा। कंडरीक राजा ने दीक्षा लेकर हजार वर्ष तक कठोर तपस्या करके शरीर को गला दिया। किन्तु एक बार जब वे भाई की राजधानी में आये वहां राजा उनकी भक्ति करने लगा, राजा को देखकर लोग भी भक्ति करने लगे। सरस स्वादिष्ट आहार मिलने लगा। पूजा-सत्कार सम्मान मिलने लगा। बस उस सरस-स्वादिष्ट भोजन के चक्कर में कंडरीक मुनि फंस गये। हजार वर्ष की तपस्या को

---

१ चाणक्य नीति ८।३

बैठे और रसों में गृद्ध हो गये ।—**मणुन्नंसि असस पाण खाइम साइमंसि मुच्छिए गिद्धे गढिए**—मनोज्ञ असन पान खादिम स्वादिम में गृद्ध हो गए, मूर्छित हो गए । बस, रस लोलुपता ने विचारों को झकझोर दिया मन को वदल दिया और हजार वर्ष की तपस्या खोकर वापस संसार में जाकर फंस गये । तो उनके मन पर यह बुरा परिणाम किस बात का हुआ ? हजार वर्ष तक जो विचार नहीं बदले वे कुछ दिनों के सरस-स्वादिष्ट भोजन आदि से बदल गये । और—

गेहो बन तीन दिवस आमिष आहार कर ।
सप्तमी नरक गयो भारी दुःख खान पै ।[1]

सिर्फ तीन दिन संसार में आमिष आदि उत्तेजक आहार कर तीव्र भावों से भरकर सातवीं नरक में गया ।

बताना यह है कि उत्तेजक और राजसी भोजन का मन पर कितना गहरा प्रभाव पड़ता है ।

महाभारत में भी भोजन शुद्धि के विवेक का एक उदाहरण हमारे सामने आता है । श्रीकृष्ण जब शान्तिदूत बनकर दुर्योधन को समझाने के लिए हस्तिनापुर जाते हैं कि तुम युद्ध मत करो, युद्ध से कुल का सर्वनाश हो जायेगा, केवल पाण्डवों को पाँच गांव देकर इस विनाश लीला को टाल दो । तब दुर्योधन श्रीकृष्ण के स्वागत सत्कार में मिठाइयों के थाल सजाकर रखता है, भोजन का आग्रह करता है, किन्तु श्रीकृष्ण उस दुष्ट पापी के घर का एक कण भी मुँह में नहीं लेते । क्योंकि उसका अन्न पाप का था, पापी का अन्न खाने से बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है, इसलिए दुर्योधन के मेवे मिष्टान छोड़कर विदुरजी के घर गये और वहां विदुर पत्नी को कहा—काकी ! भूख लगी है ! कुछ खिलाओ, तो वह भाव विह्वल हुई केले लेकर आई, छिलके उतारने लगी और श्री कृष्ण के प्रेम में ऐसी पागल हुई कि छिलके तो श्रीकृष्ण को देने लग गई, केले का गूदा स्वयं खाने लग गई ।

---

१ मरुधर केसरी ग्रन्थावली पृ० ३२०

किन्तु श्री कृष्ण को वे छिलके भी बहुत मीठे और स्वादिष्ट लगे। तो श्री कृष्ण ने ऐसा क्यों किया? इसीलिए कि पापी का अन्न कण भी मुँह में लेने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, जैसी कि भीष्म पितामह जैसो की भी दुर्योधन का अन्न खाने से हो गई। इसलिए भोजन में अन्न की पवित्रता, शुद्धता, स्वच्छता और सात्विकता का विचार रखना बहुत ही आवश्यक है। गांधी जी कहा करते थे—"आहार सुधारिये, स्वास्थ्य अपने आप सुधर जायेगा।" छांदोग्योपनिषद् के इस कथन पर भी गांधी जी का बहुत बल था—

आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।[1]

आहार की शुद्धि रहने पर अन्तःकरण—अर्थात् मन भी पवित्र रहता है, मन पवित्र रहने पर बुद्धि पवित्र और स्थिर रहती है, बुद्धि स्थिर रहने पर आत्मा में ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित हो उठती है और अज्ञान मोह की समस्त ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। तो बन्धुओ! बुद्धि की स्थिरता और पवित्रता जीवन में बहुत ही आवश्यक बात है, यदि बुद्धि भ्रष्ट हो गई तो सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा—**बुद्धिनाशात् प्रणश्यति** (गीता २।६३) बुद्धि को स्थिर व संतुलित रखने के लिए आहार को सतुलित और शुद्ध रखना आवश्यक है। इसीलिए हमने यहां पर आहार शुद्धि की चर्चा की है। आहार जितना सादा, सात्विक होगा मन उतना ही शांत और स्थिर रह सकेगा।

आहार का उद्देश्य

यह बात सही है कि आहार के बिना शरीर नहीं चल सकता, किंतु क्या सभी लोग शरीर चलाने के लिए ही आहार करते हैं? बहुत से लोग, शरीर के लिए नहीं, किन्तु स्वाद के लिए ही आहार करते हैं। जीने के लिए भोजन नहीं करते, किंतु भोजन के लिए ही जिन्दे रहते हैं। ऐसे मनुष्यों के जीवन का उद्देश्य क्या है, भोजन! और भोजन का उद्देश्य क्या है स्वाद! स्वाद के चक्कर में वे शरीर को, और जीवन को भी बर्बाद कर

---

१ छांदोग्य उपनिषद् ७।२६३

डालते हैं, स्वास्थ्य चौपट कर डालते हैं। कंडरीक का उदाहरण अभी आपके सामने दिया गया है, वह साधुत्व से भ्रष्ट होकर कुछ दिनों में ही क्यों मर गया ? इसका कारण स्पष्ट बताया गया है—अति मात्रा-में भोजन-पान रस आदि विषयों में गृद्ध होकर। रात-दिन स्वादिष्ट-गरिष्ठ भोजन करता रहा, वह हजम नहीं हुआ, शरीर में रोग फूट पड़ा। रोग होने पर भी स्वादिष्ट-गरिष्ट भोजन छोड़ नहीं सका, रोग बढ़ता गया और अंत में दुःख पाता हुआ मरकर सातवीं नरक में गया !

भोजन में जब ऐसी लोलुपता आ जाती है तो उनके सामने जीवन और स्वास्थ्य का भी कोई महत्व नहीं रहता, वे तो बस खाना ! खाना ! यही रट लगाये रहते हैं। किंतु यह अन्न-मूढ़ व्यक्तियों की बात हुई। साधारणतः विचारशील भोजन करता है तो उसमें संयम भी बरतता है, उस भोजन का उद्देश्य भी होता है। गांधी जी से किसी ने पूछा—"आप भोजन किसलिए करते हैं ?" गांधी जी ने कहा—"दास की तरह शरीर को पालने के लिए।" कबीरदास जी ने भी यही बात कही है- कि भूख एक कुतिया है, यह भौंकने लगती है तो हमारा चित्त चंचल हो उठता है, मन अशांत हो जाता है, अतः मन की शांति बनाये रखने के लिए और स्थिरता के साथ भजन करने के लिए इस भूख-कूतरी को रोटी का टुकड़ा डालना जरूरी है—

"भूख कबीरा कूतरी करत भजन में भंग।"

बस भोजन करने का यही उद्देश्य है—क्षुधा शांत कर साधना करते रहना। विचारकों ने भोजन करने वालों की तीन श्रेणियां की हैं—

१—स्वाद के लिए भोजन करने वाले—ये अज्ञानी और मूर्ख लोग हैं, वे स्वाद की चाट में बर्बाद हो जाते हैं, शरीर व धन को चौपट कर डालते हैं। यह सबसे नीची श्रेणी है।

२—स्वास्थ्य के लिए भोजन करने वाले—ये जीवन की आवश्यकता महसूस करने वाले लोग हैं। शरीर व स्वास्थ्य की रक्षा तथा वृद्धि करना उनका उद्देश्य है। वे स्वास्थ्य के लिए संयम भी रखते हैं पर स्वास्थ्य

के नाम पर मद्य-मांस का सेवन करने में भी नहीं चूकते। यह मध्यम श्रेणी है।

३—साधना के लिए खाने वाले—ये संयम की रक्षा के लिए, तप त्याग के योग्य शरीर को बनाये रखने के लिए एवं भजन आदि साधना करने के लिए भोजन करते हैं। इनके भोजन में शुद्धता, नियमितता और मर्यादा रहती है। साधना में भोजन की आवश्यकता न होने पर ये भोजन का त्याग भी कर देते हैं। उनका उद्देश्य न स्वाद है, न स्वास्थ्य, किन्तु साधना ही उनका लक्ष्य है। ये सबसे उत्तम श्रेणी के लोग हैं। भोजन की तरह उपवास आदि को भी वे शरीर की खुराक मानते हैं।

भोजन में अनासक्ति

उत्तम श्रेणी के मनुष्य भोजन तभी करते हैं जब उन्हें साधना के लिए उसकी आवश्यकता रहती है। सूत्र में बताया है—साधुजन देह की रक्षा क्यों करते हैं? उत्तर दिया है-- मोक्ष की साधना करने के लिए।" **मोक्ख साहण हेउस्स साहु देहस्स धारणा**—मोक्ष साधना के लिए ही साधु देह को धारण करता है, और देह को सुचारु रूप से कार्यरत रखने के लिए भोजन करता है। इस बात को ज्ञातासूत्र में धन्य सेठ का उदाहरण देकर बहुत ही स्पष्ट रूप में बताया गया है। धन्य सेठ का इकलौता पुत्र था देवदिन्न! बड़ी मनौतियों के बाद उसका जन्म हुआ था। सेठ-सेठानी का बड़ा ही प्यारा, आंखों का तारा और कलेजे की कोर था वह। एक बार वह घर के बाहर बच्चों के साथ खेल रहा था। अचानक उस नगर का कुख्यात चोर विजय उधर से निकला। उसने कुमार को विविध आभूषणों से सजा हुआ देखा तो उसके मुंह में पानी छूट आया। मौका देखकर उसने कुमार को उठा लिया और भाग गया। जंगल में जाकर उसने हीरे-मोतियों के सब गहने उतार लिये और बालक का गला मसोस कर एक अंधे कूएं में डाल दिया।

बालक नहीं मिलने से धन्य सेठ के घर में कुहराम मच गया। नगर कोतवाल को साथ लेकर उससे राजगृह का चप्पा-चप्पा छान डाला। अंत

में जंगल में उसी अंध कूप से बालक की लाश मिली और फिर बाल-घातक विजय चोर भी पकड़ लिया गया। चोर के हाथ पैरों में बंधन डालकर कारावास में डाल दिया गया। पुत्र शोक में सेठ-सेठानी सिर-छाती पीटकर रह गये। जो मर गया उसका अब क्या हो ?

एक बार किसी व्यापारिक अपराध में धन्य सेठ भी पकड़ा गया। उसे उसी कारागार में विजय चोर के साथ एक ही बंधन से बांध दिया गया। सेठ के घर से भोजन आया देखकर विजय चोर के मुंह में भी पानी छूटा। भूख से वह व्याकुल हो रहा था। सेठ से प्रार्थना की—"सेठ ! यहां तो हम दोनों ही बंदी हैं, एक समान हैं। मुझे भी भूख लगी है, थोड़ा सा भोजन दे दो तो मेरे पेट की आग भी शांत हो जाय।"

पुत्र घातक विजय चोर की प्रार्थना पर सेठ आग-बबूला हो गया। उसने खूब डांटा, फटकारा और दुत्कार कर कहा—"मेरा अन्न बचेगा तो कुत्तों को डाल दूंगा, किन्तु तुझ दुष्ट को नहीं दूंगा।"

विजय चुप रहा। सेठ ने भोजन कर लिया। संध्या के समय सेठ को शरीर चिंता के लिए जाने की इच्छा हुई। उसका एक पैर तो विजय चोर के साथ बंधा था, उसके बिना वह अकेला कैसे चला जाता ? सेठ बड़ी दुविधा में पड़ गया। उसने विजय से अपने साथ चलने के लिए कहा। विजय ने मुंह बनाकर कहा—"खाते समय तो अकेले खाया, और जाते समय मुझे भी बुला रहे हो ! मैं क्यों जावूं ? जो खायेगा वह जायेगा ?" सेठ बड़ी परेशानी में फंस गया। शरीर चिन्ता रोकने से उसका पेट दुखने लगा। बहुत आजीजी करने पर भी जब विजय उसके साथ जाने को तैयार नहीं हुआ तो हारकर सेठ ने उसे भोजन में से कुछ हिस्सा देना स्वीकार कर लिया।

दूसरे दिन समझौते के अनुसार सेठ ने मन मसोस कर भी विजय को अपना कुछ भोजन दिया। भोजन लाने वाले पंथक नौकर से यह फूटी आंखों नहीं देखा गया। उसने जाकर सेठानी से यह बात कही तो बस सेठानी आग-आग हो गई। उसे सेठ पर भी बड़ा क्रोध आया कि मेरे पुत्र-घातक को वह भोजन देता है। सेठानी रुष्ट हो गई।

अक्खोवंजणाणुलेवणभूयं संजम जायामाय णिमित्तं ।
संजमभार वहणट्ठायाए भुंजेज्जा पाणधारणट्ठाए ।[१]

इसी आशय का कथन, अन्य अनेक आगमों में भी मिलता है।[२] इसी प्रकार का कथन एक वैदिक आचार्य का भी है—

शरीरं व्रणवद् ज्ञेयं अन्नं च व्रणलेपनम् ।[3]

शरीर व्रण के समान है, और भोजन उस पर मरहम की भांति है। घाव को ठीक करने के लिए मरहम की जरूरत रहती है, घाव ठीक होने के बाद मरहम की कोई जरूरत नहीं, इसी प्रकार शरीर से साधना करने के लिए भोजन की जरूरत है, जब शरीर साधना करने में समर्थ न रहे तब उसे भोजन देने की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती।

आहार करने के छह कारण

आहार के उद्देश्य पर सभी दृष्टियों से विचार करते हुए भगवान महावीर ने उसके छह कारण बताये हैं—

वेयण वेयावच्चे इरियट्ठाए य संजमट्ठाए ।
तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचित्ताए ।[४]

श्रमण भोजन करने से पहले यह विचार करे कि वह भोजन किस लिए कर रहा है ? उसके भोजन की आवश्यकता क्या है ? क्योंकि ये छह बातें हैं, जिनके लिए कि भोजन किया जाता है—

---

१ भगवती सूत्र ७।१।२ तथा— प्रश्नव्याकरण सूत्र २।१

२ (क) जायामायाइ जावए—आचारांग ३।३
(ख) भारस्स जाया मुणि भुंजएज्जा—सूत्रकृतांग ७।२९
(ग) स्थानांग ६ (भोजन के छह कारण इसी प्रकरण में देखिए)
(घ) ····संयमभार वहणट्ठयाए विलमिवपन्नगभूएणं—भगवती ७।१।२२
(च) जवणट्ठाए महामुणी—उत्तराध्ययन ३५।१७ तथा २६।३३

३ चैतन्य महाप्रभु

४ उत्तराध्ययन सूत्र २६।३३ तथा स्थानांग सूत्र ६

१—क्षुधा वेदनीय को शान्त करने के लिए अर्थात् भूख मिटाने के लिए।

२—वैयावृत्य अर्थात् बालक, वृद्ध, रोगी, गुरु तपस्वी आदि की सेवा करने के लिए।

३—इर्यासमिति का पालन करने के लिए। भूख से चलना ठीक तरह नहीं हो पाता, अतः ठीक यतनापूर्वक चलने के लिए आवश्यक भोजन जरूरी है।

४—संयम पालन के लिए, मन आदि का निग्रह करने के लिए।

५—प्राणधारण करने के लिए।

६—धर्म का चिन्तन करने के लिए। ध्यान आदि क्रियाओं को स्थिरता व शान्तिपूर्वक संपन्न करने के लिए।

इन छह कारणों में हमारे भोजन के, और यों कहें तो जीवन जीने के मुख्य उद्देश्य आ गये हैं। मनुष्य सिर्फ अपने लिए ही नहीं जीता है, पेट के लिए ही जीना पाप है। उसके जीवन में कोई न कोई महान् उद्देश्य होता है। सेवा, त्याग, परोपकार, संयम साधना, अहिंसा व दया का पालन-प्रसार आदि। इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए शरीर को सबल होना भी जरूरी है, क्योंकि शरीर सबल रहता है, समर्थ रहता है तो दूसरों की सेवा भी की जा सकती है। जो खुद ही दुर्बल होगा, रोगी होगा वह दूसरों की सेवा क्या करेगा, उसे तो स्वयं सेवा की जरूरत है। वैसे ही तपस्या करने के लिए भी शरीर समर्थ होना चाहिए। राजस्थानी में कहावत है—**चारु हारु नहीं हुवै**। जो खाता है, वह बजाता भी। जो घोड़ा दाना खायेगा, वह मालिक के लिए दौड़ेगा भी! जो शरीर भोजन आदि से पुष्ट बनेगा वह समय पर त्याग तपस्या आदि करने में भी आगे रहेगा। किन्तु यदि शरीर खाने में आगे और सेवा में पीछे रहे तो वह शरीर और भोजन क्या काम का? जो सैनिक शान्ति के समय खा पीकर हृष्ट-पुष्ट रहता हो, किन्तु जब युद्ध के नगाड़े बजने लगे तो घर में घुसकर खटिया पकड़ ले, ब्लड प्रेसर का रोगी हो जाय तो क्या वह सैनिक राष्ट्र के किसी काम का है? यही स्थिति हमारे शरीर की है, शरीर भोजन करे, तो भले ही करे,

किन्तु करे इसीलिए कि उससे संयम, सेवा, अहिंसा, त्याग आदि की प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिले। स्वाध्याय, ध्यान, आदि की वृद्धि हो। यदि इन कार्यों की आराधना में शरीर पीछे हटने लगे तो फिर इस शरीर का मोह नहीं रखकर इसे उपवास, तप, अनशन संलेखना आदि में झौंक देना चाहिए। इसीलिए जहाँ छह कारण आहार करने के बताये हैं, वहाँ आहार त्याग करने के भी छह कारण बताये गये हैं।

आहार त्याग के छह कारण

शास्त्र में कहा है—

आयंके उवसग्गे तितिक्खणे बंभचेरगुत्तीसु
पाणीदया तवहेउं सरीरवोच्छेयणट्ठाए।[1]

१ **रोग होने पर**—रोग में आहार करने से रोग और अधिक प्रबल होता है, इसलिए **रोगादौ लंघनं श्रेयः**—रोग की आदि में लंघन— उपवास अच्छा रहता है। राजस्थानी में कहावत है—

ज्वर जाचक अरु पावणा लंघन तीन कराय

इन सबका भाव है—रोग होने पर भोजन नहीं करना चाहिए।

(२) **उपसर्ग**— संकट आदि आने पर, उपसर्ग होने पर आहार त्याग कर उपसर्ग सहने में डट जाय।

(३) **ब्रह्मचर्य में कठिनाई होने पर**—यदि भोजन करने से मनोविकारों की वृद्धि होती हो, ब्रह्मचर्य की साधना में कठिनाई आती हो, तो आहार का त्याग कर ब्रह्मचर्य की साधना में स्थिर रहे। गांधीजी इसीलिए कहते थे—"उपवास से शरीर के रोग तो शान्त होते ही हैं, मन के विकार भी शान्त हो जाते हैं। अर्थात् शरीर एवं मन शुद्धि दोनों के लिए उपवास एक चिकित्सा है।" तो भोजन करने से यदि विकार बढ़ते हों, मन बेकाबू होता हो तो आहार का त्याग कर देवें।

(४) **जीवदया न पलने पर**—यदि शुद्ध आहार न मिलता हो, आहार के लिए जीव हिंसा, आरम्भ समारम्भ करना, करवाना पड़ता हो तो उस

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र २६।३४ तथा स्थानांग ६।

मन को निग्रहीत करना अनशन तप की साधना है। इस साधना से शरीर की शुद्धि भी होती है और मन की भी। जैसा कि पूर्व में बताया गया है—अनशन-अर्थात् उपवास आदि शरीर का सबसे बड़ा चिकित्सक है। एक प्राकृतिक चिकित्सक से पूछा गया—संसार में सबसे अच्छा डाक्टर कौन है ? और कौन सी चिकित्सा सबसे अच्छी है ? उसने उत्तर दिया—संसार में सबसे अच्छे डाक्टर पाँच हैं—

१ उपवास
२ मिट्टी
३ जल
४ हवा
५ धूप

और इन पाँचों की राय से जो चिकित्सा की जाती है वही चिकित्सा सबसे अच्छी है।

प्राकृतिक चिकित्सा में शरीर शुद्धि के लिए उपवास सबसे पहली चिकित्सा है। गांधी जी का विश्वास था—"उपवास से शारीरिक दोष दूर होते हैं, और मनोबल बढ़ता है।" बहुत से दु:साध्य प्रतीत होने वाले रोग उपवास चिकित्सा से दूर हो जाते हैं। शरीर रूप स्वर्ण को तपाकर निखारने वाली अग्नि है—उपवास ! इसीलिए शुकरूप धारी इन्द्र ने जब वाग्भट्ट से पूछा कि जो न भूमि में पैदा होती हो, न जल में न आकाश में। जिसमें कोई रस भी नहीं, और कहीं बाजार में खरीदने पर लाख रुपये में भी नहीं मिलती—किन्तु जिसके सेवन से शरीर के समस्त दोष दूर हो जाते हैं ऐसी परम औषधि क्या है ? **वद ? वैद्य ! किमौषधम् ?**—वैद्यराज ! बतलाइए ऐसी औषधि क्या है ?

आयुर्वेदज्ञ वाग्भट्ट ने सोचकर उत्तर दिया—ऐसी परम औषधि तो ससार में एक ही है और वह है—**लंघनं परमौषधम्**—लंघन ! उपवास। यह सब रोगों को दूर करने वाली रसायन है।

शरीर के साथ-साथ उपवास मन को भी शुद्ध करता है। मानसिक विकारों को जीतने के लिए, अन्तरशुद्धि के लिए उपवास से बढ़कर और कोई साधन नहीं है। इसलिए गीता में भी कहा है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।[1]

आहार का त्याग करने से मन के विषय विकार दूर हो जाते हैं। विषय-निवृत्ति होने से मन में पवित्रता आती है, शरीर भी रोगमुक्त रहता है, इस प्रकार नीरोग मनुष्य प्रसन्न रहेगा—इससे ओज तेज प्रगट होगा। अतः उपवास करने से शरीर दुर्बल नहीं, किन्तु अधिक नीरोग, सबल, स्वस्थ और तेजस्वी बनता है। मनोबल बढ़ता है, मानसिक शक्तियाँ शुद्ध होकर केन्द्रित हो जाती हैं जिससे तपस्वी बड़े-बड़े कष्टों को भी चुटकियों में उड़ा देता है।

तपस्या के इन्हीं लाभ रूप परिणामों को देखकर एक ऋषि ने मुक्त कंठ से कहा है—

तपोनानशनात् परं।
यद्धि परं तपस्तद् दुर्धषम् तद् दुराधर्षम्[2]

—अनशन से बढ़कर और कोई तप नहीं है। साधारण मनुष्य के लिए यह तप बड़ा ही दुर्धर्ष - सहन करना और वहन करना कठिन है, कठिनतम है। यह तो एक प्रकार की अग्नि का स्पर्श है अथवा अग्निस्नान है। जो इसमें कूद पड़ेगा उसके समस्त मल दूर हो जायेंगे। वह निखर उठेगा, चमक उठेगा और जो डरता रहेगा वह अपने अशुद्ध रूप में ही पड़ा रहेगा।

जैन सूत्रों में तप के लाभ के विषय में पूछा गया है। गणधर गौतम भगवान महावीर से प्रश्न करते हैं—आहार का त्याग करने से किस फल की प्राप्ति होती है ? अर्थात आत्मा को अनशन से क्या लाभ होता है ?

उत्तर में कहा गया है—आहार का त्याग करने से जीवन की आशंसा अर्थात् शरीर एवं प्राणों का मोह—छूट जाता है।[3] तपस्वी को न शरीर का मोह रहता है, और न प्राणों का। जब तक शरीर एवं प्राण के प्रति

---

१ भगवद् गीता २।५९
२ मैत्रायणी आरण्यक १०।६२
३ आहारपच्चक्खाणेण जीवियासंसप्पओगं वोच्छिदई—उत्तरा० २९।३५

आसक्ति रहती है, तप हो ही नहीं सकता। शरीर की सार-संभाल करने वाले प्राणों के मोह में पड़ने वाले—एक समय की भूख भी नहीं सह सकते। उन्हें लगता है—भूखा रहने से शरीर कमजोर हो जायेगा, शक्ति घट जायेगी। इसलिए खाने से ही उनका मन चिपटा रहता है। वास्तव में यह अज्ञान है। खाने से जितनी शक्ति नहीं आती उतनी पचाने से मिलती है। यदि बढ़िया से बढ़िया स्वादिष्ट व गरिष्ठ भोजन खाया, किन्तु हजम नहीं हुआ तो शक्ति बढ़ेगी या क्षीण होगी ? अपचन हुआ। अजीर्ण हुआ तो रोग की शुरूआत समझ लो। रोग होने से शरीर दुर्बल होगा, आयुक्षीण होगी। खाये हुए अन्न को पचाने के लिए, उसका रस बनने के लिए पेट को विश्राम की जरूरत होती है, और वह विश्राम ही अनशन व ऊनोदरी तप है। तो इसलिए तप से आयु व शरीर क्षीण नहीं होते, किन्तु तप से मनुष्य दीर्घायु होता है। नीरोग रहता है।

हां तो मैं कह रहा था—शरीर का मोह रखने वाला उपवास आदि तप नहीं कर सकता। यह तप वही कर सकता है, जिसे शरीर की ममता न हो, प्राणों का मोह न हो, जीवन के प्रति कोई आसक्ति न हो। और जीवन के प्रति अनासक्त भाव जगना ही आहार त्याग रूप तप का फल है।

यहाँ एक बात ध्यान में रखने की है, शास्त्र में उपवास का लाभ जहाँ भी बताया है, वहां आध्यात्मिक लाभ ही बताया है। उपवास से होने वाले शारीरिक लाभ तो अपने आप होते ही हैं, उनके लिए कोई उपवास नहीं किया जाता, उपवास तो आत्मा को निर्मल बनाने के लिए, मन व शरीर का निग्रह करने के लिए ही किया जाता है। ऐसे उपवास का महान फल होता है।

भगवती सूत्र में एक प्रसंग पर पूछा गया है—"साधु एक उपवास करता है तो उससे कितने कर्मों का क्षय कर डालता है ?"

उत्तर में बताया गया है— साधु एक उपवास में जितने कर्म खपा सकता है, उतने कर्म नैरयिक जीव हजारों वर्ष में भी नहीं खपा सकता। एक बेले में साधु जितने कर्मों का नाश कर सकता है, नैरयिक जीव लाखों वर्ष में भी

उतनी कर्म निर्जरा नहीं कर सकता। साधु तेले में जितने कर्म खपाता है, नैरयिक जीव करोड़ों वर्ष में भी उतने कर्म क्षय नहीं कर सकता और साधु एक चोला करके जितने कर्मों का क्षय कर डालता है, नैरयिक प्राणी तो करोड़ों-करोड़ वर्षों में भी उतने कर्म नहीं खपा सकता।"[1]

गौतम स्वामी ने यह प्रश्न राजगृह में भगवान महावीर से पूछा है, और प्रभु ने इसका उत्तर दिया है। इससे पता चलता है, जीवन में एक शुद्ध उपवास का कितना महत्व है? कर्मक्षय करने की दृष्टि से एक उपवास का कितना गौरव है? उपवास की गरिमा बताते हुए कहा गया है—

तप से तन रोग मिटे सगले, झगरे मध जीत रहै उनकी,
जप में मन लागत है सखरो, सब चंचलता जु मिटे मन की।
खप जाय कठोर विषानल हो, कमतों न रहे उनके धन की,
'मिसरी' कर एह जु मोद भरी शिव पावन चाह हुवै जिनकी।

तेज बढ़ै निज देह को, निश्चय विपदा नाश।
फूट मिटावन फूटरो आछो जग उपवास॥
शुद्ध भाव जो निज करत मुनि गुनि जन है जास।
वाक्यसिद्धि सटकै वरै आछो जग उपवास॥

अनशन में निषिद्ध कार्य

उपवास आदि तप का जो महान फल बताया गया है, वह कब मिलता है? जबकि तप को विधिपूर्वक किया जाय। उपवास में आहार का त्याग होता है, किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि सिर्फ आहार का ही त्याग कर देने मात्र से उपवास का संपूर्ण फल मिल जाता है। आहार के साथ-साथ विषयों का, क्रोध आदि कषायों का त्याग भी अनिवार्य है। किसी चिंतक ने कहा है, उपवास में तीन कार्य करो और तीन कार्य मत करो!—तीन कार्य करो—

१ ब्रह्मचर्य का पालन

---

१ भगवती सूत्र शतक १६। उद्देशक ४

२ शास्त्र का पठन

३ आत्मस्वरूप का चिंतन

और तीन कार्य न करो—

१ क्रोध

२ अहंकार

३ विषय-प्रमाद सेवन

उपदेश माला ग्रन्थ के रचयिता क्षमाश्रमण धर्मदासगणी ने कहा है—

फरुसवयणे दिणतवं अहिक्खवेंतो हणइ मासतवं।
वरिसतवं सवभाणो हणइ हणंतो य सामन्नं ।१२४

—किसी को कठोर वचन कहने वाला एक दिन के तप का—एक उपवास के पुण्य का नाश कर डालता है। किसी की निंदा, भर्त्सना और मर्म पर चोट करने से एक मास के तप का पुण्य क्षीण हो जाता है। किसी को शाप देने और लट्ठी आदि से प्रहार करने पर एक वर्ष का तप और हत्या करने पर जीवन भर तक किये गये तप के पुण्य को नष्ट कर देता है। इसका अभिप्राय है उपवास में कठोर वचन, शाप, गाली, निंदा, हिंसा आदि का भी त्याग करना चाहिए। तभी उपवास का योग्य फल प्राप्त होता है।

अनशन के भेद

अनशन की पूर्वभूमिका स्पष्ट कर देने पर अब हमें अनशन तप के शास्त्रगत विविध प्रकारों पर विचार करना है। अनशन का सीधा अर्थ है—आहार त्याग! आहार त्याग कम से कम एक दिन रात्रि (अहोरात्रि) का भी हो सकता है और उत्कृष्ट छहमहीने का और जीवन पर्यंत का भी। उसके विविध भेद इस प्रकार है—

अणसणे दुविहे पण्णत्ते—
तं जहा—इत्तरिए य आवकहिए
इत्तरिए अणेगविहे पण्णत्ते—
तं जहा—चउत्थ भत्ते, छट्ठभत्ते जाव छम्मासिए भत्ते ।[1]

---

१ भगवती सूत्र २५।७

अनशन तप के दो भेद है—

१ इत्वरिक—कुछ निश्चित काल के लिए

२ यावत्कथिक - जीवन पर्यंत के लिए,

यावत्कथिक तप को मरणकालिक (मृत्युपर्यंत) भी कहा जाता है। इत्वरिक तप में समय की मर्यादा रहती है, निश्चित समय के पश्चात् भोजन की आकांक्षा रहती है, इसलिए इस तप भी को सावकांक्ष तप कहा है, यावत्कथिक में जीवन पर्यन्त आहार का त्याग कर दिया जाता है, उसमें भोजन की कोई आकांक्षा शेष नहीं रहती, जीवन के प्रति कोई आकांक्षा नहीं रहती इस कारण उसे निरवकांक्ष तप भी कहा गया है।[1]

इत्वरिक तप के छह भेद

दो घड़ी के आहार त्याग से लेकर छह मास तक के उपवास को इत्वरिक तप माना जाता है, किंतु यहां दो प्रश्न उपस्थित होते हैं। पहला यह है कि मूल आगम में इत्वरिक तप की गणना चउत्थ भत्ते चतुर्थ भक्त अर्थात् एक अहोरात्रि के उपवास से प्रारंभ की गयी है। फिर चतुर्थ भक्त से कम समय के उपवास को अनशन तप क्यों माना जाय? आचार्य आत्माराम जी म० ने अपनी आत्मज्ञानप्रकाशिका हिन्दी टीका में दो घड़ी के आहार-त्याग को भी अनशन तप माना है।[2] यह मान्यता परम्परा में प्रचलित है, क्योंकि प्रकीर्ण तप के भेद में नवकारसी, पोरुषी आदि को भी तप माना है, लगता है उसी आधार पर यहां दो घड़ी के आहारत्याग को अनशन में गिना गया है। किंतु मूल आगम में जहां अनशन तप का वर्णन है, वहां कम से कम चतुर्थ भक्त को ही अनशन तप माना है. इससे कम काल का आहार त्याग संभवतः ऊनोदरी तप की गणना में लिया गया है। तत्व केवलिगम्य है।

दूसरी बात यह है कि इत्वरिक तप उत्कृष्ट छह मास का ही क्यों माना गया? छह मास से अधिक काल का सावधिक आहार त्याग क्या इत्वरिक

---

१ इत्तरिय मरणकाला य अणसणा दुविहा भवे।
इत्तरिय सावकंखा निरवकंखा उ बिइज्जिया॥ —उत्तराध्ययन ३०।९

२ उत्तराध्ययन, भाग ३, पृष्ठ १३५५

तप नहीं है ? जबकि मान्यता यह है कि प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने स्वयं एक वर्ष का कठोर तप किया।[1] उनके शासन में भी एक वर्ष का उत्कृष्ट तप माना गया है, मध्य के बाईस तीर्थंकरों के शासन में अष्टमास का उत्कृष्ट तप है।[2] तो उनका तप किस तप की गणना में आयेगा।

इस विषय में समाधान यह है कि इत्वरिक तप का यह वर्णन भगवान महावीर (चरम तीर्थंकर) के शासन काल की अपेक्षा से ही किया गया है। चरम तीर्थंकर के शासन काल में इत्वरिक तप उत्कृष्ट छह मास का ही होता है, जो स्वयं भगवान महावीर ने भी किया है। इस काल मर्यादा का कारण है उस समय का शरीर बल ! अस्तु, इसी हेतु से वर्तमान काल की दृष्टि से एक दिन के उपवास से लेकर छह मास पर्यंत का उपवास इत्वरिक तप की सीमा में आता है।

इत्वरिक तप में अनेक प्रकार की तपस्याएं आ जाती हैं। आगम में जितने प्रकार के तप 'गुणरत्न संवत्सर, महासिंह निष्क्रीड़ित तप, तथा सर्वतोभद्र प्रतिमा आदि जितने भेद बताये गये हैं वे सब इत्वरिकतप के अन्तर्गत आ जाते हैं। उन सब भेदों का समावेश करते हुए संक्षेप में इस तप के छह भेद बताये गये हैं—

जो सो इत्तरिओ तवो सो समासेण छव्विहो।
सेढितवो पयरतवो घणो य तह होइ वग्गो य।
तत्तो य वग्ग वग्गो पंचम छट्ठओ पइराण तवो।
मण इच्छियचित्तत्थो नायव्वो होइ इत्तरिओ॥[3]

मन इच्छित फल प्रदान करने वाला इत्वरिक तप संक्षेप में छह प्रकार का है—

१ श्रेणीतप
२ प्रतरतप

---

१ कल्पसूत्र
२ संवच्छरं तु पढमं मज्झिमगाणट्ठमासियं होइ।
छम्मासं पच्छिमस्स उ, माणं भणियं तवुक्कोसं।
—व्यवहार भाष्य उ० १
३ उत्तराध्ययन ३०।१०-११

३ घनतप

४ वर्गतप

५ वर्ग-वर्ग तप

६ प्रकीर्णतप

(१) **श्रेणी तप**—श्रेणी का अर्थ है क्रम, अर्थात् पंक्ति ! उपवास, बेला, तेला, चोला आदि क्रम से किया जाने वाला तप श्रेणी तप, की गणना में आता है। यह तप उपवास से लेकर छह मास तक का होता है।

(२) **प्रतर तप**—श्रेणी को श्रेणी से गुना करना प्रतर है। प्रतर क्रम से अर्थात् श्रेणी तप को गुणाकार की दृष्टि से तप करते जाना प्रतर तप है। उदाहरण स्वरूप - उपवास, बेला, तेला, चोला इन चार पदों की श्रेणी है। इस श्रेणी को श्रेणी से गुणा करने पर सोलह पद हो जाते हैं। वे सोलह पद लंबाई-चौड़ाई में बराबर होने चाहिए। जैसे पहली श्रेणी में १-२-३-४ यह क्रम बनेगा, दूसरी श्रेणी में सबसे पहले २ से लिखा जायेगा और ४ के बाद १ लिखा जायेगा। इसको कोष्ठक में लिखने का तरीका इस प्रकार है—

१	२	३	४
२	३	४	१
३	४	१	२
४	१	२	३

इस तप की एक श्रेणी पूर्ण करने में १० दिन तप के तथा ४ दिन आहार के यों १४ दिन लगते हैं। सोलह पद पूर्ण करने में कुल ५६ दिन लगते है जिनमें ४० दिन तप के तथा १६ दिन आहार के होते हैं।

(३) घन तप—प्रतर को श्रेणी से गुणा करना घन है। जैसे सोलह की संख्या 'प्रतर' हुई, इसे श्रेणी ४ की संख्या से गुणा करने पर ६४ की संख्या आई, यह घन संख्या कहलाती है। इस संख्या के क्रम से किया जानेवाला तप—घन तप कहलाता है। श्रेणी तप में ४ कोष्ठक की श्रेणी चार बार लिखी गई, उसमें कुल १६ कोष्ठक बने। इसमें ८ कोष्ठक की श्रेणी ८ बार लिखी जायेगी। जैसे—

१	२	३	४	५	६	७	८
२	३	४	५	६	७	८	१
३	४	५	६	७	८	१	२
४	५	६	७	८	१	२	३
५	६	७	८	१	२	३	४
६	७	८	१	२	३	४	५
७	८	१	२	३	४	५	६
८	१	२	३	४	५	६	७

इस तप की एक श्रेणी पूर्ण करने में ३६ दिन उपवास के और ८ दि पारणे के कुल ४४ दिन लगते हैं। आठों श्रेणी पूर्ण होने में कुल ३५ दिन लगते हैं। जिनमें ६४ दिन भोजन के और २८८ दिन तप के होते हैं

(४) वर्गतप—घन को घन से गुणा करना वर्ग है। यहां ६४ को ६ के गुणा करने पर ४०९६ की संख्या आई है, यही वर्ग है। इस क्रम से तपस्य करना वर्ग तप है।

(५) वर्ग-वर्ग तप—वर्ग को वर्ग से गुणा करना वर्ग-वर्ग है। जैसे वर्ग व संख्या ४०९६ है, इसे इसी सख्या ४०९६ से गुणा करने पर जो संख्‍ आती है वह है १६, ७७ ७२ १६। यही संख्या वर्ग-वर्ग है। इस संख्या क्रम से जो तप किया जाता है वह वर्ग-वर्गतप कहलाता है।

(६) **प्रकीर्ण तप**—श्रेणी आदि तपों में एक निश्चित विधि रहती है, निश्चित कालमान रहता है। किन्तु यदि साधक यथाशक्ति जैसा चाहे वैसा तप करना चाहे तो भी कर सकता है उस तप को प्रकीर्ण तप कहते हैं। प्रकीर्ण का अर्थ है फुटकर ! इसमें नवकारसी से लेकर यवमध्यचन्द्र प्रतिमा, वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा,गुणरत्न संवत्सर आदि सभी तप आजाते हैं। इन तपों का विस्तृत वर्णन आगमों में व टीका ग्रन्थों में अलग-अलग स्थान पर प्राप्त होता है। अधिकतर तपों का वर्णन अंतगड़ सूत्र में आता है। वासुदेव श्री कृष्ण की १० रानियां काली महाकाली आदि ने भगवान अरिष्टनेमि के सान्निध्य में दीक्षा ग्रहण कर जो विविध प्रकार की तपश्चर्याएं की उनका वर्णन अंतगड़ में किया गया है। कुछ तपों का अन्यत्र भी वर्णन आता है! संक्षेप में यहां उन तपों का वर्णन किया जाता है।

एकाशन तप है। एकाशन शब्द से दोनों ही अर्थ ध्वनित होते है—एक+अशन तथा एक+आसन। प्राकृत 'एगासण' शब्द से **एकाशन** एवं **एकासन** दोनों ही अर्थ होते हैं। प्रवचन सारोद्धार वृत्ति में कहा है—एक आसन पर बैठकर दिन में एकबार भोजन करना—एकाशन तप है। प्राचीन परम्परा के अनुसार एकाशन में पौरुषी के बाद ही एकबार आहार किया जाता है।

(५) **एकस्थान**—बोलचाल की भाषा में इसे 'एकलठाणा' भी कहते हैं। भोजन प्रारम्भ करते समय शरीर की जो स्थिति हो, जिस स्थिति में बैठे हों, भोजन के अंत तक उसी स्थिति में बैठकर भोजन करना एकस्थान तप है। इसकी विशेषता यह है कि, दाहिने हाथ एवं मुख के सिवाय शरीर के किसी भी अंग को हिलाए बिना दिन में एक आसन से एकबार भोजन करना।

(६) **आयंबिल**—इस तप में सब रस (विगय)-घी-दूध आदि एवं लवण का भी त्याग किया जाता है। इस तप में दिन में एकबार भोजन किया जाता है, भोजन में कोई भी एक रुक्ष आहार जैसे उबले हुए बाकले, भुने हुए चने, सत्तू, उड़द, चावल आदि एक प्रकार का अन्न लिया जाता है, वह भी लवण रहित और अन्न को पानी में भिगोकर लेना होता है। इस तप में स्वादेन्द्रिय का संयम ही मुख्य बात है।

(७) **दिवस चरिम**—दिन के अन्तिम भाग में, अर्थात् सूर्यास्त के समय, किन्तु सूर्यास्त से पहले दूसरे दिन सूर्योदय तक के लिए तिविहार या चौविहार प्रत्याख्यान करना दिवस चरिम तप (प्रत्याख्यान) है। इस प्रत्याख्यान में रात्रि भोजन का भी स्वतः त्याग हो जाता है। जो कि श्रावक के लिए भी एक महत्वपूर्ण तप है।

(८) **रात्रि भोजनत्याग तप (नित्यतप)**—रात्रि भोजन का त्याग करना एक बड़ा तप है। जिसे नित्य तप कहा गया है। सूत्र में बताया है—**अहोनिच्चं तवो कम्मं**[1] रात्रि भोजन का त्याग एक प्रकार सतत तप है, मास में १५ दिन का यह तप मुनियों को सहज रूप में हो जाता है। आचार्यों ने कहा है—

---

१ दशवैकालिक ६।२२

ये रात्रौ सर्वदाहारं वर्जयन्ति सुमेधसः।
तेषां पक्षोपवासस्य फलं मासेन जायते।

जो बुद्धिमान रात्रिभोजन का त्याग कर देते हैं उनको महीने में पन्द्रह दिन के उपवास का फल स्वतः मिल जाता है। धर्म एवं नीति शास्त्र में भी भोजन का समय दिन में ही माना है। रात को खाना, धर्म, दया आदि की दृष्टि से तो दोषपूर्ण है ही, किन्तु स्वास्थ्य की दृष्टि से भी बहुत हानिकारक है। आचार्यों ने रात्रिभोजन को अभक्ष्य भोजन कहा है—**रात्रौ भुंक्तमभोजनम्**—इससे अनेक कुपरिणाम आते हैं, जिनका दिग्दर्शन निम्न पद्य में कराया गया है—

केरी के भरोसे मुख मेंढकी को योग बण्यो,
लापसी में छिपकली देखी जीव घाबरयो।
चाय को उकाली चूल्हे वृश्चिक गिर्यो है आय,
घूंट लेता गस-खाय धरा पर जा गिर्यो।
अहि लार खीर परी खीचड़ी में श्वान हड्डी,
विसुन्दरी कढी बीच प्राण गयो वापर्यो।
रात्रि भोज दुःखखान जाती पच्चखान कीजै,
'मिसरी' भनत पाप मेरु समता टर्यो॥

साधु एवं श्रावक को इस नित्य तप का सतत आचरण करना चाहिए। यह तप आचरण में सहज है, किन्तु फल प्रदान करने में उत्कृष्ट तप है।

(९) **अभिग्रह तप**—इसका विशेष वर्णन भिक्षाचरी प्रकरण में देखिए!

(१०) **चतुर्थ भक्त**—शब्द से सीधा अर्थ तो चार भक्त का होता है। भक्त का अर्थ है दिन में एक बार का भोजन। साधारणतः दिन में दो बार भोजन होता है। उपवास से पूर्व पहले दिन एक समय भोजन नहीं करना तथा उपवास के दिन दो समय भोजन न करना, और पारणे के दिन भी एक समय भोजन न करना-ये चार समय के भक्त—भोजन का त्याग करना चतुर्थ भक्त है। किन्तु चतुर्थभक्त शब्द का यह मूल अर्थ प्रायः गौण ही रहा है। आगम में भी और प्राचीन परम्परा में

उक्त शब्द से अर्थ को ग्रहण नहीं कर एक अहोरात्र भोजन न करना मात्र इतना अर्थ ही ग्रहण किया गया है। इसे ही उपवास कहते हैं।

उपवास का प्राचीन नाम अभक्तार्थ भी है। भक्त का अर्थ है भोजन! अर्थ का मतलब है—प्रयोजन। जिसमें भोजन का कोई प्रयोजन नहीं हो, वह तप अभक्तार्थ है। अर्थात् अशन पान खादिम स्वादिम इन चारों अथवा पानी को छोड़कर तीनों आहार का जिसमें त्याग हो,उस अभक्तार्थ को ही उपवास कहा जाता है। उपवास को 'चउत्थ भत्ते' चतुर्थ भक्त, बेले को 'छट्ठ भक्त' तेले को 'अट्ठम भक्त और इसी प्रकार चोले को दसम भक्त तथा आगे के उपवासों को दो-दो भक्त अधिक जोड़कर बताया गया है। मासिक तप को मासखमण एवं छह मास के तप को छमासी कहा जाता है।

उपवास के आगे अनेक प्रकार के विचित्र-विचित्र उग्र तपोकर्म का वर्णन शास्त्रो में मिलता है। अंतगड़ में[1] यह तप करने वाले साधकों के नामों का उल्लेख भी आता है। उववाई सूत्र[2] में भगवान के श्रमणों का जहाँ वर्णन किया गया है वहाँ बताया है—भगवान के अनेक भिक्षु कनकावलीतप करते थे, अनेक भिक्षु एकावली तप, अनेक भिक्षु महासिंह निष्क्रीड़ित तप, अनेक भिक्षु भद्रप्रतिमा, अनेक भिक्षु महाभद्र प्रतिमा, अनेक भिक्षु सर्वतोभद्र प्रतिमा, अनेक भिक्षु आयंबिल वर्धमान तप, अनेक भिक्षु मासिकी भिक्षु प्रतिमा, अनेक भिक्षु द्विमासिकी भिक्षुप्रतिमा से सप्त मासिकी भिक्षु प्रतिमा, अनेक भिक्षु एक अहोरात्र प्रतिमा, अनेक भिक्षु प्रथम-द्वितीय-तृतीय सप्त अहोरात्र प्रतिमा, अनेक भिक्षु एकरात्रि प्रतिमा अनेक भिक्षु सप्त सप्तमिका प्रतिमा, अनेक भिक्षु यवमध्य चन्द्र प्रतिमा अनेक भिक्षु वज्रमध्य चन्द्र प्रतिमा तप करते थे।

इस वर्णन के अतिरिक्त भी अंतगड़ सूत्र में गुणरत्न संवत्सर तप, रत्नावली तप, मुक्तावली तप, भद्रोत्तर प्रतिमा आदि का भी वर्णन है। दशाश्रुत

---

१ अंतगड़ सूत्र वर्ग १ से ८ तक
२ उववाई सूत्र १५

स्कंध में १२ भिक्षु प्रतिमाओं का वर्णन है। यहां प्राप्त क्रम के अनुसार इन तप: कर्मों की संक्षिप्त परिभाषा बताई जाती है—

प्रतिमाएँ—प्रतिमाएँ अनेक प्रकार की है, किसी प्रतिमा में तप के साथ ध्यान एवं कायोत्सर्ग का भी विधान है,वे प्राय: ध्यान प्रधान ही होती हैं, कुछ प्रतिमाओं में क्रमश: आहार का त्याग व भिक्षा में आहार की दत्ति का नियम रहता है।

भिक्षु प्रतिमा—भिक्षु के द्वारा विविध प्रकार के अभिग्रहों के साथ तप का आचरण करना प्रतिमा कहलाता है। ये प्रतिमाएँ बारह हैं। इनमें ध्यान व कायोत्सर्ग भी साथ में चलता है।

(१) **मासिकी प्रतिमा**—यह पहली प्रतिमा है—इसका समय एक मास का है। एक मास तक भिक्षु एक दत्ति भोजन की और एक दत्ति पानी की ग्रहण करता है। दत्ति से अभिप्राय है—सतत धारा। दाता भोजन देना प्रारम्भ करता है और जब तक वह क्रम बीच में नहीं टूटता वह एक दत्ति कहलाती है। यदि एक ग्रास या एक बूँद जल देकर बीच में धारा टूट गई तो वह एक दत्ति हो गई। उसमें दुवारा नहीं लिया जाता। प्रतिमाधारी मुनि सतत ध्यान व कायोत्सर्ग में लीन रहता है। सिर्फ एक बार भिक्षा का समय होने पर भिक्षार्थ जाता है। उसमें भी अभिग्रह व कठोर नियम रहता है, उस नियम के साथ यदि आहार मिले तो लें, नहीं तो बिना लिए ही लौट आता है। इसके संपूर्ण नियम विस्तार के साथ दशाश्रुतस्कंध में बताये गये हैं।[1]

(२) **द्विमासिकी प्रतिमा**—द्विमासिकी प्रतिमा में दो मास तक दो दत्ति आहार की व दो दत्ति पानी की ग्रहण की जाती है, त्रिमासिकी में तीन मास तक तीन-तीन दत्ति, इसी क्रम से चार मासिकी में चार-चार दत्ति, पंच मासिकी में पांच-पांच दत्ति, षट् मासिकी में छह-छह दत्ति, सप्त मासिकी में सात-सात दत्ति ग्रहण की जाती है।

---

१ दशाश्रुत स्कंध दशा ७

आठवीं से दशवीं—प्रतिमा तक प्रत्येक प्रतिमा का कालमान एक सप्ताह का होता है। इनमें एक दिन चौविहार उपवास, दूसरे दिन पारणे में आयंबिल किया जाता है। आठवीं प्रतिमा को **प्रथम सप्त अहोरात्र प्रतिमा** भी कहा जाता है। इसमें सात दिन तक चौविहार एकान्तर उपवास रख कर उत्तानक या किसी पार्श्व से शयन या पलथी लगाकर गांव आदि से बाहर सुनसान जंगल में कायोत्सर्ग किया जाता है।

नवमी प्रतिमा—द्वितीय सप्त अहोरात्र प्रतिमा कहलाती है। इसमें भी सात दिन तक एकान्तर चौविहार उपवास, पारणे में आयंबिल उत्कुटुक, लगण्डशायी (केवल सिर व एडियों का पृथ्वी पर स्पर्श हो, इस प्रकार पीठ के बल लेटना, या दण्डायत (सीधे दण्डे की तरह लेटना) होकर ग्रामादिक के बाहर कायोत्सर्ग किया जाता है।

दसवीं प्रतिमा—तृतीय सप्त अहोरात्र प्रतिमा है। इसमें सात दिन के चौविहार एकान्तर तप के साथ गोदुहासन वीरासन, या आम्रकुब्जासन (आम्रफल की तरह वक्राकार स्थिति में बैठना) से ग्रामादि के बाहर कायोत्सर्ग किया जाता है।

ग्यारहवीं प्रतिमा—एक अहोरात्र की होती है। इसमें भिक्षु चौविहार वेला करता है और गांव के बाहर शून्य स्थान में भुजाएं सीधी लम्बी करके कायोत्सर्ग करता है। बारहवीं प्रतिमा **एकरात्रि प्रतिमा** कही जाती है। इस की साधना सर्वाधिक कठोर है। सामान्य साधु इस प्रतिमा की आराधना नहीं कर सकता। विशिष्ट संहनन, विशिष्ट धैर्य, व महासत्व से युक्त भावितात्मा अणगार गुरु आदि की आज्ञा प्राप्त करके ही इस प्रतिमा की आराधना कर सकता है। इस प्रतिमा की आराधना में चौविहार तेला (अष्टम भक्त) किया जाता है। ग्राम आदि के बाहर जिनमुद्रा (दोनों पैरों के बीच चार अंगुल का अन्तर रखते हुए सीधा सम अवस्था में खड़े रहना) में स्थित होकर भुजाएं लम्बी करके, अनिमिष नयन एक पुद्गल पर दृष्टि टिकाकर झुके हुए वदन से एक दिन रात तक कायोत्सर्ग किया जाता है। इस साधना में अनेक प्रकार के दैविक, मानुषिक, तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्ग भी

आते हैं, भिक्षु उन्हें अपार धैर्य के साथ सहन करता है। उसका ध्यान आत्म-स्वरूप में ही लीन रहता है। यदि वह किसी कारण इस प्रतिमा से चलित-भ्रष्ट हो जाता है तो या तो उन्मत्त—पागल हो सकता है, कोई भयंकर रोग से पीड़ित हो सकता है, अथवा धर्म से भ्रष्ट भी हो सकता है। यदि इस प्रतिमा की आराधना में सफल होता है तो वह, अवधिज्ञान या मन:पर्यव ज्ञान की प्राप्ति अवश्य करता है। इसे ही एकरात्रि **महाप्रतिमा** कहा गया है। गजसुकुमाल मुनि ने महाकाल श्मशान में इसी महाप्रतिमा की आराधना कर एक ही दिन की साधना में मोक्ष प्राप्त किया था।[1]

सर्वतोभद्र प्रतिमा—सर्वतोभद्र प्रतिमा की दो विधियां बताई गई हैं। प्रथम विधि के अनुसार क्रमशः दशों दिशाओं की ओर मुख करके एक-एक अहोरात्र का कायोत्सर्ग किया जाता है। भगवान महावीर ने इसी सर्वतो भद्र प्रतिमा की आराधना की थी।

सर्वतो भद्र प्रतिमा की दूसरी विधि के दो भेद किये गये हैं। एक लघसर्वतो भद्र, तथा दूसरी महासर्वतो भद्र।

१ लघु सर्वतोभद्र प्रतिमा--सर्वतोभद्र का अर्थ है अंकों की इस प्रकार की स्थापना जिसको किधर से ही गिनो, योग एक समान आये। जैसे सर्वतोभद्र यंत्र बनाया जाता है, उसमें चारों तर्फ से गिनने पर समान योगफल आता है, वैसे ही प्रत्येक पंक्ति की संख्या का योग समान होना सर्वतोभद्र प्रतिमा है।

इस प्रतिमा में उपवास से प्रारंभ किया जाता है, और बढ़ते हुए पंचोला (द्वादशभक्त) तक पहुंचा जाता है। इसकी पांच पंक्तियां पूरी होने पर एक परिपाटी होती है। एक परिपाटी का कालमान ३ महीने १० दिन होते हैं। चार परिपाटी की पूर्ण प्रतिमा होती है, जिनमें १३ मास १० दिन का कुल समय लगता है। अंक स्थापना का क्रम निम्न यंत्र से समझा जा सकता है। महासती महाकृष्णा (अंतगड) ने इस तप की आराधना की थी।

---

१ अंतगड़सूत्र—वर्ग ३।अ० ८

लघुसर्वतोभद्र प्रतिमा

१	२	३	४	५
३	४	५	१	२
५	१	२	३	४
२	३	४	५	१
४	५	१	२	३

(२) **महासर्वतो भद्र तप**—इस तप का प्रारम्भ उपवास से किया जाकर सात (षोडश भक्त) उपवास तक पहुँचा जाता है। बढ़ने का क्रम लघु की भांति ही है,अन्तर केवल इतना ही है कि लघु में उत्कृष्ट तप पंचोला है, महा में ७ उपवास। एक परिपाटी का कालमान १ वर्ष १ महीना और १० दिन है। इसकी भी चार परिपाटी होती है। चारों का सम्पूर्ण कालमान ४ वर्ष ५ मास १० दिन का है। इसकी आराधना वीरकृष्णा (अंतगड़) ने की थी। इसका क्रम निम्न यंत्र के अनुसार है—

महासर्वतो भद्र प्रतिमा

१	२	३	४	५	६	७
४	५	६	७	१	२	३
७	१	२	३	४	५	६
३	४	५	६	७	१	२
६	७	१	२	३	४	५
२	३	४	५	६	७	१
५	६	७	१	२	३	४

भद्रोत्तर प्रतिमा—इस तप का आरम्भ पंचोले (द्वादश भक्त) से प्रारम्भ होकर नौ (बीस भक्त) तक पहुंचता है। यह भी पिछले क्रम से चलता है। एक परिपाटी में छहमास बीस दिन लगते हैं। चारों परिपाटी पूर्ण करने में २ वर्ष २ मास २० दिन लगते हैं। महासती रामकृष्णा (अंतगड़) ने इस तप की आराधना की थी। इसे निम्न यंत्र से समझें।

भद्रोत्तर प्रतिमा

५	६	७	८	९
७	८	९	५	६
९	५	६	७	८
६	७	८	९	५
८	९	५	६	७

यवमध्य चन्द्र प्रतिमा—यह तप शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से प्रारम्भ होता है। जैसे चन्द्रमा की कला शुक्ल पक्ष में बढ़ती है और पूर्णिमा के बाद क्रमशः घटती जाती है वैसे ही इस तप में यवाकृति से भिक्षा में आहार की दत्ति की वृद्धि-हानि होती रहती है। उदाहरणार्थ-शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को एक दत्ति, द्वितीया को दो दत्ति और इस क्रम से एक-एक दत्ति बढ़ाते हुए पूर्णिमा को पन्द्रह दत्ति। कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा को चौदह दत्ति, और क्रमशः एक-एक दत्ति घटाते हुए चतुर्दशी को केवल एक दत्ति ही ग्रहण की जाती है। अमावस्या को उपवास रखना होता है। पूरी तपस्या एक मास की होती है—देखें चित्र परिशिष्ट १ में।

वज्रमध्य चन्द्र प्रतिमा इसका क्रम कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से प्रारम्भ होकर चन्द्र कला की हानिवृद्धि के अनुसार दत्ति की हानि-वृद्धि से वज्राकृति बनती है। उदाहरणार्थ कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा को १५ दत्ति, द्वितीया को १४ यों घटाते-घटाते अमावस्या को एक दत्ति। शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को दो और फिर क्रमशः एक-एक दत्ति बढ़ाते हुए चतुर्दशी को १५ दत्ति और पूर्णिमा को उपवास किया जाता है। इस तप का काल मान एक मास का है। देखिये चित्र परिशिष्ट १ में।

लघुसिंह निष्क्रीडित तप—सिंह गमन करता हुआ पीछे मुड़कर देखता है—यह सिंह का जातिगत स्वभाव है। इसी अर्थ में सिंहावलोकन शब्द चलता है। सिंह की इसी गति के क्रम से आगे बढ़ना और साथ ही पीछे आना, फिर आगे बढ़ना और फिर पीछे आना—इस गति से जो तप किया जाता है वह सिंहनिष्क्रीडित तप कहलाता है। यह दो प्रकार का है—एक लघु सिंह निष्क्रीडित दूसरा, महासिंहनिष्क्रीडित !

लघुसिंह निष्क्रीडित तप में अधिक से अधिक नौ दिन की तपस्या की जाती है, और फिर उसी क्रम से तप का उतार होता है। इस तप की एक परिपाटी में ६ मास ७ दिन लगते हैं। चारों परिपाटी में २ वर्ष २८ दिन लगते हैं। यह तप महाकाली ने किया था। समझने के लिए चित्र देखें परिशिष्ट १ में।

महासिंह निष्क्रीडित तप—लघुसिंह निष्क्रीडित तप का वर्णन ऊपर में किया गया है। उसमें अधिक से अधिक नौ दिन की तपस्या की जाती है, इस तप में अधिकाधिक सोलह दिन का तप होता है और फिर उसी क्रम से उतार भी होता है। समग्र तप में १ वर्ष ६ महीने और १८ दिन लगते हैं। इस तप की भी चार परिपाटी होती है। चारों परिपाटी में छह वर्ष दो महीने १२ दिन लगते हैं। अंतगड़ सूत्र के वर्णनानुसार इस तप की आराधना महासती कृष्णा ने की थीं समझने के लिए चित्र देखिए परिशिष्ट १ में।

मुक्तावली तप—मोतियों के हार विशेष की आकृति की कल्पना के

अनुसार इस तप में एक चरण आगे बढ़ाकर फिर पीछे आया जाता है, और फिर अगले चरण से एक चरण आगे बढ़ा जाता है।

इसकी पहली परिपाटी में १० मास १५ दिन लगते हैं। चारों परिपाटी में ३ वर्ष १० मास का समय लगता है। पहली परिपाटी के पारणे में विगय आदि सब रस लिये जा सकते हैं। दूसरी परिपाटी में पारणे में विगय का त्याग, तीसरी में लेप का भी त्याग और चौथी परिपाटी में पारणे में आयंबिल किया जाता है। चित्र से स्पष्ट समझा जा सकता है। अंतगड़ सूत्र के वर्णनानुसार इसकी आराधना महासती प्रियसेनकृष्णा ने की थी।

रत्नावली तप—रत्नमणियों की आकृति बनाने की कल्पना के अनुसार इस तप की विधि का आचरण किया जाता है। उपवास से १६ तक बढ़ा जाता है और फिर उसी क्रम से उतरा जाता है। एक परिपाटी में १ वर्ष ३ मास २२ दिन लगते हैं। सम्पूर्ण तप में ५ वर्ष २ मास २८ दिन लगते हैं। पारणे में विगय आदि का वर्जन चारों परिपाटी में पिछले क्रम से ही चलता है। परिशिष्ट गत चित्र से इसकी रचना समझी जा सकती है।

एकावली तप—एक लड़ी के हार की रचना की कल्पनानुसार इस तप का आचरण किया जाता है। उपवास से सोलह तक चढ़ना और फिर उसी क्रम से उतरना। एक परिपाटी में १ वर्ष २ मास और २ दिन का समय लगता है। चारों परिपाटी में कुल ४ वर्ष ८ मास और ८ दिन का समय लगता है। पहली में सर्व रस ग्राह्य होते हैं, दूसरी परिपाटी के पारणे में विगय का त्याग, तीसरी में लेप त्याग एवं चौथी में आयंबिल किया जाता है। चित्र देखिए परिशिष्ट १ में।

कनकावली तप—स्वर्ण मणियों के भूषण विशेष के आकार की कल्पना के अनुसार यह तप किया जाता है। एक परिपाटी में १ वर्ष ५ मास १२ दिन व चारों परिपाटी में ५ वर्ष ९ मास और १८ दिन लगते हैं। विगय आदि का त्याग पूर्ववत ही समझना चाहिए। चित्र देखें।

गुणरत्न संवत्सर तप—इस तप में विशेष निर्जरा गुणों की रचना (उत्पत्ति) होती है, अथवा विशेष निर्जरा गुण रूप रत्नों की आराधना में

एक वर्ष का समय बीतता है इसलिए इसे गुणरत्न संवत्सर तप कहते हैं। इसमें तपो दिन १ वर्ष से अधिक होते हैं इसलिए भी इसके साथ संवत्सर नाम जुड़ा है। इसमें प्रथम मास में एकान्तर उपवास किये जाते हैं, १६ उपवास और १४ पारणे होते हैं। द्वितीय मास में बेले-बेले पारणा, तृतीय में तेले-तेले इस प्रकार क्रमशः बढते हुए सोलहवें महीने में सोलह-सोलह का तप किया जाता है। तपस्या के साथ दिन में उत्कुट्टुकासन से सूर्य के सामने बैठकर आतापना ली जाती है, और रात में वीरासन से वस्त्र रहित रहा जाता है। सम्पूर्ण तप में १६ मास ७ दिन लगते हैं, जिसमें ७३ दिन पारणे के आते हैं। अक्षोभ सागर मुनि (अंतगढ़ २) ने इस तप की आराधना की थी। चित्र देखिए परिशिष्ट १ में।

आयंबिल वर्धमान तप—आयंबिल की परिभाषा पीछे बतायी जा चुकी है। भुना हुआ,तथा रंधा हुआ एक प्रकार का ही अन्न पानी में भिगोकर दिन में एक बार खाना आयंबिल कहलाता है। वर्धमान का अर्थ है निरंतर बढ़ते जाना। पहले दिन १ आयंबिल, फिर दो आयंबिल, फिर उपवास, तीन आयंबिल फिर उपवास यों बढ़ाते हुए सौ आयंबिल तक चले जाना और बीच-बीच में उपवास करते जाना आयंबिल वर्धमान तप कहलाता है। इस तप में कुल २४ वर्ष ३ मास और बीस दिन का समय लगता है। अंतगड़ सूत्र के अनुसार महासती महासेन कृष्णा ने इस तप की आराधना की थी।

प्राचीन ग्रन्थों एवं परम्परागत मान्यताओं में उक्त तपः विधियों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रकार के तप प्रचलित हैं। कुछ तप प्राचीन परम्पराओं की स्मृति में किये जाते हैं, कुछ आराधना में एवं कुछ पर्वों के उपलक्ष्य में। स्मृति रूप में किये जाने वाले तप को संस्मरणात्मक तप भी कह सकते हैं। कुछ तप वर्तमान में बहुत ही प्रसिद्ध हैं। जैसे—

(१) **वर्षीतप**—प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने चैत्र कृष्णा अष्टमी को दीक्षा ली थी, उसी दिन से तप प्रारम्भ कर वैशाख शुक्ला ३ तक वे निराहार रहे अर्थात् लगभग एक वर्ष और पच्चीस दिन तक उपवास करते रहे। वैशाख शुक्ला ३ को इक्षुरस के द्वारा उनका पारणा हुआ। उनकी

उसी स्मृति में चैत्र कृष्णा ८ से प्रारम्भ कर वैशाखशुक्ला ३ तक एकान्तर उपवास करना वर्षी तप कहलाता है।

(२) छह मासी तप—भगवान महावीर १३ बोल के अभिग्रह के समय ५ मास २५ दिन तक निराहार रहे। उस स्मृति में ५ मास २५ दिन तक एकान्तर तप आदि करना छहमासी तप कहा जाता है।

(३) कल्याणक तप—प्रत्येक तीर्थङ्कर की पंच कल्याणक तिथियां हैं—च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण। इन कल्याणक तिथियों को उपवास या आयम्बिल करना कल्याणक तप है। इन तिथियों में अक्षय तृतीया (ऋषभ पारणा) पोष वदि १० (पार्श्व जयन्ती) चैत्र सुदि १३ (महावीर जयन्ती) कार्तिक अमावस्या (दीपावली) आदि के उपलक्ष्य में अनेक लोक उपवास, तथा दीवाली को बेला आदि करते हैं।

(४) महावीर तप—भगवान महावीर ने १२॥ वर्ष के छद्मस्थ काल में अनेक तपस्याएं की थीं। १ छमासी तप, १ पांच मास, २५ दिवस। ९ चार मासी, २ तीन मासी, २ दो मासी, १२ एक मासी ७२ पाक्षिक तप, १२ तेले २२९ बेले, १ भद्र प्रतिमा १ महा भद्र प्रतिमा, १ सर्वतोभद्र प्रतिमा तप किये थे। आज उनकी स्मृति में तेले तक के तप के स्थान पर एकान्तर उपवास, तथा बेले के स्थान पर आयबिल के बेले, आदि किये जाते हैं, जो महावीर तप कहलाता है।

(५) चन्दन बाला तप—तेला करके पारणे में उरद के बाकले, व कोई रूक्ष नीरस वस्तु ग्रहण करना। यह तप चन्दनबाला के तेले की स्मृति में किया जाता है।

(६) प्रदेशी तप—प्रदेशी राजा पहले कट्टर नास्तिक था। केशीकुमार श्रमण ने उसे प्रतिबोध देकर सम्यक्त्वी बनाया। सम्यक्त्व प्राप्ति के पश्चात् उसने १३ बेले और १ तेला किया। उस स्मृति में आज भी १३ बेले और १ तेला किया जाता है जिसे प्रदेशी तप कहते हैं।

कुछ तप इष्ट देव की आराधना के रूप में किये जाते हैं। जिन्हें आराधना तप कहा जा सकता है। जैसे ओलीतप अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य,

उपाध्याय, साधु, ज्ञान, दर्शन, चारित्र व तप—इन नौ पदों की आराधना स्वरूप वर्ष में दो बार नौ-नौ आयंबिल किये जाते हैं, जिसे आयंबिल की ओली कही जाती है। यह चैत्र शुक्ला सप्तमी से पूर्णिमा तक, तथा आश्विन शुक्ला सप्तमी से पूर्णिमा तक चलती है।

पाँच पदों के १०८ गुण होते हैं—अरिहंतों के १२, सिद्धों के ८, आचार्यों के ३६, उपाध्याय के २५ तथा साधुजी के २७—कुल १०८। इन गुणों की आराधना की भावना के साथ उतने-उतने दिनों का उपवास या आयंबिल आदि किया जाता है। जैसे अरिहंतों के १२ गुणों की आराधना के लिए १२ उपवास। इसी प्रकार अन्य गुणों की आराधना के लिए उतने उपवास करना। सम्यक्त्व, ज्ञान आदि की आराधना के लिए भी उनके गुणों के अनुसार उतने-उतने उपवास आदि करना। इस प्रकार प्राचीन महापुरुषों के विविध गुणों का निमित्त लेकर तप की आराधना करने की परिपाटी भी आज प्रचलित है।

संवत्सरी, चातुर्मासी, पूर्णिमा, चतुदर्शी, पांच तिथियों को उपवास, पर्युषण के आठ दिन उपवास करना ये सब पर्वलक्षी तप कहे जा सकते हैं।

कहीं-कहीं आगम आदि की वाचना करते समय भी तप किया जाता है। इसका उद्देश्य ज्ञान के प्रति विनय, तथा शास्त्रस्वाध्याय की निर्विघ्न समाप्ति की भावना है। शास्त्र के प्रति आदर बुद्धि रहेगी तो उसका अल्प ज्ञान भी सम्यक् रूप में परिणत होगा। इस दृष्टि से अनेक प्रकार के तप किये जाते हैं—जिन्हें **'उपधान तप'** कहते हैं।

इन सब प्रकार के तपों का पूरा लक्ष्य एक ही है—जीवन में किसी भी प्रेरणा से किसी भी निमित्त से संयम, त्याग तथा मनोनिग्रह की भावना जगे तथा उसे और प्रवृत्ति बढ़े। व्यक्ति भोग-विलास से हट कर तप त्याग के वातावरण में पलता रहे।

प्रकीर्ण तपों में अन्य भी अनेक प्रकार के तप का विधान मिलता है। चन्द्रायण तप, रोहिणी तप आदि। किन्तु मुख्य बात यह है कि तप के साथ किसी प्रकार की भौतिक कामना नहीं होनी चाहिए। भौतिक लाभ के लिए

इसी प्रकार अन्य अनेक अणगार व गृहस्थों का भी जहां वर्णन आता है वहाँ पहले तपस्या, फिर संलेखना और उसके साथ अनशन स्वीकारने की चर्चा आती है। आचारांग सूत्र का वह उल्लेख भी हमारे समक्ष है जिसमें बताया है कि साधु जब यह देखे कि यह शरीर अब जीर्ण हो रहा है, मुझे हलने चलने में भी ग्लानि हो रही है तब वह धीरे-धीरे तपस्या द्वारा शरीर त्याग करने की ओर बढ़े।

इन सब उद्धरणों से यह ज्ञात होता है कि यावज्जीवन अनशन के पूर्व उसकी भूमिका भी तैयार होनी चाहिए और वह भूमिका है संलेखना ! व्रतों में लगे हुए अतिचारों की आलोचना के साथ जो तपस्या की जाती है, जिससे कि दोष विशुद्धि होकर आत्मनिर्मलता व समाधि प्राप्त होती है— वह है संलेखना ! संलेखना की व्याख्या करते हुए बताया गया है—**सम्यक् काय—कषाय लेखना—संलेखना**।[1] काय-शरीर एवं कषाय—प्रमाद विकार आदि की सम्यक् प्रकार से लेखना करना—आलोचना आदि करके उन्हें कृश करना—इसका नाम है संलेखना। संलेखना के साथ आगमों में प्रायः— अपच्छिम मारणांतिकी शब्द आते हैं जिसका अर्थ होता है, उसके बाद में अन्य कोई संलेखना आदि शेष नहीं रहती वही अंतिम होती है और मरणकाल तक चलती है। जीवन के अंत में अनशन से पूर्व वह एक प्रकार का स्नान है, जिसके द्वारा साधक पूर्ण विशुद्ध स्थिति में आरूढ होकर अनशन व्रत स्वीकार करता है। भूतकालीन समस्त दोषों, अतिचारों की सम्यक् आलोचना करके साधक अपने दोषों की पूर्ण विशुद्धि कर लेता है, अपने व्रतों को उज्ज्वल निर्मल बना लेता है और पूर्ण मनःसमाधि में स्थिर हो जाता है! दिगम्बर आचार्य समन्तभद्र ने भी यही कहा है—"जीवन में आचरित अनशन आदि विविध तपों का फल है अन्त समय में गृहीत संलेखना ![2]

यावत्कालिक अनशन स्वीकारने से पूर्व संलेखना की पृष्ठभूमि तैयार करना आवश्यक है। इस पृष्ठभूमि पर आकर साधक शरीर से ममत्व हटाता

---

१ सर्वार्थसिद्धि ७।२२

२ रत्नकरण्ड श्रावकाचार ५।२

है, जीवन के प्रति राग-भावना का उच्छेद करता है और फिर अनशन व्रत को स्वीकार करता है।)

भक्त प्रत्याख्यान

यावत्कालिक अनशन के दो भेद बताते हुए कहा है -

आवकहिए दुविहे पण्णत्ते—
पाओवगमणे य भत्तपच्चक्खाणे य।[1]

यावत्कालिक अनशन के दो भेद हैं—पादोपगमन और भक्त प्रत्याख्यान!

उत्तराध्ययन में कुछ भिन्न अपेक्षा से इसके दो भेद बताये हैं—

जा सा अरुणसणा मरणे दुविहा सा वियाहिया।
स वियारमवियारा कायचिट्ठं पई भवे॥[2]

—मरणकाल पर्यन्त अनशन तप के कायचेष्टा की अपेक्षा से दो भेद हैं—सविचार और अविचार!

जिस अनशन तप में शरीर की चेष्टा, हिलना, चलना, बाहर भ्रमण करना आदि काय व्यापार चालू रहते हों वह सविचार अनशन है। और जिसमें शरीर की समस्त क्रियाएँ बंध होकर देह बिल्कुल स्थिर निष्पंद हो जाती हैं वह अनशन की स्थिति अविचार अनशन है।

अनशन के ये भेद मरणकालीन स्थिति, कायचेष्टा आदि की अपेक्षा से बताये गये हैं, अतः इन्हें समझने के लिए हमें मरण के भेद भी समझ लेने चाहिए।

आगमों में मरण (मृत्यु) के सत्तरह भेद बताये गये हैं। अर्थात् सत्तरह प्रकार से प्राणी को मृत्यु प्राप्त होती है। उनमें पहला भेद है—आवीचिमरण अर्थात् नित्य मरण। जन्म के साथ ही उसी क्षण से मृत्यु भी प्रारम्भ हो जाती है, प्रतिक्षण आयु घटती है, सागर में लहर पर लहर सतत चलती रहती है, उसी प्रकार मृत्यु भी प्राणी के साथ निरन्तर चलती रहती है। प्रतिक्षण

---

१ उववाई सूत्र।
२ उत्तराध्ययन ३०।१२

आयु घटती है, प्राणी मरता है इसे 'आवीचिमरण' या 'नित्य मरण' कहते हैं। इस मरण का आत्मपरिणामों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। इसके बाद अन्य प्रकार के कई मरण बताये हैं—जैसे अवधिमरण, अंतिक मरण, वलन्मरण, वशार्त मरण, तद्भव मरण, पंडित मरण, बाल-पंडित मरण, केवलि (पंडित-पंडित) मरण। अंत में तीन मरण बताये गये हैं—**भक्त परिज्ञा मरण, इंगिनी मरण, पादोपगममरण**—इन तीन मरणों का सम्बन्ध अनशन (संथारा-संलेखना) के साथ है। जीवन के अन्तकाल में जब साधक देखता है कि उसका आयु, बल आदि क्षीण होने लगे हैं, शरीर गलने लगा है, तब आत्म-शुद्धि के लिए भूतकाल में किये गये दोष, अतिचार आदि की सम्यक् आलो-चना करता हुआ आहार पानी आदि का प्रत्याख्यान करके समाधि के साथ मरणाभिमुख स्थिति को स्वीकार करलें।

भक्त परिज्ञा मरण को स्वीकार करना ही भक्त प्रत्याख्यान तप कहलाता है। इस तप में यावज्जीवन के लिए आहार (तीनों आहार) अथवा आहार-पान (चारों आहार) का त्याग किया जाता है। आहार प्रत्याख्यान करके साधक सतत स्वाध्याय-ध्यान आत्मचिंतन, क्षमापना आत्मालोचन में ही अपना समय बिताता है। उसके मन में जीवन के प्रति बिल्कुल ही मोह नहीं रहता। जब मोह नहीं रहता तो भूख-प्यास की वेदना उसे कष्ट नहीं दे सकती, उसके मन में किसी प्रकार का संक्लेश पैदा नहीं हो सकता। किंतु सदा समाधि एवं प्रसन्नता का भाव मुख पर जगमगाता रहता है।[1]

इस अनशन में साधक-शारीरिक चेष्टाओ का त्याग नहीं करता, शक्ति रहो तो अपनी सेवा सुश्रूषा स्वयं भी करता रहता है, अपनी प्रतिलेखना, आवश्यक क्रियाएँ भी हाथ से करता है, उपदेश भी देता है और विहार आदि का प्रसंग आने पर यथाशक्ति वह भी कर सकता है।

सोलहवां मरण बताया है—**इंगिनीमरण**—यह **भक्त प्रत्याख्यान तप** से आगे की स्थिति है। भक्त प्रत्याख्यान करने के बाद जब साधक अपनी शारी-

1 उत्तराध्ययन २६।३५

रिक चेष्टाओं को नियमित कर लेता है—कि मैं अमुक मर्यादा से अधिक क्षेत्र के बाहर नहीं जाऊंगा। इतने स्थान में ही रहूँगा, तथा अपनी सेवा स्वयं करूंगा, किसी अन्य की सेवा, सहयोग नहीं लूंगा—इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके रहना—**इंगिनी मरण** कहलाता है।

उक्त दोनों तप सविचार तथा सपरिक्रम तप है, इनमें शरीर आदि की चेष्टाएं, हिलना-डुलना खुला रहता है, तथा शरीर की सेवा दूसरों से भी ली जाती है, स्वयं भी की जाती है।

पादोपगम—मरण के भेदों में यह सत्रहवां तथा अन्तिम मरण है। इसे **पादपोपगम** भी कहते हैं—शब्दार्थ व भाव दोनों का एक ही है—पादप अर्थात् वृक्ष—वृक्ष के समान स्थिर होना—इसका अभिप्राय यह है कि वृक्ष जैसे जड़ से टूट कर, उखड़कर कहीं भी किसी भी स्थान पर गिर जाता है, और जहां गिरता है, फिर वहां से हिलता नहीं, निश्चल रहता है उसी प्रकार साधक अनशन व्रत स्वीकार कर शरीर की समस्त चेष्टाओं का त्याग कर टूटे हुए वृक्ष की भांति अचंचल—चेष्टा रहित यावत् एक ही स्थान पर—जिस स्थान पर जिस मुद्रा में प्रारम्भ में स्थिर हुआ है अन्तिम क्षण तक उसी मुद्रा में स्थिर रहता हुआ आयु पूर्ण करता है। इस अवस्था में निश्चलता इतनी रहती है कि आंख भी यदि खुली है तो उसे बन्द नहीं की जातीं। सम्पूर्ण विदेह भाव उस अवस्था में प्राप्त हो जाता है। और साधक मरणांत तक शुभध्यान में स्थिर रहता है। पादोपपगम अनशन के विषय में बताया गया है—

पढमंमि अ संघयणे वट्टंतो सेलकुट्ट समाणो।
तेसिं पि अ वुच्छेऊं चउद्दसपुव्वीण वुच्छेए॥[1]

(जिसका वज्रऋषभ नाराच संहनन हो, वही यह अनशन स्वीकार कर सकता है। अनशन स्वीकार कर पर्वत शिखर की भांति निश्चल रहना सरल नहीं, अतः सामान्य संहनन वाला इसे नहीं कर सकता। चौदह पूर्वी

१ उपदेश प्रासाद भाग ४। पृ० ४४०।

का विच्छेद होने के पश्चात् **पादपोपगम अनशन** का भी विच्छेद हो जाता है।

उक्त तीनों ही अनशन सामान्य स्थिति में संलेखना पूर्वक ही किये जाते हैं और यह भी तब-जब आयु, बल आदि की क्षीणता से साधक को मृत्युकाल निकट प्रतीत होता हो, अथवा ज्ञानी के तथा देवता आदि के वचनों से मृत्युज्ञान हो गया हो - उस स्थिति में साधक संलेखना के साथ अनशन स्वीकार करता है—उसे **अकारण अनशन** कहा जाता है। कहीं-कहीं (उववाई-भगवती) आदि में इसे **निर्व्याघात अनशन** भी कहा गया है। किन्तु यदि कभी ऐसी परिस्थिति आ जाय—जैसे अचानक बिजली गिर पड़ी हो, पर्वत से गिर पड़ा हो, सर्प ने डस लिया हो उस दशा में मृत्युकाल अतिनिकट आ जाने से साधक तुरन्त ही अनशन स्वीकार कर सकता है। क्योंकि उस दशा में इतना समय भी नहीं रहता कि पहले संलेखना करे तथा संलेखना का जो उद्देश्य है वह भी वहां पूर्ण नहीं होता। संलेखना अनशन की पूर्व भूमिका है, इससे शरीर कषाय आदि को कृश करके शरीर व मन की स्थिति को अनशन के योग्य बनाया जाता है, किन्तु आकस्मिक व्याघात आदि में तो शरीर छूटने की स्थिति स्वतः ही प्राप्त हो जाती है, अतः उस दशा में तो साधक शीघ्र ही अनशन व्रत स्वीकार कर समाधि भाव के साथ शरीर छोड़ने को प्रस्तुत हो जाता है। उक्त अनशन को सकारण तथा **व्याघातिक अनशन** कहा गया है।

साधक शरीर त्याग कहां, किस स्थान पर करता है, उसके विचार से अनशन के दो भेद और बताये गये हैं—**नीहारिमनीहारी**—नीहारिम और अनीहारिम।

यदि शरीर त्याग किसी पर्वत की गुफा में, शिखर पर, जंगल में ऐसे निर्जन स्थान में किया जाता हो, जहां से शव को उठाकर लाने की आवश्यकता नहीं रहती हो, वहीं पक्षी आदि उसे खाकर समाप्त कर दें, उस अनशन को **नीहारिम** कहा गया है। यदि शरीर त्याग ग्राम नगर या जन-संकुल स्थान में किया जाता है जहां से कि शव को उठाकर एकांत में संस्कार करने की आवश्यकता रहती हो, उस अनशन को **अनिहारिम अनशन** कहा गया है। ये भेद शव-संस्कार की अपेक्षा से है, वास्तविक भेद तो कुछ नहीं है।

उपसंहार

अनशन में मूलतः आहार त्याग एवं कषाय व दोष विशुद्धि रहती है, यह तो प्रत्येक अनशन में ही समान है। यदि आहारत्याग के साथ कषाय-वर्जना नहीं होती तो वह अनशन भी नहीं होता। क्रोध आदि के वश में मोह में फंस कर, दुःखी होकर, क्लेश, द्वेष राग आदि के निमित्त से प्रेरित होकर समुद्र में कूदना, कूए में गिरना, ऊपर से छलांग लगाना, किसी भी प्रकार आत्महत्या करना - शरीर छोड़ देना, यह महापाप है। क्योंकि ऐसी स्थिति में प्राणी की भावनाएं बड़ी कलुषित रहती है, आक्रोश, द्वेष और रोष से जलता हुआ वह मृत्यु प्राप्त करेगा तो अगले भव में भी जलता रहेगा। शास्त्र में कहा गया है—आत्मा जिन लेश्याओं, परिणामों एवं भावनाओं में मृत्यु प्राप्त करता है, उन्हीं लेश्याओं आदि की परिणति में आगे जन्म ग्रहण करता है। (वास्तविकता तो यह है कि आगे जिस प्रकार की गति में जन्म लेना होता है उसकी आनुपूर्वी यहीं पर आ जाती है।) मरते समय यदि कोई अशांति और संक्लेश के साथ मरता है तो समझ लेना चाहिए अगली गति भी उसकी वैसी ही होगी। मृत्यु के समय यदि शांति, समाधि और प्रसन्नता के साथ प्राण त्यागता है तो यह उसके आगामी भव का स्पष्ट चित्र है कि आगे भी वह सद्गति में जायेगा।

मृत्यु को सुखद, शांतिमय तथा समाधिपूर्ण बनाने के लिये ही अनशन तप पर बल दिया गया है। अनशनपूर्ण मृत्यु वास्तव में एक सुखद शांतिपूर्ण मृत्यु है—यही जीवन की परिपूर्ति है।

●●

ऊनोदरी तप

तप का दूसरा भेद है—ऊनोदरी तप। उनोदरी का शब्दार्थ है ऊन-कम, उदर-पेट! अर्थात् भोजन के समय पेट को खाली रखना, भूख से कम खाना ऊनोदरी है। ऊनोदरी को कहीं-कहीं—अवमौदरी भी कहा जाता है। उसका भी शब्दार्थ और भावार्थ यही है—अवम का अर्थ है—कुछ कम, या खाली, उदर का अर्थ है पेट : खाली पेट रखना!

प्रश्न हो सकता है, उपवास करना तो तप है, क्योंकि उसमें आहार का त्याग होता है, किन्तु ऊनोदरी में तो भोजन किया जाता है फिर यह तप कैसे?

उत्तर है—भोजन का सर्वथा त्याग करना तो तप है ही, किन्तु भोजन करने के लिए तैयार होकर, भूख से कम खाना, खाते-खाते रसना पर संयम कर लेना और स्वाद आते हुए भोजन को बीच ही में छोड़ देना भी उतना ही दुष्कर है जितना उपवास करना। बहुत से व्यक्ति तो यह भी कहते हैं कि उपवास करना सरल है, किन्तु भोजन सामने आने पर पेट को खाली रखना, बीच ही में हाथ खींच लेना बहुत कठिन है। आत्म संयम और दृढ़ मनोबल

के बिना यह तप नहीं हो सकता। इसलिए निराहार रहने की अपेक्षा आहार करते हुए पेट को खाली रखना, अधिक संयम व मनोबल का कार्य है।

दूसरी बात यह कि उपवास आदि में शारीरिक बल, सामर्थ्य, एवं स्वास्थ्य आदि की अपेक्षा रहती है किन्तु ऊनोदरी तप तो रोगी, कमजोर और दुर्बल व्यक्ति भी कर सकता है। बल्कि ऊनोदरी में अनेक रोग भी मिट जाते है, अस्वस्थ व्यक्ति स्वस्थ हो जाते हैं। रोगावस्था प्रवास आदि प्रत्येक परिस्थिति में बालक, वृद्ध, आदि सभी इस तप की आराधना कर सकते हैं। इसलिए ऊनोदरी तप कठिन भी है और सर्वसुलभ भी। थोड़ा सा वैराग्य, विवेक और धर्मज्ञान होने पर हर कोई साधक इस तप का आचरण कर सकता है।

ऊनोदरी का अर्थ व रूप

ऊनोदरी का प्रचलित अर्थ प्रायः 'कम खाना' से लिया जाता है। अल्प-आहार, परिमित आहार आदि शब्दों से ऊनोदरी का भाव प्रकट होता है। यद्यपि जैन सूत्रों में ऊनोदरी के सम्बन्ध में बहुत ही सूक्ष्म विचार किया गया है। आहार की भांति, कषाय, उपकरण आदि की भी ऊनोदरी की जाती है, प्रत्येक वस्तु का संयम करना, आवश्यकताओं को कम करके इच्छा का निरोध करना इस व्यापक अर्थ में ऊनोदरी तप को लिया गया है। जिस वस्तु की हमें आवश्यकता है, उस वस्तु के सम्बन्ध में विचार करना, उस की मात्रा के सम्बन्ध में विचार करना और फिर अधिक से अधिक संयम करके वस्तु को कम से कम मात्रा में ग्रहण करना—यह ऊनोदरी का भाव है। आध्यात्मिक क्षेत्र के साथ-साथ व्यावहारिक क्षेत्र में, रोज-मर्रा के जीवन में भी इस का बहुत उपयोग हो सकता है और उससे अनेक लाभ भी हो सकते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में ऊनोदरी संयम का रूप लेती है, साधना कहलाती है और व्यावहारिक क्षेत्र में, कम खर्च, किफायतसारी और सभ्यता का परिचय देती है। इसलिए यहाँ हम ऊनोदरी के सब अंगों पर क्रमशः विचार करेंगे।

कुछ सूत्रों में ऊनोदरी के दो भेद बताये गये हैं—

ओमोयरिया दुविहा
दव्वोमोयरिया य भावोमोयरिया[1]

ऊनोदरी दो प्रकार की है—१ द्रव्य ऊनोदरी। २ भाव ऊनोदरी।

कहीं-कहीं ऊनोदरी के पांच भेद भी किये गये हैं—

ओमोयरणं पंचहा समासेण वियाहियं।
दव्वओ खेत्त कालेण, भावेणं पज्जवेहि य।[2]

संक्षेप में ऊनोदरी के पांच प्रकार हैं—

(१) **द्रव्य ऊनोदरी**—आहार की मात्रा से कम खाना और आवश्यकता से कम वस्त्र आदि रखना।

(२) **क्षेत्र ऊनोदरी**—भिक्षा के लिए कोई स्थान आदि निश्चित कर वहीं से भिक्षा लेना।

(३) **काल ऊनोदरी**—भिक्षा के लिए काल—समय निश्चित कर उसी समय पर भिक्षा मिले तो लेना, नहीं तो न लेना।

(४) **भाव ऊनोदरी**—भिक्षा के समय अभिग्रह आदि करना।

(५) **पर्याय ऊनोदरी**—उक्त चारों भेदों को क्रिया रूप में परिणत करते रहना।

प्रसंग के अनुसार 'द्रव्य' के कई अर्थ हो जाते हैं। एक अर्थ है—नकली। जैसे द्रव्य साधु, द्रव्यसामायिक ! वास्तविक गुण से हीन होने पर आकृति, वेषभूषा आदि को देखकर किसी को साधु समझना या जो साधु दिखाई दे वह द्रव्य साधु है। यहां पर द्रव्य शब्द का यह अर्थ नहीं है। यहां पर द्रव्य का अर्थ है—वस्तु ! वस्तु या पदार्थ से सम्बन्धित जो ऊनोदरी होती है उसे 'द्रव्य ऊनोदरी' कहा गया है।

द्रव्य ऊनोदरी के दो भेद बताये हैं—

(१) **उवगरण दव्वोमोयरिया**—उपकरण द्रव्य ऊनोदरी।

(२) **भत्तपाणदव्वोमोयरिया**—भक्तपान द्रव्य ऊनोदरी।

---

१ भगवती सूत्र। तथा उववाई सूत्र,
२ उत्तराध्ययन ३०।१४

उपकरण ऊनोदरी

उपकरण का अर्थ है—उपकार करने वाली वस्तु। जिन वस्तुओं के द्वारा शीत-ताप आदि से शरीर की रक्षा होती हो, लज्जा का निवारण होता हो, भूख प्यास आदि मिटाने में सहयोग मिलता हो,तथा जो साधना की अन्य प्रवृत्तियों में सहकारी होती हो—उन वस्तुओं को उपकरण कहते हैं। इस दृष्टि से वस्त्र-पात्र आदि उपयोगी वस्तुओं की उपकरण संज्ञा होती है। इन उपकरणों की जो मर्यादा है, उससे कम उपकरण रखना, अर्थात् वस्त्र-पात्र आदि आवश्यक वस्तुओं की कमी करना— उपकरण द्रव्य ऊनोदरी है।

साधक का शरीर मोक्ष का साधन माना गया है। जब तक इस शरीर के द्वारा मोक्ष की साधना होती है—यह शरीर रक्षणीय है। सर्दी गर्मी से बचने के लिए वस्त्र आदि पहनना होता है, लोकलज्जा के लिए शरीर के आवश्यक अंगों को ढंकना होता है, दंश मशग आदि के काटने से शरीर की रक्षा करनी होती है अत:[1] वस्त्र शरीर के लिए, साधना के लिए आवश्यक होते हैं—इसलिए, **"तं पि संजम लज्जट्ठा धारंति परिहंरंति य"**—

वे वस्त्र आदि जब तक संयम यात्रा में आवश्यक होते हैं, श्रमण उन्हें धारण करता है, जब आवश्यक नहीं होते तो छोड़ भी देता है। संयम यात्रा में उपयोगी वस्त्र पात्र आदि परिग्रह नहीं है। क्योंकि जैसे साधना के लिए शरीर आवश्यक है, शरीर रक्षा के लिए भोजन आवश्यक है, वैसे ही वस्त्र पात्र भी आवश्यक है। शास्त्र में तीन प्रकार के परिग्रह बताये गये हैं—

(१) कर्म परिग्रह,

(२) शरीर परिग्रह,

(३) बाह्य भाण्ड मात्र उपकरण आदि परिग्रह।[2]

---

१ तीन कारण से वस्त्र रखना कल्पता है—लज्जा के लिए, लोकापवाद से बचने के लिए, परीपह से आत्मरक्षा के लिए—स्थानांग ३।३

२ भगवती सूत्र १८।७

अब यदि कोई बाह्य उपकरण को, और उसमें भी सिर्फ वस्त्र को ही परिग्रह माने और बाकी अन्य वस्तुओं को परिग्रह न माने तो क्या यह तर्क संगत बात है ? यदि वस्त्र परिग्रह है, तो भोजन, पात्र और शरीर भी परिग्रह है। जब शरीर की रक्षा करते हो, भोजन भी करते हो, पात्र-उपकरण आदि भी रखते हो तो फिर क्या सब परिग्रह वस्त्र में ही अटक गया है ? एकांत रूप से वस्त्र को परिग्रह मानना जैन-दर्शन के मर्म की अज्ञानता प्रगट करता है। परिग्रह क्या है ? इसका स्पष्टीकरण जैन-दर्शन एक वाक्य में ही कर देता है—

मुच्छा परिग्गहो वुत्तो—[१]

मूर्च्छा परिग्रहः[२]

यदि मूर्च्छाभाव है, ममत्व है तो शरीर भी परिग्रह हो सकता है और वस्त्र भी। यदि मूर्च्छाभाव नहीं है, तो न वस्त्र परिग्रह है, और न शरीर परिग्रह है।

वस्त्र-पात्र की मर्यादा

तो मैं बता रहा था कि संयम यात्रा चलाने के लिए साधक को वस्त्र पात्र आदि उपकरणों की आवश्यकता होती है, आवश्यकता के अनुसार और मर्यादा के अनुकूल वस्त्र-पात्र आदि रखना परिग्रह नहीं, किन्तु साधक के उपकरण होते हैं। परिग्रह बंध कारक होता है,उपकरण—उपकारी होता है। यदि उपकरण भी मर्यादा तोड़कर रखा जाये तो वह परिग्रह की कोटि में आ जायेगा। साधक भी बाधक बन जायेगा। इसलिए शास्त्र में साधु के वस्त्र पात्र आदि उपकरणों की मर्यादा और विधि बताई गई है—

(१) साधारणतः समर्थ साधु के लिए एक वस्त्र और अधिक से अधिक तीन वस्त्र[3] (चादर) और (साध्वी के लिए चार वस्त्र) वैसे ही एक पात्र व तीन पात्र की मर्यादा बताई गई है।

---

१ दशवैकालिक ६।२१

२ तत्वार्थ सूत्र ७।१२

३ आचारांग ८।३

(२) साधु जो वस्त्र ग्रहण करता है वह महामूल्य वस्त्र—बहुत मंहगा, दीखने में बहुत सुन्दर व आकर्षक नहीं होना चाहिए, किन्तु सादा, अल्पमूल्य वाला होना चाहिए।[1]

(३) साधु पांच प्रकार के वस्त्रों में से ही कोई वस्त्र ले सकता है जैसे—ऊन के, रेशम के, सन के, कपास के और वृक्ष आदि की छाल व तृण आदि के![2]

(४) इसी तरह तीन प्रकार के पात्र ग्रहण किये जा सकते हैं—तुंबे के, काठ के और मिट्टी के![3]

वस्त्र-पात्र ग्रहण करने की सम्पूर्ण विधि आचारांग ८।४ तथा दूसरे-श्रुत स्कंध के पांचवें अध्ययन के १-२ उद्देशक में विस्तार के साथ बताई गई है। यहाँ पर हमारा प्रसंग इतना ही है कि जितने वस्त्र पात्र की मर्यादा है, उस मर्यादा से कम वस्त्र-पात्र रखना। जैसे एक वस्त्र और एक पात्र रखना अथवा सम्पूर्ण परिहार करना **तवे से अभिसमन्नागए** वह तप कहा गया है। यह उपकरण ऊनोदरी है। जितनी मर्यादा है,उतने पूर्ण वस्त्र-पात्र रखने से उपकरण ऊनोदरी नहीं हो सकती!

उपकरण ऊनोदरी की साधना गृहस्थ भी कर सकता है। आज के युग में जहां वस्त्रों की सुन्दर से सुन्दर आकर्षक डिजाइनें, फेशनेबुल बारीक कपड़े, महामूल्यवान साड़ियां उपलब्ध होती हैं, जिन्हें देखकर मनुष्य का मन ललचा जाता है, उन्हें खरीदने की, संग्रह करने की, और पहनने की लालसा जगती है, उस लालसा के वश, इच्छा पूरी करने के लिए हजारों रुपये बर्बाद कर दिये जाते हैं। बहनें अपने पतियों को फेशनेबुल साड़ियां खरीदने के लिए, नई-नई डिजायन के गहने बनाने के लिए कितना परेशान करती हैं यह भी किसी से छुपी बात नहीं। मौज-शौक की इन वस्तुओं का संयम करने से,

---

१ आचारांग श्रुत० २।५।१
२ स्थानांग ५।३।४४५ तथा आचारांग २।५।१
३ आचारांग २।६।१

सादे व कम मूल्य के वस्त्र पहनने से—गृहस्थ भी उपकरण ऊनोदरी की साधना कर सकता है। इससे फिजूलखर्ची भी बचेगी और ऊनोदरी तप भी किया जा सकेगा।

भक्तपान ऊनोदरी

द्रव्य ऊनोदरी का दूसरा रूप है—भक्तपान ऊनोदरी। भक्तपान से आहार और पानी दोनों ही वस्तुएं ली जाती हैं। भोजन में आहार और पानी दोनों की ही आवश्यकता रहती है, अतः इन दोनों की मर्यादा करना और मर्यादा से कम खाना, अर्थात् पेट को खाली रखना भक्तपान ऊनोदरी कहलाती है।

आहार की मात्रा

साधक को सर्वप्रथम आहार की मात्रा का ज्ञान करना चाहिए। शास्त्र में बताया है—**माइन्ने असणपाणस्स**[1] साधक को खाने-पीने की मात्रा का ज्ञाता होना चाहिए। कितनी मात्रा में आहार करना चाहिए, और कितना पानी पीना चाहिए, किस आहार से शरीर में विकार आदि की वृद्धि होती है, किस आहार का कैसा परिणमन होता है—इन सब बातों का विशद ज्ञान साधक को होना चाहिए। आज देखा जाता है कि लोगों को भोजन के विषय में बहुत कम ज्ञान है। जो वस्तु जीवन के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण है उस विषय में अज्ञान रहना बहुत खतरनाक होता है। आयुर्वेद के प्रमुख ग्रंथ में कहा है—

मात्राशीः स्यात्। आहारमात्रा पुनरग्निबलापेक्षिणी।[2]

मात्रा युक्त आहार करने वाले बनो! क्योंकि आहार की मात्रा सदा अग्नि बल की अपेक्षा रखती है। अग्नि मंद है तो आहार की मात्रा कम करो, अग्नि प्रबल है तो आहार उचित मात्रा में करो! शतपथ ब्राह्मण (६।६।३।१७) में बताया है—शरीर की आवश्यकता से अधिक खाया हुआ आहार-रोग बढ़ाता है, विकारों की वृद्धि करता है, आवश्यकता से कम और

१ उत्तराध्ययन २।३
२ चरक संहिता सूत्र स्थान ५।३

अनुपयुक्त आहार-शरीर के बल, वीर्य, ओज आदि को क्षीण कर डालता है, आवश्यकता के अनुसार प्रकृति के अनुकूल किया हुआ आहार शरीर में शक्ति, बल, आरोग्य की वृद्धि करता है।

आचार्य उमास्वाति ने इसी बात को इन शब्दों में कहा है—

कालं क्षेत्रं मात्रां स्वात्म्यं द्रव्य-गुरु लाघवं स्वबलम्।
ज्ञात्वा योऽभ्यवहार्यं भुङ्क्ते किं भेषजैस्तस्य।[1]

जो काल, क्षेत्र, मात्रा, अपना हित, पदार्थ की गुरुता-लघुता—(हलका भारी पन) तथा अपनी पाचन शक्ति का विचार कर भोजन करता है, उसे दवा की कभी जरूरत नहीं पड़ती अर्थात् वह कभी रोग-ग्रस्त नहीं होता।

इसलिए आवश्यक है कि सबसे पहले आहार की मात्रा का ज्ञान प्राप्त किया जाये।

आहार की मात्रा

प्रश्न हो सकता है—वस्त्र और पात्र के सम्बन्ध में जिस प्रकार सामान्य नियम और मर्यादा है, क्या आहार के सम्बन्ध में वैसा कोई सामान्य नियम अथवा मर्यादा हो सकती है? चूँकि प्रत्येक व्यक्ति की खुराक अलग होती है, उसकी रुचि अलग होती है। उसकी पाचन शक्ति में अन्तर रहता है। कोई आदमी १० रोटी खाकर भी तृप्त नहीं होता और कोई-कोई १ रोटी भी नहीं खा सकता। कहते हैं गामा पहलवान मांस आदि के अलावा २५ सेर दूध, १ सेर बादाम, आधा सेर घी और ३ पोंड फल रोज खाता था। बहुत से व्यक्ति थाली पर बैठकर ना नहीं करते, जो आया सभी स्वाहा! एकबार कोई राजस्थानी ब्राह्मण कलकत्ता गया, ठाकुर के बासे में उसने खाना खाया। खाने के बाद दो पापड़ मांगे तो ठाकुर ने कहा—फुलके चाहे जितने खालो, पापड़ दो नहीं मिल सकते। ब्राह्मण भी जिद पर चढ़ गया, बोला—अच्छा, तो ला फुलके ही ला! ठाकुर परोसता गया, ब्राह्मण खाता गया। ५९ फुलके खा लिये, फिर भी ना नहीं कही, तो ठाकुर के होश गुम होगए, सोचा—

---

१ प्रशमरति प्रकरण १३७

यह तो ४०-५० आदमी की रसोई अकेला ही चट कर जायेगा। उसके पांव पकड़े—पंडित जी ! माफ करो !, पंडित जी ने कहा—कोई बात नहीं, पापड़ न हों तो फुलके ही चलने दो ! ठाकुर ने कहा—नहीं ! महाराज ! दूसरा पापड़ तैयार है, ले लो और मेरी जान छोड़ो !

तो ऐसे भी बहुत से व्यक्ति होते हैं, दो-चार सेर आटे में उनके पेट का पानी भी नहीं हिलता और ऐसे भी अमीर लोग होते हैं जो १ रोटी से एक ग्रास ज्यादा खा लिया तो अपचन हो जाता है। विचारों को रोटी भी हजम नहीं हो सकती, दूध घी की तो बात ही क्या ? तो जब भूख और खुराक की इतनी विभिन्नता रहती है तो भोजन की मात्रा के सम्बन्ध में क्या कोई एक सर्वमान्य नियम बन सकता है ? आचार्य सोमदेव सूरि ने कहा है—

न भुक्ति परिमाणे सिद्धान्तोऽस्ति[1]—

भोजन के विषय में—कितना खाना—इस सम्बन्ध में कोई सिद्धान्त नहीं है !

फिर कितना खाना—इसकी क्या मर्यादा हो सकती हैं ? उत्तर में आचार्य ने बताया है—**तथा भुञ्जीतः ! यथा सायमन्येद्युश्च न विपद्यते वह्निः**—भोजन की मर्यादा मनुष्य का अपना विवेक ही है, अपना पेट ही बता देता है कि कितना खाना चाहिए। जिस खाने से पेट इतना भारी न हो जाय, कि बस दूसरे समय भूख न लगे। उतना ही भोजन करना चाहिए जिस भोजन से संध्या के समय या दूसरे दिन सवेरे जठराग्नि बुझे नहीं, अर्थात् भूख बन्द न हो। बहुत से व्यक्तियों की आदत होती है—खाते समय उन्हें अपने पेट का पता नहीं लगता, कोई अच्छी स्वादिष्ट चीज आ गई कि खाते गये, जैसे कोठे में धान भर रहे हों। खाने के बाद पानी पीने की भी जगह नहीं रहती, सांस लेने में भी बड़ी कठिनाई होने लगती है। फिर डकारें आती हैं, पेट में शूल चलती है, कइयों को अजीर्ण हो जाता और विविध रोग हो जाते हैं। जैसे अग्नि में धीरे-धीरे ईंधन डालने पर तो वह अधिक प्रज्ज्वलित होती है, और

---

१ नीतिवाक्यामृत २५।४३

एकदम ही उस पर लकड़ियों का अम्बार लगा दिया तो वह बुझ जाती है—यही स्थिति जठराग्नि की है। धीरे-धीरे, थोड़ा-थोड़ा खाने से अग्नि तेज रहती है और एक साथ ही भूख से अधिक खा लिया तो बस अग्निमंद हो जाती है, अग्नि मंद हो गई तो बस फिर पाचन क्रिया बिगड़ जाती है, यकृत् काम करना बन्द कर देता है, खाये हुए का रक्त नहीं बनता, रस नहीं बनता, शरीर दुर्बल और क्षीण होने लग जाता है।

इसलिए कहा गया है कि खाने में सबसे पहली मर्यादा तो यही है कि उतना मत खाओ जिससे जठराग्नि मंद पड़ जाय, पाचन-क्रिया बिगड़ जाय।

बत्तीस कवल-प्रमाण

इसके साथ ही भोजन की कुछ न कुछ मर्यादा व समय भी निश्चित किया गया है। मात्रा के सम्बन्ध में विचार करते हुए जैन सूत्रों में कहा गया है—साधारण स्वस्थ मनुष्य का भोजन बत्तीस कवल प्रमाण होता है। कवल के दो अर्थ किये गये हैं—मुर्गी के अंडे के बराबर आहार का एक ग्रास एक कवल कहलाता है। कुछ आचार्यों ने कवल का अर्थ किया है—जितना अपना भोजन हो उसके बत्तीस भाग कर लेने पर बत्तीसवां भाग एक कवल होता है। यदि एक मनुष्य का भोजन आठ रोटी का है, तो एक रोटी का चौथा भाग एक कवल समझना चाहिए। उनकी दृष्टि में मुर्गी के अंडे (कुकड़ी का अंडा) का भी यही भाव है। भाष्यकार आचार्य ने कहा है—

"कुत्सिता कुटी कुक्कुटी शरीरमित्यर्थः। तस्याः शरीर रूपायाः कुक्कुट्या अण्डकमिवाण्डकं मुखं।"[1]

—कुत्सित कुटी जिसकी हो वह कुक्कुटी—अर्थात् शरीर, उस शरीर रूप कुक्कुटी का अंडा—अर्थात् मुख। मुंह में सुखपूर्वक जितना ग्रास आ सके—उतना एक कवल। सामान्यतः कवल का अर्थ यही समझना चाहिए कि अपनी खुराक का बत्तीसवां भाग एक कवल होता है। भगवती सूत्र में कवल के आधार पर जो ऊनोदरी तप की व्याख्या की है उससे भी यही अर्थ स्पष्ट

---

१ अभिधानराजेन्द्र भाग २ पृ० ११८२

होता है कि जिस पुरुष का जितना आहार है उसका बत्तीसवां भाग उसकी अपेक्षा से एक कवल कहलाता है।[1]

बत्तीस कवल का आहार पुरुष का संपूर्ण आहार माना गया है। स्त्री का आहार पुरुष की अपेक्षा कम होता है अत: अठाईस कवल प्रमाण स्त्री का और २४ कवल प्रमाण नपुंसक का संपूर्ण आहार है। इस प्रमाण से जितना कम खाया जाये उतनी ही ऊनोदरी होती है। कोई व्यक्ति अपने आहार का चौथाई अर्थात् आठ कवल प्रमाण भोजन करता है, वह **अल्पाहार** कहा जाता है! नौ से बारह कवल भोजन करना—**अपार्द्ध** तेरह से सोलह कवल तक का **दो भाग ऊनोदर**, चौबीस कवल तक का भोजन **पादोन ऊनोदर तप** और इकत्तीस कवल तक का भोजन करने वाला किंचित ऊनोदरी तप करता है। बत्तीस कवल प्रमाण का पूर्ण आहार करने वाला ऊनोदरी तप नहीं कर सकता, किन्तु वह प्रमाणोपेत आहार करने वाला है। बत्तीस कवल से अधिक भोजन करना भोजन का—**प्रमाणातिक्रांत** दोष है, उसे प्रकामभोजी, बहुभोजी कहा जाता है।[2] इस संपूर्ण विवेचन का सार यह हुआ कि—

जो जस्स उ आहारो तत्तो ओमं तु जो करे।
जहन्नेणेगसित्थाइ एवं दव्वेण ऊ भवे।[3]

जिसका जितना आहार है, उसमें से कम से कम एक कवल भी कम खाना—द्रव्य ऊनोदरी (भक्तपान ऊनोदरी) तप कहलाता है।

अति भोजन के दोष

आहार शरीर का सबसे मुख्य तत्त्व है, शरीर की रचना जब से प्रारम्भ होती है (माता के गर्भ में) तब प्रथम समय में ही प्राणी आहार ग्रहण करता है और प्राणांत तक आहार लेता रहता है। आहार के बिना शरीर अधिक दिन टिक नहीं सकता।

---

१ जत्तिओ जस्स पुरिसस्स आहारो तस्साहारस्स बत्तीसइमो भागो तप्पुरिसावेक्खाए कवले। —भगवती ७।१

२ देखिए—उववाई सूत्र तप अधिकार। भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशक १।

३ उत्तराध्ययन ३०।१५

अन्न शरीर के लिए इतना आवश्यक होते हुए भी यदि वह मात्रा और नियम के विरुद्ध किया जाये तो वह अमृत समान आहार भी जहर का काम कर देता है। कहा जाता है—

मधुरमपि बहुखादितमजीर्णं भवति।
अमृतमपि बहु पीतं विषायते!

बहुत ज्यादा खाया हुआ मधुर भोजन भी अजीर्ण—बदहजमी पैदा कर देता है। मात्रा से अधिक पीया हुआ अमृत भी जहर का काम करता है। अति भोजन से आयुष्य भी घटता है। आचार्य मनु ने कहा है—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चाति भोजनात्।[1]

अधिक भोजन करने से—स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, आयुष्य कम हो जाता है, और अकाल में मृत्यु प्राप्त कर प्राणी परलोक में जाता है तो वहां परलोक भी बिगड़ जाता है। आचार्य ने यह अति भोजन का बहुत बड़ा दोष बताया है कि उससे न केवल यह लोक ही, किन्तु परलोक भी बिगड़ जाता है।

स्थानांग सूत्र में भगवान महावीर ने रोगोत्पत्ति के नौ कारण बताये हैं वहां सबसे पहले दो कारण भोजन से सम्बन्धित है— '**अच्चासणाए, अहियासणाए**''[2] अति आहार से तथा अहितकारी आहार से स्वस्थ मनुष्य भी सहसा रोगी हो जाता है।

ग्रीस के महान संत डायोजिनीज से एक बार सिकंदर ने पूछा कि मनुष्य रोगी क्यों होता है? डायोजिनीस ने उत्तर दिया बहुभोज और बहुभोग— ये दो ही कारण है जिनसे मनुष्य रोगी बनता है।

मित भोजन के लाभ

अति भोजन जहां जहर के समान है, वहां मित भोजन शरीर को अमृत तुल्य लाभ पहुंचाने वाला है। आचार्य भद्रबाहु ने कहा है—

---

१ मनुस्मृति २।५७
२ स्थानांग सूत्र ९।

हियाहारा मियाहारा अप्पाहारा य जे नरा।
न ते विज्जा तिगिच्छंति अप्पाणं ते तिगिच्छगा।[1]

जो मनुष्य हितभोगी, मितभोगी एवं अल्पभोगी हैं, उन्हें वैद्यों की चिकित्सा की कोई आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि वे तो अपने आप में ही चिकित्सक (वैद्य) हैं। उनकी चिकित्सा तो सतत चल रही है।

प्रसिद्ध आयुर्वेदज्ञ वाग्भट से किसी ने पूछा कि संसार में नीरोग (स्वस्थ) कौन रह सकता है ? तो विना किसी विलम्ब के सीधा उत्तर दिया—

हितभुक् मितभुक् शाकभुक् चैव,
शतपदगामी वामशायी च।

हितकारी परिमित भोजन करने वाला, शाकाहारी, भोजन के बाद टहलने वाला, और बायें पसवाड़े सोने वाला—ये बीमार नहीं पड़ते।

भारत के सुप्रसिद्ध नीतिशास्त्री विदुर जी ने परिमित भोजन करने वालों के यह छह गुण बताते हुए लिखा है—

गुणाश्च षड्मितभुजं भजन्ते आरोग्यमायुश्च बलं सुखं च।
अनाविलं चास्य भवत्यपत्यं न चैनमाद्यून इति क्षिपन्ति।[2]

जो आदमी परिमित अल्पभोजन करता है—उसका आरोग्य, आयुष्य बल और सुख बढ़ता है। उसकी सन्तान सुन्दर होती है, तथा लोग उस पर 'पेटू' 'भोजन भट्ट' आदि बुरे शब्दों से आक्षेप नहीं करते।

शास्त्रों में साधु के लिए स्थान-स्थान पर इसी कारण अल्पभोजन का उपदेश किया गया है कि इससे स्वास्थ्य भी सुन्दर रहता है, आलस्य नहीं बढ़ता, स्वाध्याय, ध्यान आदि भी आनन्दपूर्वक हो सकता है। साधु का आदर्श ही है—**अप्पभासी मियासणे**—अल्पभासी, मितभोजन करने वाला।—**अप्प-पिण्डासि पाणासि**—अल्प आहार और अल्प पानी पीने वाला—**अप्पाहारे, थोवाहारे, मियाहारे**—अल्पाहारी, स्तोक आहारी, मिताहारी ये ही उसके

---

१ ओघनिर्युक्ति ५७८
२ विदुरनीति ५।३४

विशेषण है, और ये इस बात के द्योतक है कि साधना करने वाला सदा ही आहार की ऊनोदरी करता है। जैन दर्शन तो यह भी मानता है कि कम खाना, अल्पाहारी होना, मनुष्य के सुख-सौभाग्य का सूचक है। जो प्राणी जितना ही भाग्यशाली होगा, सुखी होगा तथा उन्नत होगा, उसे भूख भी उतनी ही कम लगेगी और वह सदा कम भोजन में ही संतुष्ट हो जायेगा, इस बात की संपुष्टि के लिए आपके समक्ष प्रज्ञापना सूत्र (२८ वां पद का यह प्रकरण बताता हूं।

भगवान से पूछा गया है, नरक तिर्यंच आदि जीवों को आहार करने की इच्छा कितने समये से होती है ? उत्तर में बताता है—

नारक जीव अन्तर्मुहुर्त (४८ मिनट के भीतर ही) में आहार की इच्छा करते हैं।

तिर्यंच जीव जघन्य प्रति समय उत्कृष्ट दो दिन से आहार की इच्छा करते हैं।

मनुष्य—जघन्य अन्तर्मुहुर्त, उत्कृष्ट तीन दिन से आहार करते हैं। जैसे—अवसर्पिणी काल के पहले आरे के मनुष्य तीन दिन से, दूसरे आरे के मनुष्य दो दिन से, तीसरे आरे के मनुष्य एक दिन से, चौथे आरे के मनुष्य दिन में एक बार, पांचवे आरे के मनुष्य दिन में दो बार भोजन किया करते हैं। छठे आरे के मनुष्यों की भोजन के सम्बन्ध में कोई मर्यादा नहीं होती, वे हमेशा खाय-खाय करते रहते हैं।

इस संदर्भ से यह भी सूचित होता है कि सुखी मनुष्य दिन में एक बार ही भोजन करते हैं, जो अत्यन्त दुःखी व भाग्यहीन होते है—उन्हें दिन भर भूख सताती है, और वे भोजन के विषय में सदा मर्यादाहीन रहते हैं। आज भी जो मर्यादाहीन भोजन करते है उन्हें उक्त वर्णन के अनुसार छठे आरे का मनुष्य जैसा ही मानना चाहिए!

देवताओं के सम्बन्ध में भी यही बात है, साधारण स्थितिवाले (दस हजार वर्ष की आयु वाले) देवता एक दिन से भोजन की इच्छा करते हैं, किन्तु उनसे उत्कृष्ट आयु, वैभव, व समृद्धि वाले देवताओं को भोजन की

इच्छा क्रमशः दो दिन, तीन दिन, ...नौ दिन और हजार वर्ष से होती है। सर्वार्थसिद्ध विमान के देवता जो सबसे अधिक सुखी व दीर्घ आयु वाले (३३ सागर की स्थिति वाले) होते हैं उन्हें ३३ हजार वर्ष से भोजन की इच्छा होती है।[१]

क्या इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि जो जितना अधिक सुखी व भाग्यशाली होगा उसे भोजन की इच्छा उतनी ही कम होगी। और भोजन की मात्रा भी उसकी उतनी ही अल्प होगी।

एक श्रीमंत सज्जन किसी बड़े डाक्टर के पास अपने बच्चे को दिखाने के लिए ले गये। डाक्टर ने पूछा—क्या बीमारी है? सज्जन बोले—यह खाना बहुत कम खाता है, भूख बढ़ाने की दवा दीजिए। डाक्टर ने हंसकर कहा—बुद्धिमान लड़के हमेशा ही कम खाते हैं।

यह प्रकरण यहां पर इसलिए बताया जा रहा है कि जैन धर्म ने ऊनोदरी को तप क्यों माना है, उसके क्या कारण है? और उससे क्या लाभ है। उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट समझ में आ जानी चाहिए, कि ऊनोदरी करने से मनुष्य नीरोग रह सकता है, सुखी रह सकता है सुखपूर्वक साधना कर सकता है। अतः स्वस्थ जीवन के लिए, सुखी जीवन के लिये और साधनामय जीवन के लिये ऊनोदरी तप की आराधना करनी चाहिए।

अन्य भेद

उत्तराध्ययन सूत्र में क्षेत्र ऊनोदरी व काल ऊनोदरी भी ऊनोदरी के भेदों में ली गई है। वहां क्षेत्र ऊनोदरी से-ग्राम नगर, पत्तन आदि में भिक्षाचरण करना—क्षेत्र ऊनोदरी बताई गई है। इसी प्रकार पेटा, अर्द्ध पेटा, गोमूत्रिका आदि भी क्षेत्र ऊनोदरी में सम्मिलित किये गये हैं जबकि ये सब भिक्षाचारी के भेद हैं, जिनकी चर्चा उववाई सूत्र तथा भगवती सूत्र में की गई है। प्रश्न हो सकता है, जब ये भिक्षाचारी के भेद हैं तो इन्हें ऊनोदरी तप में क्यों गिन लिया गया? समाधान यही है कि—इन प्रकारों से भी

१　प्रज्ञापना सूत्र २८ वां आहार पद

वृत्ति का संक्षेप व आहार का संकोच होता है, इन पद्धतियों से मन इच्छित आहार नहीं प्राप्त हो सकता अतः इन्हें ऊनोदरी तप भी माना जा सकता है।

काल ऊनोदरी

उत्तराध्ययन सूत्र में काल की अपेक्षा भी ऊनोदरी का वर्णन किया गया है—जैसे

दिवसस्स पोरुसीणं चउण्हं पि उ जत्तिओ भवे कालो।
एवं चरमाणो खलु कालोमाणं मुणेयव्वं।
अहवा तइयाए पोरिसीए उणाए घासमेसंतो।
चऊ भागूणाए वा एवं कालेण ऊ भवे॥[1]

दिन के चार पहरों में इस प्रकार का अभिग्रह करना कि मैं अमुक प्रहर में भिक्षा के लिए जावूंगा उस समय भिक्षान्न मिल गया तो भोजन कर लूंगा अन्यथा उपवास करूंगा। इस में प्रत्येक पौरुषी का भी अलग-अलग भाग करके अभिग्रह किया जा सकता है—जैसे तृतीय पौरुषी में कुछ समय बाकी रहेगा तब भिक्षा के लिए जावूंगा, अथवा उसके चतुर्थ भाग या पंचम भाग (समय) में भिक्षा के लिए जावूंगा-इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके आहार की कमी करना काल सम्बन्धी ऊनोदरी है।

उववाई सूत्र में इस प्रकार की प्रतिज्ञा को 'कालचरक' नाम से भिक्षाचरी के भेदों में गिना गया है। तात्पर्य दोनों का एक ही है—काल की मर्यादा करके आहार वृत्ति में कमी लाना और तप को प्रोत्साहन देना।

कुछ दृष्टियों से भिक्षा के चार दोष—क्षेत्रातिक्रान्त, कालातिक्रांत, मार्गातिक्रांत और प्रमाणितक्रांत भी ऊनोदरी तप में लिये जा सकते हैं। क्योंकि उनमें भिक्षा के साथ-साथ आहार का भी संयम होता है। जैसे—

क्षेत्रातिक्रांत—जैसे सूर्योदय के पूर्व आहार ग्रहण करना और सूर्योदय होते ही खा लेना—क्षेत्रातिक्रांत दोष है। यह भिक्षा से भी सम्बन्धित है और आहार-भोग से भी !

कालातिक्रांत—प्रथम प्रहर का लिया हुआ आहार चौथे प्रहर में खाना

---

१ उत्तराध्ययन ३०।२०-२१

कालातिक्रांत दोष है। साधु का नियम है कि वह तीन प्रहर से अधिक काल तक अपने पास भोजन नहीं रख सकता। इससे साधु की असंग्रह वृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है, साथ ही भोजन का संयम भी किया जाता है।

मार्गातिक्रांत—अर्ध योजन से अधिक दूर आहार ले जाना-मार्गातिक्रांत दोप है। भोज्य सामग्री के प्रति गृद्धि न रहे और वह सदा साथ लिये न घूमे-इसलिए यह विधि भी आहार मंयम की द्योतक है।

प्रमाणातिक्रांत—इसका वर्णन बत्तीस कवल के सन्दर्भ में किया जा चुका है, इसका सीधा सम्बन्ध ऊनोदरी तप से जुड़ता ही है।

इसी प्रकार भिक्षु की कुछ प्रतिमाएं—जिनमें एक दत्ति आहार की एक दत्ति पानी की प्रथम सात दिन तक ली जाती है, फिर दूसरे सप्ताह में—दो दत्ति आहार - दो दत्ति पानी—इस प्रकार बढ़ाते हुए सातवें सप्ताह में सात दत्ति आहार सात दत्ति पानी लेना—यह भिक्षु की सप्त सप्तमिका प्रतिमा कहलाती है। इसे अनशन तप में गिना जाता है, किन्तु इसका सीधा सम्बन्ध ऊनोदरी तप से भी जुड़ता है। इसमें आहार का सर्वथा त्याग नहीं, किन्तु आहार की न्यूनता—कमी की जाती है। आहार पानी की कमी करना ऊनोदरी है। इसी प्रकार अष्ट अष्टमिका तप में प्रथम आठ दिन तक एक दत्ति आहार, एक दत्ति पानी, क्रमशः बढ़ाते हुए आठवें अठवाड़िये में आठ दत्ति आहार व आठ पानी की ली जाती है। नवम नवमिका और दशम दशमिका में भी इसी प्रकार नौ दिन और दश दिन का क्रम चलता है। इन तपों में आहार की न्यूनता ही प्रधान है, अतः इस अपेक्षा से इन सब वृत्तियों को ऊनोदरी तप में भी गिना जा सकता है।

भाव ऊनोदरी का वर्णन भी दो प्रकार से किया गया है—एक में दाता के भावों की अपेक्षा से और दूसरे में अपने भावों की अपेक्षा से। पहली प्रकार की दृष्टि उत्तराध्ययन में मिलती है। वहां कहा है—

"भिक्षा ग्रहण के लिए जाने वाला साधु मन में यह अभिग्रह करे कि आज मुझे अमुक स्त्री, अथवा पुरुप, अलंकार से युक्त हो अथवा रहित, बालक हो या वृद्ध, अमुक विशिष्ट प्रकार के वस्त्रों से, अमुक रंग के वस्त्रों से विभूपित

हों, हंसता हुआ हों या रोता हुआ, अमुक विशेष वर्ण का—काला-गोरा आदि हों, कोप मुद्रा में हों, या प्रसन्न मुद्रा में हों– इत्यादि प्रकार की भावनाओं के साथ भिक्षा दें तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा उपवास रखूंगा।" ये सब अभिग्रह दाता के भावों से सम्बन्धित है, इन्हें उववाई आदि सूत्रों में भाव अभिग्रह के अन्तर्गत बताकर भिक्षाचरी में इस का समावेश किया है।

उक्त चारों अभिग्रहों के साथ जो भिक्षा आदि करता है—उसे पर्यवचर ऊनोदरी तप करने वाला कहा है।

भाव ऊनोदरी में दाता से सम्बन्धित भावनाओं की अपेक्षा रखते हुए उववाई व भगवती सूत्र में कुछ विभिन्न प्रकार का वर्णन किया है। तप के साथ मनोविश्लेषण की दृष्टि से भी उसका अधिक महत्व है।

भाव ऊनोदरी

यहां पर भाव ऊनोदरी से तात्पर्य है—भाव सम्बन्धी ऊनोदरी। भाव का अर्थ है आन्तरिक वृत्तियां। क्रोध—मान—माया—लोभ—आदि कषायों को आन्तरिक वृत्तियां कहा जाता है। इन वृत्तियों का अर्थात् कषायों का सर्वथा क्षय करना—साधक का लक्ष्य है। किन्तु साधना कोई जादू की छड़ी तो नहीं है कि घुमाई और कषायों का क्षय हुआ। धीरे-धीरे जैसे साधना आगे बढ़ती है, साधक का मनोबल जागृत होता है, विवेक प्रबुद्ध होता है, वैसे-वैसे कषाय क्षीण होती जाती है। कषायों को क्षीण अर्थात् दुर्बल करते रहने की यह प्रक्रिया—भाव ऊनोदरी तप माना गया है। जैसे आहार की कमी करना, वैसे ही कषायों की कमी करना—क्रोध को, मान को, माया को, लोभ को, कलह को, अधिक बोलने की आदत इसी के साथ-निद्रा आदि की वृत्ति को कम करते जाना—यह सब ऊनोदरी में आ जाता है। पूछा गया है कि भाव ऊनोदरी क्या है? उत्तर में बताया है—

> **अप्प कोहे, अप्प माणे, अप्पमाए अप्प लोहे अप्पसद्दे अप्पझंझे से तं भावो मोयरिया।**[1]

---

1 उववाई सूत्र तप अधिकार

क्रोध को कम करना, मान को कम करना, माया को कम करना, लोभ को कम करना, शब्दों का प्रयोग कम करना, (अल्पभाषी होना) कलह कम करना—यह है भाव ऊनोदरी !

द्रव्य ऊनोदरी में जहाँ साधक जीवन को बाहर से हलका, स्वस्थ व प्रसन्न रखने का मार्ग बताया है, वहाँ भाव ऊनोदरी में जीवन की अन्तरंग प्रसन्नता, आन्तरिक लघुता और सद्गुणों के विकास का पथ प्रशस्त किया गया है।

जीवन विकास में तथा आत्म-कल्याण में कषाय—क्रोध मान आदि सब से बाधक तत्त्व हैं। जिस जीवन में कषायों की प्रचुरता रहती है उस जीवन में आनन्द और प्रसन्नता कहाँ से आयेगी। धधकती अग्नि के पास बैठकर यदि कोई शीतल लहर की इच्छा करे तो यह एक प्रकार की मूर्खता ही है, वैसे ही कषायों की वृद्धि करके यदि जीवन में शांति की कामना करे तो वह उससे भी बड़ी मूर्खता समझनी चाहिए। कषाय का अर्थ ही है, कलुषित करने वाला। प्रज्ञापना कषाय पद (१३) की टीका में बताया है—

कलुसंति जं च जीवा तेण कसायत्ति वुच्चंति

जिससे जीव कलुषित होते हैं, आत्मा मलिन होती हैं, उन्हें, अर्थात् उन वृत्तियों को कषाय कहा जाता है। क्रोध, मान माया लोभ आदि से कितना अनर्थ होता है और इन्हें कैसे वश में किया जाय, उन पर विजय कैसे प्राप्त हो इसका विशद विवेचन प्रतिसंलीनता तप के अन्तर्गत—कषाय प्रतिसंलीनता में किया जायेगा, अतः यहां पर तो इतना ही निर्देश है कि इन क्रोध आदि की कमी करने का प्रयत्न करें। विवेक जगाकर उनके अनर्थ कारी परिणामों का चिन्तन कर साधक सोचे—कषाय बढ़ते हैं तो जीवन में अशांति बढ़ती है, कषाय घटती है तो जीवन में अशांति कम होती है, शांति की लहर उठती है, यदि शांति प्राप्त करने की इच्छा है तो कषायों को कम करो। इससे शांति प्राप्त होगी—बस यही कषायों की ऊनोदरी का फल है।

अल्प भाषण

भाव ऊनोदरी का पांचवां रूप बताया गया है—अप्पसद्दे—अल्पशब्द—

अर्थात् अल्पभाषी बने। भाषा—मनुष्य की सबसे बड़ी संपत्ति है, इसके द्वारा मनुष्य अपने भावों को यथार्थ रूप में प्रकट कर सकता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह इस अद्‌भुत संपत्ति का मनचाहा उपयोग करें। संपत्ति को उड़ाने वाला बुद्धिमान नहीं होता किंतु संपत्ति का सदुपयोग करने वाला बुद्धिमान होता है। भाषा की संपत्ति का सदुपयोग करना—वचन की कला है। इसके लिए सबसे पहली बात यह है—निरर्थक बोलने की आदत कम करें। जो मनुष्य अधिक बोलता है—वह भाषा का विवेक नहीं रख सकता। बोलते-बोलते बिना विवेक के ऊलजलूल भी बोल जाता है। और उसका फिर दुष्परिणाम आता है—इसलिए कहा गया है—**वचन रतन मुख कोट** है, वचन एक प्रकार का रत्न है, इसको मुख रूप तिजोरी से बाहर निकालने से पहले बहुत सोच-विचार करलो, किसलिए? क्यों? और कितने वचन रतन निकालने हैं यह सोचकर ही निकालो! जितने वचन की जरूरत है उससे कम वचन से ही काम कर लेना बुद्धिमानी है, और एक की जगह दो वचन का प्रयोग करना मूर्खता है। नीतिकारों ने कहा है—

हितं मनोहारी वचोहि वाग्मिता[१]

हितकर मनोहर वचन बोलना वक्तृत्वकला है। जो साधक—

मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए सयाणमज्झे लहई पसंसणं।[२]

विचारपूर्वक सुन्दर और परिमित शब्द बोलता है वह सज्जनों में प्रशंसा प्राप्त करता है।

शास्त्रों में जहां भी बोलने का प्रसंग आया है वहां प्रायः साधक के लिए यह निर्देश दिया गया है—वह कम बोले, परिमित शब्द बोले—

अप्पं भासिज्ज सुव्वए[3]

सुव्रती साधक कम से कम बोले—

निरुद्धगं वा वि न दीहएज्जा[४]

---

१ नैषधीय चरित,
२ दशवैकालिक ७।५५
३ सूत्रकृतांग १।८।२५
४ सूत्रकृतांग १।१४।२३

थोड़े शब्दों में कही जाने वाली बात को अधिक लम्बी न करें।

नाइवेलं वएज्जा[1]

मर्यादा से अधिक न बोले।

अप्पभासी मियासणे—

साधक कम बोलने वाला और कम खाने वाला हो।

जो अधिक बोलता है, वह सत्य वचन की आराधना नहीं कर सकता क्योंकि सत्य वचन और वाचालता में परस्पर विरोध है। कहा है—

मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमंथू।[2]

मुखरता-वाचालता सत्य वचन का घातक है। जो वाचाल होता है—वह सर्वत्र निंदा, अपमान और तिरस्कार प्राप्त होता है। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया है—जैसे सड़े कानों वाली कुतिया जहां कहीं भी जाती है, वहीं लोग उससे घृणा करते हैं, दुत्कारते हैं और दुत्कारने पर भी नहीं निकलती है तो डंडे मार-मार कर निकालते हैं—जो वाचाल होता है, उसकी भी संसार में यही दशा होती है—**मुहरी निक्कसिज्जइ**[3]—वह वाचाल-लवार व्यक्ति कुतिया की तरह सर्वत्र दुत्कारा जाता है।

राजस्थानी में एक दोहा है—

बहु बोला बेट्यां घणी, दोय गांव अधवार।
तिण ने कांई मारसी मार गयो करतार।

बहुत बोलने वाला, बहुत बेटियों का बाप और जिसका दो गांवों में रहना हो—एक पग यहां एक पग वहां—उसे किसी को मारने की जरूरत ही क्या है, भगवान ने ही उसे मार डाला है। अर्थात् बहुत बोलने वाला—अपनी आदत से स्वयं ही बर्बाद हो जाता है, उसे बर्बाद करने के लिए किसी को कुछ प्रयत्न करने की जरूरत ही क्या है? तो बहुत बोलने वाले की बहुत दुर्दशा होती है, इस कारण साधक को कम-से-कम बोलना चाहिए।

---

१ सूत्रकृतांग १।१४।२५
२ स्थानांग ६।१
३ उत्तराध्ययन १।४

पूछा गया है—समझदार की निशानी क्या ?

कम बोलना, कम खाना।

मूर्ख की निशानी क्या ?

ज्यादा बोलना ज्यादा खाना।

कम बोलना—विद्वान का गुण है, और मूर्ख का भूषण है। लुकमान हकीम ने अपने पुत्रों से कहा था कि तुम यदि समझदार हो, तो कम बोलना—इससे तुम्हारी समझदारी और अधिक चमकेगी। यदि तुम मूर्ख हो, तब भी कम बोलना—इससे तुम्हारी मूर्खता छुपी रहेगी।

इस प्रकार 'अल्पभाषण' जीवन में अनेक सद्‌गुणों को जन्म देता है, मनुष्य को सभ्य, विद्वान और चतुर बनाता है वहां 'वाणी का तपस्वी' भी ! शास्त्रकारों का मत है कि सिर्फ न बोलना ही मौन नहीं, किन्तु कम बोलना, विवेकपूर्वक बोलना भी मौन का एक अंग है। इस मौनव्रत की साधना 'अल्प भाषण' की साधना से प्रारम्भ की जा सकती है। पहले कम बोलने की आदत डालो, फिर मौन रहने की।

अल्प कलह

कलह, झगड़ा, वैर-विद्वेष आदि की कमी करना—यह भी भाव ऊनोदरी का एक भेद है। शास्त्र में बताया है—

कलहकरो असमाहिकरे[1]।

जो कलह करता है, वह संघ में, समाज में, परिवार और व्यक्तिगत जीवन में भी अशांति पैदा करता है। कलह करने वाले को कभी शांति और प्रसन्नता प्राप्त नहीं हो सकती। ऋगवेद में कहा है—**न स्रेधन्तं रयिर्नशत्[2]**। कलह करने वाला जीवन में सुख, समृद्धि-लक्ष्मी व सौभाग्य प्राप्त नहीं कर सकता। कलह, झगड़ा करने वाले का मन भीतर में अग्निपिंड की भांति जलता रहता है, तो उसे शांति कैसे मिलेगी। मन में शांति नहीं होगी तो

१ दशाश्रुतस्कंध १

२ ऋग्वेद ७।३२।२१

धर्म की साधना कैसे होगी ? इसलिए साधक को शांति प्राप्त करनी हो तो कलह शांत करना होगा।

कलह होने के कई कारण हो सकते हैं—स्वार्थ में बाधा आने पर, इच्छित वस्तु न मिलने पर, अहंकार पर चोट पड़ने से तथा लेन-देन के विषय में। ये सभी बातें मनुष्य के कषायों से सम्बन्धित हैं, इसलिए प्रारम्भ में कषायों की कमी करने का उपदेश किया है। कषाय की कमी होगी तो कलह का प्रसंग आने पर भी मनुष्य अपने मन को समझाकर उसे टाल देगा। क्योंकि वह जानता है—कलह से बड़े-बड़े साम्राज्य नष्ट हो गये। कौरव-पांडवों का विशाल साम्राज्य परस्पर के कलह के कारण ही नष्ट हुआ है। नीतिकार का कथन है—

कलहान्तानि हर्म्याणि कुवाक्यान्तं च सौहृदम्।[1]

कुवचन से मित्रता का नाश हो जाता है, और कलह से कुटुम्ब का क्षय। जो भारत सोने की चिड़िया कहलाती थी, और जहां बड़े-बड़े पराक्रमी राजा हुए, वह भारत भूमि म्लेच्छो, अनार्यों और मुसलमानों के पैरों से क्यों रोंदी गई ? यहां का वैभव क्यों लूटा गया ? यहां के स्वर्ण-रत्नजटित मंदिरों की पवित्र मूर्तियां क्यों तोड़ी गई और क्यों लाखों हिन्दू मुसलमान बने ? क्यों हिन्दुओं का रक्त बहा और उनकी सभ्यता, संस्कृति, धर्म, भक्ति पूजा आक्रमण-कारियों के पैरों से क्यों कुचली गई ? सिर्फ एक ही कारण है—आपस की कलह ! फूट ! आपस के कलह से, द्वेष से कुछ हिन्दुस्तानी वीरों ने विदेशी आक्रमणकारियों को बुलाया, उन्हें सहयोग दिया—और एक दिन वे आक्रांता उन्हीं को, उनके बंधुओं को दास बनाकर, हत्या करके मालिक बन बैठे।

जैन शासन जो एक दिन महान तेजस्वी धर्म शासन था। आज कितने टुकड़ों में बंटा है ? कितने संप्रदायों में खण्ड-खण्ड हो रहा है ? उसका प्राचीन गौरव कहां लुप्त हो गया ? उसका कारण यही है—परस्पर का कलह ! साधुओं का कलह ! श्रावकों का कलह ! इसी से जैन धर्म के टुकड़े टुकड़े हो गये ! ओसवाल जाति छिन्न-भिन्न हो गई।

---

१ पंचतंत्र ५।७३

उपसंहार

तो कलह की भीषण लीला आज सर्व विदित है। उससे मानव जाति नष्ट हो जाती है। इसलिये भगवान ने साधक को उपदेश दिया है वह कलह को, परस्पर के झगड़े को शांत करे। शास्त्र में बताया है—साधर्मियों में परस्पर कलह हो जाने के बाद जब तक वापस क्षमा याचना न करे तब तक साधु को आहार पानी नहीं करना चाहिए। यदि तुरन्त क्षमा याचना न करे तो एक दिन में, पक्ष में, मास में, चातुर्मास में तथा अधिक से अधिक संवत्सरी पर तो परस्पर का कलह अवश्य ही शांत कर लें। (यदि संवत्सरी पर भी कलह शांत नहीं होता तो उसकी साधुता और श्रावकपन तो क्या, किन्तु सम्यक्त्व भी नहीं रह सकती!) **जो न उवसमइ तस्स णत्थि आराहणा, जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा।**[1] जो कलह शांत नहीं करता वह धर्म की आराधना नहीं कर सकता, जो कलह को शांत करता है, मन की गांठें खोल देता है वही धर्म का आराधक हो सकता है। आप जानते हैं—मन में गांठ रखने वाला 'निर्ग्रन्थ' (श्रमण) नहीं हो सकता।

तो मन की गांठें मिटाने के लिए, मन में प्रसन्नता जगाने के लिये, जीवन में धर्म की आराधना करने के लिये भाव ऊनोदरी के इस रूप की आराधना अत्यन्त आवश्यक है कि साधक—**अप्प झंझे**—अल्प कलह अर्थात् कलह को शांत करें।

इस प्रकार ऊनोदरी तप के ये सब भेद हुए। इनकी सम्यक् आराधना से जीवन में सचमुच एक नया आनन्द प्राप्त हो सकता है। इह लोक का जीवन और परलोक का जीवन दोनों ही सुखमय बन सकता हैं।

●●

---

१ बृहत्कल्प भाष्य १।३५

3

भिक्षाचरी तप

तप के बारह भेदों में 'भिक्षाचरी' तीसरा तप है। भिक्षाचरी का अर्थ है—विविध प्रकार के अभिग्रह, (नियम संकल्प आदि) करके आहार की गवेषणा करना। भिक्षा का सीधा अर्थ होता है—याचना, मांगना। किन्तु सिर्फ मांगना मात्र तप नहीं होता। अनेक भिखारी दर-दर हाथ फैलाते हैं, झोली पसारे घूमते हैं, "अम्मा! दो पैसा दे दे, बाबू! कुछ देते जाओ!" शहरों में चारों ओर इस प्रकार की गुहार-पुकार सुनाई देगी। सड़कों पर, स्टेशनों पर, रेल में कहीं भी जाओ भिखारियों की फौज मांगती-हुई, दीनता पूर्वक याचना करती हुई दिखाई देगी, क्या ये भीख मांगने वाले भी भिक्षाचर है? इनकी भिक्षा वृत्ति क्या भिक्षाचरी तप है! नहीं! यह तो उल्टा पाप है! (शास्त्र में कहा है **आदीणवित्ति वि करेइ पावं**[1] जो दीनता पूर्वक भिक्षा मांगता है, वह भी पाप करता है।) इसलिए दीनतापूर्वक, असंयम से और सिर्फ पेट भरने की लालसा से जो भिक्षा मांगता है उस भिक्षा को वास्तव में 'भिक्षा' नहीं, 'भीख' कहना चाहिए! वह तो अत्यन्त निम्नस्तर की है,

---

१ सूत्र कृतांग १।१०।६

फिर वह 'तप' या 'धर्म' कैसे हो सकती है ? भिक्षाचरी 'तप' तभी हो सकती है जब वह नियम पूर्वक, पवित्र उद्देश्य से और शास्त्र-सम्मत विधि-विधान के साथ ग्रहण की जाय ! 'भिक्षाचरी तप' में हमें भिक्षा के समस्त अंगों पर विचार करना है। शास्त्र में उसकी क्या विधि है, क्या उद्देश्य है इस पर भी चिन्तन करना है !

भिक्षा के तीन भेद

पात्र और उद्देश्य की अपेक्षा से भिक्षा के अनेक भेद किये जा सकते हैं। जैसे एक दरिद्र भिखारी भी रोटी मांगता है—घर-घर घूमता है, और एक त्यागी तपस्वी श्रमण भी आहार की गवेषणा करता हुआ ऊंच-नीच कुलों में भ्रमण करता है, तो क्या इन दोनों की भिक्षा कभी एक कोटि में आ सकती है ? नहीं ! दोनों भिक्षुक होते हुए भी उनकी वृत्ति में आकाश पाताल का अन्तर है—जैसे—"आक दूध—गाय दूध अन्तर घनेरो है," आक के दूध में और गाय के दूध में महान अन्तर है, हीरे और कांच के टुकड़े में बहुत बड़ा फर्क है वैसे ही इन भिक्षुकों की भिक्षा वृत्ति में बहुत अन्तर है ! आचार्य हरिभद्र ने तीन प्रकार की भिक्षा बतलाते हुए कहा है—

सर्वसम्पत्करी चैका पौरुषघ्नी तथापरा।
वृत्तिभिक्षा च तत्वज्ञैरिति भिक्षा त्रिधोदिता।[1]

भिक्षा तीन प्रकार की है– दीनवृत्ति, पौरुषघ्नी और सर्वसम्पत्करी।

जो अनाथ, अपांग, आपद्ग्रस्त दरिद्र व्यक्ति मांगकर खाते है, वह दीन वृत्ति भिक्षा है। जो श्रम करने में समर्थ होकर, हट्टे कट्टे होकर भी काम से जी चुराकर मांगकर खाते हैं, कमाने की शक्ति होते हुए भी मांगते हैं वह 'पौरुषघ्नी' भिक्षा है अर्थात् पुरुषत्व का नाश करने वाली है। ऐसे व्यक्ति सचमुच में देश के भार हैं। जिनको मांगने की आदत पड़ जाती है, और मांगने से ही पेट भर जाता है ऐसे निकम्मे आदमी कभी महनत करना नहीं चाहते। ऐसे आदमी कहते है—**मांग्या मिले दाणा क्या करेगा राणा ?"** मांगने से ही जब पेट भर जाता है तो राणा जी राजा या सरकार हमारा क्या बिगाड़

---

१ अष्टक प्रकरण ५।१

सकती है ? और आश्चर्य की बात तो यह है आज कल ऐसे पुरुषत्व हीन मांगखोर व्यक्ति संसार में जिधर देखो उधर ही फैले हुए दिखाई देंगे। बड़े-बड़े शहरों में तो मांगना भी एक व्यवसाय बन गया है। सुबह से शाम तक मांग कर कोई पांच रुपये कमा लेता है, कोई दस ! ऐसे मंगते पेट भर कर खाते भी नहीं, मांग-मांग कर जमा करते-जाते हैं। तो इस प्रकार की भिक्षा वृत्ति 'पौरुषघ्नी भिक्षा' कहलाती है।

भिक्षा का तीसरा रूप है—सर्वसम्पत्करी। जो त्यागी अहिंसक, संतोषी श्रमण आदि अपने उदर निर्वाह के लिए माधुकरी वृत्ति से गृहस्थ के घर में सहज भाव से बना हुआ शुद्ध आहार ग्रहण करते हैं, और आहार की निर्दोष विधि से उसे खाते हैं, उन मुनियों की भिक्षा—सर्वसम्पत्करी भिक्षा है अर्थात् वह 'भिक्षा देने वाले और ग्रहण करने वाले—दोनों का ही कल्याण करने वाली है। 'सर्वसम्पत्करी' भिक्षा देने वाला, और लेने वाला—दोनों ही सद्गति में जाते हैं—**दो वि गच्छंति सुग्गइं**।[१]

भिक्षाचरी, जिसे तप कहा गया है, वह यही सर्वसम्पत्करी भिक्षा है। यह धर्म की आराधना करने वाली और मोक्ष की साधिका है।

गोचरी और माधुकरी

'भिक्षाचरी' को शास्त्रों में कहीं-कहीं गोचरी 'माधुकारी और कहीं वृत्ति-संक्षेप' कहा गया है। ये सभी शब्द भिक्षाचरी के उच्च आदर्श को बताते हैं। उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, और आचारांग आदि आगमों में 'गोयर' शब्द का ही अधिक प्रयोग हुआ है। दशवैकालिक में इसे 'गोयरग'—गोचराग्र[२] कहा है। गोचर शब्द का अर्थ है—गाय की तरह चरना, भिक्षाटन करना।[३]

---

१ दशवैकालिक ५।१।१००

२ दशवैकालिक ५।१।३
(ख) उत्तरा ३०।२५

३ गोरिव चरणं गोचर :—उत्तमाधममध्यमकुलेष्वरक्ताद्विष्टस्य भिक्षाटनं—हारिभद्रीय टीका, पत्र १६३
(ख) गोरिव चरणं गोयरो—तहा सद्दादिसु अमुच्छितो—अगस्त्यसिंहचूर्णि

इस शब्द पर जैनाचार्यों ने बहुत ही व्यापक रूप से विचार किया है और गाय की चर्या का आदर्श भिक्षु के लिए बताया है। आचार्य जिनदास और हरिभद्र आदि के विश्लेषण पर से स्पष्ट होता है कि—जिस प्रकार गाय अच्छी-बुरी घास का भेद किये बिना एक ओर से दूसरी ओर तक चरती हुई चली जाती है, वह किसी प्रकार शब्द, रस आदि विषयों में आसक्त न होकर सिर्फ उदरपूर्ति करने के लिए सामुदानिक रूप से घास चरती है, और वह भी वन की हरियाली को नष्ट किये बिना, उसे जड़ से बिना उखाड़े सिर्फ ऊपर-ऊपर से थोड़ा-थोड़ा खाती है। इसी प्रकार मुनि संरस और नीरस आहार का विचार किये विना सामुदायिक रूप से भिक्षा के लिए चलता है। कोई राजा या सेठ का घर आ गया तब भी और किसी गरीब का घर आ गया तब भी सभी घरों से, थोड़ी-थोड़ी भिक्षा ग्रहण कर लेता है, और स्वादिष्ट आहार आदि में आसक्त हुये बिना सिर्फ संयम यात्रा के निर्वाह के लिए ही आहार ग्रहण करता है। इसलिए मुनि की इस भिक्षा विधि को 'गोचरी' कहा गया है।

शास्त्रों में जहां भी मुनियों की भिक्षा विधि का वर्णन आता है वहां यही आदर्श सामने आता है कि—

उच्चनीयमज्झिम कुलाइं अडमाणे[1]

उच्च, नीच और मध्यम कुलों में समान भाव से भिक्षा करते हुए विचरते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि भिक्षा में ऊंच-नीच शुद्ध-अशुद्ध का विवेक ही न रखे, जो भी घर बीच में आ जाये उसी में प्रवेश कर जाये—यह तो साधु की चर्या के विरुद्ध है, विवेकहीन भिक्षा है। क्योंकि शास्त्र में जगह-जगह बताया है— कि भिक्षाचरी करते हुए भिक्षु को यह भी जानना चाहिए कि यह किसका घर है,कौनसा कुल है ?[2] जुगुप्सित है या अजुगुप्सित ? दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है—

---

१ अंतगड दशा वर्ग ६।१५

२ से भिक्खू........गाहावइ कुलं पिंडवाय पडियाए अणुपविट्ठे समाणे से जाइं पुण कुलाइं जाणिज्जा........ —आचारांग २।१।२३४

पडिकुट्ठं कुलं न पविसे, मामगं परिवज्जए,
अचियत्तं कुलं न पविसे चियत्तं पविसे कुलं ।[1]

प्रतिक्रुष्ट—अर्थात् निन्दित, जुगुप्सित और गर्हित कुल में कभी प्रवेश नहीं करना चाहिए ।[2] जो कहे कि—मुनि ! मेरे घर में मत आना, उस निषिद्ध घर में भी नहीं जाना चाहिए ! जिस घर में जाने से घर मालिक को संदेह हो कि यह साधु कहीं गुप्तचर बनकर तो नहीं आया है, ऐसे कुल में तथा जहां जाने से गृहस्थ के मन में साधु के प्रति अप्रीति उल्टा द्वेषभाव बढ़े कि कहां से आ टपके ! क्यों आ गये ! वैसे घरों में भी नहीं जाये । जहां जाने पर प्रीति, सद्‌भाव और शुद्ध भोजन की प्राप्ति हो सके ऐसे ही कुलों में जाना चाहिए ।

हां, तो यह विवेक तो भिक्षु को रखना ही चाहिए ! बिना सोचे-समझे किसी के घर में घुस जाना तो अनर्थकारी हो जाता है । आप कहेंगे फिर क्यों शास्त्रों में स्थान-स्थान पर यही पद दुहराये गये हैं ? इसका समाधान है—कि ऊँच-नीच-मध्यम कुल में भिक्षाटन करे । यह नहीं कि किसी बड़े सेठ के घर से तो भिक्षा ले आये, मिष्ठान्न से पात्र भर लिये, गरीब घर में—जहां सूखी रोटी मिलने की आशा होती है उसे छोड़ दिया । भले ही बिचारा गरीब पलक पांवड़े बिछाये साधु जी के आगमन की राह देखता रहे । सामुदानिक गोयरी का अर्थ यही है कि साधु रस की, स्वादिष्ट भोजन की लोलुपता से रहित होकर समभाव के साथ भिक्षाचरी करे, और थोड़ा-थोड़ा आहार ग्रहण करके गोचरी करें, न कि गधाचरी ! जहां पड़े मूसल वहीं खेम कुशल—ऐसी बात न करें ।

गोचरी के इस आदर्श को माधुकरी वृत्ति से भी तोला गया है । श्रमण को मधुकर 'भंवरे' की उपमा दी गई है । दशवैकालिक में कहा है—

---

१ ५।१।१७

२ प्रतिक्रुष्ट कुल दो तरह के होते हैं—मृतक और सूतक के घर अल्पकालिक प्रतिक्रुष्ट तथा डोम मातंग आदि यावत्कालिक—सर्वदा प्रतिक्रुष्ट !
—इत्तिरियं मयग सूतगादि, आवकहियं अभोज्जा डोंवमायंगादी ।
— जिनदास चूर्णि, पृ० १७४

जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियइ रसं।
न य पुप्फं किलामेइ सो य पीणेइ अप्पयं।

जैसे भ्रमर फूलों पर घूमता हुआ थोड़ा-थोड़ा उनका रस पीता जाता है, फिर उड़ जाता है, और फिर किसी अन्य फूल पर जाकर उसका थोड़ा सा रस पी लेता है। इस प्रकार थोड़ा-थोड़ा रस पीकर वह स्वयं भी संतुष्ट हो जाता है और फूलों को भी कोई हानि नहीं पहुँचाता। इसी प्रकार—**महुगारसमा बुद्धा**—मधुकर के समान विद्वान मुनि होते हैं, वे गृहस्थ के घर में सहज रूप में बने हुए भोजन आदि में से थोड़ा-थोड़ा ग्रहण कर अपना जीवन निर्वाह भी कर लेता है और गृहस्थ को भी कोई कष्ट नहीं होता। निर्युक्तिकार आचार्यों ने बताया हैं—जैसे तृण के लिए वर्षा नहीं होती, हरिण के लिए तृण नहीं बढ़ते, मधुकर आदि के लिए पुष्प आदि नहीं फलते, वैसे ही साधु के लिए गृहस्थ के घर में भोजन नहीं बनता। अर्थात् जैसे वर्षा, तृण और फल-फूल अपने सहज रूप में होते हैं वैसे ही गृहस्थ के घर में भोजन भी सहज रूप में बनता है, उस भोजन में से मधुकर की भांति श्रमण थोड़ा सा अन्न ग्रहण कर लेता है।[1] श्रमण की यह वृत्ति माधुकरी वृत्ति कहलाती है। मधुकर और गौ का आदर्श सामने रखकर जो भिक्षा की जाती है वही भिक्षाचरी, गौचरी और माधुकरी वृत्ति कहलाती है। मधुकर की यह वृत्ति न केवल जैन परम्परा में ही, अपितु बौद्ध परम्परा में एवं वैदिक परम्परा में भी आदर्श भिक्षा विधि मानी गई है।[2]

वृत्तिसंक्षेप

भिक्षाचरी का एक नाप है **वृत्ति संक्षेप**। यह नाम अपने भाव में सार्थक नाम है। गोचरी में मन इच्छित आहार प्राप्त नहीं हो सकता। कभी गर्म आहार की आवश्यकता होने पर वासी आहार मिल जाता है, और कभी

१ दशवैकालिक अ - १ नि० गा० उसके १३०
२ धम्मपद—(पुप्फवर्ग ४।६)
(ख) यथामधुसमादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य आदद्याद् अविहिंसया।
—महाभारत, उद्योगपर्व ३४।१७

मधुर आहार की आवश्यकता होने पर रूखा सूखा नीरस ! किन्तु साधु उसी में संतोष करता है, अपनी इच्छा का, वृत्ति का संकोच करता है, मन का तथा स्वादेन्द्रिय का निग्रह करता है, जैसा भी मिल गया उसी में संतुष्ट होता है मन इच्छित वस्तु के न मिलने पर शोक नहीं करता—

लद्धे पिण्डे अलद्धे वा णाणु तप्पेज्ज पंडिए[1]

इस प्रकार उसे अपनी वृत्तियों का कठोर संयम करना होता है इस कारण इसे 'वृत्ति संक्षेप' भी कहा है।

वास्तव में भिक्षा एक पराश्रित चर्या है, दूसरे की इच्छा और रुचि के अनुसार बने भोजन में ही स्वयं को प्रसन्न रखना होता है, इसमें स्वादविजय की साधना करनी होती है। भिक्षा वृत्ति का उद्देश्य भी यही है कि रस—इच्छा—(स्वादवृत्ति, को जीत कर जीवन यात्रा करना—

जायाए घासमेसेज्जा रस गिद्धे न सिया।[2]

रस की आसक्ति छोड़कर संयम यात्रार्थ आहार की गवेषणा करे, इस कारण इसका 'वृत्तिसंक्षेप' नाम भी सार्थक है।

नव कोटि परिशुद्ध भिक्षा

यह बताया जा चुका है कि भिक्षा गाय के समान समभाव पूर्वक और मधुकर के समान दूसरों को बिना कष्ट दिये अल्प रूप में ग्रहण करनी चाहिए। तथा स्वादविजय करके ही भिक्षाटन के लिए निकलना चाहिए। इस प्रकार जैन धर्म में भिक्षा को बहुत ही आदर्श, विशुद्ध और पूर्ण अहिंसक रूप में प्रस्तुत किया गया है। भगवान महावीर ने कहा है कि—भिक्षु को ऐसी भिक्षा लेनी चाहिए जो नवकोटि परिशुद्ध हो, अर्थात् पूर्ण रूप से अहिंसक हो, भिक्षु भोजन के लिए न स्वयं जीवहिंसा करे, न करवाए और न करते हुए का अनुमोदन करें। न वह स्वयं अन्न आदि पकाये, न पकवाए और न पकाते हुए का अनुमोदन करे. तथा न स्वयं मोल लें, न लिवाए और न लेने वाले का अनुमोदन करे।[3] इन नौ विधियों से विशुद्ध अर्थात् निर्दोष जो भिक्षा

---

१ उत्तराध्ययन २।३०
२ उत्तराध्ययन ८।११
३ णव कोडि परिसुद्धे भिक्खे पण्णत्ते ....—स्थानांग ९।३

होती है, वही भिक्षा भिक्षु के लिए ग्राह्य होती है। वास्तव में तो भिक्षा वही है जो सहज ही गृहस्थ के घर में प्राप्त हो जाय! भिक्षु के लिए बनाया हुआ, खरीद कर लाया हुआ भोजन आदि भिक्षा नहीं, उपहार बन जाता है। अतः भिक्षाचरी करने वाले श्रमण को इस प्रकार के निर्दोष आहार की ही ऐषणा करनी होती है जो वास्तव में भिक्षा हो, भिक्षा के नियमों के अनुकूल हो।[1]

भिक्षा के दोष

भिक्षु को जो कुछ भी मिलता है वह सब भिक्षा के द्वारा ही मिलता है, अर्थात् मांगा हुआ ही मिलता है। मांगना—याचना भिक्षु की विधि है। इसलिए शास्त्र में कहा है—

सव्वं से जाइयं होइ नत्थि किंचि अजाइयं।[1]

भिक्षु के पास जो कुछ भी है, वह सब याचित—अर्थात् भिक्षा से प्राप्त किया हुआ है। न खरीदा हुआ है, न अपने घर से दीक्षा लेते समय कुछ साथ में लेकर आया है। भविष्य में भी जो कुछ आवश्यकता होगी वह भी मांगने पर—दूसरों के सामने पात्र या हाथ पसारने पर ही मिलेगा! और दूसरे के सामने हाथ पसारना—मांगना सरल नहीं है। "**पाणी णो सुप्पसारए** अतः मांगना एक परीषह है, कष्ट है।

बहुत से लोग कहते हैं साधुओं को क्या, उन्हें तो मांगा हुआ मिलता है।

ज्यां नै मांगा मिले माल
त्यां नै कांई कमींरे लाल!

किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि मांगना कितना कठिन है? कवि कहता है—**मर जावूं मांगू नहीं निज देहो रे काज!**

अपने लिए मांगने से तो मर जाना ही अच्छा है।

फिर साधु का मांगना तो केवल मांगना ही नहीं है, कि चलो मांगा और

---

१ उत्तराध्ययन २।२८

मिल गया। मांगने पर भी यदि नियमों के अनुकूल मिले तो लेवें, अन्यथा खाली हाथ लौट आवे। साधु की 'भिक्षाचरी' के नियम बहुत ही कठोर और बहुत ही सूक्ष्म है। उनका पूरा विचार करके ही साधु आहार आदि ग्रहण करता है। और वैसी भिक्षाचरी ही तप कहलाती है। यहां पर हम आगमों में वर्णित भिक्षाचरी के दोषों की कुछ चर्चा करेंगे ताकि उसका असली स्वरूप परिज्ञात हो सके।

साधु जो भिक्षा की याचना करता है, उसे 'एषणा' कहते हैं। 'एषणा' में तीन शब्द आते हैं—

गवेसणा—गाय की भांति आहार प्राप्त करना।

ग्रहणैषणा—ग्रहण करते समय उसकी शुद्धाशुद्धि का विवेक रखना।

परिभोगैषणा—आहार करते समय भोजन के दोष टालकर समतापूर्वक प्राप्त आहार का भोग करना।

इन तीनों एषणाओं का वर्णन करते हुए उत्तराध्ययन में बताया गया है—

> **गवेसणाए गहणे य परिभोगेसणाय य।**
> **आहारोवहिसेज्जाए एए तिन्नि विसोहए॥**
> **उग्गमुप्पायणं पढमे बीए सोहेज्ज एसणं।**
> **परिभोयम्मि चउक्कं विसोहेज्ज जयं जई॥**[1]

आहार, उपधि, शय्या आदि प्राप्त करते समय भिक्षु-गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा की शुद्धि का विवेक रखे। उद्गम के, उत्पादन के, एषणा के और परिभोग के जो-जो दोष हैं उन्हें सर्वथा दूर करता हुआ विशुद्धरीति से गोचरी करें।

(१) **१६ उद्गम दोष**[2]—उद्गम दोष का अर्थ है—आहार की उत्पत्ति

---

१ उत्तराध्ययन २४।११—१२

२ आहाकम्मुद्देसिय पूइकम्मे य मीसजाए य।
ठवणा पाहुडियाए पाओयर कीय पामिच्चे॥
परियट्टिए अभिहडे उब्भिन्न मालोहडे इय।
अच्छिज्जे अणिसिट्ठे अज्झोयरए य सोलसमे॥
—पिंडनिर्युक्ति ९२—९३

१ आहाकम्म—आधाकर्म—साधु के लिए बनाना।

२ उद्देसिय—औद्देशिक—सामान्य याचकों के लिए बनाना।

३ पूइकम्म—पूतिकर्म—शुद्ध आहार को आधाकर्मादि से मिश्रित करना।

४ मीसजाय—मिश्रजात—अपने और साधु के लिए एक साथ बनाना।

५ ठवणा—स्थापना—साधु के लिए अलग निकाल कर रख देना।

६ पाहुडिया—प्राभृतिका—साधु को गांव में आया जानकर उन्हें विशिष्ट भोजन बहराने के लिए जीमणवार, पाहुने आदि का समय आगे-पीछे करना।

७ पाओयर—प्रादुष्करण—अंधकार युक्त स्थान में दीपक आदि का प्रकाशकर भोजन आदि देना।

८ कीय—क्रीत—साधु के लिए खरीदना।

९ पामिच्च—प्रामित्य—साधु के लिए उधार लाना।

१० परियट्टिअ—परिवर्तित—साधु के लिए आटा-साटा करना।

११ अभिहड—अभिहृत—साधु के लिए दूर से लाकर देना।

१२ उब्भिन्न उद्भिन्न—लिप्त पात्र का मुंह खोलकर घृत आदि देना।

१३ मालोहड़—मालापहृत—ऊपर की मंजिल से या छींके वगैरह से सीढ़ी आदि से उतार कर देना।

१४ अच्छिज्ज—आच्छेद्य—दुर्बल से छीन कर लेना।

१५ अणिसिट्ठ—अनिसृष्ट—साझे की चीज बिना दूसरे साथी की आज्ञा से देना।

१६ अज्झोयरय—अध्यवतरक—साधु को गांव में आया जानकर अपने लिए बनाये जाने वाले भोजन में और अधिक बढ़ा देना।

इनमें आधाकर्म सबसे बड़ा दोष माना गया है। साधु के लिए बनाया गया आहार आधाकर्म है। आहार बनाने में, पकाने में जो हिंसा आदि होती है आधाकर्म आहार लेने वाला—उस हिंसा का भागी होता है। इसलिए

साधु की भिक्षाचरी का पहला नियम है कि वह अपने लिए बना हुआ आहार न लें। शास्त्र में तो यहां तक बताया है कि आधाकर्म आहार का एक कण भी यदि किसी भोजन में मिश्रित हो गया है तो वह आहार भी साधु न लें।

(२) १६ **उत्पादन दोष**[१]—ये १६ दोष भिक्षा ग्रहण करते समय साधु की ओर से लग सकते हैं। इनका निमित्त मुनि ही होता है।

१ **धात्री**--धाय (आया) की तरह गृहस्थ के बालकों को खिला-पिलाकर हंसा-हंसा कर आहार लेना।

२ **दूती**—दूत के समान इधर-उधर संदेश पहुंचाकर आहार लेना।

३ **निमित्त**—शुभ-अशुभ निमित्त (ज्योतिष) बताकर आहार लेना।

४ **आजीव**—अपनी जाति, कुल आदि बताकर आहार लेना।

५ **वनीपक** - भिखारी की भांति गृहस्थ की चापलूसी करके आहार लेना।

६ **चिकित्सा**—आहार प्राप्त करने के लिए औषधि आदि बताना।

७ **क्रोध**—गृहस्थ पर क्रोध करना या शाप आदि का भय दिखाकर आहार लेना।

८ **मान**—अपना प्रभुत्व जमाकर, शेखी बघारकर आहार लेना।

९ **माया**—किसी प्रकार का छल कपट रचकर आहार लेना।

१० **लोभ**—सरस भोजन की लालसा से घूमते रहना।

११ **पूर्व पश्चात् संस्तव**—दान दाता के माता-पिता या सास-श्वसुर आदि से अपना परिचय बताकर भिक्षा लेना।

१२ **विद्या**—आहार के लिए किसी प्रकार की विद्या आदि साधना बताना अथवा उनका प्रयोग करना।

१३ **मंत्र**—मंत्र प्रयोग द्वारा आहार लेना।

---

१ धाई दुई निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य।
कोहे माणे माया लोभे य हवंति दस एए॥
पुव्विं पच्छा संथविज्जा मंते य चुण्ण जोगे य।
उप्पायणाइ दोसा सोलसमे मूलकम्मे य॥

—पिंडनिर्युक्ति ४०८—४०९

१४ **चूर्ण**—चूर्ण, अंजन आदि से वशीकरण करके लेना।

१५ **योग**—आहार के लिए सिद्धि आदि योग-विद्या का प्रदर्शन करना।

१६ **मूलकर्म**—गर्भस्तंभ आदि गुह्य प्रयोग बताकर आहार लेना।

(३) १० **ग्रहणैषणा के दोष**[1]—ये दोष आहार ग्रहण करते समय लगते हैं। इनमें साधु और गृहस्थ दोनों की मिली-भगत रहती है। अर्थात् गृहस्थ की ओर से भी ये दोष लगते हैं और साधु की ओर से भी, अतः इन दोषों के निमित्त दोनों ही हो सकते हैं।

१ **शंकित**—आधाकर्मादि दोषों की शंका होने पर भी आहार लेना।

२ **म्रक्षित**—सचित्त आदि का संघट्टा होते हुए भी आहार लेना।

३ **निक्षिप्त**—सचित्त वस्तु पर रखा हुआ आहार लेना।

४ **पिहित**—सचित्त वस्तु से ढंका हुआ आहार लेना।

५ **संहृत**—पात्र में पहले से रखे हुए अकल्पनीय पदार्थ को निकालकर उसी पात्र से दान देना।

६ **दायक**—शराबी, गर्भिणी आदि दान देने के अनधिकारी से आहार लेना।

७ **उन्मिश्र**—सचित्त से मिश्रित आहार लेना।

८ **अपरिणत**—पूरे तौर पर पके बिना अपक्व शाकादि लेना।

९ **लिप्त**—दही, घृत आदि से लिप्त होने वाले पात्र या हाथ से आहार लेना। लिप्त हाथ पहले (सचित्त पानी से) धोने के कारण पुरःकर्म दोष और बाद में धोने के कारण पश्चात्कर्म दोष होता है।

१० **छर्दित**—छींटे नीचे पड़ रहे हों, ऐसा आहार लेना।

---

१ संकिय मक्खिय निक्खित्त,
पिहिय साहरिय दायगुम्मीसे।
अपरिणय लित्त छिड्डय,
एसण दोसा दस हवंति॥ —पिंडनिर्युक्ति

भिक्षाचरी के इन ४२ दोषों का वर्णन मूल आगमों में एक स्थान पर नहीं मिलता है। कुछ दोषों का वर्णन आचारांग, कुछ का दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, तथा प्रश्नव्याकरण एवं भगवती सूत्र आदि में अलग-अलग आता है। आगमोत्तरकालीन ग्रंथों में—जैसे पिंडनिर्युक्ति, प्रवचन सारोद्धार, आवश्यक वृत्ति आदि में एक स्थान पर भी प्राप्त होता हैं।

परिभोगैषणा (ग्रासैषणा) के संयोजना, अप्रमाण, अंगार आदि पांच दोष बताये गये हैं, उनका सम्बन्ध भिक्षाचरी से उतना नहीं है जितना कि आहार विधि (रसवृत्ति) से हैं, अतः हमने उनका वर्णन रस-परित्याग के अन्तगर्त यथाप्रसंग कर दिया है।

इसी प्रकार भगवती सूत्र (७।१) में क्षेत्रातिक्रांत, कालातिक्रांत आदि भिक्षा के चार दोष बताये हैं। उनका सम्बन्ध ऊनोदरी तप से बैठता है। अतः उसी प्रसंग में चारों का वर्णन किया गया है।

श्रमण सूत्र के गोचरचर्या सूत्र में भी गोचरी के अनेक दोष और विधियों का सूक्ष्मवर्णन किया गया है। विस्तार के लिए पाठक (श्रमण सूत्र : विवेचन उपाध्याय अमरमुनि) देख सकते हैं।

इस तरह उद्‌गम, उत्पादन और एषणा के दोषों की कुल संख्या बयालीस होती है। ये बयालीस दोष 'भिक्षाचरी' के हैं। इन दोषों को टालकर विवेक पूर्वक भिक्षा ग्रहण करना—भिक्षाचरी है।

पाठक कल्पना कर सकते हैं कि जैन मुनि की भिक्षा के सम्बन्ध में कितने नियमोपनियम बनाये गये हैं, भिक्षा की विधि कितनी कठोर और विवेकपूर्ण है। भिक्षा विधि के सम्बन्ध में इतना गहरा विवेचन अन्य किसी भी भिक्षुक परम्परा में नहीं मिलेगा। भिक्षा लेना तो वैदिक एवं बौद्ध परम्परा में भी विहित है, किन्तु वहां भिक्षा के नियम बहुत सरल हैं। वहां पर इस प्रकार के ४२ दोषों की, नवकोटि विशुद्धि की कोई कल्पना भी नहीं है। बस, भिक्षुक ने याचना की, दाता ने जैसा भी, जहां से भी लाकर दे दिया, भिक्षुक ने ग्रहण कर लिया। इस प्रकार की भिक्षा बहुत ही आसान है, इसी कारण इस भिक्षा को 'तप' कहना भी कठिन है। क्योंकि जिस

कार्य में कुछ भी तपस्या नहीं करनी पड़े, मन, वचन आदि का संयम व निग्रह करने का अवसर भी न आये वह कार्य 'तप' कैसे हो सकता है? वैदिक परम्परा में तो आधाकर्म, औद्देशिक आदि जैसे शब्द भी नहीं मिलते हैं, किन्तु बौद्ध परम्परा जो कि श्रमणों की ही एक परम्परा है और भगवान महावीर के समय में ही जिसका विकास विस्तार हुआ, उसमें भी ऐसे नियम नहीं हैं। बौद्ध ग्रन्थों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि वहां भी भिक्षु के लिए बनाया हुआ, खरीदा हुआ, लाया हुआ, आदि आहार ग्रहण किया जाता था। एक बार सिंह सेनापति ने बुद्ध को संघ सहित निमंत्रित किया था और बाजार से मरे हुए पशुओं का मांस मंगवाकर उन्हें भोजन दिया था।[1] इसी प्रकार का एक और उल्लेख है कि एक तरुण श्रद्धालु महामात्य ने बुद्ध सहित भिक्षु संघ को निमंत्रण दिया। बुद्ध के साथ साढ़े बारह सौ भिक्षु थे अतः उसने साढ़े बारह सौ थालियां तैयार करवाई और आने पर प्रत्येक भिक्षु को एक-एक थाली परोसी।[2]

इन संदर्भों से ज्ञात होता है कि बौद्ध भिक्षु आधाकर्म, औद्देशिक, अभिहृत आदि दोषों को नहीं टालते थे। भिक्षा के विषय में इतना गहरा और सूक्ष्म चिंतन सिर्फ जैन धर्म में ही किया गया है। भिक्षा के विषय में सूक्ष्म से सूक्ष्म हिंसा को यहां टाला गया है। यहां तक कि भिक्षु के निमित्त बनाया हुआ तो दूर, किन्तु अपने लिये बनाये हुए भोजन में यदि दो हिस्सेदार हों, उनमें से एक की इच्छा हो कि मैं मुनि को भिक्षा दूं। वह मुनि से प्रार्थना करे कि—महाराज ! भिक्षा लीजिए। किन्तु दूसरा यदि देना न चाहे और उसका मन भिक्षा देने से कष्ट पाता हो तो मुनि को चाहिए कि वह आहार भी न लें। क्योंकि ऐसा करने से एक के हृदय में रोष, अश्रद्धा व पीड़ा उत्पन्न हो सकती है, जो कि एक प्रकार की सूक्ष्म हिंसा ही है। इसलिए कहा है —

---

१ विनय पिटक, महावग्ग ६।४।८ पृष्ठ २४४
२ विनय पिटक : महावग्ग ६।७।५, पृष्ठ २३५

दोण्हं तु भुंजमाणाणं एगो तत्थ निमंतए।
विज्जमाणं न इच्छेज्जा छंदं से पडिलेहए।[1]

—दो स्वामी या भोक्ता हो, वहां एक मुनि को भिक्षा के लिए निमंत्रित करे, तब मुनि दूसरे के अभिप्राय को भी देखें, यदि उसे देना अप्रिय लगता हो तो मुनि उस भिक्षा को ग्रहण न करे।

भिक्षा के अन्य नियम

मुनि की भिक्षा के सम्बन्ध में जैनसूत्रों में स्थान-स्थान पर बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। आचारांग (२।१) प्रश्नव्याकरण (संवर द्वार १.१५) भगवती सूत्र (७।१) उत्तराध्ययन (२६) दशवैकालिक (५) तथा निशीथ आदि सूत्रों में भिक्षाचरी के अनेक विधि-निषेधों का बड़ा ही सूक्ष्म वर्णन प्राप्त होता है। (आचारांग दूसरे श्रुतस्कन्ध का प्रथम अध्ययन और दशवैकालिक का पांचवां अध्ययन तो विशेष रूप से भिक्षा विधि के वर्णन से ही भरे हैं। इस कारण इनका नाम भी 'पिंडैषणा अध्ययन' प्रसिद्ध हो गया।)

वृहत्कल्प सूत्र के प्रथम उद्देशक में बताया है कि—भिक्षा के लिए जाने से पहले कायोत्सर्ग करना चाहिए। इस कायोत्सर्ग—ध्यान में यह विचार करना चाहिए कि "आज मैंने कौनसा आयम्बिल, नोवी आदि व्रत ले रखा है, मुझे कितना आहार लेना है, कैसा आहार करने का मेरा नियम है?" इस प्रकार का चिन्तन साधक को भिक्षा के लिए जाने से पहले सावधान कर देता है कि आज मेरा अमुक संकल्प है, अतः अमुक प्रकार का रस, विगय आदि नहीं लूंगा। और सादा भोजन भी अमुक मर्यादा के अनुसार ही लूंगा।

दशवैकलिक में बताया गया है, कि मुनि आहार के लिए जाये तो गृहस्थ के घर में प्रवेश करके वह शुद्ध आहार की गवेषणा करे, सर्व प्रथम वह यह जानने का प्रयत्न करे कि यह आहार शुद्ध और निर्दोष है कि नहीं?[2]

---

१ दशवैकालिक ५।१।३७

२ दशवै० ५।१।२७

(ख)—सोच्चा निस्संकियं सुद्धं पडिगाहेज्ज संजए— वहीं ५।१।५६

इस आहार को लेने से पश्चात्कर्म आदि दोष तो नहीं लगेगा ?[१] यदि मेहमान आदि के लिए बनाया हो तो लेने से उन्हें कमी न पड़ जाय जिससे दुबारा बनाना पड़े या उन्हें बुरा लगे, तो वह आहार भी न लेवे। किसी गर्भवती स्त्री के लिए बनाया हो, और वह खा रही हो तो उसका भोजन भी नहीं लेवे।[२] गरीबों और भिखारियों को देने के निमित्त बनाया हो तो वह आहार भी भिक्षु के लिए अकल्पनीय है।[3] दो साझीदरों का हो और दोनों की पूर्ण सहमति न हो तो वह भी न लेवे।[४]

इस प्रकार प्राप्त आहार की आगम के अनुसार भी एषणा करें और व्यवहार के अनुसार भी। साधु का उद्देश्य सिर्फ भिक्षा लेना, पात्र या पेट भरना मात्र नहीं है, किन्तु शुद्ध और निर्दोष भिक्षा लेना है, यह शुद्ध भिक्षा मिले तो लेवें, न मिले तो अदीन भाव के साथ पुनः खाली लोट आवे ! यह न सोचे कि देखो, कैसे लोग हैं ? कैसा गांव है कि यहां भिक्षा ही नहीं मिलती ? इस प्रकार का संकल्प भिक्षु मन में ही न लावे। किन्तु यह सोचे कि चलो, कोई बात नहीं, आज भोजन न मिला तो तपस्या का ही प्रसंग प्राप्त हुआ। किन्तु अपने आचार में किसी प्रकार का दोष न आने दे !

भिक्षा का काल

जितना महत्त्व और गौरव जैन श्रमण की भिक्षा का है, उतना ही उसकी विधि का भी है। विधिपूर्वक समय पर किया गया काम ही सराहनीय होता है। यदि अच्छा कार्य भी समय चुका कर किया जाये तो उसकी प्रशंसा के स्थान पर उल्टी निन्दा ही होती है। इसीलिये कहावत है—"समय का चूका गोता खावे"—समय चूकने पर भला आदमी भी ठोकरें खाता है।

सूत्रों में जहां भिक्षा के नियम आदि बताये हैं वहां उसका काल भी

---

२ दशवैकालिक ५।१।२५,
३ ,, ५।१।३६,
४ ,, ५।१।४७,
५ ,, ५।१।३७

वताया है। किस समय भिक्षा करनी चाहिए और किस समय नहीं करनी चाहिए इसका विवेक भी साधु को रखना होता है।

आचार्य जिनदास गणी ने चूर्णि में एक कथा प्रसंग देते हुए वताया है—एक मुनि भिक्षा का काल टालकर अकाल में भिक्षा के लिए घूमता था। उस समय घरों में कहीं चौका उठ जाता, कहीं रसोई वन्ध मिलती। फल यह होता कि मुनि भूखा-प्यासा ही खाली झोली लेकर लौट आता। एकवार उसे खाली लौटते देखकर कालचारी—(सयम पर भिक्षा करने वाले) मुनि ने पूछा—क्यों मुने ! भिक्षा मिली कि नहीं ?

वह वड़-वड़ाकर वोला—कैसा है यह गांव ! सव भिखारी रहते हैं यहां पर ! कहीं भी भिक्षा नहीं मिली !

इस पर वह कालचारी भिक्षु वोला—मुने ! इसमें भूल तो तुम्हारी है और गांव को दोष दे रहे हो !

अकाले चरसि भिक्खु ! कालं न पडिलेहसि !
अप्पाणं च किलामेसि सन्निवेसं च गरिहसि ![1]

भिक्षु ! तुम समय को तो देखते नहीं हो, वेसमय में भिक्षा के लिए घूमते हो, फिर भिक्षा मिलती नहीं तो स्वयं भी खेद खिन्न होते हो और गांव को भी गालियां देते हो ! तो यह दोष गांव का नहीं, तुम्हारा ही है।"

इस कथा प्रसंग को देकर वताया गया है कि भिक्षु जिस देश में रहता हो, जहां विहार करता हो उस देश के भिक्षा काल का भी ज्ञान रखे और जब वहां भिक्षा का समय हो तव भिक्षा के लिए जाये !

संपत्ते भिक्खकालम्मि असंभंतो अमुच्छिओ ![2]

भिक्षा का समय होने पर असंभ्रान्त अर्थात् अनाकुल और अनाशक्त भाव से भिक्षा की गवेषणा करनी चाहिए !

यहां प्रश्न होता है कि भिक्षा का क्या कोई निश्चित समय आगमों में नहीं वताया गया है ? उत्तर है आगमों में भिक्षा का समय सूचित किया

---

१ दशवैकालिक ५।२।५
२ दशवैकालिक ५।१।१

गया है। प्राचीन समय में भगवान महावीर के शिष्य जिस समय भिक्षा करते थे उसका वर्णन भी सूत्रों में आता है। उत्तराध्ययन सूत्र के समाचारी प्रकरण में बताया गया है –

पढमं पोरिसि सज्झायं बीयं झाणं झियायइ।

तइयाए भिक्खायरियं पुणो चउत्थीइ सज्झायं।[1]

मुनि पहले प्रहर में स्वाध्याय करे, दूसरे प्रहर में ध्यान करे, तीसरे प्रहर में भिक्षा के लिए जाये और चौथे प्रहर में पुनः स्वाध्याय करें!

इस विधान के अनुसार तो भिक्षा का काल तीसरा पहर ही है। तो क्या आज भी यही काल मान्य है? इस प्रश्न के समाधान में हमें आगमों की मूल भावना को देखना चाहिए।

प्राचीन काल के नागरिक जीवन की जो विधि मिलती है, उसके अनुसार उस समय भोजन का समय प्रायः मध्यान्होत्तर काल ही था। आज भी अनेक प्रदेशों में १२-१ बजे के समय ही भोजन किया जाता है। इसलिए हो सकता है कि उस समय की प्रथा के अनुसार तीसरा पहर ही भिक्षा का समय मान लिया गया हो!

उत्तराध्ययन की बृहद्वृत्ति के अनुसार यह विधान उत्सर्ग विधि है। "उत्सर्गतो हि तृतीय पौरुष्यामेव भिक्षाटनमनुज्ञातम्[2]—उत्सर्ग विधि (सामान्य विधि) के अनुसार तीसरे पहर में ही भिक्षा करनी चाहिए।

किन्तु साथ में आगम में यह भी कहा है—

अकालं च विवज्जित्ता काले कालं समायरे[3]

अकालवेला छोड़कर काल—समय पर ही सब कार्य करना चाहिए। सूत्रकृतांग[4] में भी यही बात कही है—भिक्षा के समय में भिक्षा करनी

---

१ २६।१२

२ उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति ३०।२१

३ दशवैकालिक ५।२।४

४ अन्नं अन्न काले····सयणं सयण काले। —सूत्रकृतांग २।१।१५

चाहिए, खाने के समय खाना चाहिए और सोने के समय सोना चाहिए। देश व क्षेत्र की प्रथा बदलती रहती है, देश की प्रथा के अनुसार जब मध्याह्न में भोजन बनता था तो भिक्षा का काल भी मध्यान्ह था, अब यदि देश की प्रथा दूसरे पहर में भोजन बनाने की हो गई और भिक्षु फिर भी तीसरे पहर को पकड़े रहे, उसी समय भिक्षा के लिए निकले तो वह तो अकाल चर्या हो गई! जबकि 'अकाल चर्या' को छोड़कर काल चर्या का अनुसरण करने का स्पष्ट आदेश है। इसीलिए शास्त्रों में—**खेत्तं कालं च विन्नाय**—क्षेत्र और काल को जानकर आचरण करने की सूचना दी गई है। इन सब बातों पर विचार करने से यही प्रतीत होता है कि जिस देश में, जिस समय लोग भोजन करते हों उस समय भिक्षा के लिए निकलना भिक्षाचरी का काल है, और उससे पहले या पीछे जाना, अकाल चर्या है।

छेद सूत्रों में तो भिक्षा का काल सूर्योदय से सूर्यास्त पूर्व तक बतलाया गया है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि भिक्षु दिन भर ही भिक्षा के लिए घूमता रहे। इसका आशय यही है कि दिन के समय में जब जहां भिक्षा की प्राप्ति का उचित समय हो, तब वहां भिक्षा के लिये जाये।

भिक्षा की विधि

भिक्षा का काल प्राप्त होने पर जब भिक्षु भिक्षा के लिये जाये तो कैसे जाना चाहिये? किस प्रकार गृहस्थ के घर में प्रवेश करना और किस प्रकार की वृत्ति रखना—यह भी एक महत्वपूर्ण बात है। शास्त्रों में इन विषयों का भी बहुत विस्तार से वर्णन मिलता है।

भिक्षा के लिये जाते हुए मुनि को सबसे पहले—**असंभंतो अमुच्छिओ**—असंभ्रांत और अमूर्च्छित होना चाहिए। भिक्षा का समय होने पर मन चंचल नहीं होना चाहिए कि चलो, सबसे पहले गृहस्थ के घर में जाकर भिक्षा ले लूं! मुझ से पहले अन्य कोई भिक्षु वहां न पहुँच जाये। यदि अन्य कोई पहुँच गया तो वह स्वादिष्ट आहार पान आदि ले जायेगा, और मैं मुंह ताकता ही रह जाऊंगा। इस विचार से मन में चंचलता आती है, मन चंचल होता है तो पात्र आदि की ठीक से प्रतिलेखना भी नहीं कर पाता।

झट से जैसे तैसे तैयार होकर जाने की जल्दी करता है, इधर-उधर देखता हुआ जल्दी-जल्दी जाता है इससे न पूरी ईर्या समिति देखी जाती है और न एषणा समिति का ही विवेक रहता है। इस कारण पहली विधि यह बताई है कि भिक्षु असंभ्रान्त—अर्थात् स्थिर चित्त हो, गंभीर होकर गजगति से धीरे-धीरे नीचे देखता हुआ भिक्षा के लिए जाये। दूसरी बात है—अमूच्छित भाव रखे। आहार के प्रति आसक्ति न रखे। स्वादिष्ट आहार के प्रति गृद्ध न होकर बिलकुल अनाकुल एवं अनासक्त रहे। गृहस्थ के घर में जाये तो वहां भी शब्द, रूप, रस आदि में मूच्छित न हो। घर में सुन्दर युवतियां भी होती हैं, कन्याएं भी होती हैं, सुन्दर-वस्त्र आभूषण भी पड़े रहते हैं। विविध पकवान, मिठाइयों से थाल भरे होते हैं, भिक्षु उनकी तरफ आँख उठाकर भी न देखे। उसे तो जो वस्तु मिल रही है, बस उसी की शुद्धाशुद्धि की गवेषणा में ध्यान रहे।

अमूर्च्छा भाव को समझाने के लिए आचार्य जिनदास ने गोवत्स का सुन्दर उदाहरण दिया है। जो इस प्रकार है—

किसी नगर में एक धनाढ्य सेठ था। उसने एक गाय पाल रखी थी। उस गाय के एक बछड़ा था। सेठ की पुत्र-वधू बछड़े की बड़ी सेवा करती, उसे अपने हाथ से चारा डालती, पानी पिलाती और समय-समय पर उसकी संभाल रखती!

एक बार सेठ के घर में कोई उत्सव हुआ। बाहर से अनेकों मेहमान आये। घर के सभी लोग उत्सव की तैयारी में और मेहमानों के स्वागत-सत्कार में लग गये। उस दिन बछड़े का चारा पानी भी लोग भूल गये। सेठ की पुत्रवधू विविध आभूषणों और सुन्दर वस्त्रों से सजकर मेहमानों का स्वागत-सत्कार कर रही थी। इधर भूख प्यास के मारे बछड़ा रंभाने लगा। बछड़े की आवाज सुनकर पुत्रवधू चौंकी। उसे याद आया—ओह! आज तो बिचारे बछड़े को चारा पानी भी दिया नहीं! वह झट से दौड़ी। उसके पैरों के नुपूर रुन-झुन कर रहे थे। सौन्दर्य उसका निखर रहा था। जैसे ही बछड़े के पास पहुंची और चारा पानी डाला तो बस बछड़ा तो खाने में लग गया।

पुत्रवधू की सुन्दरता और साज-शृंगार से उसे कोई वास्ता नहीं था, उसकी नजर तो बस अपने भोजन की ओर लगी, वह उसी में मस्त था।

इस दृष्टान्त के द्वारा आचार्य ने बताया है कि साधु भी गृहस्थ के घर में भोजन के लिए जाता है तो वहां विविध प्रकार के रूप-रस-शब्द आदि विषयों के आकर्षण रहते हैं, किंतु बछड़े की तरह उन रूपादि विषयों से उसका कोई लगाव नहीं होता, वह तो सिर्फ अपने ग्राह्य भोजन की ओर ही ध्यान देता है और उसे प्राप्त कर गृहस्थ के घर से लौट आता है। भिक्षु को गृहस्थ के घर में जाने पर इस प्रकार आसक्त रहना चाहिए।[1]

भिक्षा लेते समय मुनि को गृहस्थ के सामने अपना पूर्व परिचय भी नहीं देना चाहिए कि मैं अमुक परिवार का जन्मा हूँ—मेरा अमुक घराना है। तथा न हीं दाता की स्तुति करनी चाहिए। क्योंकि ये सब चेष्टाएँ तभी होती हैं जब भिक्षु के मन में सरस भोजन प्राप्त करने का लालच होता है। भोजन की आसक्ति व रसलोलुपता ही साधक को गिराती है। इसीलिए भगवान ने कहा है—साधक जो भिक्षा से उदर निर्वाह करता है, वह भिक्षा के ऊपर ही निर्भर नहीं रहता। वह तो अपने धर्म के साधन भूत देह की पालना के लिए ही भिक्षा ग्रहण करता है। इसलिए इस प्रकार का साधक मुधाजीवी होता है। मुधाजीवी की व्याख्या करते हुए आचार्य ने बताया है—**मुहाजीवी नाम जं जाति कुलादीहिं आजीवण विसेसेहिं परं न जीवति**[2] —जो जाति, कुल आदि के सहारे नहीं जीता, उसे मुधाजीवी कहा जाता है। वह तो निस्पृहतापूर्वक धर्म साधना और धर्मोपदेश के लिए ही जीता है, इसी उद्देश्य से भिक्षा ग्रहण करता है। उसके मन में यह भी विकल्प नहीं होता कि भिक्षा देने वाले को मैं अमुक लाभ बताऊँ या उसका अमुक कार्य सिद्ध करादूं ? अक्सर लोग कहते हैं—"जिसकी खावे बाजरी उसकी बजावै हाजिरी" किंतु यह बात उन लोगों के लिए है जो किसी कामना से, लोभ-लालच से किसी का अन्न खाते हैं। जो 'पराये माल फोफानंद' होते हैं वे ही इस प्रकार की वृत्ति रखते हैं। सच्चा

राजा ने कहा - 'आप लोगों के उत्तर से मैं कुछ समझ नहीं पाया। अतः स्पष्टीकरण करके समझाइए।"

पहले भिक्षु ने कहा—"मैं कथावाचक हूँ, लोगों को कथा सुनाकर अपना निर्वाह करता हूँ। दूसरे ने स्पष्टीकरण किया मैं संदेश वाहक हूँ। यात्रा करता रहता हूँ और लोगों के संदेश इधर से उधर पहुँचाकर अपना निर्वाह करता हूँ।"''तीसरे ने बताया—"मैं लेखक (लिपिक) हूँ। अतः हाथ से अपना निर्वाह करता हूँ। चौथे भिक्षु ने कहा—"मैं लोकों को प्रसन्न करके उनका अनुग्रह प्राप्त करता हूँ उसी से मेरा निर्वाह हो जाता है।"

सबसे आखिर में मुधाजीवी भिक्षु बोला—'मैं संसार से विरक्त निर्ग्रन्थ भिक्षु हूँ। मुझे जीवन निर्वाह की क्या चिन्ता? निस्वार्थ बुद्धि से लोगों को उपदेश सुनाता हूँ और संयम-निर्वाह के लिए अल्प भोजन विशुद्ध रीति से लेता हूँ। मैं भोजन के लिए किसी की स्तुति-प्रशंसा नहीं करता, किसी के सामने दीनता नहीं दिखाता और न किसी को सत्य उपदेश देते हिचकिचाता हूँ। अतः मैं मुधाजीवी भिक्षु हूँ।"

मुधाजीवी भिक्षु का कथन सुनकर राजा बहुत प्रभावित हुआ। उसने सिर झुकाकर नमस्कार किया और बोला—"वास्तव में सच्चे गुरु आप ही हैं, मुझे धर्म का ज्ञान दीजिये।"

मुनि ने राजा को धर्म उपदेश दिया। राजा प्रतिबुद्ध होकर उनका शिष्य बन गया।

मुधाजीवी अर्थात् निस्वार्थभाव से लोगों का कल्याण कर भिक्षा प्राप्त करने वाला भिक्षु वास्तव में ही आदर्श होता है और वही सच्चा भिक्षा का अधिकारी हैं। ऐसे भिक्षु बहुत ही दुर्लभ होते हैं। आगम में कहा है—

> दुल्लहाओ मुहादायी मुधाजीवी वि दुल्लहा।
> मुहादायी मुधाजीवी दोवि गच्छंति सुग्गई।[1]

---

१ दशवैकालिक ५।१।१००

मुधादायी[1] अर्थात् किसी प्रकार की प्रतिफल की कामना के बिना

---

1 मुधादायी का एक अर्थ यह भी किया गया है कि दाता मन में किसी प्रकार के प्रतिफल की कामना नहीं रखे कि मैं इसे भिक्षा देता हूँ तो मुझे अमुक फल की प्राप्ति हो अथवा मेरा यह कार्य भिक्षा लेने वाला सम्पन्न कर दें। इस सम्बन्ध में टीका में एक कथा है—

एक सन्यासी था। एक बार वह एक भक्त (भागवत) के घर पर पहुंचा और बोला - मैं तुम्हारे यहां चातुर्मास काल व्यतीत करना चाहता हूँ, क्या तुम मेरे निर्वाह का भार उठा सकोगे ?

भागवत ने कहा—आप मेरे यहां चातुर्मास व्यतीत करेंगे इसमें मुझे खुशी है, किन्तु मेरी एक शर्त है, यदि मेरी शर्त आपको स्वीकार हो तो आप प्रसन्नतापूर्वक रहिए।

सन्यासी ने कहा—शर्त क्या है ? भागवत ने कहा— मैं यथा शक्य आपकी सेवा करूंगा, लेकिन बदले में आप मेरा कोई भी कार्य नहीं करेंगे। क्योंकि प्रत्युपकार की भावना रखने से मेरी सेवा का फल क्षीण हो जायगा।

सन्यासी ने शर्त स्वीकार कर ली। वह उसके घर ठहर गया। भागवत भी भोजन आदि से उसकी सेवा करने लगा। एक दिन रात के समय भागवत के घर चोर आये। चोरों के हाथ और कुछ नहीं लगा तो वे भागवत का घोड़ा चुराकर ही ले गये। जाते-जाते सवेरा होने लगा तो चोरों को भय लगा, उन्होंने घोड़ा नदी के किनारे वृक्ष से बांध दिया और आगे चल पड़े।

अपने नियमानुसार प्रातः सन्यासी नदी किनारे स्नान करने गया। वहां भागवत का घोड़ा बंधा देखा तो उसे खबर देने तुरन्त भागवत के घर लौटकर आया। उसे अपनी प्रतिज्ञा याद आई। इस कारण बात को बचाते हुए उसने भागवत से कहा—'मैं नदी किनारे अपना वस्त्र भूल आया, अतः नौकर को भेजकर मंगवादो।'' भागवत ने नौकर को नदी किनारे संन्यासी का वस्त्र लाने भेजा। नौकर वहां पहुँचा तो उसने घोड़े को नदी किनारे बंधा देखा। वह दौड़कर अपने मालिक के पास आया और सब बात कही।

भागवत सन्यासी की सब होशियारी ताड़ गया। उसने सन्यासी से कहा—महाराज ! आपने मेरा कुछ भी काम न करने की प्रतिज्ञा

(शेष पृष्ठ २५४ पर)

सात ऐषणाएं (पिण्डैषणा)

पूर्व बताया जा चुका है कि दोषरहित, शुद्ध प्रासुक अन्न जल ग्रहण करने को एषणा कहते हैं। एषणा के तीन भेदों में एक भेद है पिण्डैषणा। इसके भी दो भेद बताये गये हैं—पिण्डैषणा एवं पानैषणा। आहार ग्रहण करने की विधि को पिण्डैषणा कहते हैं और पानी ग्रहण करने को पानैषणा। पिण्डैषणा के सात भेद ये हैं—

१ **असंसट्ठा**—देने वाले भोजन से बिना सने हुए हाथ तथा पात्र से आहार ग्रहण करना।

२ **संसट्ठा**—सने हुए हाथ तथा पात्र से भोजन देना।

३ **उद्धड़ा**—बटलोई से थाली आदि में गृहस्थ ने जो भोजन निकालकर रखा हो, वह लेना।

४ **अप्पलेवा**—जिनमें चिकनाई का लेप न लगा हो, इस प्रकार का आहार—जैसे भुने हुए चने आदि आहार लेना।

५ **अवग्गहीआ**—भोजनकाल के समय भोजनकर्ता ने थाली में जो भोजन परोस रखा हो, किन्तु अभी तक उस भोजन में से कुछ खाना शुरू न किया हो, वह भोजन लेना।

६ **पग्गहीआ**—थाली में परोस कर रखा हो, और भोजनकर्ता ने एक ग्रास उसमें से खा लिया हो, किन्तु दूसरा ग्रास न लिया हो, इस प्रकार झूंठा न हुआ हो, ऐसा आहार लेना।

७ **उज्झितधम्मा**—जो आहार अधिक होने से, अथवा खाने, योग्य न होने से फेंकने के लिए रखा हो, फेंका जा रहा हो, वैसा फेंकने योग्य आहार लेना।

इन एषणा विधियों से भिक्षाचर्या में विशेष संकोच होता है, कठोरता आती है,साथ ही निर्दोषता भी। आचारांग सूत्र के पिण्डैषणा अध्ययन में तथा स्थानांग सूत्र (७) में पिण्डैषणा का काफी विस्तार के साथ वर्णन मिलता है।

भिक्षा की निर्दोषता के साथ-साथ भिक्षा को कठोर चर्या बनाने का भी इनमें भाव रहता है। गति,संकल्प व वस्तु आदि की दृष्टि से और भी भिक्षाचरी के अन्य भेद हो सकते हैं और ऐसे तीस भेद उववाई सूत्र में गिनाये गये हैं।

उसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सम्बन्धी अभिग्रह, एषणा सम्बन्धी विधि और गति सम्बन्धी भेद भी सम्मिलित कर लिये गये हैं।

तीस प्रकार के अभिग्रह

(१) द्रव्य अभिग्रह (चारक)—द्रव्य-वस्तु सम्बन्धी अभिग्रह करना। जैसे—उड़द के बाकले, भुने चने आदि अमुक द्रव्य मिलेगा तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा उपवास करूंगा। इसमें वस्तु की संख्या का भी संकल्प किया जा सकता है—जैसे दो लड्डू मिलेंगे, एक रोटी मिलेगी तो लूंगा, इससे कम या अधिक मिलेंगे तो नहीं लूंगा। यह द्रव्य अभिग्रह है। जैसे भगवान महावीर ने उड़द के बाकले लेने का अभिग्रह किया था।

(२) क्षेत्र अभिग्रह (चारक)—अमुक क्षेत्र में आहार मिलेगा तो लूंगा—जैसे—दाता न घर के अन्दर बैठा हो,न घर के बाहर। देहली में पैर रखकर बैठा हो। जैसे चन्दनबाला के सम्बन्ध में भगवान महावीर का अभिग्रह फला—वह देहली के बीच में बैठी हुई मिली। इसमें अनेक प्रकार के विकल्प किये जा सकते हैं, गांव के बाहर भिक्षा मिले, भीतर भिक्षा मिले, अमुक मुहल्ले में भिक्षा मिले तो लूंगा इस प्रकार के सभी अभिग्रह क्षेत्र अभिग्रह में आते हैं।

(३) काल अभिग्रह (चारक)—दिन में समय सम्बन्धी अभिग्रह करना। दिन के अमुक प्रहर में, अमुक घंटा में गोचरी मिले तो लूंगा, अन्यथा नहीं। जैसे भगवान महावीर ने तीसरे पहर का अभिग्रह किया था।

(४) भाव अभिग्रह—अमुक जाति, अमुक लिंग, अमुक वेश, अमुक भाव के साथ अमुक व्यक्ति भिक्षा देगा तो लूंगा। जैसे भगवान महावीर ने अभिग्रह किया था—राजा की कन्या हो, सिर मुंडा हो, काछ पहने हो, आंखों में आंसू हो, हृदय से प्रसन्न हो—ऐसी भावनाओं के साथ यदि भिक्षा मिले तो लूंगा।

भाव अभिग्रह के २६ भेद उववाई सूत्र में बताये गए हैं। जो संक्षेप में यों हैं :—

१ उत्क्षिप्त चरक—भोजन पात्र (रांधने के पात्र) से निकला हुआ भोजन ग्रहण करने वाले।

सात ऐषणाएं (पिण्डैषणा)

पूर्व बताया जा चुका है कि दोषरहित, शुद्ध प्रासुक अन्न जल ग्रहण करने को एषणा कहते हैं। एषणा के तीन भेदों में एक भेद है पिण्डैषणा। इसके भी दो भेद बताये गये हैं—पिण्डैषणा एवं पानैषणा। आहार ग्रहण करने की विधि को पिण्डैषणा कहते हैं और पानी ग्रहण करने को पानैषणा। पिण्डैषणा के सात भेद ये हैं—

१ **असंसट्ठा**—देने वाले भोजन से बिना सने हुए हाथ तथा पात्र से आहार ग्रहण करना।

२ **संसट्ठा**—सने हुए हाथ तथा पात्र से भोजन देना।

३ **उद्धड़ा**—बटलोई से थाली आदि में गृहस्थ ने जो भोजन निकालकर रखा हो, वह लेना।

४ **अप्पलेवा**—जिनमें चिकनाई का लेप न लगा हो, इस प्रकार का आहार—जैसे भुने हुए चने आदि आहार लेना।

५ **अवग्गहीआ**—भोजनकाल के समय भोजनकर्ता ने थाली में जो भोजन परोस रखा हो, किन्तु अभी तक उस भोजन में से कुछ खाना शुरू न किया हो, वह भोजन लेना।

६ **पग्गहीआ**—थाली में परोस कर रखा हो, और भोजनकर्ता ने एक ग्रास उसमें से खा लिया हो, किन्तु दूसरा ग्रास न लिया हो, इस प्रकार झूंठा न हुआ हो, ऐसा आहार लेना।

७ **उज्झितधम्मा**—जो आहार अधिक होने से, अथवा खाने, योग्य न होने से फेंकने के लिए रखा हो, फेंका जा रहा हो, वैसा फेंकने योग्य आहार लेना।

इन एषणा विधियों से भिक्षाचर्या में विशेष संकोच होता है, कठोरता आती है, साथ ही निर्दोषता भी। आचारांग सूत्र के पिण्डैषणा अध्ययन में तथा स्थानांग सूत्र (७) में पिण्डैषणा का काफी विस्तार के साथ वर्णन मिलता है।

भिक्षा की निर्दोषता के साथ-साथ भिक्षा को कठोर चर्या बनाने का भी इनमें भाव रहता है। गति, संकल्प व वस्तु आदि की दृष्टि से और भी भिक्षाचरी के अन्य भेद हो सकते हैं और ऐसे तीस भेद उववाई सूत्र में गिनाये गये हैं।

उसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सम्बन्धी अभिग्रह, एषणा सम्बन्धी विधि और गति सम्बन्धी भेद भी सम्मिलित कर लिये गये हैं।

तीस प्रकार के अभिग्रह

(१) द्रव्य अभिग्रह (चारक)—द्रव्य-वस्तु सम्बन्धी अभिग्रह करना। जैसे—उड़द के बाकले, भुने चने आदि अमुक द्रव्य मिलेगा तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा उपवास करूंगा। इसमें वस्तु की संख्या का भी संकल्प किया जा सकता है—जैसे दो लड्डू मिलेंगे, एक रोटी मिलेगी तो लूंगा, इससे कम या अधिक मिलेंगे तो नहीं लूंगा। यह द्रव्य अभिग्रह है। जैसे भगवान महावीर ने उड़द के बाकले लेने का अभिग्रह किया था।

(२) क्षेत्र अभिग्रह (चारक)—अमुक क्षेत्र में आहार मिलेगा तो लूंगा—जैसे—दाता न घर के अन्दर बैठा हो,न घर के बाहर। देहली में पैर रखकर बैठा हो। जैसे चन्दनबाला के सम्बन्ध में भगवान महावीर का अभिग्रह फला—वह देहली के बीच में बैठी हुई मिली। इसमें अनेक प्रकार के विकल्प किये जा सकते हैं, गांव के बाहर भिक्षा मिले, भीतर भिक्षा मिले, अमुक मुहल्ले में भिक्षा मिले तो लूंगा इस प्रकार के सभी अभिग्रह क्षेत्र अभिग्रह में आते हैं।

(३) काल अभिग्रह (चारक)—दिन में समय सम्बन्धी अभिग्रह करना। दिन के अमुक प्रहर में, अमुक घंटा में गोचरी मिले तो लूंगा, अन्यथा नहीं। जैसे भगवान महावीर ने तीसरे पहर का अभिग्रह किया था।

(४) भाव अभिग्रह—अमुक जाति, अमुक लिंग, अमुक वेश, अमुक भाव के साथ अमुक व्यक्ति भिक्षा देगा तो लूंगा। जैसे भगवान महावीर ने अभिग्रह किया था—राजा की कन्या हो, सिर मुंडा हो, काछ पहने हो, आंखों में आंसू हो, हृदय से प्रसन्न हो—ऐसी भावनाओं के साथ यदि भिक्षा मिले तो लूंगा।

भाव अभिग्रह के २६ भेद उववाई सूत्र में बताये गए हैं। जो संक्षेप में यों हैं :—

१ **उत्क्षिप्त चरक**—भोजन पात्र (रांधने के पात्र) से निकला हुआ भोजन ग्रहण करने वाले।

सात ऐषणाएं (पिण्डैषणा)

पूर्व बताया जा चुका है कि दोपरहित, शुद्ध प्रासुक अन्न जल ग्रहण करने को एषणा कहते हैं। एषणा के तीन भेदों में एक भेद है पिण्डैषणा। इसके भी दो भेद बताये गये हैं—पिण्डैषणा एवं पानैषणा। आहार ग्रहण करने की विधि को पिण्डैषणा कहते हैं और पानी ग्रहण करने को पानैषणा। पिण्डैषणा के सात भेद ये हैं—

१ **असंसट्ठा**—देने वाले भोजन से बिना सने हुए हाथ तथा पात्र से आहार ग्रहण करना।

२ **संसट्ठा**—सने हुए हाथ तथा पात्र से भोजन देना।

३ **उद्धड़ा**—बटलोई से थाली आदि में गृहस्थ ने जो भोजन निकालकर रखा हो, वह लेना।

४ **अप्पलेवा**—जिनमें चिकनाई का लेप न लगा हो, इस प्रकार का आहार—जैसे भुने हुए चने आदि आहार लेना।

५ **अवग्गहीआ**—भोजनकाल के समय भोजनकर्ता ने थाली में जो भोजन परोस रखा हो, किन्तु अभी तक उस भोजन में से कुछ खाना शुरू न किया हो, वह भोजन लेना।

६ **पग्गहीआ**—थाली में परोस कर रखा हो, और भोजनकर्ता ने एक ग्रास उसमें से खा लिया हो, किन्तु दूसरा ग्रास न लिया हो, इस प्रकार झूंठा न हुआ हो, ऐसा आहार लेना।

७ **उज्झितधम्मा**—जो आहार अधिक होने से, अथवा खाने, योग्य न होने से फेंकने के लिए रखा हो, फेंका जा रहा हो, वैसा फेंकने योग्य आहार लेना।

इन एषणा विधियों से भिक्षाचर्या में विशेष संकोच होता है, कठोरता आती है,साथ ही निर्दोषता भी। आचारांग सूत्र के पिण्डैषणा अध्ययन में तथा स्थानांग सूत्र (७) में पिण्डैषणा का काफी विस्तार के साथ वर्णन मिलता है।

भिक्षा की निर्दोषता के साथ-साथ भिक्षा को कठोर चर्या बनाने का भी इनमें भाव रहता है। गति,संकल्प व वस्तु आदि की दृष्टि से और भी भिक्षाचरी के अन्य भेद हो सकते हैं और ऐसे तीस भेद उववाई सूत्र में गिनाये गये हैं।

उसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सम्बन्धी अभिग्रह, एषणा सम्बन्धी विधि और गति सम्बन्धी भेद भी सम्मिलित कर लिये गये हैं।

तीस प्रकार के अभिग्रह

(१) **द्रव्य अभिग्रह (चारक)**—द्रव्य-वस्तु सम्बन्धी अभिग्रह करना। जैसे—उडद के बाकले, भुने चने आदि अमुक द्रव्य मिलेगा तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा उपवास करूंगा। इसमें वस्तु की संख्या का भी संकल्प किया जा सकता है—जैसे दो लड्डू मिलेंगे, एक रोटी मिलेगी तो लूंगा, इससे कम या अधिक मिलेंगे तो नहीं लूंगा। यह द्रव्य अभिग्रह है। जैसे भगवान महावीर ने उडद के बाकले लेने का अभिग्रह किया था।

(२) **क्षेत्र अभिग्रह (चारक)**—अमुक क्षेत्र में आहार मिलेगा तो लूंगा—जैसे—दाता न घर के अन्दर बैठा हो,न घर के बाहर। देहली में पैर रखकर बैठा हो। जैसे चन्दनबाला के सम्बन्ध में भगवान महावीर का अभिग्रह फला—वह देहली के बीच में बैठी हुई मिली। इसमें अनेक प्रकार के विकल्प किये जा सकते हैं, गांव के बाहर भिक्षा मिले, भीतर भिक्षा मिले, अमुक मुहल्ले में भिक्षा मिले तो लूंगा इस प्रकार के सभी अभिग्रह क्षेत्र अभिग्रह में आते हैं।

(३) **काल अभिग्रह (चारक)**—दिन में समय सम्बन्धी अभिग्रह करना। दिन के अमुक प्रहर में, अमुक घंटा में गोचरी मिले तो लूंगा, अन्यथा नहीं। जैसे भगवान महावीर ने तीसरे पहर का अभिग्रह किया था।

(४) **भाव अभिग्रह**—अमुक जाति, अमुक लिंग, अमुक वेश, अमुक भाव के साथ अमुक व्यक्ति भिक्षा देगा तो लूंगा। जैसे भगवान महावीर ने अभिग्रह किया था—राजा की कन्या हो, सिर मुंडा हो, काछ पहने हो, आंखों में आंसू हो, हृदय से प्रसन्न हो—ऐसी भावनाओं के साथ यदि भिक्षा मिले तो लूंगा।

भाव अभिग्रह के २६ भेद उववाई सूत्र में बताये गए हैं। जो संक्षेप में यों हैं :—

१ उत्क्षिप्त चरक—भोजन पात्र (रांधने के पात्र) से निकला हुआ भोजन ग्रहण करने वाले।

सात ऐषणाएं (पिण्डैषणा)

पूर्व बताया जा चुका है कि दोषरहित, शुद्ध प्रासुक अन्न जल ग्रहण करने को एषणा कहते हैं। एषणा के तीन भेदों में एक भेद है पिण्डैषणा। इसके भी दो भेद बताये गये हैं—पिण्डैषणा एवं पानैषणा। आहार ग्रहण करने की विधि को पिण्डैषणा कहते हैं और पानी ग्रहण करने को पानैषणा। पिण्डैषणा के सात भेद ये हैं—

१ **असंसट्ठा**—देने वाले भोजन से बिना सने हुए हाथ तथा पात्र से आहार ग्रहण करना।

२ **संसट्ठा**—सने हुए हाथ तथा पात्र से भोजन देना।

३ **उद्धड़ा**—बटलोई से थाली आदि में गृहस्थ ने जो भोजन निकालकर रखा हो, वह लेना।

४ **अप्पलेवा**—जिनमें चिकनाई का लेप न लगा हो, इस प्रकार का आहार—जैसे भुने हुए चने आदि आहार लेना।

५ **अवग्गहीआ**—भोजनकाल के समय भोजनकर्ता ने थाली में जो भोजन परोस रखा हो, किन्तु अभी तक उस भोजन में से कुछ खाना शुरू न किया हो, वह भोजन लेना।

६ **पग्गहीआ**—थाली में परोस कर रखा हो, और भोजनकर्ता ने एक ग्रास उसमें से खा लिया हो, किन्तु दूसरा ग्रास न लिया हो, इस प्रकार झूठा न हुआ हो, ऐसा आहार लेना।

७ **उज्झितधम्मा**—जो आहार अधिक होने से, अथवा खाने, योग्य न होने से फेंकने के लिए रखा हो, फेंका जा रहा हो, वैसा फेंकने योग्य आहार लेना।

इन एषणा विधियों से भिक्षाचर्या में विशेष संकोच होता है, कठोरता आती है, साथ ही निर्दोषता भी। आचारांग सूत्र के पिण्डैषणा अध्ययन में तथा स्थानांग सूत्र (७) में पिण्डैषणा का काफी विस्तार के साथ वर्णन मिलता है।

भिक्षा की निर्दोषता के साथ-साथ भिक्षा को कठोर चर्या बनाने का भी इनमें भाव रहता है। गति, संकल्प व वस्तु आदि की दृष्टि से और भी भिक्षाचरी के अन्य भेद हो सकते हैं और ऐसे तीस भेद उववाई सूत्र में गिनाये गये हैं।

उसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सम्बन्धी अभिग्रह, एषणा सम्बन्धी विधि और गति सम्बन्धी भेद भी सम्मिलित कर लिये गये हैं।

तीस प्रकार के अभिग्रह

(१) **द्रव्य अभिग्रह (चारक)**—द्रव्य-वस्तु सम्बन्धी अभिग्रह करना। जैसे—उडद के बाकले, भुने चने आदि अमुक द्रव्य मिलेगा तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा उपवास करूंगा। इसमें वस्तु की संख्या का भी संकल्प किया जा सकता है—जैसे दो लड्डू मिलेंगे, एक रोटी मिलेगी तो लूंगा, इससे कम या अधिक मिलेंगे तो नहीं लूंगा। यह द्रव्य अभिग्रह है। जैसे भगवान महावीर ने उडद के बाकले लेने का अभिग्रह किया था।

(२) **क्षेत्र अभिग्रह (चारक)**—अमुक क्षेत्र में आहार मिलेगा तो लूंगा—जैसे—दाता न घर के अन्दर बैठा हो,न घर के बाहर। देहली में पैर रखकर बैठा हो। जैसे चन्दनबाला के सम्बन्ध में भगवान महावीर का अभिग्रह फला—वह देहली के बीच में बैठी हुई मिली। इसमें अनेक प्रकार के विकल्प किये जा सकते हैं, गांव के बाहर भिक्षा मिले, भीतर भिक्षा मिले, अमुक मुहल्ले में भिक्षा मिले तो लूंगा इस प्रकार के सभी अभिग्रह क्षेत्र अभिग्रह में आते हैं।

(३) **काल अभिग्रह (चारक)**—दिन में समय सम्बन्धी अभिग्रह करना। दिन के अमुक प्रहर में, अमुक घंटा में गोचरी मिले तो लूंगा, अन्यथा नहीं। जैसे भगवान महावीर ने तीसरे पहर का अभिग्रह किया था।

(४) **भाव अभिग्रह**—अमुक जाति, अमुक लिंग, अमुक वेश, अमुक भाव के साथ अमुक व्यक्ति भिक्षा देगा तो लूंगा। जैसे भगवान महावीर ने अभिग्रह किया था—राजा की कन्या हो, सिर मुंडा हो, काछ पहने हो, आंखों में आंसू हो, हृदय से प्रसन्न हो—ऐसी भावनाओं के साथ यदि भिक्षा मिले तो लूंगा।

भाव अभिग्रह के २६ भेद उववाई सूत्र में बताये गए हैं। जो संक्षेप में यों हैं :—

१ **उत्क्षिप्त चरक**—भोजन पात्र (रांधने के पात्र) से निकला हुआ भोजन ग्रहण करने वाले।

२ **निक्षिप्त चरक**—भोजन पात्र से निकाल कर अन्य पात्र में डाले हुए आहार को ग्रहण करने वाले ।

३ **उत्क्षिप्त-निक्षिप्त चरक**—रांधने के पात्र से निकालते हुए भोजन को खाने के पात्र में लेते समय मिले तो ग्रहण करने वाले ।

४ **निक्षिप्त-उत्क्षिप्त चरक**—एकबार निकाला हुआ आहार पुनः भोजन पात्र में डालकर दूसरी बार निकाला हुआ आहार लेना ।

५ **वर्तमान चरक**—खाने के लिए थाली में परोसा हुआ आहार लेना।

६ **साहरिज्जमाण चरक** – ठंडा करने के लिए थाली आदि में लिया हो, उसे पुनः वर्तन में डाल दिया हो, वह आहार ग्रहण करना !

७ **उपनीत चरक**—पास में लाकर देवे,अथवा गुण-प्रशंसा करते हुए देवे ।

८ **अपनीत चरक**—सामने से दूर हटाकर लेजाकर देवें, अथवा साधु की निंदा करते हुए देवें ।

९ **उनपीत·अपनीत चरक**—पहले पास में लाये, फिर दूर ले जाये, अथवा पहले प्रशंसा करे, फिर निंदा करके आहार देवे ।

१० **अपनीत-उपनीत चरक**—९ का विपरीत ।

११ **संसृष्ट चरक**—आहार आदि से लिप्त हाथ व कुडछी से आहार देवे तो लेना—ऐसा अभिग्रह करने वाले ।

१२ **असंसृष्ट चरक**—अलिप्त हाथ से आहारादि लेने वाले ।

१३ **तज्जात संसृष्ट चरक**—जो पदार्थ दे रहा है, उसी पदार्थ से हाथ लिप्त हो और तव देवे तो लेवें ।

१४ **अज्ञात चरक**—अपरिचित घरों से आहार लेना ।

१५ **मौन चरक**—मौन पूर्वक आहार ग्रहण करना ।

१६ **दृष्टलाभिक**—जिस वस्तु या दाता पर सर्वप्रथम दृष्टि पड़े वही वस्तु मिले तो ग्रहण करना ।

१७ **अदृष्टलाभिक** - जो आहार सामने दिखाई न दे रहा हो, अथवा जो पहले कभी नहीं देखा हो, वैसा मिले तो ग्रहण करना ।

१८ **पृष्टलाभिक**—दाता पूछे कि आपको किस वस्तु की इच्छा है, ऐसा प्रश्न करने पर आहार ग्रहण करना।

१९ **अपृष्ट लाभिक**—किसी भी प्रकार का प्रश्न नहीं पूछने वाले से आहार ग्रहण करना।

२० **भिक्षा लाभिक**—भिक्षु को देने योग्य तुच्छ आहार मिलने पर लेना।

२१ **अभिक्षा लाभिक**—सामान्य भोजन योग्य आहार मिलने पर लेना।

२२ **अन्यग्लायक**—दूसरे रोगी के लिए लेना।

२३ **औपनिधिक**—अन्य स्थान से लाया हुआ आहार लेना।

२४ **परिमित पिण्डपातिक**—परिमित आहार लेना।

२५ **शुद्धैषणिक**—निर्दोष आहार लेना।

२६ **संख्या दत्तिक**—दत्ति की संख्या निश्चित करके, जैसे—आज इतनी दत्ति लूंगा आहार आदि की गवेषण करना।

इसमें एक दत्ति, दो दत्ति यावत् दस दत्ति ग्रहण करने तक के अभिग्रह किये जाते है। जिन्हें प्रतिमा भी कहा जाता है।[1]

यहाँ प्रश्न होता है कि भिक्षाचरी तप तो मुख्यतः साधु को लक्ष्य करके ही बताया गया है, फिर गृहस्थ इस तप की आराधना कैसे कर सकता है? उत्तर है कि इन अभिग्रहों में कुछ अभिग्रह ऐसे हैं जो साधु की भांति गृहस्थ भी कर सकता है। साधु गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए जाता है, गृहस्थ अपने घर में बैठा हुआ भी इनकी साधना कर सकता है। जैसे संख्यादत्तिक हैं—"थाली में एक बार जितना परोस दिया गया उतना ही भोजन करूँगा।" अथवा अपृष्ट लाभिक आदि—"जो वस्तु मुझे बिना पूछे परोस देंगे, या पूछकर परोसेगे वही खाऊंगा।" इसका अभिप्राय यही है कि साधु हो या गृहस्थ—यदि मन में तप की भावना है, रसवृत्ति का निरोध करने की इच्छा हो, और भोजन का संक्षेप करना चाहें तो अनेक उपायों से किया जा सकता है। अभिग्रह का मूल अभिप्राय तो यही है भिक्षा चर्या के जो कठोर नियम

---

१ स्थानांग ५।१।३९६ में भी कुछ अन्तर के साथ ३० अभिग्रहों का वर्णन है।

२ **निक्षिप्त चरक**—भोजन पात्र से निकाल कर अन्य पात्र में डाले हुए आहार को ग्रहण करने वाले।

३ **उत्क्षिप्त-निक्षिप्त चरक**—रांधने के पात्र से निकालते हुए भोजन को खाने के पात्र में लेते समय मिले तो ग्रहण करने वाले।

४ **निक्षिप्त-उत्क्षिप्त चरक**—एकवार निकाला हुआ आहार पुनः भोजन पात्र में डालकर दूसरी वार निकाला हुआ आहार लेना।

५ **वर्तमान चरक**—खाने के लिए थाली में परोसा हुआ आहार लेना।

६ **साहरिज्जमाण चरक** – ठंडा करने के लिए थाली आदि में लिया हो, उसे पुनः वर्तन में डाल दिया हो, वह आहार ग्रहण करना!

७ **उपनीत चरक**—पास में लाकर देवे, अथवा गुण-प्रशंसा करते हुए देवे।

८ **अपनीत चरक**—सामने से दूर हटाकर लेजाकर देवें, अथवा साधु की निंदा करते हुए देवें।

९ **उनपीत-अपनीत चरक**—पहले पास में लाये, फिर दूर ले जाये, अथवा पहले प्रशंसा करे, फिर निंदा करके आहार देवे।

१० **अपनीत-उपनीत चरक**—९ का विपरीत।

११ **संसृष्ट चरक**—आहार आदि से लिप्त हाथ व कुडछी से आहार देवे तो लेना—ऐसा अभिग्रह करने वाले।

१२ **असंसृष्ट चरक**—अलिप्त हाथ से आहारादि लेने वाले।

१३ **तज्जात संसृष्ट चरक**—जो पदार्थ दे रहा है, उसी पदार्थ से हाथ लिप्त हो और तब देवे तो लेवें।

१४ **अज्ञात चरक**—अपरिचित घरों से आहार लेना।

१५ **मौन चरक**—मौन पूर्वक आहार ग्रहण करना।

१६ **दृष्टलाभिक**—जिस वस्तु या दाता पर सर्वप्रथम दृष्टि पड़े वही वस्तु मिले तो ग्रहण करना।

१७ **अदृष्टलाभिक** - जो आहार सामने दिखाई न दे रहा हो, अथवा जो पहले कभी नहीं देखा हो, वैसा मिले तो ग्रहण करना।

१८ **पृष्टलाभिक**—दाता पूछे कि आपको किस वस्तु की इच्छा है, ऐसा प्रश्न करने पर आहार ग्रहण करना।

१९ **अपृष्ट लाभिक**—किसी भी प्रकार का प्रश्न नहीं पूछने वाले से आहार ग्रहण करना।

२० **भिक्षा लाभिक**—भिक्षु को देने योग्य तुच्छ आहार मिलने पर लेना।

२१ **अभिक्षा लाभिक**—सामान्य भोजन योग्य आहार मिलने पर लेना।

२२ **अन्यग्लायक**—दूसरे रोगी के लिए लेना।

२३ **औपनिधिक**—अन्य स्थान से लाया हुआ आहार लेना।

२४ **परिमित पिण्डपातिक**—परिमित आहार लेना।

२५ **शुद्धैषणिक**—निर्दोष आहार लेना।

२६ **संख्या दत्तिक**—दत्ति की संख्या निश्चित करके, जैसे—आज इतनी दत्ति लूंगा आहार आदि की गवेषण करना।

इसमें एक दत्ति, दो दत्ति यावत् दस दत्ति ग्रहण करने तक के अभिग्रह किये जाते है। जिन्हें प्रतिमा भी कहा जाता है।[1]

यहाँ प्रश्न होता है कि भिक्षाचरी तप तो मुख्यतः साधु को लक्ष्य करके ही बताया गया है, फिर गृहस्थ इस तप की आराधना कैसे कर सकता है? उत्तर है कि इन अभिग्रहों में कुछ अभिग्रह ऐसे हैं जो साधु की भांति गृहस्थ भी कर सकता है। साधु गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए जाता है, गृहस्थ अपने घर में बैठा हुआ भी इनकी साधना कर सकता है। जैसे संख्यादत्तिक हैं—"थाली में एक बार जितना परोस दिया गया उतना ही भोजन करूँगा।" अथवा अपृष्ट लाभिक आदि—"जो वस्तु मुझे बिना पूछे परोस देंगे, या पूछकर परोसेंगे वही खाऊंगा।" इसका अभिप्राय यही है कि साधु हो या गृहस्थ—यदि मन में तप की भावना है, रसवृत्ति का निरोध करने की इच्छा हो, और भोजन का संक्षेप करना चाहें तो अनेक उपायों से किया जा सकता है। अभिग्रह का मूल अभिप्राय तो यही है भिक्षा चर्या के जो कठोर नियम

---

१ १ स्थानांग ५।१।३९६ में भी कुछ अन्तर के साथ ३० अभिग्रहों का वर्णन है।

२ **निक्षिप्त चरक**—भोजन पात्र से निकाल कर अन्य पात्र में डाले हुए आहार को ग्रहण करने वाले।

३ **उत्क्षिप्त-निक्षिप्त चरक**—रांधने के पात्र से निकालते हुए भोजन को खाने के पात्र में लेते समय मिले तो ग्रहण करने वाले।

४ **निक्षिप्त-उत्क्षिप्त चरक**—एकबार निकाला हुआ आहार पुनः भोजन पात्र में डालकर दूसरी बार निकाला हुआ आहार लेना।

५ **वर्तमान चरक**—खाने के लिए थाली में परोसा हुआ आहार लेना।

६ **साहरिज्जमाण चरक**–ठंडा करने के लिए थाली आदि में लिया हो, उसे पुनः वर्तन में डाल दिया हो, वह आहार ग्रहण करना!

७ **उपनीत चरक**—पास में लाकर देवे, अथवा गुण-प्रशंसा करते हुए देवे।

८ **अपनीत चरक**—सामने से दूर हटाकर लेजाकर देवें, अथवा साधु की निंदा करते हुए देवें।

९ **उनपीत-अपनीत चरक**—पहले पास में लाये, फिर दूर ले जाये, अथवा पहले प्रशंसा करे, फिर निंदा करके आहार देवे।

१० **अपनीत-उपनीत चरक**—९ का विपरीत।

११ **संसृष्ट चरक**—आहार आदि से लिप्त हाथ व कुडछी से आहार देवे तो लेना—ऐसा अभिग्रह करने वाले।

१२ **असंसृष्ट चरक**—अलिप्त हाथ से आहारादि लेने वाले।

१३ **तज्जात संसृष्ट चरक**—जो पदार्थ दे रहा है, उसी पदार्थ से हाथ लिप्त हो और तब देवे तो लेवें।

१४ **अज्ञात चरक**—अपरिचित घरों से आहार लेना।

१५ **मौन चरक**—मौन पूर्वक आहार ग्रहण करना।

१६ **दृष्टलाभिक**—जिस वस्तु या दाता पर सर्वप्रथम दृष्टि पड़े वही वस्तु मिले तो ग्रहण करना।

१७ **अदृष्टलाभिक**–जो आहार सामने दिखाई न दे रहा हो, अथवा जो पहले कभी नहीं देखा हो, वैसा मिले तो ग्रहण करना।

है, वे तो हैं ही, किन्तु उनके साथ अन्य और कठोर नियम आदि का बंधन लेकर मन को अधिकाधिक निग्रहीत करें। वृत्ति को अधिक से अधिक संयत बनाये!

शुद्धैषणा का महत्व

उपर्युक्त गोचरी के भेद, एषणा के भेद, एवं अभिग्रह के भेदों के द्वारा भिक्षाचरी करना, शुद्ध ऐषणिक निर्दोष आहार प्राप्त करना और मुधाजीवी होकर रहना—भिक्षाचरी तप है। इस प्रकार की भिक्षाचरी करने वाला भिक्षुक भिक्षाचरी तप की आराधना करता है। और ऐसे भिक्षुक को आहार पानी आदि का दान करना भी महान् पुण्य का कारण है। भगवती सूत्र में शुद्ध दान का महत्व बताते हुए कहा गया है[1]—

आत्मा तीन कारणों से दीर्घायुष्य (सुखमय दीर्घजीवन) प्राप्त करता है—

१ अहिंसा की साधना से

२ सत्य भाषण से

३ श्रमण—ब्राह्मण को शुद्ध-निर्दोष आहार पानी देने से

दान के शुभ परिणामों की एक झलक इस उद्धरण में देखी जा सकती है!

यह दान का फल उसे ही प्राप्त होता है जो उक्त रीति से भिक्षाचरी करता है। भिक्षाचरी की यह विशुद्ध मनोवैज्ञानिक विधि जैन श्रमणों के जीवन का मुख्य आधार है। यदि उक्त विधि से आहार न मिले तो श्रमण उपवास करना, तप कर के शरीर को त्याग देना श्रेष्ठ समझता है, किन्तु अविधि से दोष लगाकर भिक्षाचरी नहीं करेगा। जैन श्रमणों के सामने जब-जब भी ऐसे प्रसंग आये तो वे भूखे रह गये, किन्तु अनैषणिक आहार ग्रहण कर अपनी भिक्षाचरी को दूषित बनाना उन्हें स्वीकार नहीं हुआ। निशीथ भाष्य[2] में एक प्रसंग बताया गया है कि जब मध्यकाल में भयंकर दुष्काल पड़े तो जैन श्रमणों को शुद्ध आहार मिलना अत्यंत कठिन हो गया। राजा संप्रति ने

---

१ भगवती सूत्र शतक ५ उद्देशक ५-६

२ निशीथभाष्य चूर्णि १६।

अपने राज्य में स्थान-स्थान पर भोजन शालाएं खुलवाई थीं, और महानसिकों (रसोइओं) को आदेश दे दिया था कि कोई भी श्रमण आहार के लिए आये तो उसे आहार दिया करो, मैं तुम्हें बदले में उचित सत्कार दूंगा। नगर के तेल, वस्त्र आदि के विक्रेता दुकानदारों से भी राजा ने कह दिया—श्रमणों को जो भी वस्तु चाहिए वह दे दिया करो। उसका मूल्य राजकोष से दे दिया जायेगा।

कुछ श्रमण जब इस प्रकार का किमिच्छक, व क्रीत दान लेने लगे तो आर्य महागिरि को बड़ा खेद हुआ। उन्होंने आर्य सुहस्ति से कहा - "आर्य! हमें इस प्रकार का अनैषणिक आहार नहीं लेना चाहिए!"

आर्य सुहस्ति ने समय का प्रभाव बताकर इस नियम में कुछ उपेक्षा दिखाई। कहा—राजा धर्मानुरागी है, अतः जनता भी उसका अनुकरण करती है, इसमें ऐसी खास क्या बात है?

आर्य महागिरि ने कहा—"नहीं! साधु को उपवास आदि कर शरीर त्याग देना उचित है, किन्तु अनैषणिक आहार नहीं लेना चाहिए!' आर्य महागिरि के दृढ़ आग्रह के कारण श्रमणों को इस प्रकार का आहार लेने का कड़ा प्रतिषेध कर दिया गया।

तो इस प्रकार श्रमण प्रत्येक परिस्थिति में अपनी भिक्षाचरी को शुद्ध व निर्दोष रखकर संयम यात्रा को निबाहने में प्रयत्नशील रहता है। उसका आदर्श है—**आहारमिच्छे मिय मेसणिज्जं**[1] --

—सदा शुद्ध व ऐषणीक आहार की इच्छा रखनी चाहिए।' ऐषणीक आहार न मिले तो—**अलाभो त्ति न सोइज्जा**[2] अलाभ में शोक व चिंता न करें, किन्तु '**तवो त्ति अहियासए**[3] तप का अवसर मिला है यह जानकर प्रसन्न रहे। यही सच्चा भिक्षाचरी तप है।

---

१ उत्तराध्ययन ३२
२ दशवैकालिक ५।२।६
३ दशवैकालिक ५।२।६

आचार्य कुंद कुंद ने भी यही बात कही है कि जो श्रमण भिक्षा में दोष रहित शुद्ध आहार ग्रहण करता है, वह आहार ग्रहण करता हुआ भी निश्चय दृष्टि से अणाहार (तपस्वी) कहा जाता है—

अण्णंभिक्ख मणेसणमध ते समणा अणाहारा ।[1]

भिक्षा कैसे दें ?

भिक्षाचरी के प्रसंग में हमने भिक्षा की विधि, नियम और उसके महत्त्व पर तो विचार कर लिया है, अब एक बात और इस प्रसंग पर विचारणीय है कि भिक्षा कैसे दी जानी चाहिए ? आगमों में बताया गया है कि जो दान त्रिकरण शुद्ध होता है, वही महान फल देने वाला होता है। दान के तीन मुख्य अंग है—

दव्व सुद्धेणं—द्रव्य वस्तु शुद्ध हो,

दायग सुद्धेणं—दाता की भावना शुद्ध हो,

पडिग्गाहग सुद्धेणं—ग्रहण करने वाला शुद्ध हो, दान का अधिकारी हो।

वस्तु निर्दोष हो, उद्गम उत्पादन आदि दोषों से रहित हो, तथा ग्रहण करने वाला पात्र हो, वह सच्चा त्यागी हो, और अपनी विधि के साथ नियमों के अनुकूल भिक्षा ग्रहण करें, तथा दाता की भावना पवित्र हो, निष्काम भाव से वह दान देवें। तभी वह दान शुद्ध कहलाता है।

वस्तु, दाता, एवं पात्र के सम्बन्ध में हमने पूर्व में काफी विस्तार से बताया है। अब यहां एक बात और रह गई है कि दाता जब भिक्षु को घर पर आया देखे तो कैसे, किस प्रकार उसका स्वागत करें ! शास्त्रों में स्थान-स्थान पर ऐसी घटनाएं आती हैं जहां कोई श्रमण गृहस्थ के घर पर आहार की एषणा करता हुआ पहुंचता है, तब गृहस्थ श्रमण को घर पर आते देखकर हर्षित होता है, उसका रोम-रोम नाचने लग जाता है,'अहा ![2]

---

१ प्रवचनसार ३।२७

२ अणगारं एज्जमाणं पासित्ता हट्ठतुट्ठा, आसणाओ अब्भुट्ठेइ····
उत्तरासंगं करेइ, सत्तट्ठ पायाइं अणुगच्छइ—
—देखें ज्ञाता सूत्र, अंतगड़, सुखविपाक, निरयावलिया आदि।

आज धन्य भाग्य है ! आज का दिन धन्य है जो ऐसे श्रमण मेरे घर पर भिक्षा के लिए पधार रहे हैं।' फिर वह जहां बैठा हो उस आसन से उठकर उत्तरासंग करे, मुंह पर वस्त्र लगाकर मुनि को वंदना करे, सात-आठ कदम अर्थात् कुछ दूर तक मुनि को लेने के लिए सामने जाये, उन्हें वंदना कर प्रसन्नता व्यक्त करे कि हे भगवन् ! आज आपका आगमन क्या हो गया सचमुच मेरे घर में कल्पवृक्ष आ गया है ? मुझे इतनी प्रसन्नता हुई है कि कोई अमृत पान कर लिया हो।" इस प्रकार प्रसन्नता व्यक्त करके मुनि को अपनी भोजन शाला तक लावे, अपने हाथ से शुद्ध निर्दोष आहार की भिक्षा देवें, भिक्षा देते समय भी प्रसन्न रहे, देने के पश्चात भी मन में प्रसन्नता अनुभव करें। और मुनि को घर से बाहर तक छोड़कर आये।"

आगमों में अनेक स्थानों पर भिक्षा दान की यह विधि बताई गई है। श्रावक का कर्तव्य है कि वह इस प्रकार से भिक्षा देवें। यह नहीं कि मुनि भिक्षा के लिए आये, गृहस्थ लापरवाही से बैठा रहे, जैसे कोई भिखारी आया हो, मिले तो ले जाये न मिले तो खाली लौट जाये। उपेक्षा पूर्वक लापरवाही से दान देने में वह आनन्द भी नहीं मिलता और नहीं वह उत्तम फल भी मिलता है। उत्तम फल तभी मिलता है जब खुशी से, प्रेमपूर्वक दान दिया जाय। भाषा के एक कवि ने घर पर आये अतिथि के स्वागत की विधि बताते हुए कहा है—

देखी सामा जाय, आयां आसन थी ऊठे,
नेणां वर्षे नेह, आदर दे सम्मुख बैठे।
खोल हियारी गांठ बोले मुख मीठी बाणी,
पूछे सुख-दुख बात धामै भोजन ने पाणी।
सज्जन ऐसा जानके रहिए उनका दास,
जड़ाव कहै जन जांचती पूरै मन की आस ॥

दान देने की अतिथि सत्कार की यह भारतीय परिपाटी है, और सिर्फ जैन धर्म में ही नहीं, किन्तु अन्य धर्मों में भी इसका बड़ा महत्व है। महाभारत में तो अतिथि सत्कार को पांचवां महायज्ञ माना है। इस महायज्ञ के पांच अंग बताते हुए कहा गया है—

चक्षुर्दद्यात् मनोदद्यात् वाचं दद्या त्च्च सूनृताम् ।
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पंचदक्षिणः ।।[1]

घर पर आये हुए अतिथि का पांच प्रकार से स्वागत करना चाहिए, अतिथि को आते देख कर प्रफुल्लित आँखों से उसका स्वागत करे, फिर प्रसन्न मन से मीठी वाणी बोले, किस वस्तु की उसे आवश्यकता है यह जाने और उस वस्तु को देकर उसकी सेवा करे, जब अतिथि इच्छा पूर्ण होने पर वापस जाने लगे तो घर के बाहर तक उसे छोड़ने के लिए जाए—इन पांचों विधियों से अतिथि का सत्कार करना अतिथियज्ञ की सच्ची दक्षिणा है।

तो इस प्रकार दाता अपनी शुद्ध एवं प्रफुल्लित भावनाओं के साथ भिक्षुक-श्रमण को भिक्षा देवे और भिक्षाचरी के तीन अंगों को पूर्ण करें। जब यह तीनों अंग पूर्ण होते हैं तभी भिक्षाचरी अपने पूर्ण एवं अलौकिक फल को देने में सफल होती है।

●●

---

१ महाभारत अनुशासन पर्व ७।६

रस-परित्याग तप

तप के बारह भेदों में चौथा भेद है रस-परित्याग—रस का त्याग। प्रथम तप में आहार त्याग पर विवेचन किया गया है, कुछ समय के लिए अथवा जीवन भर के लिए जैसी शक्ति हो, उस प्रकार आहार का त्याग करना प्रथम तप में बताया है। यदि व्यक्ति में इतनी शक्ति व सामर्थ्य नहीं है कि वह निराहार रह सके, उपवास आदि कर सके तो उसके लिए साधना का मार्ग अवरुद्ध नहीं हो जाता! उसके लिए भी साधना का मार्ग खुला है, शक्ति और रुचि के अनुसार साधना का, तप का दूसरा मार्ग अपनाया जा सकता है—वह है ऊनोदरी तप!

ऊनोदरी तप की साधना हर एक व्यक्ति कर सकता है। रोगी, भोगी और योगी – तीनों ही इस तप की आराधना कर सकते हैं। उसके विविध रूपों की चर्चा भी हमने उक्त तप के प्रकरण में की है।

तप का तीसरा मार्ग है—भिक्षाचरी! भिक्षाचरी का मुख्य अधिकारी भिक्षु—त्यागी श्रमण ही होता है, अत. यह तप विशेष प्रकार से उसके लिए ही है। किन्तु भिक्षाचरी का उद्देश्य इतना विशाल है कि उस तप के अंगों

की साधना वे भी कर सकते हैं जो भिक्षाचर नहीं, किन्तु गृहचर हैं। भिक्षा का मुख्य उद्देश्य है स्वाद वृत्ति की विजय! क्योंकि भिक्षा में मनोनुकूल स्वादिष्ट भोजन प्राप्त होना दुर्लभ है, वह तो एक प्रकार का सौदा है, गृहस्थ के घर में जैसा भोजन बना होगा, उसमें भी जो शुद्ध ऐपणिक होगा, गृहस्थ देना चाहेगा और जितना देना चाहेगा—तव उतनी मात्रा में ही साधु को वह प्राप्त होगा। इसलिए स्वाद को, रसन्इच्छा को जीते विना इस तप की आराधना नहीं की जा सकती। रस इच्छा का विजय, आहार का विविध प्रकार से संकोच, अभिग्रह आदि गृहस्थ साधक भी कर सकता है अतः भिक्षाचरी तप न सही, किन्तु उस तप के लक्ष्य की प्राप्ति गृहस्थ जीवन में की जा सकती है।

तप का चौथा मार्ग है—रस-परित्याग। रस परित्याग का अर्थ है—रस—स्वादिष्ट भोजन दूध, दही, घी, मिष्टान्न आदि रस मय वस्तुओं का त्याग करना। यह त्याग साधु भी कर सकता है, तथा गृहस्थ भी! उपवास आदि तप की अलग-अलग काल मर्यादा भी है किन्तु रस परित्याग तप तो जीवन भर की सतत साधना है। यह तप मन में वैराग्य भावना होने पर ही किया जा सकता है, अतः अन्य तपो से इस तप में कुछ विशिष्टता भी है, इसकी साधना हर कोई कर सकता है, किन्तु कठिन है। अतः सतत विरक्ति व आत्मदृष्टि की अपेक्षा रहती है।

रस क्या है?

'रस' का अर्थ है, प्रीति वढ़ाने वाला—**रसं प्रीति विवर्धकं**—जिसके कारण भोजन में, वस्तु में प्रीति उत्पन्न होती हो उसे 'रस' कहते हैं। काव्य में नौ रस इसीलिए वताये हैं कि उनके कारण कविता में प्रीति व आकर्षण पैदा होता है। जिस वस्तु को देखने से, सुनने से, चखने से मन में मधुरता, रसिकता और प्रीति एवं आकर्षण पैदा होता है उसे हम कहते हैं—यह वस्तु वड़ी 'सरस' है। तो रस का अर्थ हुआ—प्रीति उत्पन्न करने वाला पदार्थ।

षड्रस

भोजन के छह रस माने गये हैं—

१ कटु—कड़ुवा

२ मधुर—मीठा

३ आम्ल—खट्टा

४ तिक्त—तीखा

५ कापाय—कसैला

६ लवण—नमकीन

इन रसों के संयोग से भोजन मधुर वनता है, स्वादिष्ट लगता है—जीभ को प्रिय लगता है, खाने से मन में प्रसन्नता व प्रीति उत्पन्न होती है। सरस भोजन होने के कारण मनुष्य भूख से अधिक भी खा जाता है।

इन छह रसों के अलावा कुछ रस ऐसे भी हैं जो भोजन को स्वादिष्ट वनाने के साथ-साथ गरिष्ट व पौष्टिक भी वना देते हैं। सुपाच्य अन्न को दुष्पाच्य वनाते हैं। हलके आहार को भारी वनाते हैं। शक्ति व ऊर्जा (गर्मी-केलोरी) देने वाले आहार को विकारोत्तेजक भी वना देते हैं। शास्त्रों में कहा है—

पायं रसा दित्तिकरा नराणं—[1]

रस प्राय: दीप्ति-उत्तेजना पैदा करने वाले होते हैं। इसलिए उन रसों को 'विकृति' (विगय) कहा जाता है। जैसे घी,दही,मक्खन आदि मधु व नमक आदि की भांति स्वयं कोई प्राकृतिक रस नहीं है, किन्तु विकृतिजन्य ही है, जैसे दूध गाय के रस आदि की विकृति है, दही व घी दूध की विकृति है। तेल, तिल (स्निग्ध पदार्थ) की विकृति है- इस कारण भी इन्हें विकृति कहा जा सकता है।

जैन सूत्रों में व उत्तरवर्ती ग्रंथों में विकृति (विगय) की दो परिभाषाएँ की गई हैं। आचार्य सिद्धसेन ने वताया है—घी आदि पदार्थ विकृति क्यों हैं? क्योंकि खाने से वे मन में विकार पैदा करते है, विकार उत्पन्न होने से (तथा उनके अधिक सेवन से) मनुष्य संयम से भ्रष्ट होकर विगति (दुर्गति) में जाता है—अत: ये पदार्थ सेवन करने वाले की विकृति एवं विगति-दोनों

---

१ उत्तराध्ययन ३२।१०

के ही हेतु हैं—इस कारण इन्हें विगई (विकृति-विगति) कहा जाता है।[1]

विगय कितनी ?

प्राचीन ग्रंथों में विगय—के दो रूप मिलते हैं—भक्ष्य विगय अभक्ष्य विगय। विगय—विकृति पैदा करने वाली अवश्य हैं, किंतु फिर भी शरीर को समर्थ व कष्ट सहिष्णु बनाये रखने के लिए साधक कभी-कभी उनका उपयोग भी कर सकता है। जो विगय खाने के उपयोग में ली जा सकती हैं उन्हें भक्ष्य विगय कहा गया है।

भक्ष्य विगय छः हैं—दूध, दही, घी, तेल, गुड़ और अवगाहिम अर्थात् पक्वान्न-मिठाई आदि कढ़ाई में पकी हुई तली हुई, वस्तुएँ।

अभक्ष्य विगय चार हैं, जिन्हें महाविगय भी कहा जाता है—मद्य, मांस मधु और नवनीत। इनमें मद्य-मांस तो सर्वथा ही त्याज्य है, साधक किसी भी स्थिति में इनका सेवन नहीं कर सकता। किंतु मधु और मक्खन विशेष स्थिति में लिये जा सकते हैं—ऐसा विधान है।

रस विजय ही सबसे कठिन

पांच इन्द्रियों में 'रसनेन्द्रिय' दूसरी इन्द्रिय है। इसका काम है—रस का, स्वाद का अनुभव करना। जब भाषा पर्याप्ति मिल जाती है तो यह इन्द्रिय बोलने का भी कार्य करती है—इस प्रकार अन्य इन्द्रियों से एक-एक कार्य होता है, किन्तु रसनेन्द्रिय से दो काम होते हैं—रस लेना और बोलना। जीवन में दो ही महत्वपूर्ण वस्तुएँ हैं—भोजन और भाषण। खाना और बोलना—ये दोनों कार्य रसनेन्द्रिय के अधीन हैं। इस दृष्टि से भोजन-भाषण की स्वामिनी रसना इन्द्रिय है। पांचों इन्द्रियों में इसका प्रमुख स्थान है। अन्य इन्द्रियों के विषय को जीतना आसान है, किन्तु रसनेन्द्रिय के विषयों को जीतना कठिन है। इसलिए कहा गया है—'**सर्वं जितं जिते रसे**।'' जिसने रसनेन्द्रिय को जीत लिया उसने संसार के सब विषयों को जीत लिया।

क्या रस का सर्वथा निषेध है ?

शरीर यात्रा के लिए भोजन आवश्यक है, बड़े से बड़ा साधक और तपस्वी भी बिना भोजन के साधना नहीं कर सकता। इसलिए साधक को भोजन का निषेध नहीं है, वह भोजन कर सकता है भोजन करना कोई पाप नहीं है, वह भी धर्म साधना का एक अंग हैं, किन्तु भोजन में एक शर्त है, और वह शर्त है सात्विकता ! भोजन ऐसा होना चाहिए जो सात्विक हो, जिस पदार्थ के खाने से मन में विकार व तन में रोग, पीड़ा आदि उत्पन्न न हो। इसलिए वही भोजन करना चाहिए जो सात्विक हों, विकार-जनक न हों और संयम साधना को दूषित न करें।

शरीर के लिए पौष्टिक आहार सर्वथा वर्जित नहीं है। क्योंकि अत्यंत रूखा व नीरस आहार शरीर को दुर्बल व रुग्ण बना डालता है। जैसे दीये को तेल व बत्ती की जरूरत होती है वैसे ही शरीर को भी कुछ चिकनाई व शक्तिवर्धक आहार की अपेक्षा रहती है। कहा है—

पुष्ट खुराक बिना नहीं बनता तेज दिमाग।
तेल और बत्ती बिना कैसे जले चिराग ?

सदा रूखा-सूखा नीरस आहार करने से जमाली जैसा हृष्ट-पुष्ट समर्थ साधक भी रोगी हो गया—भगवतीसूत्र इसका साक्षी है। अतः शास्त्र में विगय का सर्वथा निषेध भी नहीं है। यदा-कदा पौष्टिक आहार कर लिया तो उसमें कोई दोष नहीं, किन्तु नित्य प्रति विगय का सेवन और प्रमाण से अधिक पौष्टिक आहार का सेवन नहीं करना चाहिए। उत्तराध्ययन (१७) में बताया है कि जो नित्य प्रति मर्यादा रहित विगय आदि का सेवन करता है वह पापी श्रमण है।

स्वाद का निषेध

साधक विगय आदि का सेवन करता है तब भी उसका उद्देश्य स्वाद लेने का नहीं रहता। सिर्फ शरीर को खुराक देने मात्र का ध्येय रहता है। अतः शास्त्र में बताया है कि जब वह आहार आदि लाता है तो उसमें समभाव रखता है। अरस आहार या सरस आहार जैसा भी शुद्ध रीति से प्राप्त हुआ

के ही हेतु हैं—इस कारण इन्हें विगई (विकृति-विगति) कहा जाता है।[1]

विगय कितनी ?

प्राचीन ग्रंथों में विगय—के दो रूप मिलते हैं—भक्ष्य विगय अभक्ष्य विगय। विगय—विकृति पैदा करने वाली अवश्य हैं, किंतु फिर भी शरीर को समर्थ व कष्ट सहिष्णु बनाये रखने के लिए साधक कभी-कभी उनका उपयोग भी कर सकता है। जो विगय खाने के उपयोग में ली जा सकती हैं उन्हें भक्ष्य विगय कहा गया है।

भक्ष्य विगय छः हैं—दूध, दही, घी, तेल, गुड़ और अवगाहिम अर्थात् पक्वान्न-मिठाई आदि कढ़ाई में पकी हुई तली हुई, वस्तुएँ।

अभक्ष्य विगय चार हैं, जिन्हें महाविगय भी कहा जाता है—मद्य, मांस मधु और नवनीत। इनमें मद्य-मांस तो सर्वथा ही त्याज्य है, साधक किसी भी स्थिति में इनका सेवन नहीं कर सकता। किंतु मधु और मक्खन विशेष स्थिति में लिये जा सकते हैं—ऐसा विधान है।

रस विजय ही सबसे कठिन

पांच इन्द्रियों में 'रसनेन्द्रिय' दूसरी इन्द्रिय है। इसका काम है—रस का, स्वाद का अनुभव करना। जब भाषा पर्याप्ति मिल जाती है तो यह इन्द्रिय बोलने का भी कार्य करती है—इस प्रकार अन्य इन्द्रियों से एक-एक कार्य होता है, किन्तु रसनेन्द्रिय से दो काम होते हैं—रस लेना और बोलना। जीवन में दो ही महत्वपूर्ण वस्तुएँ हैं—भोजन और भाषण। खाना और बोलना—ये दोनों कार्य रसनेन्द्रिय के अधीन हैं। इस दृष्टि से भोजन-भाषण की स्वामिनी रसना इन्द्रिय है। पांचों इन्द्रियों में इसका प्रमुख स्थान है। अन्य इन्द्रियों के विषय को जीतना आसान है, किन्तु रसनेन्द्रिय के विषयों को जीतना कठिन है। इसलिए कहा गया है—'सर्वं जितं जिते रसे।" जिसने रसनेन्द्रिय को जीत लिया उसने संसार के सब विषयों को जीत लिया।

---

१ तत्र मनसो विकृतिहेतुत्वाद् विगति हेतुत्वाद् वा विकृतयो, विगतयो।
—प्रवचनसारोद्धार वृत्ति (प्रत्याख्यान द्वार)

(ख) मनसो विकृति हेतुत्वाद् विकृतयः। —योगशास्त्र ३ प्रकाश वृत्ति

क्या रस का सर्वथा निषेध है ?

शरीर यात्रा के लिए भोजन आवश्यक है, बड़े से बड़ा साधक और तपस्वी भी बिना भोजन के साधना नहीं कर सकता। इसलिए साधक को भोजन का निषेध नहीं है, वह भोजन कर सकता है भोजन करना कोई पाप नहीं है, वह भी धर्म साधना का एक अंग हैं, किन्तु भोजन में एक शर्त है, और वह शर्त है सात्विकता ! भोजन ऐसा होना चाहिए जो सात्विक हो, जिस पदार्थ के खाने से मन में विकार व तन में रोग, पीड़ा आदि उत्पन्न न हो। इसलिए वही भोजन करना चाहिए जो सात्विक हों, विकार-जनक न हों और संयम साधना को दूषित न करें।

शरीर के लिए पौष्टिक आहार सर्वथा वर्जित नहीं है। क्योंकि अत्यंत रूखा व नीरस आहार शरीर को दुर्बल व रुग्ण बना जाता है। जैसे दीपक को तेल व बत्ती की जरूरत होती है वैसे ही शरीर को भी कुछ स्निग्ध व शक्तिवर्धक आहार की अपेक्षा रहती है। कहा है—

> पुष्ट खुराक बिना नहीं बनता तेज दिमाग।
> तेल और बत्ती बिना कैसे जले चिराग ?

—उसी में प्रसन्न रहे। ऐसा नहीं कि स्वादिष्ट सरस आहार तो चुन-चुन कर चुपचाप खाले और नीरस रूखा सूखा भोजन फेंक दे, या अन्य किसी को दे दें। शास्त्र में विधान किया गया है कि जैसा आहार भिक्षा में प्राप्त हुआ, वह लेकर सर्व प्रथम गुरु के पास आये, गुरु को दिखाकर उनसे प्रार्थना करें—"गुरुदेव! मेरे इस भोजन में से आप कुछ भोजन ग्रहण करके कृतार्थ कीजिए।" यदि गुरु लेना चाहें तो सम्मान पूर्वक देवें, वे न लें तो फिर अपने अन्य साथियों को निमंत्रित करें—**"जइ मे अणुग्गहं कुज्जा साहू हुज्जामि तारिओ"**[1]- यदि कोई महानुभाव मुझ पर अनुग्रह करें, कृपा करें तो मेरे भोजन में से ग्रहण कर मुझको कृतार्थ करें।" उसके बाद यदि कोई उसका निमंत्रण स्वीकार करें तो उनके साथ भोजन करें अन्यथा अकेला ही शांत एवं प्रशांत मन से जैसा भी सरस नीरस भोजन हो स्वादरहित होकर ऐसे खाये—जैसे बिल में सांप घुस रहा हो, अर्थात् उस भोजन में स्वाद न लें रस में आसक्त न हो, किन्तु अस्वादवृत्ति के साथ खाये।[2] साधक को आहार का निषेध नहीं है, विगय का भी सर्वथा निपेध नहीं है, किन्तु स्वाद का सर्वथा निषेध है। स्वाद वृत्ति का निषेध करते हुए आचारांग सूत्र में यहां तक बताया है कि—"साधु आहार करते समय यदि उस आहार में स्वाद लेने की भावना आ जाये तो उस ग्रास को बाईं दाढ़ से दाहिनी दाढ़ की ओर भी नहीं ले जाना चाहिए।" स्वाद के लिए आहार को चूसना और चबाना भी दोष है। अतः स्वाद भावना से रहित होकर आहार करें चूंकि —**"अणासायमाणे लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ"**[3]— स्वाद न लेने से कर्मों का हल्कापन होता है, ऐसा साधक आहार करता हुआ भी तपस्या करता है।"[4] इसीलिए कहा जाता है कि साधु आहार करता हुआ सात-आठ कर्मों के बंधन ढीले भी कर सकता है, और उन्हें दृढ-बंधन बांध

---

१ दशवैकालिक ५।१।९४

२ विलमिव पन्नगभूएणं अप्पाणेणं आहारमाहारेइ—भगवती सूत्र ७।१

३ आचारांग ८।६

४ प्रवचन सार ३।२७

भी सकता है। यदि अस्वाद भाव से आहार करता है, तो आहार करता हुआ वह केवलज्ञान भी प्राप्त कर सकता है। कूरगडुक मुनि का उदाहरण हमारे सामने है। जो आचार्य द्वारा खीचड़ी में थूकने पर भी समभाव पूर्वक आहार करते रहे और उस समय समता की साधना में इतने ऊँचे उठे कि खीचड़ी खाते-खाते ही केवलज्ञानी हो गए। इस घटना से यह बात स्पष्ट होती है कि आहार का लक्ष्य स्वाद नहीं, साधना होना चाहिए। यदि साधना हमारा लक्ष्य है तो भोजन भी उपकारक साधक होगा।

भोगैषणा के पांच दोष

स्वाद वृत्ति का परिहार करने के लिए अर्थात् रस-विजय के लिए शास्त्र में परिभोगैषणा के पांच दोष बताये हैं, जिन्हें टालकर भोजन करना साधक का परम कर्तव्य है। यदि साधक आहार करता हुआ इन दोषों को नहीं टालता तो उसका आहार करना भी पाप है और उससे उसकी साधना मलिन व दूषित हो जाती है।

भगवती सूत्र में बताया है—साधक आहार करता हुआ इन तीन दोषों का परिहार करें—

१ **स इंगाल**—स्वादिष्ट भोजन प्राप्त करके उसके रस में लुब्ध हुआ बार-बार उस भोजन की प्रशंसा करता हुआ खाये तो इससे साधु का निर्मल चारित्र जलकर कोयले की तरह निस्तेज हो जाता है। अर्थात् यह दोष चारित्र रूप हीरे को कोयला बना देता है।

२ **सधूम**—यदि भिक्षा में नीरस आहार आ गया हो तो उसकी निंदा करता हुआ आहार करे तो साधक का चारित्र धुंआं हो जाता है। अर्थात् चारित्र जल जाता है।

३ **संयोजना**—भिक्षा में आहार प्राप्त कर रसलोलुपता के कारण, वस्तु को स्वादिष्ट बनाने के लिए उसमें अन्य वस्तु मिलाये, जैसे लोलुपता के कारण दूध में शक्कर मिलाना, यह संयोजना दोष है। इन तीनों के कारण चारित्र दूषित हो जाता है।

---

१ भगवती सूत्र ७।१

रस परित्याग करने वाले साधक को भोजन के इन तीन दोषों को टालना जरूरी है। इसी के साथ भोजन (परिभोगैषणा) के दो अन्य दोष और भी हैं—

४ **अकारण**—आहार करने के छः कारण बताये गये हैं उन छः कारणों के सिवाय वल-वीर्य की वृद्धि के लिये, शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाने के लिए आहार करना—अकारण दोष है।

५ **अप्रमाण**—शास्त्र में बत्तीस कवल—आहार का प्रमाण बताया है। उस प्रमाण से अधिक आहार करने वाला साधक 'प्रकाम रस भोजी' कहलाता है। 'प्रकाम रस भोजी' साधना से च्युत हो सकता है, व्रत से भ्रष्ट हो सकता है।

रस-लोलुपता से हानि

'रस परित्याग' एक प्रकार का अस्वाद व्रत है। इसमें स्वाद पर विजय प्राप्त करने की साधना होती है। क्योंकि स्वाद के वशीभूत हुआ साधक भोजन में आसक्त हो जाता है, वह स्वादिष्ट और सरस भोजन की खोज करता है, अपने नियम, व्रत और समाचारी को ताक में रखकर जहां रसदार भोजन मिलता है वहीं जा धमकता है। सब मर्यादाओं को तोड़ डालता है, और हर प्रकार से स्वादिष्ट आहार प्राप्त करने की चेष्टा करता है। उसकी लोलुपता को देखकर लोग कहते हैं—यह साधु है या स्वादु! कहीं मिष्ठान्न पक्वान्न का नाम सुन लिया तो धूप-गिने न छांह, सीधा वहां पहुँच जाता है। ऐसे रस लोलुपी व्यक्तियों के लिए ही तो कहा गया है—

साठे कोसे लापसी सोए कोसे सीरो।
मिलिया सूं छोड़े नहीं नणद बाइ रो वीरो।

सरस आहार के लिए व्यक्ति साठ-सौ कोस का चक्कर भी खा लेता है। और इतनी तीव्र आसक्ति से प्राप्त किया हुआ आहार खाते समय विवेक कैसा रहेगा? तब तो उसके सामने यही आदर्श वाक्य घूमता रहेगा—

भोजनं कुरु दुर्बुद्धे! मा शरीरे दयां कुरु!
परान्नं दुर्लभं लोके शरीराणि पुनः पुनः॥

—अरे मूर्ख ! पराया अन्न खाने को मिला है तो खा ले ! शरीर पर जरा भी दया मत कर ! क्योंकि शरीर तो फिर-फिर के मिल जाता है, किन्तु पराया अन्न बार-बार नहीं मिलता।" वह नहीं सोच पाता कि अन्न तो पराया है, किन्तु पेट तो पराया नहीं है ? तो आसक्ति वश पेट को ठोंस-ठोंस कर खा लेता है, और फिर रोगी होता है, कष्ट पाता है, अनेक प्रकार की बीमारियों से घिर जाता है और अन्त में हाय-त्राय करता हुआ मरता है।

कुंडरीक ने एक हजार वर्ष तक संयम पाला, किन्तु आखिर में रस-लोलुपता के कारण संयम से भ्रष्ट हुआ और अत्यधिक सरस स्वादिष्ट भोजन करके सोलह महारोगों से आक्रांत हो मरकर नरक में गया।

उत्तराध्ययन सूत्र (७) में बताया है कि मनुष्य थोड़े से स्वाद के कारण अपने जीवन से भी खिलवाड़ कर लेता है। स्वाद और रस में आसक्त होकर वह अपने मन को वश में नहीं रख सकता, अपथ्य भोजन कर लेता है, उससे फिर रोग हो जाते हैं और आखिर में रोग मृत्यु के द्वार पर ले जाकर ढकेल देता है। एक प्राचीन उदाहरण देकर कहा गया है—

अपत्थं अंबगं भोच्चा राया रज्जं तु हारए।

अपथ्य आम खाकर एक राजा ने जैसे अपना राज्य (जीवन साम्राज्य) भी हार दिया।

कथा है—किसी नगर का राजा आम खाने का बहुत शौकीन था। आम के बिना उसका खाना भी नहीं होता। राजा ने अपने राज्य में आम के बड़े-बड़े बगीचे लगाये, वन लगाये और हर ऋतु में आम पैदा हो सके ऐसी व्यवस्था की। अधिक मात्रा में आम खाने से आमरोग हो गया। बहुत दवाएं की, किन्तु रोग शांत नहीं हुआ। आम खाना बन्द नहीं किया, इस कारण कोई दवा लाभ नहीं पहुंचा सकी, रोग बढ़ता गया राजा का शरीर अत्यन्त जर्जर-क्षीण होता चला गया।

मंत्रियों ने एक बहुत दूर के प्रसिद्ध वैद्यराज को बुलाया। उसने राजा

का निदान किया—"अधिक आम खाने से ही आपको रोग हुआ है। जब तक आम खाना बन्द नहीं करेंगे कोई भी दवा नहीं लगेगी।"

राजा ने बहुत दीनता से कहा—'वैद्यराज ! आप दवा देकर मुझे ठीक कर दीजिए ! मैं आपको मुंह मांगा इनाम दूंगा। किन्तु मैं आम खाना नहीं छोड़ सकता।"

वैद्यराज ने कहा—"यदि आम खाना नहीं छोड़ोगें तो मैं क्या, धन्वतरि भी ठीक नहीं कर सकता, फिर तो वैद्यराज नहीं, किन्तु यमराज ही ठीक कर सकता है।"

परिवार जनों ने और मंत्रि आदि ने बहुत समझाया तब कहीं जाकर राजा ने आम छोड़ना स्वीकार किया। वैद्यराज ने दवा दी, राजा शीघ्र ही स्वस्थ हो गया। कुछ दिन बाद फिर आम खाना शुरु कर दिया। पुनः बीमारी खड़ी हो गई। राजा ने फिर से वैद्यराज को बुलाया। वैद्यराज ने कहा—"राजन् ! यदि जीवन चाहते हो तो सदा-सदा के लिए आम को छोड़ दो ! आम खाना क्या, आम की छाया में भी मत बैठो। तब तो तुम पूर्ण आयुष्य तक जी सकते हो और स्वस्थ भी हो सकते हो, अन्यथा तुम्हारे रोग की कोई औषधि नहीं है।"

मरता क्या नहीं करता – राजा ने हमेशा के लिए आम न खाने की प्रतिज्ञा कर ली। यही नहीं, किन्तु राज्य में समस्त आमों के बगीचे कटवा दिये। आमों की बड़ी-बड़ी अमराईयां साफ करवादी। राज्य की सीमा में कहीं एक भी आम का पेड़ नहीं रहने दिया। सोचा—जब न रहेगा बांस तो न बजेगी बांसुरी ! राज्य में आम का पेड़ ही न रहा तो आम आयेगा कहां से ? वैद्यराज ने औषधि दी, राजा फिर स्वस्थ हो गया।

एक बार ग्रीष्म ऋतु में राजा अपने मंत्री के साथ वन-विहार करने निकला। घूमता-घूमता वह पड़ोसी राज्य की सीमा तक पहुँच गया। धूप से खिन्न होने के कारण सीमा पर स्थित एक आम के वृक्ष के नीचे विश्राम लिया। मंत्री ने कहा—महाराज ! यह आम की छाया है ?

राजा हंसकर बोला—"आम खाने से रोग होता है, क्या आम की

छाया में बैठने से ही कोई रोगी हो जाता है।" राजा शीतल छाया में सो गया। हवा के झोके के साथ एक पका हुआ आम नीचे आकर धड़ाम से गिरा। राजा की नींद खुली। आम की मधुर और मीठी महक से राजा के मुंह में पानी छूट आया। मंत्री ने प्रार्थना की—'महाराज ! आम को फेंक दीजिये ! यह आम नहीं, आपके लिए जहर है।"

राजा मंत्री के कथन पर हंस उठा—"मंत्रीराज ! अब तो मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ। दवा चल ही रही है, यदि एक आम खा भी लिया तो क्या होगा ? दो खुराक ज्यादा ले लेंगे।"

मंत्री का जी भीतर-ही-भीतर कसमसा उठा। उसका मन हुआ, राजा के हाथ से खींचकर आम को फेंकदे। तभी राजा ने आम को मुँह तक लगा लिया। मंत्री के लाख मना करने पर भी वह अपने आप पर काबू नहीं कर सका। उसने आम खाया, कुछ ही देर में रोग पुनः भड़क उठा। राजा और मंत्री राज्य में आये। वैद्यराज को बुलाया। पर इस बार वैद्यराज ने हाथ साफ झटक दिये—"अब यह रोग मेरे वश का नहीं है, मेरे पास इस भयंकर रोग की कोई दवा नहीं है।"

राजा का रोग बढ़ता गया, कोई भी उपचार नहीं लगा और एक दिन रोग की पीड़ा से कराहते हुए राजा ने प्राण छोड़ दिये।

शास्त्रकार ने बताया है कि अधिक रसासक्ति का यही परिणाम आता है। मनुष्य रस का लोभी होकर अपनी जान से भी खेल जाता है और अकाल में ही काल-कवलित हो जाता है।

जैन रामायण में रघुवंशी राजा शिवदास की घटना प्रसिद्ध है, जिसने मांस-लोलुपता के कारण अपना राज्य भी खो दिया। ये सब उद्धरण और घटनाएँ बताती हैं कि रसलोलुपता से जीवन किस प्रकार नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, मनुष्य सब कुछ खोकर कंगाल हो जाता है और अंत में प्राण भी खो देता है। शास्त्र में बताया है—

रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं।

रागाउरे बडिस - विभिन्नकाए,
मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे ।[1]

जो मनुष्य रस में अत्यन्त गृद्ध हो जाता है वह उसमें मूर्च्छित हुआ अपने जीवन को भी अकाल में ही हार बैठता है और विनाश प्राप्त करता है। जैसे कि मांस के लोभ में फँसा हुआ मत्स्य कांटे में फँस कर अपने प्राण खो देता है।

अपार सागर के जल में सुरक्षित बैठा हुआ मत्स्य इसी तीव्र रसासक्ति के कारण अपनी जान से हाथ धोता है। जब मछली पकड़ने वाला लोहे के कांटे में मांस का टुकड़ा लगाकर वह कांटा समुद्र में डालता है तो मांस लोभी मत्स्य उसे खाने को दौड़ता हैं, मांस को खाते-खाते कांटा जब उसके गले में फँस जाता है तो बस वह वहीं तड़फड़ाने लगता है। मछली पकड़ने वाला तभी उस कांटे को खींच लेता है। मत्स्य पानी से बाहर आ जाता है और कुछ ही क्षणों में अपने प्राण गँवा देता है। यह फल है रसलोलुपता का। यदि मत्स्य रसलोलुप होकर मांस खाने न आता है तो किसी धीवर की ताकत नहीं है कि उसे जल में से पकड़कर बाहर ले आवे। किन्तु रसासक्ति के कारण खुद ही अपनी मौत उसने बुलाली। इसलिए बताया गया है कि रसासक्त मनुष्य अपनी तीव्र आसक्ति के कारण अकाल में ही नष्ट हो जाता है।

रसासक्ति से कामासक्ति

दूसरी बात—अधिक रसीले, स्वादिष्ट व चटपटे मसालेदार गरिष्ठ भोजन से शरीर में विकार बढ़ते हैं, उत्तेजना पैदा होती है और फिर ब्रह्मचर्य की साधना भंग होने का खतरा पैदा हो जाता है। दशवैकालिक में बताया है—

पणीयं भत्त पाणं तु खिप्पंमयविवड्ढणं।

प्रणीत (घी आदि से अत्यंत गरिष्ठ) आहार शरीर में शीघ्र ही मद (विकार) पैदा कर देता है। मन चंचल हो जाता, इन्द्रिय उत्तेजित होकर संयम का बंधन तोड़ डालती है। भगवान महावीर ने कहा है—

रसा पगामं न निसेवियव्वा,
पायं रसा दित्तिकरा नराणं ।
दित्तं च कामा समभिद्दवंति,
दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥१०॥[1]

सरस पदार्थों का अधिक सेवन नहीं करना चाहिए। क्योंकि रसदार गरिष्ट आहार से धातु आदि पुष्ट होती है, वीर्य उत्तेजित होता है, उससे कामाग्नि प्रचंड बनती है और उससे विकार साधक को आकर वैसे ही घेरने लगते हैं जैसे कि स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष को पक्षीगण आकर घेर लेते हैं। आगे कहा है—

जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे
समारुओ नोवसमं उवेइ ।
एविंदियग्गी वि पगाम भोइणो
न बंभयारिस्स हियाय कस्सइ ॥ ११ ॥

जो व्यक्ति प्रकाम रस भोगी है—अर्थात् मात्रा से अधिक रसदार स्वादिष्ट भोजन करता है उसके मन व इन्द्रियों में कामरूप अग्नि इसी प्रकार दहक उठती है जैसे सूखी लकड़ियों के जंगल में तेज हवाओं के झोंके से अग्नि की एक चिनगारी भी क्षणभर में फैल जाती है, और प्रचंड वनाग्नि का रूप धारण कर लेती है। आशय इसका यही है कि अधिक सरस भोजन करने वाले का ब्रह्मचर्य अधिक दिन सुरक्षित नहीं रह सकता। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए 'रस त्याग' अस्वाद व्रत बहुत ही आवश्यक है। 'प्रणीत रस भोजन' तो साधक के लिए जहर के तुल्य माना गया है। कहा है—

विभूसा इत्थीसंसग्गी पणीयं रसभोयणं ।
नरस्सत्तगवेसिस्स विसं तालउडं जहां ।[2]

१ विभूषा, २ स्त्री संसर्ग और ३ प्रणीत रस भोजन—ये तीन चीजें आत्मगवेषक—आत्मा की खोज करने वाले साधको के लिए तालपुट जहर

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र ३२
२ दशवैकालिक ८।५६

रागाउरे बडिस - विभिन्नकाए,
मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे ।[१]

जो मनुष्य रस में अत्यन्त गृद्ध हो जाता है वह उसमें मूर्च्छित हुआ अपने जीवन को भी अकाल में ही हार बैठता है और विनाश प्राप्त करता है। जैसे कि मांस के लोभ में फँसा हुआ मत्स्य कांटे में फँस कर अपने प्राण खो देता है।

अपार सागर के जल में सुरक्षित बैठा हुआ मत्स्य इसी तीव्र रसासक्ति के कारण अपनी जान से हाथ धोता है। जब मछली पकड़ने वाला लोहे के कांटे में मांस का टुकड़ा लगाकर वह कांटा समुद्र में डालता है तो मांस लोभी मत्स्य उसे खाने को दौड़ता हैं, मांस को खाते-खाते कांटा जब उसके गले में फँस जाता है तो बस वह वहीं तड़फड़ाने लगता है। मछली पकड़ने वाला तभी उस कांटे को खींच लेता है। मत्स्य पानी से बाहर आ जाता है और कुछ ही क्षणों में अपने प्राण गँवा देता है। यह फल है रसलोलुपता का। यदि मत्स्य रसलोलुप होकर मांस खाने न आता है तो किसी धीवर की ताकत नहीं है कि उसे जल में से पकड़कर बाहर ले आवे। किन्तु रसासक्ति के कारण खुद ही अपनी मौत उसने बुलाली। इसलिए बताया गया है कि रसासक्त मनुष्य अपनी तीव्र आसक्ति के कारण अकाल में ही नष्ट हो जाता है।

रसासक्ति से कामासक्ति

दूसरी बात—अधिक रसीले,स्वादिष्ट व चटपटे मसालेदार गरिष्ठ भोजन से शरीर में विकार बढ़ते हैं, उत्तेजना पैदा होती है और फिर ब्रह्मचर्य की साधना भंग होने का खतरा पैदा हो जाता है। दशवैकालिक में बताया है—

पणीयं भत्त' पाणं तु खिप्पंमयविवड्ढणं।

प्रणीत (घी आदि से अत्यंत गरिष्ठ) आहार शरीर में शीघ्र ही मद (विकार) पैदा कर देता है। मन चंचल हो जाता, इन्द्रिय उत्तेजित होकर संयम का बंधन तोड़ डालती है। भगवान महावीर ने कहा है—

रसा पगामं न निसेवियव्वा,
पायं रसा दित्तिकरा नराणं ।
दित्तं च कामा समभिद्दवंति,
दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥१०॥[1]

सरस पदार्थों का अधिक सेवन नहीं करना चाहिए। क्योंकि रसदार गरिष्ट आहार से धातु आदि पुष्ट होती है, वीर्य उत्तेजित होता है, उससे कामाग्नि प्रचंड बनती है और उससे विकार साधक को आकर वैसे ही घेरने लगते हैं जैसे कि स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष को पक्षीगण आकर घेर लेते हैं। आगे कहा है—

जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे
समारुओ नोवसमं उवेइ ।
एविंदियग्गी वि पगाम भोइणो
न बंभयारिस्स हियाय कस्सइ ॥ ११ ॥

जो व्यक्ति प्रकाम रस भोगी है—अर्थात् मात्रा से अधिक रसदार स्वादिष्ट भोजन करता है उसके मन व इन्द्रियों में कामरूप अग्नि इसी प्रकार दहक उठती है जैसे सूखी लकड़ियों के जंगल में तेज हवाओं के झोंके से अग्नि की एक चिनगारी भी क्षणभर में फैल जाती है, और प्रचंड वनाग्नि का रूप धारण कर लेती है। आशय इसका यही है कि अधिक सरस भोजन करने वाले का ब्रह्मचर्य अधिक दिन सुरक्षित नहीं रह सकता। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए 'रस त्याग' अस्वाद व्रत बहुत ही आवश्यक है। 'प्रणीत रस भोजन' तो साधक के लिए जहर के तुल्य माना गया है। कहा है—

विभूसा इत्थीसंसग्गी पणीयं रसभोयणं ।
नरस्सत्तगवेसिस्स विसं तालउडं जहा ।[2]

१ विभूषा, २ स्त्री संसर्ग और ३ प्रणीत रस भोजन—ये तीन चीजें आत्मगवेषक—आत्मा की खोज करने वाले साधको के लिए तालपुट जहर

१ उत्तराध्ययन सूत्र ३२
२ दशवैकालिक ८।५६

के समान है। तालपुट जहर जैसे जीभ पर रखकर ताली बजाये तब तक में मनुष्य को मार डालता है, उसी प्रकार आत्मशोधक के लिए उक्त तीनों बातें विनाशकारी हैं।

ब्रह्मचर्य की नव गुप्तियों में बताया गया है कि ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले साधक को प्रणीत —अतिस्निग्ध सरस आहार नहीं करना चाहिए—

१ नो पणीयरसभोइ भवइ

२ नो पाण भोयणस्स अइ मायाए आहारइत्ता भवइ[1]

आगम वाणी के प्रकाश में और अपने अनुभव के आलोक में यह बात प्राय: स्पष्ट है कि इंधन से जैसे अग्नि प्रचंड बनती है, वैसे ही सरस भोजन से कामाग्नि प्रचंड होती है। अत: आत्मसाधना करने वाले, ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले साधक के लिए सचमुच में ही रसयुक्त प्रणीत भोजन—विष के तुल्य हैं।

निशीथ भाष्य[2] में एक उदाहरण देकर समझाया गया है कि रस लोलुप होने से साधु का यह भव ही नहीं, किन्तु अगला भव भी बिगड़ जाता है। उदाहरण इस प्रकार है—

प्राचीन समय में एक आचार्य थे—आर्य मंगु। शास्त्रों के अच्छे ज्ञाता और बड़े ही मधुर वक्ता थे। जहां भी जाते वहां उनका अच्छा सत्कार सम्मान होता। जनता में उनके प्रति बड़ी श्रद्धा थी।

एकबार आर्यमंगु मथुरा में आये। मथुरा के श्रद्धालु जनों ने आचार्य की बड़ी भक्ति की। आचार्य को दूध, दही, घी मिष्टान्न आदि प्रतिदिन मिलने लगा। प्रतिदिन रसयुक्त मधुर भोजन करने से आचार्य का मन भी रस में गृद्ध हो गया। मधुर भोजन आदि के कारण उन्हें मथुरा भी प्यारी लगने लगी। अब तो आचार्य वहां जम गये। मास कल्प पूरा होने पर भी विहार का नाम नहीं लिया। भक्तिवश लोगों ने भी कुछ नहीं कहा। चातुर्मास पूरा हुआ। फिर भी आचार्य वहां से जाने को तैयार नहीं हुए।

---

१ उत्तराध्ययन १६

२ निशीथ भाष्य १७।३२००

आचार्य के कुछ शिष्य जो बड़े त्यागी व आत्मार्थी थे, उन्होंने आचार्य से विहार करने की प्रार्थना की। रसलोलुप आचार्य ने कहा—"कहीं भी जाओ ! साधु का धर्म तो उपदेश देना है, यहां बैठे भी वही काम करते हैं फिर कौन सा दोष है ?" टालमटोल का उत्तर सुनकर कुछ साधु आचार्य को छोड़कर अन्यत्र विहार कर गये। किन्तु आचार्य मंगु से रसलोलुपता नहीं छूटी। वे सरस स्वादिष्ट भोजन के लोभ में पड़कर अपनी साधु मर्यादा भूल गये। खूब दूध, दही, घी प्रणीत आहार खाने लगे। इस आचरण के कारण वे साधुता से भ्रष्ट हो गये। आयुष्यपूर्ण कर वे उसी नगर में एक यक्ष बन गये। जब ज्ञान से उन्होंने अपना पूर्व जन्म देखा तो उन्हें बड़ा पश्चात्ताप होने लगा—सोचा ! मैं तो इतना बड़ा आचार्य था यदि मर्यादा में रहता तो कोई वैमानिक इन्द्र बनता ! अब यक्ष योनि में आ गिरा। विचार किया—खैर ! मेरी तो जो गति हुई सो हुई किन्तु मेरे कारण अब अन्य साधु रसलोलुप होकर अपना जन्म न विगाड़ें। इसलिए वह यक्ष जब कभी उधर से कोई साधु निकलता तो यक्ष प्रतिमा में प्रविष्ट होकर लंबी जीभ बाहर निकाल देता। साधारण साधु उससे डर जाते। एक दिन एक साहसी साधु ने पूछा "तुम कौन हो ? और किसलिए यह जीभ बाहर निकाल रहे हो ?"

यक्ष ने उत्तर दिया—"मैं तुम लोगों का गुरु आर्य मंगु हूँ। रस लोलुपता के कारण मैं अपने धर्म से भ्रष्ट हो,इस निकृष्ट योनि में आया हूं। जीभ निकाल के यह बताना चाहता हूं कि इस जीभ (स्वाद वृत्ति) ने मुझे भ्रष्ट किया, किन्तु तुम लोग सभल जाओ !"

इस प्रकार रसलोलुपता के कारण मनुष्य के दोनों जन्म ही विगड़ जाते हैं।

रसत्याग के विविध रूप

यद्यपि 'रस-परित्याग' शब्द में सभी प्रकार के रसों का त्याग आ जाता है, किन्तु विस्तार की दृष्टि से शास्त्र में 'रस-परित्याग' की साधना के अनेक क्रम बताये है। शास्त्रों में साधु को 'विगय' ग्रहण करने का भी विधान है इसलिए यह नहीं माना जा सकता कि वह सर्वथा-सर्वदा विगय का त्यागी रहे।

कभी-कभार वह विगय ग्रहण भी कर सकता है, किन्तु नित्य नहीं। नित्यप्रति विगय का सेवन करना दोष है। इसलिए कभी-कभी विगय ग्रहण करें और कभी विगय का त्याग करें। विगय का त्याग करना रसपरित्याग तप का पहला क्रम है।

उववाई सूत्र में इसके नौ क्रम बताये हैं—

१ **निर्वितिक**—विगय का त्याग करना। विगय का वर्णन पूर्व में किया चा चुका है।

२ **प्रणीत आहार का त्याग**—जिस भोजन में घृत आदि टपकता हो, जो अति स्निग्ध और बल वीर्य वर्द्धक भोजन हो उसका त्याग करना।

३ **आयंबिल**—नमक एवं विगय आदि का त्याग कर सिर्फ भुना हुआ या रंधा हुआ एक प्रकार का भोजन पानी के साथ खाना। इसमें स्वाद-विजय की विशेष भावना रहती है।

४ **आयामसित्थ भोई**[1]—धान्यादि के धोवण में से कुछ अंश (अथवा कण) ग्रहण कर भूख मिटाना।

५ **अरसाहार**—रसरहित भोजन करना, जैसे फीका, बिना नमक व बिना मिर्च मसाले का स्वाद रहित भोजन। जैसे उडद के बाकले, भुने चने, कुल्माष आदि।

६ **विरसाहार**—जिस भोजन का रस बिगड़ गया हो, बासी, बे-स्वाद भोजन करना।

७ **अंताहार**—सबसे आखिर में बना हुआ आहार लेना। अथवा चना, उडद आदि के छिलके जो कि अंतिम बचे हुए होते हैं।

८ **पंताहार**—सब लोगों के खा चुकने के बाद में अंत में बचा हुआ आहार लेना। बासी तथा ठंडा आहार।

९ **रुक्षाहार**—रूखा बिना चुपड़ा हुआ भोजन। जिस भोजन में घी-तेल का छोंक आदि तथा किसी प्रकार का लेप व चिकनाई न हो।

---

१ आयामकं धान्यस्य अवस्रावणकं। —अभिधान राजेन्द्र भा० २

इसी के साथ तुच्छाहार—जली हुई रोटी आदि के कुछ और भी भेद मिलते हैं। किसी-किसी आचार्य ने इन नौ भेदों का विस्तार कर १४ भेद भी माने हैं।

इस प्रकार भोजन में रस, स्वाद, चिकनाई आदि का त्याग करके साधक 'रस-परित्याग' तप की अनेक प्रकार से साधना कर सकता है। रसपरित्याग का मूल उद्देश्य है—भोजन के प्रति अनासक्त भाव। सरस व स्वादिष्ट भोजन प्राप्त करने की भी इच्छा न हो, और न ऐसा रसयुक्त भोजन खाने की लालसा हो। बल्कि भिक्षाचरी में या (गृहस्थ के लिए घर में) सहज रूप में जो भोजन प्राप्त हो गया उसे शरीर चलाने के लिए खाना जैसे घाव पर मरहम पट्टी की जाती हो, उसी दृष्टि से भूख को शांत करने के लिए भोजन करना—यह लक्ष्य जीवन में प्राप्त करना रसपरित्याग तप की सच्ची साधना है।

●●

५

कायक्लेश तप

तप के बारह भेदों में प्रथम चार तप आहार से विशेष सम्बन्ध रखते हैं। पांचवें तप में शरीर क्रियाओं का सम्बन्ध है अतः इस तप का नाम है काय-क्लेश तप!

कायक्लेश की परिभाषा

कायक्लेश—का अर्थ है शरीर को कष्ट देना। कष्ट दो प्रकार के होते हैं—एक प्राकृतिक रूप में स्वयं आना, देवता मनुष्य तिर्यंच आदि के उपसर्गों से प्राप्त होना। यह कष्ट, अनचाहे अपने आप आते हैं। आप सर्दी में शीत लहरें, गर्मी में लू के थपेड़े, वर्षा में डांस मच्छर ऊमस आदि का कष्ट भले ही न चाहें किन्तु वे प्राकृतिक चीजें हैं,मौसम के सहज कष्ट हैं वे आते ही हैं। उसी प्रकार कोई देवता उपसर्ग दें, मनुष्य आदि अपमान करें, क्रूर हिंसक पशु आदि भयभीत करें तो ये भी अनचाहे कष्ट हैं, इनकी इच्छा कोई नहीं करता, किन्तु अपने आप आ जाते हैं। ये कष्ट सहज प्राप्त कष्ट है।

दूसरे कष्ट है उदीरणा करके लेना। कष्ट को बुलाना। जैसे कठोर आसन आदि करना, ध्यान लगाकर स्थिर खड़े हो जाना। घोर जंगल में अकेले निर्भय कायोत्सर्ग करके रहना। स्नान—आदि शरीर की शोभा नहीं

११ शय्या—निवास स्थान अथवा सोने की भूमि का कष्ट।

१२ आक्रोश—दुर्वचनों का कष्ट।

१३ वध—लकड़ी आदि की मार।

१४ याचना—भिक्षा आदि मांगना।

१५ अलाभ—मांगने पर भी नहीं मिलना।

१६ रोग—रोग आने पर समभाव से सहन करना।

१७ तृणस्पर्श—घास आदि के स्पर्श का कष्ट।

१८ जल्ल—शरीर पर मैल आदि का कष्ट (अस्नान)।

१९ सत्कार-पुरस्कार—पूजा-प्रतिष्ठा को सम्यक् रूप से सहना—अर्थात् उन पर फूलना नहीं।

२० प्रज्ञा—बुद्धि का गर्व न करना।

२१ अज्ञान—बुद्धिहीनता अथवा अजानकारी का दुख सहन करना।

२२ दर्शन परीषह—सम्यक्त्व से भ्रष्ट करने वाले मिथ्या मतों का मोहक वातावरण देखकर मन को स्थिर रखना।

ये बाईस परीषह हैं जिनमें दोनों प्रकार के ही परीषह आये हैं—दूसरों के द्वारा होने वाले और अपने मन से स्वीकार करने वाले भी। इन उपसर्गों को, कष्टों को सम्यक् रीति से सहना परीषह है।

शास्त्र में कहा है—

> खुहं पिवासं दुसिज्जं सी-उण्हं अरइं भयं।
> अहियासे अव्वहिओ देहदुक्खं महाफलं।

भूख, प्यास, दुःशय्या, सर्दी-गर्मी आदि और भय आदि कष्टों को साधक अव्यथित—अर्थात् प्रसन्न मन से सहन करें, क्योंकि देह का कष्ट सहन करना महाफल—महान् धर्म व कर्म निर्जरा का कारण है।

कुछ लोग—'देह दुक्खं महाफलं'—का अर्थ करते हैं—देह को दुख देना महाफल है—किन्तु वास्तव में यह अर्थ जैन दृष्टि से संगत नहीं है। देह को कष्ट देना और बात है, देह का कष्ट सहना और बात है। अज्ञानी मनुष्य भी देह को कष्ट देते हैं, शरीर का दमन करते हैं, छह-छह महीने

वृक्ष की तरह सीधे खडे रहते है, कड़कड़ाती सर्दी में भी नाक तक पानी में डूबे रहते हैं—ओंधे शिर लटकते रहते हैं। किन्तु उनका देह दुख तो महाफल नहीं, अल्पफल, अत्यन्त अल्पफल वाला माना गया है। अतः यहां पर '**देह दुःखं महाफलं**' का भाव यही लेना चाहिए—कि उक्त परीपह जब उत्पन्न हों तो साधक सोचे - शरीर को उत्पन्न हुए कष्ट को प्रसन्न भाव से सहन करना महान कर्म निर्जरा का कारण है अतः (अज्ञान पूर्वक देह को कष्ट देना नहीं, किन्तु) ज्ञानपूर्वक कष्ट लेना और सहना महान फलदायी है।

हां तो मैं बता रहा था कि—स्व-कृत एवं परकृत दोनों प्रकार के शारीरिक-मानसिक कष्टों को सहन करना परीपह है। यहां कायक्लेश की व्याख्या परिपह से कुछ अलग पड़जाती है। कायक्लेश का अर्थ है—अपनी ओर से कष्टों को स्वीकार करना। साधक विशेप कर्म निर्जरा के लिए अनेक प्रकार के आसन, ध्यान, प्रतिमा, केश लुंचन, शरीर मोह का त्याग आदि के माध्यम से विदेह भाव को स्वीकार करता है—वह विशेप तप—काय क्लेश तप है। आगम में बताये गये काय क्लेश के भेदों से यही अर्थ संगत बैठता है।

शरीर को कष्ट क्यों?

प्रश्न होता है कि शास्त्रों में एक ओर तो मानव—शरीर की अपार महिमा गाई है। चार परम दुर्लभ वस्तुओं में मानव-जन्म को परम दुर्लभ माना है। चिंतामणि रत्न की उपमा दी है। **सुर दुर्लभ मानुष तन पावा**—के गीत गाये गये है और दूसरी ओर शरीर को कष्ट व क्लेश देने की बात कही गई है - यह तो वैसी ही बात हो गई "चोर को कहे लाग साहूकार को कहे जाग।" क्या धर्म की शरीर के साथ कोई शत्रुता है? कहीं तो **शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनं** कहा है और कहीं **देह दुक्खं महाफलं**? इन विचारों में परस्पर यह विरोध क्यों?

समाधान यह है कि शरीर को कष्ट देने का अर्थ शरीर का नाश करना नहीं, किन्तु उसका सदुपयोग करना है। शरीर हमारा शत्रु नहीं है, किन्तु सेवक है। शत्रु का नाश किया जाता है किन्तु सेवक को सदा प्रोत्साहित करके उससे काम लिया जाता है। सेवक को समय पर वेतन देने से, मधुर

वचन कहने से, यथा योग्य भोजन वस्त्र आदि देने से वह प्रसन्न रहता है, और स्वामी की सेवा करने में भी जान लगा देता है। स्वामी के लिए अपने प्राण और सर्वस्व न्योछावर कर देता है। जो सेवक सब कुछ पाकर भी यदि स्वामी की सेवा में हिचकिचाहट करे, काम से मुंह चुराए तो वह सेवक बेइमान कहलाता है।

शरीर भी आत्मा का सेवक है, आत्मा को धर्म की साधना करने में उपयोगी है "यह देह धर्म का साधन है" और 'मोक्ख साहण हेउस्स साहुदेहस्स धारणा—मोक्ष की साधना करने के लिए ही साधक देह को धारण करता है। अतः आत्मा मोक्ष साधना के लिए शरीर का उपयोग करता है, शरीर का पोषण भी करता है, किन्तु उसे निठल्ले बैठाए रखने के लिए नहीं, किन्तु अधिक श्रम, त्याग, तप, जप ध्यान कायोत्सर्ग आदि करने के लिए ही उसे भोजन देता है। शरीर से यह जो आध्यात्मिक सेवा ली जाती है, उसे ही हम बोलचाल की भाषा में कायक्लेश और कष्ट एवं परीषह कहते हैं, वास्तव में वह कष्ट एवं क्लेश नहीं, किन्तु शरीर का सदुपयोग है। सच्चा सेवक सेवा करने में खिन्न अवश्य होता है, किन्तु फिर भी वह खिन्नता अनुभव नहीं करके प्रसन्नता का ही अनुभव करता है। सेवा को कष्ट नहीं, कर्तव्य समझता है। इसी प्रकार आत्मसाधना के मार्ग में शरीर को दिया जाने वाला कष्ट वास्तव में कष्ट नहीं, किन्तु शरीर का उपयोग है। यदि यह उपयोग नहीं लिया जाता है तो शरीर बैठा ठाला और कुछ उत्पात कर सकता है। विकारों को उत्पन्न करेगा। "निकम्मा दर्जी क्या करे, कपड़े फाड़कर सिया करे।" अतः शरीर को सतत श्रम में, तप जप आदि में लगाए रखना ही उसकी उपयोगिता है। इस दृष्टि से जैन धर्म ने शरीर को कष्ट देने की बात शरीर का नाश करने के लिए नहीं कही है, अपितु उसका सदुपयोग करने के लिए ही कही है।

दूसरी बात—मनुष्य के सामने जब कोई बड़ा आकर्षण होता है, महान लाभ की बात सामने दिखाई देती है, अपने चिर संचित लक्ष्य को सफल होता देखता है, अपने सपनों को साकार होता पाता है तो स्वयं भी बड़े से बड़ा

कष्ट झेलने के लिए तैयार हो जाता है। यह कष्ट, उसे कष्ट नहीं किन्तु आनंद और सुख प्रतीत होता है। प्रसिद्ध अध्यात्मवादी चिंतक यशोविजयजी ने तपोष्टक में कहा है—

दृष्टा चेष्टार्थसंसिद्धौ कायपीड़ा ह्यदुःखदा,
रत्नादिवणिगादीनां तद् वदत्रापि भाव्यताम् ॥७॥

इच्छित लक्ष्य की सिद्धि के लिए शरीर का कष्ट भी दुखदायी नहीं लगता, रत्न आदि की प्राप्ति के लिए व्यापारी लोग समुद्रों में, पहाड़ों में जंगलों में कहां-कहां घूमते हैं, असह्य पीड़ाएँ सहन करते हैं, फिर भी उन्हें उन यात्राओं में सुखानुभूति ही होती है।

इसी प्रकार साधक भी आत्मा के चिर पोषित लक्ष्य—मुक्ति ! निर्वेद ! केवल ज्ञान ! आदि की प्राप्ति के लिए जो विभिन्न प्रकार के कायक्लेश, तप जप, ध्यान आदि करता है उसमें उसे कष्ट होते हुए भी कष्टानुभूति नहीं, किन्तु आनन्दानुभूति होती है। यदि साधना में कष्टानुभूति होती हो तो वह वास्तव में साधना ही नहीं होती। रो-रोकर कष्ट उठाना तो—अपराधी का काम है, साधक का नहीं। यदि साधक कष्टों में उत्पीड़ित हो जाता है तो वह साधना उसके लिए दुख-शय्या—कांटों की सेज बन जाती है। शास्त्र में बताया है। सच्चे साधक के किए साधना का कंटकाकीर्ण मार्ग भी सुख-शय्या—फूलों की सेज होता है। फिर साधना का लक्ष्य शरीर को, कष्ट को कष्ट समझना भी नहीं, किन्तु शरीर व आत्मा के कष्टों से आत्म-शुद्धि और आत्म-सिद्धि के लिए शरीर का सदुपयोग करना ही उसका लक्ष्य रहता है।

इसके साथ यह भी स्मरण रखने की बात है कि जैन धर्म में देह दण्ड, या कायक्लेश किया नहीं जाता, बल्कि स्वयं होता है। साधक का लक्ष्य तो आत्म-शोधन रहता है, उस लक्ष्य के लिए जब वह प्रयत्नशील होता है तो दैहिक कष्ट स्वयं आते हैं और चले जाते है। जिस प्रकार घी को शुद्ध करने के लिए उसे तपाना होता है। तपाने के लिए क्या घी को अग्नि में डाल दिया जाता है ? नहीं, उसे पात्र में डाला जाता है और पात्र को अग्नि पर रखा जाता है। यद्यपि पात्र को तपाना आपका लक्ष्य नहीं है, आप तो घी

को तपाना चाहते हैं किन्तु घी का आधार पात्र है, इसलिए घी को तपाने के साथ ही पात्र स्वयं तपता है। कोई आपसे पूछे—भाई! आप क्या कर रहे हैं? तो आप झटसे कहेंगे, घी तपा रहा हूं। न कि पात्र तपा रहा हूँ ऐसा कहेंगे? पात्र को तपाना लक्ष्य नहीं है, वह तो स्वयं तप जाता है। इसी प्रकार आत्मा से विकारों को दूर करने के लिए, इन्द्रिय निग्रह, आसन, उपवास आदि के द्वारा तपाना तो आत्मा को ही है, किन्तु चूंकि आत्मा का आधार शरीर है—इसलिए आत्मा जब तपाचरण करता है तो शरीर को कष्ट होता है, शरीर अवश्य ही तप्त होता है, किन्तु शरीर की उस वेदना में साधक को वेदना की अनुभूति नहीं होती। तप के कष्ट को साधक कष्ट रूप में अनुभव नहीं करता, जैसे माता अपने बालक की सेवा करती हुई भी उस सेवा में कष्ट या पीड़ा का अनुभव नहीं करती, उसी प्रकार तप में शरीर को पीड़ा होते हुए भी साधक पीड़ा की अनुभूति नहीं करता, (क्योंकि उसका लक्ष्य आत्मानंद की प्राप्ति का है।)

कायक्लेश की दार्शनिक पृष्ठभूमि

काया को कष्ट देना, देह का दमन करना, इन्द्रियों का निग्रह करना—इस शब्दावली के पीछे एक आध्यात्मिक चिन्तन है, भारतीय अध्यात्म दर्शन की पृष्ठभूमि है।

संसार में प्रारम्भ से ही दो प्रकार के दर्शन चले आये हैं एक जड़वादी दर्शन, दूसरा आत्मवादी दर्शन! जड़वादी दर्शन शरीर को ही सब कुछ मानता है। शरीर से भिन्न आत्मा नाम के तत्त्व की कल्पना ही उसके दिमाग में नहीं आती। फिर परलोक, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म तो कहां से मानेगा! उसका प्रसिद्ध सूत्र है—

> एत्तावानेव लोकोयं यावानिन्द्रियगोचरः।
> भद्रे! वृक पदं पश्य यद् वदन्ति बहुश्रुताः।[1]

जितना आंखों से दिखाई देता है बस उतना ही यह संसार है। उससे आगे कुछ नहीं! आत्मा, परमात्मा यह सब कपोल कल्पना है। परलोक

---

१ षड्दर्शन समुच्चय ८१

या मोक्ष के लिए कष्ट सहना भी भूल है—क्योंकि जैसे किसी ने खरगोश के सींग कभी नहीं देखे, आकाश में कभी फूल खिला नहीं देखा, वैसे ही मोक्ष या परलोक किसी ने कभी नहीं देखा। इसलिए संसार में जो कुछ तत्त्व है वह है—शरीर ! बस इस शरीर को साफ-सुथरा रखो, हृष्ट पुष्ट बनाओ ! जो सुख मिला है उसका भोग करो, खाओ, पीओ और आनन्द करो (Eat, drink and be merry) बस यही सुखवाद जीवन का सार है। उनका प्रसिद्ध वाक्य है—

> पिब ! खाद च चारुलोचने !
> यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते।
> नहि भीरु ! गतं निवर्तते
> समुदयमात्रमिदं हि कलेवरम्।[1]

हे सुनयने ! पीओ ! और खाओ ! जो चला गया वह लौट कर कभी आता नहीं, इसलिए अतीत अपना नहीं है, सिर्फ वर्तमान मात्र अपना है, वर्तमान में आनन्द से रहो ! यह शरीर तो मात्र पांच भूतों का समुदाय है, जब समुदाय विखर जायेगा तो सब कुछ यहीं समाप्त हो जायेगा।

यह जड़वादी विचार धारा ही चार्वाक दर्शन कहलाती है। यद्यपि चार्वाकों में भी दो मत हैं—एक धूर्त चार्वाक दूसरे शिक्षित चार्वाक। धूर्त चार्वाक बिल्कुल ही स्वार्थमय, सुखवादी एवं मर्यादाहीन जीवन में विश्वास करते हैं, जबकि शिक्षित चार्वाक कुछ सभ्य, सामाजिक एवं नीति प्रधान जीवन का उपदेश करते हैं। चार्वाकों का दर्शन ही भारत के बाहर जाकर मार्क्सवाद बना है— ऐसा आजकल के दार्शनिकों का मत है। अस्तु,

जड़वादी दर्शन में शारीरिक कष्ट को निरर्थक एवं मूर्खों की मान्यता बताया गया है। किन्तु भारत में यह दर्शन अधिक चल नहीं सका। यहां पर आत्मवादी दर्शन की मुख्यता रही है। आत्मवाद में शरीर को जड़ और आत्मा को चेतन माना गया है। देह को आत्मा मानना अज्ञान है और देह को

---

१ षड्दर्शन समुच्चय ८२

को तपाना चाहते हैं किन्तु घी का आधार पात्र है, इसलिए घी को तपाने के साथ ही पात्र स्वयं तपता है। कोई आपसे पूछे—भाई! आप क्या कर रहे हैं? तो आप झटसे कहेंगे, घी तपा रहा हूं। न कि पात्र तपा रहा हूं ऐसा कहेंगे? पात्र को तपाना लक्ष्य नहीं है, वह तो स्वयं तप जाता है। उसी प्रकार आत्मा से विकारों को दूर करने के लिए, इन्द्रिय निग्रह, आसन, उपवास आदि के द्वारा तपाना तो आत्मा को ही है, किन्तु चूंकि आत्मा का आधार शरीर है—इसलिए आत्मा जब तपाचरण करता है तो शरीर को कष्ट होता है, शरीर अवश्य ही तप्त होता है, किन्तु शरीर की उस वेदना में साधक को वेदना की अनुभूति नहीं होती। तप के कष्ट को साधक कष्ट रूप में अनुभव नहीं करता, जैसे माता अपने बालक की सेवा करती हुई भी उस सेवा में कष्ट या पीड़ा का अनुभव नहीं करती, उसी प्रकार तप में शरीर को पीड़ा होते हुए भी साधक पीड़ा की अनुभूति नहीं करता, (क्योंकि उसका लक्ष्य आत्मानंद की प्राप्ति का है।)

कायक्लेश की दार्शनिक पृष्ठभूमि

काया को कष्ट देना, देह का दमन करना, इन्द्रियों का निग्रह करना—इस शब्दावली के पीछे एक आध्यात्मिक चिन्तन है, भारतीय अध्यात्म दर्शन की पृष्ठभूमि है।

संसार में प्रारम्भ से ही दो प्रकार के दर्शन चले आये हैं एक जड़वादी दर्शन, दूसरा आत्मवादी दर्शन! जड़वादी दर्शन शरीर को ही सब कुछ मानता है। शरीर से भिन्न आत्मा नाम के तत्त्व की कल्पना ही उसके दिमाग में नहीं आती। फिर परलोक, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म तो कहां से मानेगा! उसका प्रसिद्ध सूत्र है—

> एतावानेव लोकोयं यावानिन्द्रियगोचरः।
> भद्रे! वृक पदं पश्य यद् वदन्ति बहुश्रुताः।[1]

जितना आंखों से दिखाई देता है बस उतना ही यह संसार है। उससे आगे कुछ नहीं! आत्मा, परमात्मा यह सब कपोल कल्पना है। परलोक

---

१ षड्दर्शन समुच्चय ८१

या मोक्ष के लिए कष्ट सहना भी भूल है—क्योंकि जैसे किसी ने खरगोश के सींग कभी नहीं देखे, आकाश में कभी फूल खिला नहीं देखा, वैसे ही मोक्ष या परलोक किसी ने कभी नहीं देखा। इसलिए संसार में जो कुछ तत्त्व है वह है—शरीर! बस इस शरीर को साफ-सुथरा रखो, हृष्ट पुष्ट बनाओ! जो सुख मिला है उसका भोग करो, खाओ, पीओ और आनन्द करो (Eat, drink and be merry) बस यही सुखवाद जीवन का सार है। उनका प्रसिद्ध वाक्य है—

पिब! खाद च चारुलोचने!
यदतीतं वरगात्रि! तन्न ते।
नहि भीरु! गतं निवर्तते
समुदयमात्रमिदं हि कलेवरम्।[1]

आत्मा से भिन्न चिन्मयशक्ति मानना ज्ञान। कहा है—

देहोऽहमिति या बुद्धिः अविद्या सा प्रकीर्तिता।
नाऽहं देहश्चिदात्मेति बुद्धि विद्येति भण्यते।[1]

'मैं (आत्मा) देह हूं'—इस बुद्धि का नाम अविद्या, अज्ञान है, और 'मैं देह से भिन्न चेतन आत्मा हूं'—इस बुद्धि का नाम विद्या या ज्ञान है। यही बात आचार्य भद्रबाहु ने कही है—

अन्नं इमं शरीरं अन्नो जीवु त्ति एव कयबुद्धी।
दुक्खपरिकिलेसकरं छिंद ममत्तं सरीराओ।[2]

"यह शरीर अन्य है, आत्मा अन्य है"—साधक इस प्रकार की तत्व बुद्धि के द्वारा दुख एवं क्लेश देने वाली शरीर की ममता का त्याग करें।

आत्मवादी साधक यह सोचता है—"जो दुख हैं, कष्ट हैं, वे सब शरीर को है, आत्मा को नहीं। कष्ट से शरीर को ही पीड़ा हो सकती है, वध आदि से शरीर का ही नाश हो सकता है—आत्मा का नहीं—(**नत्थि जीवस्स नासुत्ति**[3]—आत्मा का ज्ञान दर्शनमय चिन्मयरूप है, उसको कभी कोई शक्ति नष्ट नहीं कर सकती, उसका कभी नाश नहीं हो सकता, वही मेरा स्वरूप है। शरीर तो भौतिक है, नाशमान है,)

पच्छा पुरा वा चइयव्वं फेणुबुव्वय सन्निभं—

पहले या पीछे—इस जल बुदबुदे के समान नाशमान शरीर को तो त्यागना ही है। फिर कष्ट आदि से भयभीत क्यों होना? जो कष्ट है, वह शरीर को है, आत्मा को नहीं—

वोसिरे सव्वसो कायं न मे देहे परीसहा[4]

जो परीषह है, कष्ट हैं वे मुझ में नहीं, देह में है, यह देह मेरा नहीं है, इस प्रकार विचार कर शरीर की ममता को, शरीर के प्रति राग भाव को छोड़ देना चाहिए।

---

१ अध्यात्म रामायण, अयोध्या काण्ड ४।३३
२ आवश्यक निर्युक्ति १५४७
३ उत्तराध्ययन २।२७
४ आचारांग १।८।८।२१

यह आत्मवादी दर्शन ही कायक्लेश तप का आध्यात्मिक आधार है। इस चिंतन से शरीर के प्रति अनासक्ति,अममत्व प्रकट हुआ। शरीर को क्षण-भंगुर माना और उस क्षणभंगुर तत्त्व से जितना आत्मोपकार हो सके उतना कर लेना चाहिए—इस भावना ने कायक्लेश, इन्द्रियदमन आदि तप को महत्व दिया। जिस साधक ने आत्मा और देह का पृथकत्व सही रूप में समझ लिया, उसके मन में देहासक्ति, देहाध्यास कम हो जाता है, फिर देह होते हुए भी वह विदेह अवस्था को प्राप्त हो जाता है, श्रीमद् राजचन्द्र के शब्दों में--

देह छता जेहनी दशा वरते देहातीत !

देह होते हुए भी देहातीत दशा प्राप्त करने की कला इसी आत्मवाद ने सिखाई है। स्कन्दकाचार्य की घटना हमारे सामने हैं, जिनके पांच सौ शिष्यों को पकड़-पकड़ कर घानी में पील दिया गया, तिल के पौधे की तरह ! किन्तु उन साधुओं ने मुँह से चूं तक नहीं किया। क्यों ? आखिर देह को पीड़ा तो हुई होगी ? एक सुई चुभने से ही शरीर में तिलमिलाहट लग जाती है वहां हट्टकट्टे शरीर को घानी में डालकर पील देना क्या पीड़ा नहीं होती ? आर्यखंदक की चमड़ी उतार दी गई, शरीर को छील दिया गया जैसे काचर या ककड़ी को छीलते हों ? फिर भी वे शांत रहे ? कहा है—

त्वचा सारी पारी भगनि-पति म्हांरी अदण हो,
रहा मेरु जैसे सधर सह लीना परीषहा।
पधारे मुक्ती को करम रज भारी फटक के
अहो स्कन्धाचार्या नमन 'मुनि मिश्री' करत हैं।

भगवान महावीर के कानों में कीलें ठोकदी गई, उनके पांवों के बीच में अग्नि जलाकर खीर पकाई गई, और महान मारणांतिक कष्ट दिये गये, किन्तु फिर भी वे शांत-प्रशांत आनन्दमयी मुद्रा में रहे ! कैसे ? किस शक्ति के बल पर ? इसका रहस्य यही आत्मविद्या है। देह और आत्मा का पृथक्त्व समझने की कला है।

तो जैन धर्म में जो कायक्लेश पर इतना बल दिया गया है, परीषह सहने का इतना उपदेश दिया गया है—उसका दार्शनिक आधार है—आत्मवाद ! आध्यात्मिक निष्ठा।

सुकुमारता का त्याग

कायक्लेश तप का व्यावहारिक जीवन में भी वहुत वड़ा महत्त्व है। मनुष्य को कोई भी महान कार्य सिद्ध करने के लिए कष्ट तो उठाना पड़ता ही है। शुभ कार्य में अनेक विघ्न वाधाएं आती हैं—**श्रेयांसि वहुविघ्नानि !** किन्तु उन विघ्नों की नदी पार करने के लिए साहस और सहिष्णुतारूप नाव की आवश्यकता होती है। आत्म वल और मनोवल की जरूरत होती है। सुकुमारता और कोमलता से साधना नहीं हो सकती है—एक आचार्य ने कहा है—

अश्मा भव ! परशुर्भव ![1]

जव कष्टों के तूफान मचलने लगे तो तुम अश्मा—अर्थात् पत्थर—चट्टान वनकर खड़े हो जाओ ! जव भय और आशंका की वेड़ी तुम्हारे पांवों को वांधने लगे तो कुल्हाड़ (परशु) वनकर काट डालो। तभी तुम अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकोगे। भगवान महावीर इतने वड़े राजकुमार थे, कितने कोमल और सुकुमार थे ? किन्तु जव साधना के पथ पर वढ़े तो सुकुमारता कहां गायव हो गई ? वे तो मेरु से भी अधिक कठोर होकर कष्टों को सहने लगे। शालिभद्र कितने सुकुमार थे ? राजा श्रेणिक की गोदी में वैठने पर तो शरीर की गर्मी से उन्हें पसीना आने लगा। किन्तु साधना के पथ पर वढे तो कितने कठोर तपस्वी वन गये ? इसका अर्थ है साधना में सुकुमारता, सुखशीलता नहीं चल सकती। सुकुमारता राजकुमारों का व अमीरों का गुण है, किन्तु साधक जीवन के लिए वह वहुत वड़ा दुगुर्ण है। इसलिए शास्त्रों में स्पष्ट कहा है—

आयावयाहि चय सोगमल्लं[2]

सुकुमारता का त्याग कर शरीर को आतापना से तपाओ !

सहिष्णुता आवश्यक

किसी विचारक से पूछा गया—साधक कैसा होना चाहिए ?

उत्तर दिया— तन से दैत्य, मन से देवता !

---

१ आश्वलायन गृह्य सूत्र १।१५।३

२ दशवैकालिक २।५

तन से दैत्य का अर्थ—विकराल शरीर से नहीं, किन्तु सहिष्णु और कठोर शरीर से है। शरीर से इतना सहिष्णु हो, कि धूप, वर्षा, सर्दी आदि के भयानक कष्टों से भी विचलित न हो, और मन इतना सुन्दर, सुकुमार हो कि देवता तुल्य रहे। इसी भाव को संस्कृत की प्रसिद्ध सूक्ति में यों कहा गया है—

वज्रादपि कठोराणि मृदुनि कुसुमादपि

वज्र से भी कठोर और फूल से भी कोमल—अर्थात् कष्ट सहने में वज्र जैसे और दया करुणा में फूल जैसे।

तो साधक को कष्टसहिष्णु होना चाहिए। और यह सहिष्णुता का अभ्यास कायक्लेश से बढ़ता है। काय क्लेश से तितिक्षा का भाव प्रखर वनता है। शास्त्र में कहा है—**तितिक्खंपरमं णच्चा**[१]—

तितिक्षा साधक का परम धर्म है। साधक होकर तितिक्षु नहीं है, सहिष्णु नहीं है, कष्टों में धैर्य नहीं रख सकता तो वह साधना नहीं कर सकता। (तप का मूल ही धृति है—**तवस्स मूलं धिति**[२] धैर्य, साहस और सहिष्णुता यही तप की जड़ है।) इसलिए शास्त्रों में स्थान-स्थान पर सहिष्णुता का उपदेश दिया गया है—

सहिओ दुक्खमत्ताए पुट्ठो नो झंझाए[3]

दुःख आने पर, दुःखों से घिर जाने पर भी साधक विचलित न हो।

दुक्खेण पुट्ठे धुवमायएज्जा[४]

शरीर को दुःखों का स्पर्श होने पर ध्रुवता—ध्रुव के जैसी स्थिरता धारण करें।

ये सब उपदेश, शिक्षाएं और शास्त्र वचन यही वात सिद्ध करते हैं कि साधक को कष्टों के लिए स्वयं को साधना पड़ता है,सोने की भांति कष्टों की

---

१ सूत्र कृतांग १।८।२६
२ निशीथ चूर्णि ८४
३ आचारांग १।३।३
४ सूत्रकृतांग १।७।२६

अग्नि में स्वयं को तपाना पड़ता है। तभी उसका साधुत्व स्वर्ण की भांति चमकता है। आप जानते हैं—सोना तपे बिना निखर नहीं सकता, दीपक जले बिना प्रकाश नहीं फैला सकता, चन्दन घिसे बिना सुगंधि नहीं फैला सकता। कहते हैं चन्दन के वृक्ष के पास जाकर खड़े हो जाओ तो भी उसकी सुगंधि का पता नहीं चलेगा, सुगंधि तो तब महकेगी जब वह घिसा जायेगा! मेंहदी का रंग कब खिलेगा, जब वह बारीक पीसी जायेगी। कहा है—

रंग लाती है हिना पत्थर पे घिस जाने के बाद
आदमी पाता है शोहरत ठोकरें खाने के बाद!

पत्थर भगवान की मूर्ति कब बनेगा? जब हथोड़े और छैनी की चोटें खायेगा। विष पान करने के कारण ही शिव जी 'महादेव' कहलाये। ये व्यावहारिक बातें बताती है कि साधक कष्ट सहे बिना सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता? एक राजस्थानी कहावत है—

बातां साटे हर मिले तो म्हांने ही कहज्यो।
माथां साटे हर मिले तो छाना-माना रहज्यो!

यदि बातें बनाने से ही भगवान मिल जाये तो हमें भी बुला लेना, किन्तु यदि माथा देना—सिर चढ़ाना पड़े तो बस चुप चाप रहना। किन्तु यह निश्चित है कि भगवान बातां किये से नहीं, माथा दिये से ही मिलते हैं। इसीलिए जैन धर्म में कायक्लेश तप पर इतना बल दिया गया है कि—इस तप की साधना से साधक में सहिष्णुता की ज्योति जलती है। देह के प्रति ममत्वभाव व आसक्ति कम होती है। और वीरता, धीरता, साहस और सहिष्णुता की शक्ति प्रचंड हो उठती है।

कायक्लेश के भेद

हां तो जो कायक्लेश तप—हमारे जीवन को सोने की भांति निखारता है, उसकी साधना के अनेक रूप, अनेक प्रकार शास्त्रों में बताये हैं।

स्थानांग सूत्र में सात प्रकार का कायक्लेश तप बताया है—

सत्तविहे कायकिलेसे पण्णत्ते तं जहा—

ठाणाइए, उक्कुडुयासणिए, पडिमट्ठाइ, वीरासणिए
णेसणिज्जे, दंडाइए लगंडसाई ।[1]

कायक्लेश सात प्रकार का बताया है—कायोत्सर्ग करना, उत्कटुक आसन से ध्यान करना, प्रतिमा धारण करना, वीरासन करना, निषद्या—स्वाध्याय आदि के लिए पालथी मार कर बैठना, दंडायत—होकर खड़े रहना लगड—लकड़ी की भांति खड़े रहकर ध्यान करना ।

उववाई सूत्र[2] में इन्हीं भेदों को विस्तार के साथ बताकर चौदह भेद कर दिये गये हैं—जो इस प्रकार है—

१ ठाणट्ठिइए—कायोत्सर्ग करे ।
२ ठाणाइए—एक स्थान पर स्थित रहे ।
३ उक्कुडु आसणिए—उत्कुटुक आसन से रहे ।
४ पडिमट्ठाई—प्रतिमा धारण करें ।
५ वीरासणिए—वीरासन करें ।
६ नेसिज्जे—पालथी लगाकर स्थिर बैठे ।
७ दंडायए—दंडे की भांति सीधा सोया या बैठा रहे ।
८ लगंडसाई—(लगण्डशायी) लक्कड (वक्रकाष्ठ) की तरह सोता रहे ।
९ आयावए—आतापना लेवे
१० अवाउडए—वस्त्र आदि का त्याग करे ।
११ अकंडुयाए—शरीर पर खुजली न करे ।
१२ अणिट्ठुहए—थूक भी नहीं थूके
१३ सव्वगायपरिकम्मे—सर्व शरीर की देखभाल (परिकर्म) से रहित रहे,
१४ विभूसाविप्पमुक्के—विभूषा से रहित रहे ।

कायक्लेश तप में सर्वप्रथम कायोत्सर्ग की साधना पर बल दिया है इसे व्युत्सर्ग (बारहवें तप) में भी गिना गया है, वहां शरीर, कषाय आदि के व्युत्सर्ग

---

१ स्थानांग ७। सूत्र ५५४
२ उववाई समवसरण अधिकार तप वर्णन

पर बल दिया गया है। कायोत्सर्ग का विस्तृत वर्णन भी वहीं पर किया जायेगा। सामान्यत: कायोत्सर्ग का अर्थ है—काय—शरीर, उत्सर्ग—त्याग, शरीर का त्याग। शरीर त्याग का अर्थ—शरीर से मुक्त होना नहीं; किन्तु शरीर की ममता से मुक्त होना है। शरीर की ममता ही सबसे बड़ा बन्धन है। कायोत्सर्ग में साधक—रागद्वेष से रहित होकर अन्तर्मुख हो जाता है। आत्मचिंतन में गहरा डूब जाता है। तब उसे शरीर की सुधि भी नहीं रहती। शरीर को मच्छर काटते है, या कोई चन्दन आदि का शीतल लेप कर देता है—किसी भी स्थिति में वह शरीर की चिंता से चलित नहीं होता। कायोत्सर्ग प्राय: जिनमुद्रा (—दोनों पैरों के बीच चार अंगुल का अंतर रखकर सीधे सम अवस्था में खड़े रहना—जिन मुद्रा है) में ही किया जाता है। इसका उद्देश्य है—शरीर की ममता, एवं चंचलता को कम कर के स्थिरता पूर्वक आत्मलीन होना। योगदर्शन के अनुसार इसमें आसन और ध्यान दोनों साधनाएं एक साथ चलती हैं।

ठाणाइए—का अर्थ है स्थानायत। जिस स्थान पर बैठा है तो बैठा ही रहे, खड़ा है तो खड़ा रहे—अर्थात् जिस अवस्था में साधक है उसी अवस्था में स्थिर रहकर योगों की चंचलता कम करें। इसका एक अर्थ है—स्थाणु-आयत (स्थाण्वायत) लकड़ (ठूंठ) की तरह स्थिर पड़ा रहे। दोनों में मूल भाव चंचलता को रोकना ही है।

आसन की साधना

उत्कुटुक आसन—यह आसन का एक भेद है। आसनों की साधना भी कायक्लेश तप में मानी गई है, क्योंकि यह सब क्रियाएँ शरीर को कष्ट सहिष्णु बनाती है. उसकी स्थिरता एवं दृढ़ता को बढ़ाती है। हठयोग की सात भूमिकाओं में शरीर को स्थिरता एवं दृढ़ता प्रदान करने के लिए आसन एवं मुद्राओं का अभ्यास बताया गया है। विविध आसन आदि के द्वारा शरीर को दृढ़ बनाना और फिर खेचरी आदि मुद्राओं के द्वारा उसकी चंचलता को कम कर स्थिरता का अभ्यास करना यह हठयोग की दो मुख्य भूमिकाएँ हैं। वैदिक ग्रंथों में हठयोग पर बहुत अधिक बल दिया गया है। वहां पहले

नेती-धौति आदि षट्कर्मों के द्वारा शरीर का शोधन किया जाता है, फिर **आसन** साधना से शरीर को सुदृढ़ बनाना, **मुद्राओं** द्वारा स्थिरता का अभ्यास करना, प्रत्याहार द्वारा इन्द्रिय निग्रह करना **प्राणायाम** द्वारा श्वास प्रक्रिया पर अधिकार कर शरीर को हलका बनाना, इसके पश्चात् **ध्यान** और **समाधि** का अभ्यास किया जाता है। जैन योग साधना में इतना लम्बा क्रम नहीं है। वहां पर आसन भी बहुत कम बताये हैं और जो हैं वह सिर्फ साधना के उपयोग में आने वाले।

आसनों के भेद

योग दर्शनकार आचार्य पंतजलि ने आसन की व्याख्या करते हुए कहा है—**स्थिरसुखमासनम्** जिसमें सुखपूर्वक शरीर की स्थिरता रह सके वह आसन है। यह योग का तीसरा अंग है, तथा हठयोग का दूसरा। वैदिक ग्रन्थों में बताया है विश्व में जितनी जीवयोनियां हैं उतने ही प्रकार के आसन हैं।[1] इस दृष्टि से आसनों की संख्या भी ८४ लाख हो जाती है। संक्षेप में वे ८४ हैं। उनमें भी ३२ आसन पुरुष के लिए उपयोगी बताये हैं। ३२ में भी साधना की दृष्टि से दो आसन विशेष उपयोगी है—पद्मासन और सिद्धासन।"[2]

जैन आचार्यों ने यद्यपि आसन को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया है फिर भी ध्यान में स्थिरता एवं एकाग्रता लाने के लिए उसकी उपयोगिता को स्वीकार किया है। वहां आसन के दो भेद किये हैं[3]—

१ **शरीरासन**

२ **ध्यानासन**

शरीरासन वे हैं—जो शरीर को सुदृढ़ व स्थिर बनाने में अधिक लाभप्रद हैं। ऐसे आसनों की साधना में कोई महत्व नहीं है। दूसरे प्रकार के आसन हैं—ध्यानासन ! जिन आसनों में ध्यान किया जा सके। ये आसन

---

१ आसनानि च तावन्ति यावन्ति जीव जातयः—ध्यानबिन्दूपनिषद् ४१

२ ध्यान और मनोबल पृ० ४३८ (डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री)

३ जैन परम्परा में योग (मुनि नथमल जी)

ध्यान साधना में उपयोगी होते हैं। शरीर को स्थिर व निश्चेष्ट बनाकर ध्यान में एकाग्रता प्राप्त करने के लिए जैन साधना में इन आसनों का महत्व है। इन आसनों को भी दो भेदों में बांटा गया है—सुखासन और कठोर आसन![1] पद्मासन आदि सुखासन है, वीरासन आदि कठोर आसन हैं।

आगमों में जिन आसनों की अधिक चर्चा आती हैं वे आसन इस प्रकार हैं—

१ **स्थानस्थिति**—(कायोत्सर्ग) दोनों भुजाओं को फैला कर पैर की दोनों एड़ियों को परस्पर मिलाना या उनमें चार अंगुल का अंतर रखकर खड़ा रहना।

आचार्य हेमचन्द्र ने इसे कायोत्सर्गासन कहा है, इसका स्वरूप इस प्रकार बताया है—

प्रलम्बित भुजद्वन्द्वमूर्ध्वस्थस्यासितस्य वा।
स्थानं कायानपेक्षं यत्कायोत्सर्गः स कीर्तितः॥[2]

शरीर के ममत्व का त्याग करके दोनों भुजाओं को नीचे लटका कर शरीर और मन को स्थिर करना 'कायोत्सर्गासन' है। यह आसन खड़े होकर बैठकर या कमजोरी की हालत में लेट कर भी किया जा सकता है। इस आसन की मुख्य विशेषता यही है कि मन-वचन एवं काय के योग अधिकाधिक स्थिर हो जाते हैं।

२ **स्थान**—(ठाण) स्थिर होकर शांत बैठना। इसमें सिद्धासन भी लगाया जा सकता है।

३ **उत्कटिकासन**—दोनों पैर और नितम्ब भूमि से लगे रहे वैसे बैठना। उकड़ूं बैठना—उत्कटिकासन है। घेरण्ड संहिता में इसकी व्याख्या की है—अंगूठों को भूमि पर टिका एड़ियों को ऊपर की ओर उठा, उन पर गुदा रखकर बैठना।

---

१ स्थानांग सूत्र स्थान उ० ३ सूत्र २
२ योगशास्त्र ४।१३३

आचार्य हेमचन्द्र ने इसका वर्णन यों किया है —

पुतपार्ष्णि-समायोगे प्राहुरुत्कटिकासनम् ।[1]

जमीन से लगी हुई एड़ियों के साथ जब दोनों नितम्ब मिलते हैं तब उत्कटिकासन होता है।

४ **पद्मासन**—बायीं जांघ पर दायां पैर और दायीं जांघ पर बायां पैर रखकर हथेलियों को एक दूसरे पर रखकर नाभि के नीचे रखना।

५ **वीरासन**—वीरासन के कई प्रकार मिलते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने दो प्रकार बताये हैं—

बायां पैर दाहिनी जांघ पर और दाहिना पैर बांयी जांघपर रखकर बैठना वीरासन है। अथवा कोई पुरुष जमीन पर पैर रखकर सिंहासन पर बैठा हो, और पीछे से उसका आसन हटा लिया जाय—तब उस बैठक की जो आकृति बनती है वह—'वीरासन' है।[2]

६ **दंडासन**—दंड की आकृति से जमीन पर इस प्रकार लेटना कि अंगुलियां, गुल्फ (घुटने) और जांघें जमीन के साथ लगी रहें।

७ **गोदोहिकासन**—गाय को दुहने जैसी स्थिति में बैठाना। इस आसन से ध्यान करते हुए भगवान महावीर को केवलज्ञान प्राप्त हुआ था।

८ **पर्यंकासन**· पलंग का आकार बनाकर बैठना।

इनके अतिरिक्त वज्रासन, (लगंडशायी—केवल सिर और एडियों का पृथ्वी पर स्पर्श हो—इस प्रकार पीठ के बल लेटना) भद्रासन आदि का भी उल्लेख कहीं-कहीं मिलता है। इनमें वीरासन आदि कठोर आसनों से मन में धैर्य आदि की जागृति होती है, तथा पद्मासन आदि सुखासन से चित्त की स्थिरता!

जैन योग साधना में किसी भी एक आसन पर अधिक भार नहीं दिया गया है। क्योंकि आसन तो मात्र शरीर को स्थिर करने का एक अभ्यास है, वह ध्येय तो नहीं है। इसलिए मुख्य बात यह है कि जिस आसन में मन

---

१ योगशास्त्र ४।१३४

२ योगशास्त्र ४।१२६—१२८

ध्यान साधना में उपयोगी होते हैं। शरीर को स्थिर व निश्चेष्ट बनाकर ध्यान में एकाग्रता प्राप्त करने के लिए जैन साधना में इन आसनों का महत्व है। इन आसनों को भी दो भेदों में बांटा गया है—सुखासन और कठोर आसन![1] पद्मासन आदि सुखासन है, वीरासन आदि कठोर आसन हैं।

आगमों में जिन आसनों की अधिक चर्चा आती हैं वे आसन इस प्रकार हैं—

१ **स्थानस्थिति**—(कायोत्सर्ग) दोनों भुजाओं को फैला कर पैर की दोनों एड़ियों को परस्पर मिलाना या उनमें चार अंगुल का अंतर रखकर खड़ा रहना।

आचार्य हेमचन्द्र ने इसे कायोत्सर्गासन कहा है, इसका स्वरूप इस प्रकार बताया है—

प्रलम्बित भुजद्वन्द्वमूर्ध्वस्थस्यासितस्य वा।
स्थानं कायानपेक्षं यत्कायोत्सर्गः स कीर्तितः॥[2]

शरीर के ममत्व का त्याग करके दोनों भुजाओं को नीचे लटका कर शरीर और मन को स्थिर करना 'कायोत्सर्गासन' है। यह आसन खड़े होकर बैठकर या कमजोरी की हालत में लेट कर भी किया जा सकता है। इस आसन की मुख्य विशेषता यही है कि मन-वचन एवं काय के योग अधिकाधिक स्थिर हो जाते हैं।

२ **स्थान** (ठाण) स्थिर होकर शांत बैठना। इसमें सिद्धासन भी लगाया जा सकता है।

३ **उत्कटिकासन**—दोनों पैर और नितम्ब भूमि से लगे रहे वैसे बैठना। उकड़ू बैठना—उत्कटिकासन है। घेरण्ड संहिता में इसकी व्याख्या की है—अंगूठों को भूमि पर टिका एड़ियों को ऊपर की ओर उठा, उन पर गुदा रखकर बैठना।

---

१ स्थानांग सूत्र स्थान उ० ३ सूत्र २

२ योगशास्त्र ४।१३३

आचार्य हेमचन्द्र ने इसका वर्णन यों किया है —

पुतपार्ष्णि-समायोगे प्राहुरुत्कटिकासनम् ।[1]

जमीन से लगी हुई एड़ियों के साथ जब दोनों नितम्ब मिलते हैं तब उत्कटिकासन होता है।

४ **पद्मासन**—बायीं जांघ पर दायां पैर और दायीं जांघ पर बायां पैर रखकर हथेलियों को एक दूसरे पर रखकर नाभि के नीचे रखना।

५ **वीरासन**—वीरासन के कई प्रकार मिलते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने दो प्रकार बताये हैं—

बायां पैर दाहिनी जांघ पर और दाहिना पैर बांयी जांघपर रखकर बैठना वीरासन है। अथवा कोई पुरुष जमीन पर पैर रखकर सिंहासन पर बैठा हो, और पीछे से उसका आसन हटा लिया जाय—तब उस बैठक की जो आकृति बनती है वह—'वीरासन' है।[2]

६ **दंडासन**—दंड की आकृति से जमीन पर इस प्रकार लेटना कि अंगुलियां, गुल्फ (घुटने) और जांघें जमीन के साथ लगी रहें।

७ **गोदोहिकासन**—गाय को दुहने जैसी स्थिति में बैठाना। इस आसन से ध्यान करते हुए भगवान महावीर को केवलज्ञान प्राप्त हुआ था।

८ **पर्यंकासन**· पलंग का आकार बनाकर बैठना।

इनके अतिरिक्त वज्रासन, (लगंडशायी—केवल सिर और एडियों का पृथ्वी पर स्पर्श हो—इस प्रकार पीठ के बल लेटना) भद्रासन आदि का भी उल्लेख कहीं-कहीं मिलता है। इनमें वीरासन आदि कठोर आसनों से मन में धैर्य आदि की जागृति होती है, तथा पद्मासन आदि सुखासन से चित्त की स्थिरता!

जैन योग साधना में किसी भी एक आसन पर अधिक भार नहीं दिया गया है। क्योंकि आसन तो मात्र शरीर को स्थिर करने का एक अभ्यास है, वह ध्येय तो नहीं है। इसलिए मुख्य बात यह है कि जिस आसन में मन

---

१ योगशास्त्र ४।१३४

२ योगशास्त्र ४।१२६—१२८

ध्यान साधना में उपयोगी होते हैं। शरीर को स्थिर व निश्चेष्ट बनाकर ध्यान में एकाग्रता प्राप्त करने के लिए जैन साधना में इन आसनों का महत्व है। इन आसनों को भी दो भेदों में बांटा गया है—सुखासन और कठोर आसन ![1] पद्मासन आदि सुखासन है, वीरासन आदि कठोर आसन हैं।

आगमों में जिन आसनों की अधिक चर्चा आती हैं वे आसन इस प्रकार हैं—

१ **स्थानस्थिति**—(कायोत्सर्ग) दोनों भुजाओं को फैला कर पैर की दोनों एड़ियों को परस्पर मिलाना या उनमें चार अंगुल का अंतर रखकर खड़ा रहना।

आचार्य हेमचन्द्र ने इसे कायोत्सर्गासन कहा है, इसका स्वरूप इस प्रकार बताया है—

> **प्रलम्बित भुजद्वन्द्वमूर्ध्वस्थस्यासितस्य वा।**
> **स्थानं कायानपेक्षं यत्कायोत्सर्गः स कीर्तितः ॥**[2]

शरीर के ममत्व का त्याग करके दोनों भुजाओं को नीचे लटका कर शरीर और मन को स्थिर करना 'कायोत्सर्गासन' है। यह आसन खड़े होकर बैठकर या कमजोरी की हालत में लेट कर भी किया जा सकता है। इस आसन की मुख्य विशेपता यही है कि मन-वचन एवं काय के योग अधिकाधिक स्थिर हो जाते हैं।

२ **स्थान** - (ठाण) स्थिर होकर शांत बैठना। इसमें सिद्धासन भी लगाया जा सकता है।

३ **उत्कटिकासन**—दोनों पैर और नितम्ब भूमि से लगे रहे वैसे बैठना। उकड़ूं बैठना—उत्कटिकासन है। घेरण्ड संहिता में इसकी व्याख्या की है—अंगूठों को भूमि पर टिका एड़ियों को ऊपर की ओर उठा, उन पर गुदा रखकर बैठना।

---

१ स्थानांग सूत्र स्थान उ० ३ सूत्र २

२ योगशास्त्र ४।१३३

आचार्य हेमचन्द्र ने इसका वर्णन यों किया है —

पुतपार्ष्णि-समायोगे प्राहुरुत्कटिकासनम् ।[1]

जमीन से लगी हुई एड़ियों के साथ जब दोनों नितम्ब मिलते हैं तब उत्कटिकासन होता है।

४ **पद्मासन**—बायीं जांघ पर दायां पैर और दायीं जांघ पर बायां पैर रखकर हथेलियों को एक दूसरे पर रखकर नाभि के नीचे रखना।

५ **वीरासन**—वीरासन के कई प्रकार मिलते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने दो प्रकार बताये हैं—

बायां पैर दाहिनी जांघ पर और दाहिना पैर बांयी जांघपर रखकर बैठना वीरासन है। अथवा कोई पुरुष जमीन पर पैर रखकर सिंहासन पर बैठा हो, और पीछे से उसका आसन हटा लिया जाय—तब उस बैठक की जो आकृति बनती है वह—'वीरासन' है।[2]

६ **दंडासन**—दंड की आकृति से जमीन पर इस प्रकार लेटना कि अंगुलियां, गुल्फ (घुटने) और जांघें जमीन के साथ लगी रहें।

७ **गोदोहिकासन**—गाय को दुहने जैसी स्थिति में बैठाना। इस आसन से ध्यान करते हुए भगवान महावीर को केवलज्ञान प्राप्त हुआ था।

८ **पर्यंकासन**·पलंग का आकार बनाकर बैठना।

इनके अतिरिक्त वज्रासन, (लगंडशायी—केवल सिर और एड़ियां का पृथ्वी पर स्पर्श हो—इस प्रकार पीठ के बल लेटना) भद्रासन आदि का भी उल्लेख कहीं-कहीं मिलता है। इनमें वीरासन आदि कठोर आसनों से मन में धैर्य आदि की जागृति होती है, तथा पद्मासन आदि सुखासन से चित्त की स्थिरता!

जैन योग साधना में किसी भी एक आसन पर अधिक भार नहीं दिया गया है। क्योंकि आसन तो मात्र शरीर को स्थिर करने का एक अभ्यास है, वह योग तो नहीं है। इसलिए मुख्य बात यह है कि जिस आसन से मन

---

१ योगशास्त्र ४।१३४

२ योगशास्त्र ४।१२६—१२८

अधिक स्थिर हो सकता हो, साधक उसी आसन का अधिक उपयोग करें। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

जायते येन-येनेह विहितेन स्थिरं मनः।
तत्तदेव विधातव्यं आसनं ध्यान-साधनम्।[1]

ध्यान साधना के लिए किसी भी विशेष आसन का आग्रह नहीं है। जिस आसन के प्रयोग से मन स्थिर होता हो, उसी आसन का ध्यान के लिए प्रयोग किया जा सकता है।

तो यह सब आसन कायक्लेश तप हैं, क्योंकि इन आसनों की साधना से शरीर को कष्ट होता है और साथ ही उसकी चंचलता का निरोध भी!

प्रतिमा धारण करना यद्यपि अनशन तप में बताया गया है, किन्तु काय-कष्ट की दृष्टि से इस तप में भी उसे माना जा सकता है। चूँकि प्रतिमा में उपवास आदि के साथ उत्कटिकासन, लगण्डशायी, दंडायत आदि का विधान है अतः कायक्लेश तप में भी उसका समावेश हो सकता है।

कायक्लेश में आतापना और वस्त्र त्याग का भी महत्व बताया गया है। सूर्य की प्रचंड किरणों के सामने शरीर को तपाना—ताप लेना—आतापना है। और शीतऋतु में कड़कड़ाती सर्दी में वस्त्रों का त्याग करना—अपावृता—(उवाउडए) है। सूत्र में कहा है—

आयावयंति गिम्हेसु हेमंतेसु अवाउडा।
वासासु पडिसंलीणा संजया सु समाहिआ॥

ग्रीष्मऋतु में सूर्य के सामने आतापना लेना, शीतऋतु में वस्त्र त्याग कर खुले शरीर से रहना और वर्षा में एक स्थान पर स्थिर रहना—दंश मशक आदि के परीषहों को सहन करना—यह संयत सुमाहित साधु का आचार है।

यदि कायक्लेश की विशेष साधना करना चाहे तो साधक मन को इतना मजबूत करलें कि खाज आये तब भी खाज नहीं करें। इसी प्रकार थूके भी नहीं।

परिकर्म और विभूषा

कायक्लेश का तेरहवां भेद है—गात्र परिकर्म का त्याग—परिकर्म का अर्थ है—शरीर की साज सज्जा आदि। परिकर्म और विभूषा में वैसे तो कोई विशेष अन्तर नहीं है, किन्तु फिर भी दो शब्द हैं, और दोनो की भावना में अन्तर भी है। परिकर्म से शरीर की साज सज्जा के ये रूप लिये जाते हैं—जैसे शरीर को पुष्ट बनाने के लिए विरेचन आदि लेना, वमन करना, नख केश आदि काटना, आँखों का मैल निकालना, दतौन करना आदि। और विभूषा से स्नान करना, कपड़ों को ज्यादा उजला धोना, रंगना, आँखों में अंजन (काजल) लगाना आदि। ब्रह्मचारी साधक के लिए ये सभी कर्म अहितकारी हैं। जैसा कि पीछे भी बताया गया है—

(विभूषा, स्त्री संसर्ग, और प्रणीतरस भोजन—ये तीनों आत्म-गवेषक के लिए तालपुट जहर के समान है। विभूषा करने वाला साधक संयम से भ्रष्ट होकर बड़े चिकने कर्म बांधता है—)

विभूसा वत्तियं भिक्खु कम्मं बंधइ चिक्कणं[1]

संयम से भ्रष्ट होने के अठारह कारणों में स्नान एवं विभूषा को भी दो मुख्य कारण माने हैं, अतः परिकर्म और विभूषा—सामान्य साधु जीवन के लिए भी वर्जनीय है। क्योंकि बताया गया है, साधु शरीर को नहीं, आत्मा को संवारता है, आत्मा का सौन्दर्य निखारने में ही वह जीवन भर जुटा रहता है। वही उसका अपना है। शरीर तो जड़ है, यदि शरीर की सुन्दरता पर ध्यान देना होता तो फिर संसार क्यों छोड़ता। शरीर की शोभा विभूषा करने का अर्थ है- भोगविलास की कामना करना। यह तो साधु के पतन का मार्ग है।

---

१ दशवैकालिक ६।६६
२ दशवैकालिक ६।८

परिकर्म व विभूषा वर्जन का यह अर्थ नहीं है कि साधु शरीर की शुद्धि भी न रखें। शरीर व वस्त्रों को साफ स्वच्छ तथा शुद्ध रखना एक अलग बात है और उनकी विभूषा करना अलग बात है। शुद्धि व स्वच्छता के लिए तो यहां तक बताया है कि साधु मल, मूत्र, खेल, खंखार व पसीने के गीले हाथ भी खाने पीने की वस्तु को न लगाए। यह तो एक प्रकार की स्वच्छता है। स्वच्छता, सफाई रखने वाला अपने आप बहुत से रोगों से बच जाता है। लोगों में घृणा जुगुप्सा पैदा हो ऐसा वस्त्र, पात्र, शरीर आदि रखना साधु के लिए निषेध हैं। किन्तु साधु का शरीर व वस्त्र पात्र के प्रति इतना ही लक्ष्य रहता है कि वे स्वच्छ रहे, गंदे न रहे, न कि सुन्दर दीखे, लोगों को आकर्षक लगे। शरीर को सुन्दर व आकर्षक बनाने की इच्छा ही वास्तव में विभूषा है, गात्र परिकर्म है—और इन दोनों दोषों से बचना कायक्लेश तप है।

उपसंहार

यह तप साधु को लक्ष्य करके भले ही बताये गये हैं, किन्तु गृहस्थ भी इनकी साधना कर सकता है। आसन आदि के द्वारा ध्यान करना, ग्यारह उपासक प्रतिमा धारण करना, शरीर की, शिष्यों की ममता कम करना, स्नान, विलेपन अंगराग आदि की मर्यादा करना जैसा कि श्रावक के चौदह नियमों में भी बताया गया है, यह सब साधना करने पर गृहस्थ भी कायक्लेश तप की आराधना कर सकता है। वास्तव में कायक्लेश तप का उद्देश्य एक ही है—शरीर के प्रति ममत्व कम करना, शरीर का मोह छोड़ना—इस उद्देश्य की पूर्ति में जो भी साधन काम में आये वे सभी तप हो सकते हैं।

●●

प्रतिसंलीनता तप

जैन आचार्यों ने आत्मा के तीन प्रकार बताये हैं—

तिपयारो सो अप्पा परमंतर बाहिरो दु हेऊणं ।[1]

परमात्मा, अन्तरात्मा और बहिरात्मा ।

इन्द्रिय एवं विषयों में आसक्त आत्मा—**बहिरात्मा** है। उसका केन्द्र बाह्य पदार्थ होते हैं।

अन्तरंग में आत्म संकल्प—अर्थात् अपने भीतर में ही लीन, अन्तर में स्थित होना **अन्तरात्मा** है। अन्तरात्मा का केन्द्र—ज्ञान दर्शन रूप आत्म शक्ति है।

कर्म मल से सर्वथा मुक्त आत्मा—**परमात्मा** है।

बहिरात्मा—संसारमुखी रहता है। भोग विलास, आदि विषय तथा क्रोध, मान आदि कषायों में सदा लीन रहने वाला आत्मा असंयमी तथा संसारासक्त कहलाता है। संसारासक्त आत्मा सदा पतन एवं विनाश की ओर ही बढ़ता रहता है। उस संसारोन्मुखी आत्मा को बाहर से मोड़कर अन्तर

---

१ आचार्य कुन्दकुन्द—मोक्ष प्राभृत ६५

की ओर उन्मुख करना विषय कषाय की वृत्तियों से हटाकर तप संयम की ओर बढ़ाना आत्मा को अन्तर्मुखी बनाना है। आत्मा की अन्तर्मुखता का यह प्रयत्न ही तप की भाषा में 'प्रतिसंलीनता' कहा जाता है।

स्व-लीनता, संलीनता

प्रतिसंलीनता—बाह्य तप का अन्तिम तथा छठा भेद है। इसका अर्थ है—आत्मा के प्रति लीनता। पर-भाव में लीन आत्मा को स्वभाव में लीन बनाने की प्रक्रिया ही—वास्तव में प्रति संलीनता है। इसलिए संलीनता को स्व-लीनता—अपने आप में लीनता भी कह सकते हैं।

योगीराज आनन्दघन जी एकबार किसी सुरम्य पर्वत कन्दरा में ध्यान कर रहे थे। कुछ भक्त जन उनके दर्शन करने के लिए उस जंगल में पहुंचे। जंगल का वातावरण बड़ा ही मनोहर लग रहा था, सुन्दर रम्य वृक्षावलियां चारों तर्फ हरियाली, विविध पक्षियों का मधुर कूजन और एक तर्फ शांत हरी भरी पर्वतमाला! उससे कल-कल कर झरते—निर्झर! दूसरी ओर लहरों से अठखेलियां करती हुई नदी! इस मन मोहक वातावरण को देखकर भक्तजन मंत्र मुग्ध से होगए, कुछ देर वे वही शांत वातावरण का आनन्द लेते रहे। फिर पर्वत की गुफा में पहुंचे, जहां योगीराज ध्यान मग्न थे। योगीराज का ध्यान पूरा हुआ। भक्तों ने प्रार्थना की—महाराज! भीतर अंधकार में कहां बैठे हैं? बाहर चलिए और देखिए कितना सुहावना वातावरण है?

योगीराज स्मित-हास्य के साथ कुछ गम्भीर होकर बोले—भाई! बाहर ही देखना था तो यहां क्यों आये?

भक्तजन योगीराज की गम्भीर मुखमुद्रा को एक टक देखने लगे, कुछ समझे नहीं, योगीराज क्या कह रहे हैं। योगीराज ने आगे कहा—बाहर देखते-देखते तो अनन्त जीवन बीत गये! कुछ कल्याण नहीं हुआ। अब तो बाहर से दृष्टि हटाकर भीतर की ओर देखो, भीतर में बाहर से भी अधिक सौन्दर्य, अधिक शांति और अधिक मन मोहकता भरी पड़ी है! जरा मुड़कर भीतर देखो तो सही!"

(तो, बाहर से भीतर की ओर मुड़ना ही अन्तर्लीनता है, स्वलीनता है, और संलीनता है।)

जो स्वलीन होगा, वह बाहर से अपने आप को हटा लेगा, भोजन के प्रति, वस्त्र के प्रति, गृह एवं परिवार के प्रति, धन संपत्ति के प्रति उसकी आसक्ति कम हो जायेगी। भोग्य विषयों से वह मन को हटा लेगा, अपने आप में सिमट जायेगा, बाहर से संकुचित हो जायेगा। शास्त्र में बताया है—कुछ द्वीपों में एक पक्षी होता है। उसकी काया बड़ी विशाल व पंख बड़े लम्बे-चौड़े होते हैं। जब कहीं बैठता है तो पंखों को इतना फैला देता है कि लगता है, कोई विशाल वृक्ष टूट कर गिरा है। यदि किसी घर की छत पर बैठ जाये तो पूरे घर पर ही चंदरोवा जैसा तन जाता है। इतने विशाल उसके पंख होते हैं। किंतु जब वह उड़ता है, तो तुरन्त अपने पैरों को ऐसे सिमट लेता है जैसे कपड़ा सिमट लिया हो। जब कहीं कोई उस पर आक्रमण करने आता है,तो वह तेज आंखों से उसे दूर ही से देख लेता है और क्षणों में ही अपने विशाल परों को सिमट कर उड़ जाता है या फिर उस पर टूट पड़ता है। विस्तार और संकोच की इस अद्‌भुत क्षमता वाले पक्षी का नाम है—भारंडपक्षी! अपने आपको संकोच व संयम करने की कला में निपुण होने के कारण शास्त्र में भारंड पक्षी का कई स्थानों पर उल्लेख आता है, और उसकी कला को आध्यात्मिक जीवन के लिए आदर्श बताते हुए कहा है—**भारंडपक्खी व चरेऽप्पमत्तो**[1]—भारंड पक्षी की तरह साधक सदा अप्रमत्त-सावधान रहे, अपना संकोच करने में दक्ष रहे। इन्द्रियों को बाहर से सिमटाकर गुप्त रखे।

इन्द्रियों को, कषायों को, मन वचन आदि योगों को, बाहर से हटाकर भीतर में गुप्त करना—छुपाना इसी का नाम संलीनता है। शास्त्र में इसे 'संयम' भी कहा गया है। गुप्ति भी कहा गया है।

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र
(ख) भारंड पक्खी व अप्पमत्ता —औपपातिक सूत्र

सं-यम—शब्द का भी अर्थ है—सम्यक् प्रकार से नियंत्रण अर्थात् आत्म-निग्रह ! और गुप्ति का भी अर्थ है—इन्द्रिय आदि का गोपन करना—छुपाना, उन्हें अपने वश में रखना। आगमों में जहां साधु का वर्णन आता है, वहां उसके लिए एक शब्द खासतौर से आता है—गुत्तिदिये (गुप्तेन्द्रिय) अर्थात् इन्द्रियों पर संयम रखने वाला ! इन्द्रियों को गुप्त कैसे करता है—इसका उदहारण देकर बताया है—**कुम्मो इव गुत्तिदिया**[1]—कूर्म-कछुए की भांति इन्द्रियों को गुप्त रखने वाला। भारंड पक्षी की तरह कछुए को भी साधक के लिए आदर्श बताकर उसकी गोपन-कुशलता, शरीर को छुपाने, सिमेटने की कला सीखने का उपदेश किया गया है। कछुआ संयम-साधकों के लिए आदर्श रहा है, जैन, बौद्ध एवं वैदिक तीनों धर्मों में उसके उदाहरण मिलते हैं। गीता में कहा है—

> **यथा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।**
> **इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्य स्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।**[2]

—जैसे कछुआ सब ओर से अपने अंगों को समेट कर शांत-गुप्त होकर बैठता है, वैसे ही साधक सांसारिक विषयों से अपनी इन्द्रियों को सब प्रकार से समेट लेता है, तब उसकी प्रज्ञा-धर्मबुद्धि स्थिर हो जाती है।

दो कछुए

भगवती सूत्र[3] एवं उववाई सूत्र में भी कहा है—**कुम्मो इव गुत्तिदिए सव्वं गाय पडिसंलीणे चिट्ठइ**—कछुए की तरह समस्त इन्द्रियों एवं अंगोपांग का गोपन करके रहे—यह साधक का इन्द्रिय संयम, काययोग तप है। ज्ञातासूत्र[4] में दो कछुओं का दृष्टान्त दिया गया है—गंगा नदी के तट पर

---

१ औपपातिक सूत्र
(ख) कुम्मोव्व अल्लीण पल्लीण गुत्ते —उत्तराध्ययन
(ग) जहा से कुम्मए गुत्तिदिए —ज्ञातासूत्र ४

२ गीता २।५८

३ भगवती २५।७

४ ज्ञातासूत्र ४

एक मतंग द्रह था, उसमें अनेक मच्छ-कच्छ रहते थे। उस द्रह के पास में ही एक मालुका कच्छ नाम का जंगल था। उसमें अनेक हिंसक पशु छुपे रहते थे। एक दिन दो दुष्ट सियार शिकार की टोह में इधर-उधर घूमते हुए उस द्रह के पास पहुंच गये। द्रह के किनारे पर कछुए आजादी से दौड़ रहे थे। सियारों ने उन मांसल कछुओं को देखा तो मुंह में पानी छूट आया। वे धीरे-धीरे द्रह के पास आये, उनके पैरों की आहट पाकर दोनों कछुए वहीं अपने हाथ-पैरों को सिमट कर गुपचुप बैठ गए। पापी सियार वहां आये, देखा तो दोनों कछुए एकदम निर्जीव निश्चेष्ट से पड़े थे। हाथ-पांव सब भीतर में सिमटे हुए, अब पकड़े भी तो कैसे ?

सियार भी तो सचमुच रंगे सियार थे। वे झाड़ियों की ओट में जाकर छुप गये और कछुए के हाथ पांव फेलाने की बाट देखने लगे। थोड़ी देर बाद एक कछुए ने आंखें खोलकर इधर-उधर देखा, कोई दिखाई नहीं दिया तो सोचा—खतरा टल गया है, सियार कहीं चले गये हैं। उसने धीरे से अपना एक पांव बाहर निकाला। तभी ताक लगाए बैठे दोनों सियार उस पर झपट पड़े। सियारों ने उसके पांव को पकड़कर नखों से उसे छील डाला, दांतों से काट डाला, धीरे-धीरे उसके चारों पांव बाहर निकले तो वे उन्हें काट-फाड़ कर खागए, उसकी गर्दन भी नोंच डाली। कछुए को खत्म कर डाला।

अब वे दूसरे कछुए की तरफ बढ़े, लेकिन वह तो पहले की भांति—चुपचाप पड़ा रहा, न हिला-डुला, न हाथ पांव बाहर निकाले। दुष्ट सियारों ने उसे भी नोंचने की जी-तोड़ कोशिश की, मगर उसने अपने हाथ-पैर छुपाए रखे, इसलिए उसका बाल भी बांका नहीं हुआ। पापी सियार हार खाकर चले गये। फिर खतरा दूर हुआ समझकर उसने आंखें खोलकर चारों तरफ देखा, फिर धीरे से गर्दन बाहर निकाली, और एक साथ चारों पैर फैलाकर तेजगति से दौड़ा, झटपट वह अपने मतंगद्रह में आकर छुप गया। स्वजन-मित्रों से अपने साथी की दुर्दशा सुनाई, उसकी मृत्यु पर दो आंसू वहाकर चुप हो, गए। और वह कछुआ आनन्द से अपने घर में जीवन बिताता रहा।

पहले कछुए की भांति जो साधक इन्द्रियों पर संयम नहीं रख सकता,

धीरे-धीरे विषयों की ओर इन्द्रियों को खुली छोड़ देता है—वह अकाल में ही मृत्यु या विनाश को प्राप्त हो जाता है, किन्तु जो दृढ़ संयम, इन्द्रिय निग्रह और विषयों से विमुखता रख सकता है, वह कष्टों से, संकटों से बचकर अपना जीवन सुखपूर्वक विता सकता है।

इस कथानक के माध्यम से साधक को इन्द्रिय-निग्रह का उपदेश किया गया है और इन्द्रिय-विषयों में फंस जाने पर कैसी दुर्दशा होती है यह भी समझाया गया है।

इन्द्रियों की यह दासता

आज का मानव पहले कछुए की भांति इन्द्रियों की दासता में फँस रहा है। वह सोचता है, संसार में आये हैं, सब सुख सुविधाएँ मिली हैं तो खूब खाओ पियो मौज करो, (Eat Drink And be Merry) धन संपत्ति जो कुछ मिली है, वह खाने-पीने और मौज करने के लिए है। अश्लील गाने और कव्वालियां सुनना, चटपटे मसालेदार उत्तेजक पदार्थ खाना, मांस-मदिरा का सेवन करना उन्मुक्त भोग-भोगना—मर्यादाहीनता व निर्लज्जता के साथ स्त्री-पुरुषों का संसर्ग रखना—यह सब आज के भौतिकवादी युग की देन है। (आज का मानव इन्द्रियवादी वन गया है)। संयम को, इन्द्रिय निग्रह को अप्राकृतिक वताता है, और उन्मुक्त भोग को प्राकृतिक। आज के नीति-शास्त्रकारों का कथन है कि अब वह समय आ रहा है जब मनुष्य पशु से भी अधिक मर्यादाहीन और इन्द्रियभोगी बन जायेगा। तब संसार में प्रेम नाम की कोई वस्तु नहीं रहेगी—प्रेम का अर्थ सिर्फ-भोग ! उन्मुक्त भोग ! क्षणिक आनन्द होगा ! और विवाह का वंधन भी टूट जायेगा, विवाह सिर्फ कुछ घंटों का एक समझौता भर होगा। स्त्री नित-नये पुरुष को चाहेगी और पुरुष नित नयी सुन्दरियों की खोज में भटकता रहेगा—जैसे गली का कुत्ता या जंगल का मस्त वंदर ! दूध और फल-रसों के स्थान पर शराब, व्हीस्की ही युग का पेय होगा, अधनंगी वेशभूषा और पागलों के जैसा व्यवहार-वर्ताव यह आने वाले इन्द्रियवादी युग का हाल होगा। आज मनुष्य जिस तेजी से इन्द्रिय-लोलुप वन रहा है, उसे देखते हुए लगता है विचारकों की ये कल्पनाएँ कहीं

शीघ्र साकार न हो जायँ। आज मनुष्य कहता है—वह स्वतंत्र है, किन्तु वास्तव में इन्द्रियों का गुलाम हो रहा है।

इन्द्रियों की दासता में हा ! जवानी जा रही,
आज इन्सानी दिलों पर हा ! दिवानी छा रही।

इन्द्रियों की दासता में वह इधर-उधर हाथ पांव मारता है और चारों ओर से संकट, बेचैनी व अतृप्ति का तीव्र अनुभव कर रहा है। पिछले जमाने से आज सुख सुविधाएं अधिक उपलब्ध होते हुए भी मनुष्य आज बहुत अधिक दुखी है, बैचेन है और आकुल-व्याकुल हो रहा है। इन्द्रियों के विषय भोग से तब तक उसे तृप्ति नहीं मिल सकती, जब तक वह संयम और संतोष का पाठ नहीं पढ़ेगा। उस कुछुए की भांति मनुष्य सुख व आजादी की सांस लेने के लिए अपनी इन्द्रियों को खुली छोड़ना चाहता है, किन्तु दुःख व मृत्यु रूप पापी सियार उसे झट अपने शिकंजे में दबाकर चबा जाने को तैयार खड़े हैं। अतः जीवन में यदि शांति, निर्भयता और सुखमय दीर्घ जीवन की कामना है तो इन्द्रियनिग्रह, अर्थात् संयम व प्रतिसंलीनता का अभ्यास करना अत्यन्त आवश्यक है।

प्रतिसंलीनता के भेद

प्रतिसंलीनता का भावार्थ—स्पष्ट किया गया है, इन्द्रिय, कषाय व योग आदि का संयम-संकोच एव निग्रह करना प्रति संलीनता है। इस दृष्टि से प्रति संलीनता को संयम भी कह सकते हैं।

संयम का सामान्यतः एक ही रूप है—अशुभ से निवृत्ति व शुभ में प्रवृत्ति। आवश्यक सूत्र में संयम के विरोधी असंमय को संग्रह नय की दृष्टि से एक प्रकार का असंयम—**एग विहे असंयमे**— कहा है। मन की अविरति, सीधी भाषा में मन का मोकलापन—खुली छूट यह असंयम है। असंयम का विरोधी संयम है। आगे चलकर असंयम के व संयम के भी १७-१७ भेद बताये हैं। समवायांग सूत्र में १७ प्रकार का संयम इस प्रकार बताया है—

---

१ समवायांग ५७ सूत्र।

१—५ **पृथ्वीकाय** आदि पांच कायों का संयम (एकेन्द्रियादि संयम)

६—९—द्वीन्द्रीय, त्रीन्द्रिय, चतुरीन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा का संयम।

१० **अजीव संयम**—वस्त्र पात्र आदि अचितवस्तु का संयम।

११ **प्रेक्षा संयम**- शुद्ध स्थान में उठना बैठना - प्रेक्षा संयम है।

१२ **उपेक्षा संयम**—पाप कार्यों का अनुमोदन न करना।

१३ **अपहृत्य संयम**—विधि पूर्वक परठना।

१४ **प्रमार्जना संयम**—वस्त्र पात्र आदि की ठीक प्रमार्जना करना।

१५ **मन संयम**—मन का निग्रह।

१६ **वचन संयम**—वचन का निग्रह।

१७ **काय संयम**—काया का निग्रह।

प्रकारान्तर से संयम के १७ अन्य भेद भी बताये गये हैं—जैसे हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचार्य एवं परिग्रह का संयम, पांच इन्द्रियों की अशुभ प्रवृत्ति का संयम। चार कषाय एवं तीन योगों की अशुभ प्रवृत्ति का संयम—यह १७ प्रकार का संयम है। संयम के आखिरी बारह भेद और प्रतिसंलीनता के प्रारम्भ के बारह भेद- एक ही गिने गये हैं—जो १२ भेद संयम के हैं, वे ही बारह भेद प्रतिसंलीनता के हैं—इससे संयम और प्रतिसंलीनता में कितनी एकरूपता है यह स्पष्ट हो जाता है। इसी आधार पर हम प्रतिसंलीनता का अर्थ संयम भी कर सकते हैं। अब आगम में वर्णित प्रतिसंलीनता के भेदों पर गहराई से विचार करना है।

प्रतिसंलीनता चार प्रकार की है---

> **पडिसंलीणया चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—**
> **इंदियपडिसंलीणया, कसायपडिसंलीणया,**
> **जोगपडिसंलीणया, विवित्तसयणासणसेवणया।**[1]

इन्द्रिय प्रतिसंलीनता, कषाय-प्रतिसंलीनता, योग-प्रतिसंलीनता तथा विविक्तशयनासन सेवना।

---

१ भगवती सूत्र २५।७

यद्यपि उत्तराध्ययन[1] में प्रतिसंलीनता के स्वरूप में सिर्फ विविक्तशयनासन को ही लिया गया है। वहां पर मुख्य दृष्टि साधक को ध्यान व समाधि के उपयुक्त एकांत स्थान की गवेषणा करने की रही है, ध्यान से संयम की वृद्धि होती है, इस कारण ध्यान व समाधि में साधन रूप विविक्तशयनासन को वहां प्रतिसंलीनता बताकर बाकी भेदों के प्रति सहज उपेक्षा बतादी गई है। किन्तु भगवती सूत्र आदि में विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है, वहां उसके सभी रूपों पर विचार किया गया है।

इन्द्रियों का स्वरूप

सर्वप्रथम इन्द्रिय प्रतिसंलीनता के पांच भेद बताये गये हैं! इन्द्रिय शरीर की एक अद्‌भुत शक्ति है। विषयों को ग्रहण करने की यह एक अपूर्व शक्ति है—जिसके अभाव में शरीर सर्वथा निरुपयोगी रहता है, मुख्य बात तो यह है कि संसारी प्राणी का इन्द्रिय के अभाव में शरीर धारण करना सम्भव ही नहीं है।

प्रज्ञापना सूत्र के १५ वें पद में इन्द्रिय के सम्बन्ध में बड़ा ही वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। मुख्य रूप से इन्द्रियां दो प्रकार की हैं—**द्रव्य इन्द्रिय** और **भावइन्द्रिय**।

द्रव्य इन्द्रियां पांच हैं—श्रोत्र, नेत्र, घ्राण, जिह्वा, और शरीर! द्रव्य इन्द्रिय के भी दो भेद हैं—**निर्वृत्ति** इन्द्रिय एवं **उपकरण** इन्द्रिय। सभी इन्द्रियों के अलग-अलग आकार होते हैं। इन इन्द्रियों के आभ्यन्तर आकार तो—प्रत्येक प्राणी में प्रायः समान होते हैं, जैसे कान का भीतरी आकार कदंब के फूल के आकार का मांस पिंड सभी जातियों में समान होता है, वैसे ही अन्य इन्द्रियों के भीतरी (आभ्यन्तर) आकार में एक रूपता होती है, किन्तु बाह्य आकार सभी जाति के प्राणियों में भिन्न-भिन्न होते है। मनुष्य का कान साधारण रूप में उसके शरीर से बहुत छोटा होता है, जब कि खरगोश के कान का आकार उसके लघु शरीर की दृष्टि से बड़ा होता है। हाथी के

---

१ उत्तराध्ययन ३०।२८

कान का आकार—सूप जैसा लंबा चौड़ा होता है—इन्द्रियों के आकार की यह भिन्नता निर्वृत्ति इन्द्रिय के कारण होती है !

उपकरण इन्द्रिय का अर्थ है इन्द्रिय की शक्ति। श्रोत्र इन्द्रिय में सुनने की शक्ति, घ्राण इन्द्रिय में सूंघने की शक्ति। इस प्रकार इन्द्रियों की शक्ति उपकरण-इन्द्रिय कहलाती है।

भाव इन्द्रिय—आत्मशक्ति रूप है, उसके भी दो भेद हैं—कर्मों के क्षयोपशम से इन्द्रियों की प्राप्ति होती है। जिस प्राणी के जितने रूप में जिस कर्म का क्षयोपशम होगा—उसे उतनी ही इन्द्रियों की प्राप्ति होगी। इन्हीं कर्मों के कारण एकेन्द्रियत्व—पंचेन्द्रियत्व आदि की प्राप्ति होती है। अतः कर्मावरण के क्षयोपशम को—**लब्धि-भावइन्द्रिय** कहा जाता है। उसके पश्चात् इन्द्रिय के उपयोग—व्यापार रूप जो आत्मशक्ति की प्राप्ति होती है—वह **उपयोग भाव इन्द्रिय** कही जाती है। आंखों आदि से देखने की आत्मिक शक्ति—यही उपयोग इन्द्रिय है।

श्रोत्र इन्द्रिय से शब्द आदि सुने जाते हैं चक्षु इन्द्रिय से रूप आदि देखे जाते हैं। घ्राण-नाक से गंध आदि का ग्रहण। जिह्वा—जीभ से रस (मधुर-कटु) आदि का अनुभव होता है ! स्पर्श का अर्थ यहां शरीर है। शीत—उष्ण आदि स्पर्श का वेदन शरीर से होता है—इस प्रकार पांच इन्द्रियों के द्वारा २३ प्रकार के विभिन्न विषयों का ग्रहण होता है जिन्हें इन्द्रिय के २३ विषय कहे गये हैं।

इन्द्रिय विषयों में आसक्ति वर्जन

यहां प्रश्न होता है—इन्द्रिय का कार्य ही है—विषय का अनुभव करना। सुन्दर असुन्दर आदि कोई भी रूप सामने आयेगा तो आँखें तुरन्त उस रूप को देखेगी। भला बुरा, कोई शब्द आयेगा तो कान झट से उनको ग्रहण करेंगे। सुगन्ध-दुर्गन्ध आदि कोई पदार्थ पास में आयेगा तो नाक तुरन्त उसका अनुभव करेगा। खट्टा मीठा आदि रस जीभ से स्पर्श होगा तो उसका रसास्वादन भी जीभ करेगी, ठंडा-गर्म आदि स्पर्श होगा तो शरीर उसका अनुभव करेगा ही, फिर इन्द्रिय संयम व प्रतिसंलीनता का मतलब क्या हुआ ?

क्या कोई स्त्री का रूप सामने आ जाये तो आँखों पर पर्दा डालकर या आँखें बन्द कर उससे बचना चाहिए ? या सूरदास की भांति आँखें फोड़ डालनी चाहिए। आँखें खुली रहेगी तो इन्द्रियों को विषय ग्रहण से कैसे रोका जा सकता है ? फिर इन्द्रिय प्रतिसंलीनता कैसे हो सकती है ?

इन्द्रियों के सम्बन्ध में यहाँ जैन धर्म बहुत ही महत्व पूर्ण तथा विवेक युक्त दृष्टि देता है। जैन धर्म का कहना है - इन्द्रिय का कार्य सिर्फ विषय को ग्रहण करना है। यह तो एक प्रकार का कैमरा है, जैसा दृश्य सामने होगा उसमें प्रतिबिम्ब --फोटू वैसा ही आ जायेगा। उस विषय में राग-द्वेष करना, आसक्त होना या उससे घृणा करना - यह इन्द्रिय का काम नहीं। इन्द्रिय विषय की ग्राहक है--चोर नहीं। विषयों का चोर है मन !

मन पापी मन दुष्ट है, मन विषयों का चोर।
मन के मते न चालिए पलक-पलक मन ओर ॥

मन ही विषयों को पकड़ता है, अच्छे रूप को देखकर उस पर मोह करता है, बुरे रूप को देखकर घृणा करता है। इन्द्रियों के साथ विषय का भले-बुरे रूप में जो सम्बन्ध बनता है वह मन के कारण बनता है, इसलिए इन्द्रियों को नहीं, किन्तु मन को उन विषयों से रोकना चाहिए। शास्त्र में कहा है—

न सक्का न सोऊं सद्दा सोतविसयमागया।
राग दोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए।[1]

यह कभी सम्भव नहीं है कि कानों में पड़ने वाले अच्छे या बुरे शब्द सुने ही न जाएं। शब्द तो कानों में अवश्य ही प्रवेश करेंगे। किन्तु उन शब्दों को नहीं, किन्तु शब्दों के प्रति होने वाले राग-द्वेष रूप मनके विकल्प को रोकना चाहिए। इसी प्रकार आँखों के समक्ष आये हुए मनोज्ञ या अमनोज्ञ रूप को नहीं देखा जाय यह सम्भव नहीं है, किन्तु उस रूप के प्रति राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। क्योंकि रूप तो चक्षु का विषय है ही—

---

१ आचारांग २।३।१५।१३२ से १३५ तक

चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति
तं राग हेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोस हेउं अमणुन्नमाहु
समो य जो तेसु स वीयरागो।[1]

चक्षु रूप का ग्रहण करता है। वह रूप यदि सुन्दर है तो राग का हेतु है और असुन्दर है तो द्वेष का हेतु। जो उस रूप में राग और द्वेष नहीं करके समभाव रखता है—वही वीतराग है। इन्द्रिय प्रतिसंलीनता का यही अर्थ शास्त्रों में बताया है—

सोइंदिय विसयप्पयार निरोहो, वा सोइंदिय विसयपत्तेसु वा अत्थेसु रागदोस विणिग्गहो।[2]

—श्रोत्र इन्द्रिय को विषयों की ओर दौड़ने से रोकना, तथा श्रोत्र गत विषयों में राग-द्वेष नहीं करना—यह है श्रोत्र इन्द्रिय प्रतिसंलीनता!

इन्द्रिय प्रतिसंलीनता : दो रूप

इसमें दो बातें बताई गई हैं—(१) इन्द्रियों को विषयों की ओर दौड़ाना नहीं। विषयों की ओर उन्मुख नहीं होना।

(२) तथा सहज रूप में जो विषय इन्द्रियों के साथ जुड गये हैं उन विषयों में राग-द्वेष रूप विकल्प न करना।

कुछ विद्वानों का कथन है—जीवन में कुछ भी करो, खाओ, पीओ, रस आदि का उपभोग करो, सुखपूर्वक जीवन जीओ—बस, उनमें आसक्त मत बनो—गीता में कहा है—**असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः**[3]—अनासक्त भाव से कर्म करने वाला परमपद को प्राप्त हो जाता है, अतः बस जीवन में समस्त कर्मों का एक ही शास्त्र है—"कर्म करो, किन्तु आसक्त मत बनो!"

आजकल इस दृष्टि का गलत उपयोग होता है, व्यक्ति सुखवादी या

१ उत्तराध्ययन सूत्र ३२।२२
२ भगवती सूत्र २५।७
३ गीता ३।१९

भोगवादी बन जाता है। स्वादिष्ट वस्तुएं खाता है, आलीशान बिल्डिंगों में डनलप के गद्दों पर पर सोता है, मोटरों में दौड़ता है और कहता है—"बस यह तो सब अनासक्त भाव से परमार्थ के लिए कर रहा हूँ।" सचमुच में अनासक्ति के साथ यह वंचना है, प्रवंचना है। यदि आसक्ति नहीं है तो शरीर को आराम देने वाली वस्तुओं की खोज क्यों करते हो? उन साधनों का उपयोग क्यों करते हो? सुख के समस्त साधनों का उपयोग करना और अनासक्ति का ढोंग करना। प्रभु को समर्पण करके परमार्थ के लिए भोगना—यह सब नाटकीय शब्दावली है, जो भोगवादी प्रवृत्ति से पैदा हुई है। इसलिए जैन धर्म में प्रतिसंलीनता के दो अर्थ किये हैं—पहला यह है कि इन्द्रियों को संयत रखना। विषयों की ओर दौड़ाना नहीं।

थी। उस ठंडक में एक सांप भी ठिठुर कर बेसुध पड़ा था। किसान के बच्चे ने सांप को देखा, कुतूहल वश पास में आया। सांप तो बिल्कुल सिकुड़ा हुआ पड़ा था, उसने लकड़ी से हिलाया फिर भी सांप हिला डुला नहीं। बच्चे ने सोचा—सांप मरा हुआ है। चलो इसे घर ले चलें, बच्चों को डरायेंगे, खेलेंगे उसने सांप को उठाकर अपनी थैली में डाल लिया।

वह सांप वास्तव में मरा नहीं था, ठंडक के मारे सिकुड़ गया था, मूर्च्छित हो गया था। बालक घूमता-घूमता वहां पहुंचा जहां दस-पांच अन्य चरवाहे भी बैठे आग ताप रहे थे।

बालक ने थेली गोदी में रख ली और आग तापने लगा। भीतर में सांप ठंड से ठिठुरा हुआ था, कुछ आग की गर्मी पहुंची, कुछ बालक के शरीर की गर्मी, वह पुनः होश में आया, चैतन्य हुआ और थेली में हिलने लगा। बालक ने देखा, थेली में हिल क्या रहा है? उसने खोलकर जैसे ही देखा, सांप ने उछल कर डंक मारा! बस विचारा बालक वहीं ढेर हो गया।

तो यह मन मूर्च्छित हुआ सांप है। जब तक विषय विकार की गर्मी नहीं पहुंचती वह मरा हुआ सा शांत प्रतीत होता है, किन्तु जैसे ही विषयों की संगति होती है विषयों के आनन्द को रसानुभूति होती है, बस विकारों का सांप फुंकारने लग जाता है। रसानुभूति करके फिर अनासक्त रहना—बहुत कठिन है, साधारण साधकों के वश की बात नहीं, इसलिए पहली बात यह है कि उस रसानुभूति से मन को दूर ही रखना चाहिए। गीता में कहा है—

बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।

इन्द्रियों का समूह इतना बलवान है, कि विद्वान को भी, विचारशील पुरुष को भी चंचल बना देता है। विषयों की हलकी सी स्मृति भी मन में आसक्ति (संग) पैदा कर देती है, आसक्ति से काम, क्रोध, सम्मोह,स्मृति भ्रंश और अंत में सर्वनाश के कगार पर आत्मा पहुँच जाता है।[1]

---

१ गीता २।६० ६३

(ख) मरणासन्न दशा में भी विषयों की स्मृति, सुख व स्पर्शकल्पना मनुष्य को कैसे पतित कर देती है इसके लिए देखें—सुकुमालिका साध्वी की कथा— निशीथ भाष्य - गा० २३५२

इसलिए इन्द्रिय प्रतिसंलीनता की पहली साधना है—इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने से रोके। उन इन्द्रियों को अन्य विषयों में जोड़े। जैसे आँखों को शास्त्र पढ़ने में, कानों को शिक्षा, तत्त्व ज्ञान के उपदेश सुनने में, जीभ को सद्गुणों का कीर्तन करने में, प्रभु भजन गाने में। आधुनिक मनोविज्ञान का भी यह सिद्धान्त है कि मन को रोका नहीं जा सकता, किन्तु उसकी गति बदली जा सकती है। अशुभ से शुभ की ओर विषयांतर किया जा सकता है। फ्रायड जैसे काम-विज्ञानवेत्ताओं का भी यह अनुभव है कि मन को, काम शक्ति को ऊर्ध्व मुखी बनाकर उसका अच्छा उपयोग भी किया जा सकता है। विषयों की भूख, सेवा, स्वाध्याय लेखन आदि कार्यों से दूसरी ओर मुड़ जाती है और उसका प्रवाह ऊर्ध्वमुखी, जीवन विकासकारी बन जाता है। साधना की प्रथम भूमिका पर यही क्रम अपनाया जा सकता है।

हजारों लाखों तरुणों का मन मोह रही है, कामी पुरुष जिसपर अपना सर्वस्व निछावर कर रहे हैं—वही सुन्दरी जवानी ढलने के बाद, लोगों की घृणा पात्र हो जावेगी। कोई उसकी तर्फ देखेगा भी नहीं। नगर सुन्दरी वासवदत्ता, जिस पर किसी समय अंग मगध के राजकुमार निछावर हो रहे थे, बड़े-बड़े सामंत जिसकी एक कृपा कटाक्ष के लिए तरसते थे, वही जब कुष्ठ रोग से पीड़ित हुई तो नगर के बाहर उकरड़ी पर कूड़े की तरह फेंक दी गई और लाखों मक्खियाँ और कीड़े उस पर भिनभिनाने लगे! यह है शरीर की सुन्दरता का अन्तिम परिणाम! इसी प्रकार जो मधुर स्वादिष्ट भोजन किया जाता है, जिसके रसास्वादन के लिए मनुष्य अपने प्राण भी दे देता है, पेट में जाकर उसका क्या परिणाम होता है? मल-मूत्र के रूप में कैसी दुर्गन्ध मय उसकी परिणति होती है? तीर्थङ्कर मल्लिनाथ ने गृहस्थ जीवन में अपने रूप पर आसक्त छहों राजाओं को जब एक मोहन गृह में बिठाया और उस कुंभी का ढक्कन खोला-जिसमें रोज एक-एक ग्रास भोजन डालती थी। तो उसकी दुर्गंध से राजाओं का दम घुटने लग गया। मल्लीनाथ ने समझाया—"यह तो वही सुगंधित भोजन है, जो मैं प्रति दिन करती थी। किन्तु पेट में जाने के बाद वह कितना घिनौना और दुर्गंध मय बन जाता है कि उसकी दुर्गंध से ही सिर फटने लग जाता है।"

इस प्रकार भोग्य वस्तुओं की क्षणभंगुरता का विचार करने से मन उनसे विरक्त हो जाता है। वे विषय सामने आने पर भी साधक का मन बिलकुल चंचल नहीं होता!

दूसरा साधन है—भोगों के दुष्परिणामों का चिन्तन! संसार के भोग—किम्पाक फल के समान है, खाने में मधुर! परिणाम में प्राणघातक!

जहा किम्पाग फलाणं परिणामो न सुन्दरो।[1]

जैसे किंपाक फल खाने में मीठा लगता है किन्तु उसका फल होता है—मृत्यु। उसी प्रकार विषयों, भोगों का परिणाम सदा अहितकर होता है।

---

१ उत्तराध्ययन १९।१८

नारकीय यातना ! घोर कष्ट ! वेदना ! बस यही है विषय भोग का फल !

ये भोग क्षण भर सुख देने वाले हैं, और फिर दीर्घकाल तक कष्टों की कुंभी में पचाने वाले। ये अनर्थ की खान है—

खणमेत्त सुक्खा बहुकाल दुक्खा
खाणी अणत्थाण उ काम भोगा।[1]

ये काम भोग—ताल पुट जहर के समान हैं—

काम भोगा विसं तालउडं जहा।[2]

इस प्रकार विषयों की असारता एवं उनके कटु परिणामों का चिन्तन करने से विषयों के प्रति राग-द्वेष नहीं आता, तथा मध्यस्थ भाव रखा जा सकता है। इन्द्रियों की आसक्ति से प्राणी किस प्रकार कष्ट पाता है, इसके उदाहरण रोजमर्रा के जीवन में हमारे सामने आते ही हैं। हम देखते हैं—दीपक की लौ पर मुग्ध हुए पंतगें किस प्रकार आ-आकर प्राण लुटा देते हैं! परवाने जलकर खाक हो जाते हैं—यह रूप की आसक्ति का परिणाम है। वैसे ही स्वरों की मधुरता, वीणा नाद की आसक्ति में फंसा हरिण शिकारी के रूप में अपने पीछे दौड़ती मौत को कहाँ देख पाता है ? इसीलिए कहा है—

सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे हरिणमिगे व मुद्धे
सद्दे अतित्ते समुवेई मच्चु।[3]

शब्दों के विषय में अत्यंत मूर्च्छित होने वाला प्राणी अकाल में अपने प्राणों से हाथ धो बैठता है। जैसे मृग-भोलाभाला हरिण, शब्दों में गृद्ध होकर अतृप्ति के साथ मृत्यु के मुँह में चला जाता है !

इसी प्रकार रस के वश हुआ मत्स्य—मछली, कांटे में लगे मांस को खाने दौड़ती है और वही कांटा उसके गले की कटार बन जाती है। गंध लोलुप

---

१ उत्तराध्ययन १४।१३
२ उत्तराध्ययन १६।१३
३ उत्तराध्ययन ३२।३७

भ्रमर की कहानी भी संसार जानता है। जो फूलों की मधुर सौरभ के पीछे पागल होकर अन्य कुछ भी विचार नहीं करता, फूलों की कलियों में जाकर छुप जाता है, और संध्या समय कली मुर्झाकर बन्द हो जाती है, भोला भंवरा भीतर ही कैद हो जाता है, कोई उस फूल को तोड़ डालता है, भौंरा कुचला जाता है, बींधा जाता है मर जाता है। स्पर्श विषयासक्त हाथी का भी यही हाल होता है वह हथिनी के स्पर्श हेतु उसके पीछे-पीछे दौड़ता है, बीच में कहीं खाड़ में (जो उसे पकड़ने के लिए ही बनाई जाती है) गिर पड़ता है, भूख प्यास से व्याकुल हुआ वह निर्बल-क्षीण हो जाता है और मस्त हस्ती सांकलों से बांध लिया जाता है। कवि ने कहा है—

कुरंग मातंग पतंग भृंग-मीना हता पंचभिरेव पंच।

एक प्रमादी स कथं न हन्याद् यः सेवते पंचभिरेव पंच।

मृग, हाथी, पतंगा, भ्रमर और मछली ये बिचारे सभी—अपनी-एक-एक इन्द्रिय के कारण कष्ट पाते हैं। एक ही इन्द्रिय की आसक्ति उन्हें जीवन भर कष्टदायिनी सिद्ध होती है तो जो पांचों इन्द्रियों के विषय में आसक्त हो जाता है उसका क्या हाल होगा? वह कितने कष्ट पायेगा? कितनी वेदनाएँ झेलेगा? इसका कोई अता-पता भी नहीं!

तो इस तरह भोगों के दुष्परिणामों का चिंतन कर उनके प्रति मन की लालसा, मन का आकर्षण कम करें। भोगों से मन को हटायें! यह भोग विरक्ति की दूसरी साधना है।

वीतराग भाव की प्राप्ति की तीसरी साधना है—आत्म-स्वरूप रमण।

साधक परभाव से पराङ्मुख रहकर सदा निज स्वरूप में ही रमण करता रहता है, आत्मा के सिवाय उसका अन्य कोई केन्द्र ही नहीं रहता अतः अन्य किसी विषय में उसे कोई आकर्षण भी नहीं रहता **अप्पा अप्पम्मिरओ**—आत्मा आत्मा में ही रमती रहती है, जड़ वस्तु 'पर' होती है, इसलिए वह 'पर' में कोई आनन्द व रस का अनुभव करे भी कैसे? इस दशा में वैराग्य, विषय-विमुखता सहज में आती है, हां इसकी भूमिका में उक्त दोनों कारण जरूर रहते हैं, किन्तु तीसरी दशा प्राप्त होने के बाद पूर्व वस्तुओं का चिंतन कर वैराग्य जगाने की जरूरत नहीं रहती। यह सहज वैराग्य होता है।

पांच भेद

इस तरह इन्द्रिय प्रतिसंलीनता के यह पांच भेद बताये गये हैं—

१ श्रोत्र इन्द्रिय के विषयों के प्रति मन को जाने से रोके, तथा विषय समक्ष आने पर उनमें राग-द्वेष न करें।

२ इसीप्रकार चक्षु इन्द्रिय को भी विषयासक्ति एवं राग—द्वेष से रोकें।

३ घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय एवं स्पर्शनइन्द्रियों के विषयों के प्रति भी मन का निरोध करें एवं इन्द्रियों सम्बन्धी विषय सामने अपने पर उनमें राग-द्वेप न करें।

इसका सार यही है कि इन्द्रियों के जो विषय हैं, वे संसार में सदा से रहे हैं, रहेंगे, कोई उन विषयों को मिटाना चाहे तो यह बिल्कुल असंभव बात है। वे विषय समाप्त भी नहीं हो सकते, और इन्द्रियों के समक्ष आये बिना भी नहीं रह सकते—इसलिए साधक यही कर सकता है कि स्वयं विषयों की ओर दौड़े नहीं, और प्राप्त विषयों में आसक्त होकर राग-द्वेप न करें। जैसे स्वयं की प्रशंसा सुनने, कोई मधुर संगीत सुनने के लिए वह उत्सुक न हों, और यदि ऐसे शब्द कहीं से कानों में आते हों तो उनमें राग द्वेप न करें। मधुर रस का भोजन प्राप्त करने की स्वयं लालसा न करे, यदि सहज भाव में सरस भोजन मिल गया हो तो उसे राग-द्वेप रहित होकर उपयोग में ले लें। यही इन्द्रिय—प्रति संलीनता है।

कषाय प्रतिसंलीनता

कषाय की परिभाषा और स्वरूप

प्रतिसंलीनता के चार भेदों में प्रथम इन्द्रिय प्रतिसंलीनता का वर्णन करके फिर कषाय-प्रतिसंलीनता का विवेचन किया गया है। कषाय—शब्द जैन परिभाषा का शब्द है—इसका अर्थ है—अन्तर की कलुषित वृत्तियां। जैन आचार्यों ने कहा है—

> कलुसंति जं च जीवं तेण कसाय त्ति वुच्चंति[1]

---

१ प्रज्ञापना पद १३ की टीका

जो आत्मा को कलुषित-मलिन करता है, वह मानसिकभाव और वृत्ति कषाय कहलाती है।

अन्तर वृत्तियां जब मलिन होती है, तो जीव कर्म करता है। कर्म से जीव दुखी होता है, और फिर संसार में परिभ्रमण करता है—इसलिए जीव के दुःखों का एवं संसार भ्रमण का निमित्त होने के कारण कषाय की इस आशय की अन्य व्युत्पत्तियां भी की गई हैं। दिगम्बर आचार्य वीरसेन ने बताया है—

दुःख शस्यं कर्मक्षेत्रं कृषन्ति फलवत्कुर्वन्ति इति कषायाः[1]

जो दुःख रूप धान्य को पैदा करने वाले कर्मरूपी खेत को कर्षण करते हैं, उन्हें फलवान बनाते हैं—वे क्रोध, मान माया आदि भाव कषाय कहलाते हैं। आचार्य भद्रबाहु ने कहा है—

संसारस्स उ मूलं कम्मं तस्स वि हुंति य कसाया।[2]

संसार का मूल कर्म है, और कर्म का मूल है कषाय। भगवान महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन में मुनियों को संबोधन करके स्पष्ट कहा था, 'मनुष्य दुखों से घबराता है, पर यह नहीं सोचता कि इन दुखों का मूल क्या है? इस दुःख रोग की जड़ कहां है? दुःखों का कारण है—जन्म-मरण। जन्म मरण क्यों होता है? कर्म के कारण! यदि कर्म मुक्त होगए, तो फिर जन्म-मरण नहीं होगा? बीज जल गया तो वृक्ष हरा-भरा नहीं हो सकेगा! जन्म-मरण का, मृत्यु चक्र का मूल कारण है कर्म—**कम्मं च जाई मरणस्स मूलं[3]** तो सब दोष कर्म पर आगया, अब यह देखिए कि यह कर्म जो सब रोगों की जड़ है, जन्म-मृत्यु का चक्र चलाता है, वह कर्म कहां से पैदा होता है! कर्म तो खुद चोर है, इस चोर को जन्म देने वाली मां कौन है? जरा गहरा विचार करेंगे तो तुरन्त आपके ध्यान में आयेगा—**रागो य दोसो वि य कम्म बीयं**—इस कर्म का बीज है राग और द्वेष! कषाय! चार कषायों में माया और लोभ

१ देखिए धवला टीका, (श्रमण सूत्र पृ. २५०)
२ आचारांग निर्युक्ति १८९
३ उत्तराध्ययन ३२।७

को रागात्मक माना है, क्रोध एवं अहंकार को द्वेषात्मक ![1] इस प्रकार राग और द्वेष मिलकर सम्पूर्ण कषाय कहलाते हैं। तो यह कषाय ही कर्म रूप वृक्ष की जड़ है, बीज है। कषाय ही जन्म मरण की जड़ को सींचता है—**सिंचंति मूलाई पुणब्भवस्स**।[2] कषाय जीवन में सद्गुणरूपी, विवेकरूपी लता को जला डालने वाली अग्नि है—**कसाया अग्गिणो वुत्ता**[3] मनुष्य को उन्मत्त बनाने वाली मदिरा है, मादकता है, प्राचीन आचार्यों की भाषा में—**पिशाचा इव रागाद्याश्छलयन्ति मुहुर्मुहुः**[4]—पिशाच की तरह, भूत-प्रेत की तरह ये कषाय प्राणी को बार-बार छलते रहते हैं,भ्रम में डालते हैं,विवेक भ्रष्ट बनाते हैं। जैन धर्म के महान तत्त्वज्ञानी भाष्यकार आचार्य जिनभद्र गणी ने तो कषायों के कटु परिणाम बताते हुए यहां तक कह दिया है—

जं अज्जियं चरित्तं देसुणाए वि पुव्व कोडीए।
तं पि कसायमेत्तो नासेइ नरो मुहुत्तेणं।[5]

देशोनकोटि पूर्व तक कठोर साधना के द्वारा जो शुद्ध चारित्र पाला है, उसका महान फल अन्तर्मुहूर्त भर के कषाय से नष्ट हो जाता है। जैसे हजार मन दूध को खटाई की एक बूंद फाड़ डालती है, लाखों मन भोजन को जहर का एक कण भी विषाक्त बना डालता है, वैसे ही जीवन के अनन्त-अनन्त सद्गुणों को कषाय-नष्ट भ्रष्ट कर डालता है।

कषाय एक प्रकार का तीव्र विष है, इसके संस्पर्श से, हलके से आसेवन से भी आत्मा पतित हो जाता है, अन्तर वृत्तियां कलुषित हो जाती हैं, इसलिए शास्त्र में बताया है कि आत्म गुणों का विकास चाहने वाले साधक को सर्व-प्रथम कषाय को नष्ट करना चाहिए। कषाय को जीतने वाला सब को जीत लेता है—

---

१ प्रज्ञापना पद २३।१— दोसे दुविहे—कोहे य माणे य।
राग दुविहे—माया य लोभे य।

२ दशवैकालिक ८।४०

३ उत्तराध्ययन २३।५३

४ योग शास्त्र

५ निशीथभाष्य २७९३

जे एगं नामे से बहुं नामे[1]

जो एक कषाय रूप शत्रु को अपने समक्ष झुका लेता है, वह बहुत से आत्मशत्रुओं को झुका लेता है, उन्हें जीत लेता है। इसलिए साधक कषायों के निरोध का सतत प्रयत्न करता रहे, कषायों से आत्मा को बचाता रहे—यही सच्ची कषाय प्रतिसंलीनता है।

अन्तरंग दोष

कषाय के चार भेद बताये हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ।[2] ये चारों प्राणी के हृदय में उत्पन्न होते हैं। इनका निवास कहीं बाहर नहीं, भीतर ही है। साधारण भाषा में हम कहते हैं—क्रोध आ गया, लोभ आ गया! पर वास्तव में आया कहां? कौन से रास्ते से, किधर से आया? यह तो भीतर ही बैठा था, यह दानव मन के भीतर छुपा था, थोड़ा सा प्रसंग मिला कि बस हुँकारने लग गया—जैसे पानी में गंदगी नीचे दबी रहती है, पत्थर फैंका कि उठकर ऊपर आ गई। इसी प्रकार क्रोध भी मन में छिपा रहता है, कोई भी प्रसंग पाकर जागृत हो उठता है।

इसलिए शास्त्र में इन्हें आध्यात्म दोष[3] कहा है। अर्थात् आत्मा में पैदा होने वाले ये चार अन्तरंग दोष है। इनमें क्रोध सबसे पहला है—

तीन श्रेणी : क्रुद्ध, शांत, प्रशांत

क्रोध—अन्तरंग की उष्मा है, गर्मी है। वैसे यह गर्मी हर एक मनुष्य में थोड़ी-बहुत मात्रा में रहती ही है, किन्तु फिर भी कुछ लोग बहुत क्रोधी होते हैं, कुछ शांत! तीन तरह के मनुष्य बताये गये हैं—

क्रुद्ध, शांत और प्रशांत!

१ कुछ मनुष्य अंगारों की भांति हमेशा क्रोध से जलते रहते हैं, किसी भी समय देखलो, कुछ भी बात कर लो बस, क्रोध में आंखें लाल

---

१ आचारांग ३।४

२ स्थानांग ४।२ तथा दशवैकालिक ८।४०

३ कोहं च माणं च तेहव मायं लोहं चउत्थं च अज्झत्थदोसा।

—सूत्रकृतांग ६।२६

हुई रहती हैं जैसे मदिरा का नशा चढ़ा हो। दुर्वासा ऋषि की भांति जब देखो तभी क्रोध में लाल !

२. कुछ मनुष्य राख से ढँकी अग्नि की भांति ऊपर से शांत दीखते हैं, किन्तु जैसे ही कटुवचन, अपमान आदि की हवा का एक झोंका लगा कि शांति की राख उड़ जाती है और उनका जाज्वल्यमान रूप सामने आ जाता है। ऊपर से शांत, शीतल दीखते हैं, किन्तु क्रोध का प्रसंग आते ही अपने को रोक नहीं सकते, बस, दूध की भांति ऊफन जाते हैं, सोड़ावाटर की बोतल की तरह ऊफान खा जाते हैं। पं० बनारसीदास जी, जो आगरा के निवासी थे, और जैन धर्म के बहुत गहरे विद्वान थे उनके जीवन का एक संस्मरण है। एकबार एक महात्माजी उनके गांव में आये। लोगों ने बनारसीदास जी के पास महात्मा जी की बहुत प्रशंसा की, कहा—बड़े ही शांतस्वभावी है। बनारसीदास जी उनके के पास गये। उनका नाम पूछा, महाराज ! आपका शुभ नाम क्या है ?

महात्मा जी ने गंभीरता के साथ कहा—"इस आत्मा का तो कुछ भी नाम रूप नहीं, यह तो नामातीत है, देह को लोग शीतलदास कहते हैं।"

कुछ देर बातचीत करने के बाद बनारसीदास जी ने कहा—महाराज ! आपने नाम तो बताया था, लेकिन मैं भूल गया एक बार फिर कृपा कीजिए।

इस बार महात्माजी थोड़े तेज हो गए और बोले—बताया था न, शीतल दास !

हां ! हां ! महाराज ! याद आगया ! बनारसीदास जी बोले। बातचीत करके उठने लगे तो फिर नाम पूछ बैठे। इस बार महात्मा जी की आंखें लाल हो गईं, बोले—"दिमाग में क्या गोबर भरा है ? दो बार बता दिया फिर भी याद नहीं रहा ! सुनले मेरा नाम है शीतलदास !"

क्षमा मांगकर बनारसीदास जी जीना से नीचे उतरे, कुछ देर इधर उधर टहलकर फिर महात्मा जी के पास आये। बोले—"महाराज ! मैं तो फिर नाम भूल गया, एकबार फिर बता दीजिए।"

बस, इसबार महात्माजी का पारा खूब तेज हो गया। पास ही में हाथ में लेने की छड़ी पड़ी थी, उठाकर बोले—बेवकूफ! तीन-तीन बार नाम बताया फिर भी याद नहीं रखा! सिर में पत्थर भरे हैं? ठहर अभी बताता हूं! छड़ी पटक कर बोले—सुनले! मेरा नाम है शीतलदास! शीतलदास!

बनारसीदास जी हंसकर बोले—महाराज! बस अब नहीं भूलूंगा! अब पता चल गया—तुम्हारा असली नाम शीतलदास नहीं, क्रोधीदास है।

तो यह दूसरी श्रेणी के मनुष्य होते हैं, जो पहले शांत दीखते हैं और बाद में क्रोध में भभकाभूत हो जाते हैं।

३. तीसरी श्रेणी के प्रशांत मनुष्य होते हैं—जो हमेशा महासागर की तरह प्रशांत रहते हैं। उन्हें कितने ही दुर्वचन कहो, अपमान करो, ढेले मारो, पत्थर मारो फिर भी कभी क्रोध नहीं करते। भगवान महावीर की तरह, मेतार्य, गजसुकुमाल और हरिकेशीबल मुनि की तरह लोग उन्हें मरणांत कष्ट भी देते हैं फिर भी उनकी दृष्टि में वही शांति का अमृत छलकता रहता है, मन में शीतल लहरें उठती रहती हैं—इन्हीं के लिए शास्त्र में कहा है—

(महप्पसाया इसिणो हवंति,
न हु मुणी कोवपरा हवंति।)

ऋषिजन महान प्रसाद वाले होते हैं,वे कभी भी क्रुद्ध नहीं होते! महासागर में जब भी पत्थर फेंको तब भी वह शीतल लहरें उछाल कर आपको शांत करने का प्रयत्न करेगा, आग नहीं उगलेगा। इसी प्रकार ऋषिजन, महापुरुष क्रोध करने वाले पर भी शांति की वर्षा करते हैं, प्रेम का उपदेश देते हैं। स्वामी दयानन्द जी को कुछ दुष्ट लोगों ने घायल कर दिया था, तब वहां के थानेदार ने बदमाशों को पकड़कर स्वामी जी के सामने हाजिर किया—'स्वामी जी! इन बदमाशों को आप जो कहें वही सजा दूंगा! कहिए क्या सजा दूं?"

चोट की पीड़ा अनुभव करते हुए भी स्वामीजी शांति के साथ बोले—"थानेदार साहब! इन लोगों को छोड़ दो।" आश्चर्य के साथ थानेदार ने कहा—"स्वामी जी! यह क्या कह रहे हैं?"

स्वामीजो—'ठीक कह रहा हूँ ! मैं इस संसार में मनुष्यों को वन्धन में डालने के लिए नहीं, किन्तु मुक्त कराने के लिए आया हूँ ।"

तो यह तीसरी श्रेष्ठ श्रेणी है। क्रोध के हजारों प्रसंग आने पर भी वे शांत प्रशांत रहते हैं।

क्रोधोत्पत्ति के कारण

क्रोध-प्रतिसंलीनता में दो बातें कही गई है—

कोहोदय निरोहो वा उदयप्पत्तस्स वा कोहस्स विफलीकरणं

१ क्रोध के उदय को रोकना

२ उदय में आये हुए क्रोध को विफल—फलहीन बना देना।

क्रोध का उदय रोकने के लिए यह भी समझना जरूरी है कि क्रोध का उदय क्यों होता है और उसके कटुफल कितने घातक होते हैं।

कर्म सिद्धान्त की दृष्टि में

जैन दर्शन कार्य-कारणवादी दर्शन है, उसका कथन है—प्रत्येक कार्य का कुछ कारण भी अवश्य होता है। यह कार्य-कारणवाद ही कर्म सिद्धान्त की आधार भूमि है। कार्य हमें स्पष्ट दिखाई देता है, कारण उसके पीछे छुपा रहता है। इस दृष्टि से आत्मा में क्रोध का उदय होने रूप जो कार्य होता है, उसका कारण है—कर्म ! आठ कर्मों में मोहनीय कर्म सबसे मुख्य व सबका नेता माना गया है। मोहनीय कर्म की प्रकृतियों में चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं—जिसमें कषाय मोहनीय के १६ भेद बताये हैं और नौ कषाय मोहनीय के ६। नोकषाय मोहनीय कषायभाव का उत्तेजक होता है। हां तो १६ कषाय मोहनीय के भेदों में प्रत्येक कषाय के—चार-चार भेद करके १६ भेद बताये गये हैं। क्रोध कषायमोहनीय के उदय से आत्मा में कषाय भाव का उदय होता है। जिस आत्मा में कषाय मोहनीय का जितना उदय होगा उसी के अनुसार उसके क्रोधोदय में भी तरतमता रहती है। यह क्रोधोत्पत्ति का दार्शनिक कारण है।

व्यावहारिक दृष्टि में

स्थानांग सूत्र में सामान्यत: क्रोधोत्पत्ति के चार कारण बताये हैं—

१ क्षेत्र—स्थान आदि के कारण क्रोध की उत्पत्ति हो सकती है।

होकर क्रोधोन्मत्त हो उठे और मन-ही-मन शत्रु संहार में जुट गये। गोशालक के कटुवचनों से (मजाक से) वैश्यायन बाल तपस्वी क्रुद्ध हो उठा था और उस पर तेजोलेश्या छोड़कर भस्म कर डालने को तत्पर हो गया।

२ **स्वार्थपूर्ति में बाधा पड़ने से**—मनुष्य स्वार्थ-प्रिय होता है, अपना स्वार्थ साधने के लिए गधे को भी बाप बना लेता है, और जब कोई उसके स्वार्थ में बाधा पहुँचाता है तो वह उसे पथ का रोड़ा समझ कर हटा देने को क्रोधाकुल हो उठता है—रावण को विभीषण ने बहुत समझाया था, सीता को लौटा दे। वह उसकी दुष्चेष्टा को पूरी नहीं होने देना चाहता था, तब रावण विभीषण जैसे भाई पर भी क्रुद्ध होकर उसे राज्य से निकाल देता है। सोमिल ब्राह्मण ने गजसुकुमाल को साधु बने देखा तो सोचा—मेरी पुत्री का जन्म इसने बिगाड़ दिया, बस, इस क्षुद्र स्वार्थ ने उसे क्रुद्ध कर दिया और महा तपस्वी के सर पर अंगारे भर दिये!

३ **अनुचित व्यवहार के कारण**—मनुष्य सदा ही सम्मान और योग्य व्यवहार की अभिलाषा रखता है, वह न अपना अपमान सह सकता है, और न अपने परिवार, देश और धर्म का। जब उसकी आँखों के सामने अपनी इज्जत, अपनी मां बहनों की इज्जत, देश व धर्म का गौरव मिट्टी में मिलता दीखता है तो वह क्रुद्ध सिंह की तरह हुंकार उठता है। यादव कुमारों ने द्वैपायन ऋषि का अपमान किया, तो ऋषि ने क्रुद्ध होकर द्वारिका को भस्म कर डालने का संकल्प कर डाला। औरंगजेब की सभा में जब उसके सेनापति—ने राठोड अमरसिंह को कहा कि ये राजपूत लोग 'गवार' हैं तो 'ग' तो कहा, और 'वार' कहने ही नहीं पाया कि चमचमाती कटार निकल पड़ी और सेनापति की गर्दन उड़ा गई। यह क्रोध अनुचित व्यवहार व अपमान के कारण उत्पन्न हुआ।

४ **वहम के कारण**—कभी-कभी मनुष्य वहम का शिकार हो जाता है। कुछ ऐसी बातें सुनता है, दृश्य देखता है जो वास्तव में सही नहीं होते, कान और आंख उसे धोखा दे जाते हैं, भ्रम से बुद्धि विपरीत हो जाती है और वह क्रोध में आकर अनर्थ कर डालता है। भ्रम में भी अनुचित व्यवहार, भय,

५ विचार भेद के कारण— प्रत्येक मनुष्य के विचार कुछ न कुछ भिन्न होते हैं। जब एक दूसरे पर अपने विचार थोपने का प्रयत्न होता है तो संघर्ष खड़ा होता है, संघर्ष द्वन्द्व का रूप धारण कर लेता है, विचार भेद के कारण क्रुद्ध होकर आपस में हाथा पाई करते है, मारपीट और हत्या तक कर डालते हैं। रक्तक्रांति का मूल कारण भी विचार भेद ही है। नक्सलवाद का तांडव, अगणित निरपराधों के खून से जिसका इतिहास लिखा गया है मूलतः विचार भेदजन्य संघर्ष ही है। इन कारणों के अलावा अन्य भी अनेक कारण हो सकते हैं जिनके कारण मनुष्य का खून गर्म हो उठता है, बुद्धि में असंतुलन आ जाता है, कर्तव्य—अकर्तव्य का विवेक भूल जाता है और वह बड़े-बड़े अनर्थ कर डालता है।

जिन कारणों से क्रोध का उदय होता हो, उन कारणों से बचना चाहिए, उन कारणों का निवारण करते रहना चाहिए, और कारण के मूल में रही हुई भूल को पकड़ना चाहिए। इससे क्रोध का उदय कम होता है, क्रोध पतला पड़ जाता है। यदि क्रोध आ भी गया तो उसे विफल करने में सहायता मिलती है। शास्त्र में कहा है—मनुष्य को अपनी प्रतिज्ञा को, संकल्प को सदा सत्य करना चाहिए और क्रोध को व अहंकार को असत्य ! **कोहं असच्चं कुव्विज्जा धारेज्जा पियमप्पियं**[1] ।—

---

१ उत्तराध्ययन १।१४

प्रिय-अप्रिय व्यवहार को, वचन को सहन करके क्रोध को असत्य करना चाहिए। अर्थात् क्रोध आ जाये तो उसे फलहीन कर डालना चाहिए। क्रोध का फल है—हिंसा! क्रोधी व्यक्ति दूसरे की भी हिंसा करता है और अपनी भी। जितनी हत्याएं, व आत्महत्याएं होती हैं उनमें मुख्य कारण क्रोध ही रहता है।

क्रोध को विफल कैसे करें?

मनोविज्ञान की दृष्टि से क्रुद्ध मनुष्य एक दम हत्याएं करने पर उतारू नहीं होता। क्रोध का वेग जैसे-जैसे प्रबल होता है वैसे-वैसे मनुष्य आगे उत्तेजना पूर्ण अवस्था में पहुँचता रहता है। उत्तेजना का आखिरी रूप है हत्या। हत्या, क्रोध की चौथी व अंतिम श्रेणी (परिणति) है। क्रोध की चार परिणतियां ये हैं—

१ सर्वप्रथम क्रोध आने पर मनुष्य का शरीर कांपने लग जाता है, हाथ पैर फूल जाते हैं, सांस तेज हो जाती है, आंखें लाल-लाल अंगारों सी जलने लगती है, वाणी लड़खड़ाने लगती है।

२ क्रोध की दूसरी अवस्था में मनुष्य हाथ पैर पीटने लगता है, अपना सिर फोड़ लेता है, कपड़े फाड़ लेता है, शरीर को नोंच डालता है। बकवास व गाली गलीज करने लगता है।

३ तीसरी अवस्था में मारपीट करने लगता है, तोड़-फोड़ करने पर उतारु हो जाता है, आग लगा देता है, दूसरों का नुकसान करने लगता है।

४ क्रोध की चौथी दशा है—हत्या! जिस पर क्रोध आता है उसकी हत्या करने पर उतारु हो जाता है, वह नहीं मिले तो उसके सम्बन्धी जनों की हत्या कर डालता है, कभी-कभी हत्या करने पर भी उसका क्रोध शांत नहीं होता तो वह आत्महत्या भी कर लेता है। बहुत से व्यक्ति क्रोधोन्मत्त होकर साधनों के अभाव में, भय आदि के कारण दूसरों की हत्या नहीं करते किन्तु वे क्रोधोन्मत्त हुए अपनी ही हत्या (आत्म हत्या) कर लेते हैं।

क्रोध को अफल—करने का अर्थ है—यदि क्रोध का उदय होगया है, प्रथम दशा में क्रोध पहुंच गया है तो अब उसे दूसरी अवस्था में पहुँचने से

रोके, क्रोध ज्यों-ज्यों बढ़ता है उसके रूप बदलते हैं। अतः उसे आगे की दशा में पहुँचने से रोकना, यही आगम में क्रोध को विफल—फलहीन करने का अर्थ है।

जैन सूत्रों की टीका में एक कुलपुत्र (क्षत्रिय पुत्र) की कथा आती है। किसी क्षत्रिय पुत्र को उसके दुश्मन ने मार डाला था। क्षत्रिय पुत्र का भाई अपने भाई की हत्या सुनकर आग बबूला हो उठा। उसका खून खौलने लग गया। वह हाथ में तलवार लेकर अपने भाई की हत्या का बदला लेने चल पड़ा। उसने प्रतिज्ञा की—'जब तक भाई के हत्यारे को पकड़ न लूं'—चैन से दम नहीं लूंगा। छह महीने तक वह जंगल, पहाड़, नदी-नाले—सर्वत्र भटकता रहा। आखिर में हत्यारा पकड़ा गया। कुलपुत्र ने अपनी चमचमाती तलवार उठाकर उसे मार डालना चाहा, किन्तु हत्यारे ने—मुंह में घास का तिनका लेकर उसके चरण पकड़ लिए! दीनतापूर्वक बोला—"मुझे जीवित छोड़ दो! मैं तुम्हारी कानी गाय हूं। मुझे शरण दो।"

कुलपुत्र की तलवार रुक गई। वह असमंजस में पड़ गया। क्या करें। मारे तो शरणागत की हत्या हो, न मारे तो बंधु-घात का बदला कैसे लें? वह समस्या में उलझ गया। हत्यारे को मां के समक्ष ले जाकर खड़ा किया—और पूछा— मां! मैं क्या करूं? इसे मार कर अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करूं या शरणागत की रक्षा कर क्षत्रिय धर्म को निबाहूं?

मां ने कहा—'बेटा! अपने क्रोध को असफल करो। क्रोध को फलहीन करना ही मनुष्य का धर्म है। इसी में तुम्हारे क्षत्रियधर्म की शोभा है।" मां की शिक्षा से कुलपुत्र ने बंधुघातक को अभय दान देकर छोड़ दिया। वह अपने छह महीने के उग्र क्रोध को पी गया। तो यह है क्रोध को विफल करने का एक उदाहरण! क्रोध को पी जाना—उठते हुए क्रोध को उसी प्रकार दबा देना जैसे तीव्र होते रोग को दवा देकर दबा दिया जाता है, उफनते हुए दूध को जल का छींटा देकर शांत कर दिया जाता है। तथागत बुद्ध ने कहा है—

जैसे कुशल सारथि दौड़ते हुए अश्व को लगाम खींचकर उत्पथ में जाते

रोक लेता है, कुशल वैद्य देह में फैलते हुए सर्प विष को औषधि के द्वारा शांत कर देता है वैसे ही भिक्षु चढ़े हुए क्रोध को (फल परिणति से रोककर) शांत कर देता है।[1]

जैसे दौड़ती हुई गाड़ी के सामने यदि कोई मनुष्य, या गाय-भैंस आदि आ जाते हैं तो ड्राइवर तुरन्त गाड़ी को ब्रेक लगाकर रोकने की चेष्टा करता है, यदि उस समय गाड़ी को न रोका जाय तो तुरन्त दुर्घटना हो जाती है। इसी प्रकार चढ़ते हुए क्रोध को रोकना चाहिए, वर्ना वह भी कोई दुर्घटना कर डालेगा। क्रोध को विफल करने के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अनेक उपाय बताये हैं—

भगवान महावीर ने कहा है—**उवसमेण हणे कोहं**[2]—क्रोध को शांति (उपशम) से जीतना चाहिए।

चीनी संत कन्फ्यूसियस का कथन है—क्रोध उठे तब उसके नतीजों पर विचार करो!

बाईबिल में लिखा है—क्रोध करने में विलम्ब करना विवेक है, और शीघ्रता करना मूर्खता।

इस्लाम धर्म के प्रवर्तक मुहम्मद साहब का कहना है—'गुस्सा आने के समय बैठ जाओ! फिर भी शांत न हो तो लेट जाओ।'

सैनेका नामक विदेशी विचारक ने लिखा है—क्रोध का एक ही इलाज है—विलम्ब!

कहते हैं—अमेरिका में एक प्रोफेसर को क्रोध बहुत आता था। वह स्वयं अपनी इस आदत पर बहुत दुःखी था, पर कोशिश करके भी वह क्रोध के समय अपने पर काबू नहीं रख पाता था। एक बार प्रोफेसर ने अपने किसी मनोचिकित्सक मित्र से कहा—मेरी यह आदत कैसे छूटे। मित्र ने एक सलाह

---

१ यो उप्पतितं विनेति कोधं विसटं सप्प विसंऽव ओसधेहि।

—सुत्तनिपात १।१।१-२

२ दशवैकालिक ८।३९

तो यह और भी विडम्बना की बात है कि त्यागी वैरागी व ज्ञानी कहलाने वाले अज्ञानी लोगों से ज्यादा क्रोध करें। क्रोध की तो शुरूआत ही अज्ञान व मूर्खता से होती है। इसलिए साधक को, तप की आराधना करने वाले को तो क्रोध का सर्वथा ही परित्याग करना चाहिए। नीतिकारों ने कहा है—

हरत्येक दिनेनैव ज्वरं षाण्मासिकं बलम्।
क्रोधेन तु क्षणेनैव क्रोटिपूर्वार्जितं तपः॥

एक दिन का ज्वर (बुखार) छ महीने में प्राप्त की हुई शक्ति को नष्ट कर देता है, और एक क्षण भर का क्रोध-क्रोड़ पूर्व की तपस्या को भी मिट्टी में मिला देता है। क्रोध से कितने अनर्थ उत्पन्न होते हैं इस सम्बन्ध में कहा गया है—

गती खोटी पावे भव भ्रमण आगे बढ़त है,
अहो सिंहादि की प्रकट पशु योनि मिलत है।
तपस्या को बाले, सकल गुण व्हाके खिसकते।
अच्चंकारी भट्टा सरिस बन छोड़ो, प्रियवरो!

क्रोध से मनुष्य की गति—यह जन्म और पर जन्म बिगड़ जाते हैं—अहो चपट कोहेण—क्रोधी हमेशा नीची-से नीची गति प्राप्त होता है, तपस्या का फल जलकर भस्म हो जाता है, गुण समूह नष्ट हो जाता है। इस लिए क्रोध के कुफल को समझकर अच्चंकारी भट्टा की तरह अपने क्रोध को जीतो।

शरीरशास्त्री लोगों ने अनुमान लगाया है कि एक स्वस्थ मनुष्य दिन में साढ़े नौ घन्टा तक कठोर श्रम करने पर जितनी थकावट अनुभव करता है, साढ़े नौ घन्टा के श्रम में उसकी जितनी शक्ति क्षीण होती है, उतनी शक्ति पन्द्रह मिनट के क्रोध में क्षीण हो जाती है।

एक तीर : तीन शिकार

क्रोध शरीर को भी नष्ट करता है, मन को भी दुर्बल बनाता है और आत्मा को तो कलुषित करता ही है।

है कि—खाली थैली में ही हवा भरती है, खाली—गुणहीन व्यक्ति अपने को गुणवान दिखाने के लिए अभिमान करता है, स्वयं को बड़ा प्रदर्शित करने की चेष्टा करता है। बिच्छू तिल भर जहर के कारण पूँछ ऊँची रखकर चलता है—

मणिधर विष अणमाव, धारे पण नाणै मगज।
बिच्छू पूंछ बणाव, राखे सिर पर राजिया।

किन्तु सांप भयंकर विष रखते हुए भी कभी अपने विष का प्रदर्शन नहीं करता। इसका अर्थ यही है कि अहंकारी के जीवन में सद्गुणों का विकास नहीं हो सकता। क्योंकि ज्ञान तभी आता है जब मनुष्य किसी का विनय करके सीखता है। कहा है—

न हंस के सीखा है, न रोके सीखा है
जो कुछ भी सीखा है, किसी का होके सीखा है

अभिमानी किसी का हो नहीं सकता, क्योंकि वह अपने को ही सबसे बड़ा समझता है। अंग्रेजी में एक कहावत है जिसका भाव है—अहंकारी का कोई ईश्वर नहीं होता, ईर्ष्यालु का कोई पड़ोसी नहीं होता और क्रोधी का कोई अपना नहीं होता। अभिमानी राह चलते वैर-विरोध खड़ा कर लेता है—कहा है—

बनालेते वैरी चलत-मग मारी सटक से,
मरेंगे कुत्तों से, रिपु जन पछाड़े पटक से।
तजे वो सद्युक्ति विनय गुरु भक्ति चल बसी,
नमे फंसे सूखा तरुवर विचारो हृदय से।

युक्ति और न्याय की बात मानता नहीं, अपनी ही बात को सत्य सिद्ध करने की चेष्टा करता है, 'मेरी मुर्गी की तीन टांग' वाली कहावत चरितार्थ करता है। गुरुजनों का विनय व सम्मान जैसे भूल ही जाता है। मकोड़े की तरह अकड़ में 'टूटे पण झुके नहीं' टूट जाता है, नष्ट हो जाता है किन्तु विनय और नम्रता नहीं सीख सकता।

अहंकार—मान का सबसे पहला दुष्परिणाम है कि—अहंकारी कभी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। सद्गुणों का विकास नहीं कर सकता। बाहुबली एक वर्ष तक खड़े तपस्या करते रहे, किन्तु केवल ज्ञान प्राप्त नहीं कर सके।

दूसरी बुराई है अहंकारी मनुष्य अपना आपा भूल जाता है। अपनी तुच्छ शक्ति को भी विश्व की महान शक्ति मानने लगता है. अंग्रेजी के हास्य रस के प्रसिद्ध लेखक मार्कट्वेन ने एक जगह लिखा है—"अक्सर मुर्गी, जिसने सिर्फ अण्डे को जन्म दिया है, ऐसे ककड़ाती है जैसे किसी नक्षत्र को जन्म दिया हो।" राजस्थानी भाषा में कहा गया है—"**कुत्तो जाणे म्हांरे ही पाण गाडो चाले है**"—अहंकारी मनुष्य अपनी औकात को नहीं समझ सकता। कहावत है—"मिजाज बादशाह का, औकात भड-भूंजे की"—अहंकार के नशे में वह अपनी शक्ति का अधिक मूल्यांकन करता है, इसी कारण उसका पतन व विनाश हो जाता है।

अहंकार की तीसरी बुराई है—अपनी शक्ति का, ज्ञान का अभिमान करने से मनुष्य उस शक्ति को भी खो बैठता है। ज्ञान का अभिमान करने से ज्ञान नष्ट हो जाता है, बल का अभिमान करने से बल। सद्गुणों का अभिमान करने से सद्गुणों का नाश हो जाता है। महाभारत में उल्लेख है—पांडव जब संन्यास लेकर हिमालय पर चढ़े तो कुछ दूर जाने पर वे हिमालय से नीचे गिरते गये। नकुल के मन में अपने रूप का गर्व था इस कारण वह हिमालय की ऊपरी चोटी पर चढ़ नहीं सका। सहदेव को अपने ज्योतिष ज्ञान था, अर्जुन को बाण-विद्या का, भीम को भुज-बल का अभिमान था इस कारण कोई भी हिमालय पर नहीं चढ़ सके बीच ही में रह गये। सिर्फ धर्म-पुत्र निरभिमान थे इस कारण वे और उनका कुत्ता (धर्म रूपी) दोनों स्वर्ग में पहुँचे। इस कथानक का सार यह है कि गुण का अभिमान करने से भी मनुष्य अपने गुणों को खो बैठता है। जैन दर्शन का कर्म सिद्धान्त यही बात कहता है कि जो मनुष्य जिस विषय का अभिमान करता है, वह अगले जन्म में उस विषय में हीन कर्म का बंधन करता है। उच्चगोत्र का अभिमान करने से नीच गोत्र का बंधन होने के अनेक उदाहरण जैनग्रन्थों में भरे पड़े हैं।

अभिमान की चौथी बुराई है—मनुष्य अहंकार में अपने को बड़ा समझता है और दूसरों को छोटा—तुच्छ ! स्वयं बलहीन, रूपहीन, गुणहीन होने पर भी मानता है कि मैं तो बल में बाहुबली हूं, रूप में सनत्कुमार हूं, और सब गुणों का खजाना मैं ही हूं । दूसरा बलवान है, वह भी तुच्छ है, कमजोर है, दूसरा रूप में देव कुमार हैं, अप्सरा है फिर भी अभिमानी की नजर में वह रूप हीन है । अहंकारी हमेशा—**अन्नं जणं पस्सति बिंबभूयं**[1] दूसरों को परछाईं मात्र (प्रतिबिम्ब) समझता है, बलिष्ठ पुरुष को भी गोबर-गणेश समझता है । अभिमानी सोचता है—

संसार में बुद्धिमान कौन ? जो मेरी तरह सोचे
संसार में मूर्ख कौन ? जिसके विचार मुझ से न मिलें ।
आदर्श क्या है ? जिस पर मैं चलूं !
जगत में श्रेष्ठ कौन ? 'मैं'

उसके हृदय में "मैं के सिवाय और कोई ध्वनि ही नहीं उठती । जितनी श्रेष्ठता है, सब उसमें हैं बाकी सब संसार तुच्छ है, गुणहीन है । वह सोचता है "दुनियां में डेढ़ अक्कल है—एक मेरे पास, आधी बाकी दुनिया के पास ।" राजस्थानी में कहावत है, अभिमानीनि स्त्री सोचती है—"म्हांसूं गोरी जिकै ने पीलिये रो रोग" इस प्रकार अभिमानी व्यक्ति दो भूलें एक साथ करता है, स्वयं को अधिक बुद्धिमान समझ कर, और दूसरे बुद्धिमानों को मूर्ख समझ कर । वह घमण्ड में दूसरों का अपमान करता है, उन्हें तुच्छ शब्द कहता है । आप जानते हैं, अपमान का कड़वा घूंट कोई व्यक्ति पी नहीं सकता । अंग्रेजी कहावत है—इनसल्ट इज मोर देन आप्रेशन—(Insult is more then operation) अपमान का नस्तर आप्रेशन के नस्तर से भी अधिक दुःखदायी व पीड़ा कारक है । अपमानित व्यक्ति फिर बदला लेने की चेष्टा करता है, इस प्रकार वैर विरोध व दुश्मनी की लम्बी शृंखला चालू हो जाती है ।

अभिमान की इन चारों बुराइयों का विचार करके मनुष्य को अभिमान का त्याग करना चाहिए और अभिमान के कारणों से बचना चाहिए ।

---

1 सूत्रकृतांग १।१३।८

श्रुत मद—ज्ञान का, शास्त्रअभ्यास का अर्थात् विद्वत्ता का अभिमान !

लाभ मद—इच्छित वस्तु के मिल जाने पर अपने लाभ का अभिमान

ऐश्वर्य मद – ऐश्वर्य अर्थात् प्रभुत्व,वैभव तथा सत्ता का अभिमान ।

अभिमान को कैसे जीते ?

अभिमान के इन आठ कारणों पर तथा इसी प्रकार के अन्य कारणों पर विचार करके यह देखना चाहिए कि मनुष्य जिन बातों का अभिमान कर रहा है वह कितनी असार व तथ्यहीन है ! ऊँचा कुल व गोत्र जाति, प्राप्त कर मनुष्य अहंकार करता है कि मैं इतने बड़े खानदान का हूं । इतने ऊँचे कुल का हूं ! पर क्या उसका यह सोचना सही है ? यह कुल व जाति किसका है ? आत्मा का या शरीर का ? शरीर तो जड़ है, सबका एक समान है । और आत्मा का कोई कुल नहीं, जाति नहीं ! फिर तू जो ऊंच गोत्र का अभिमान कर रहा है वह कितनी बार नीच गोत्र में जाकर उत्पन्न हुआ कुछ पता है ? शास्त्र में कहा है—

असइं उच्चागोए असइं नीयागोए
णो हीणे णो अइरित्ते ।[1]

यह जीव अनंतबार उच्चगोत्र में जन्म ले चुका है, अनन्तबार नीच गोत्र में उत्पन्न हो चुका है, अतः फिर कौन तो हीन है ? और कौन उच्च ! अर्थात् हर आत्मा नीच कुल में उत्पन्न हो चुका है—फिर ऊंच कुल का अभिमान किस बात का ?

मनुष्य इस शरीर का अभिमान करता है, धन का, बल का अभिमान करता है ; पर वह अहंकार कितने दिन चलेगा ? शरीर तो आखिर सभी का जलकर राख हो जायेगा । सभी की हड्डियां मरघट में इधर-उधर पैरों से रुलती हैं, चाहे राजा हो या रंक ! एक कवि ने कहा है—

एक दिन हम जा रहे थे सैर को
इधर था शमसान उधर कब्रिस्तान था ।

---

१ आचारांग २।३।१

अभिमान को जीतने का पहला उपाय है, जिन कारणों से मन में अभिमान जगे उन कारणों की असारता एवं क्षणभंगुरता का विचार करें।

अभिमान के समय अपने से ऊँचे व्यक्ति को देखें, जो विनय व ज्ञान आदि में अपने से अधिक हुए हैं उनका विचार करें। यदि ज्ञान का अहंकार आता है तो सोचिए क्या आप गौतमस्वामी से भी अधिक ज्ञानी हैं? बुद्धि व चातुर्य का अभिमान जगता है तो सोचिए—क्या आप अभयकुमार व चाणक्य से भी अधिक बुद्धिमान व चतुर हैं? तप का अभिमान उभरता है तो विचार कीजिए—क्या धन्य अनगार से भी अधिक उग्र तपस्वी आप हैं? क्या शालिभद्र से अधिक वैभवशाली, बाहुबलि से भी अधिक बलशाली, नंदीषेण से भी अधिक सेवाभावी हैं? यदि नहीं, तो फिर आपका अभिमान व्यर्थ है, झूठा है! इस अभिमान के समय हमेशा ऊपर—अपने से बड़ों को देखना चाहिए। इस चिंतन से अभिमान वैसे ही गल जाता है जैसे हवा लगने से पानी की बर्फ गल जाती है। अभिमान को विजय करने का यह दूसरा उपाय है।

तीसरा उपाय है स्वभाव से नम्र! विनम्र होना। विनयशील व्यक्ति संपत्ति आदि मिलने पर भी अहंकार नहीं करता किन्तु और अधिक विनम्र होता है। चीन के ताओ धर्म में बताया गया है कि एक राजा ने अपने मंत्री को तीन बार प्रधानमंत्री बनाया और तीन बार ही प्रधान पद से हटाया। किन्तु जब उसे प्रधानमंत्री बनाया गया तो कभी उसके चेहरे पर गर्व की एक रेखा नहीं चमकी और हटाया तो कभी दीनता से कुम्हलाया नहीं।

राजा को उसकी तटस्थवृत्ति पर बड़ा आश्चर्य हुआ। राजा ने उससे पूछा तो भूतपूर्व प्रधानमंत्री ने बताया —"कुर्सी के आने जाने में प्रसन्नता और दीनता कैसी ? सन्मान तो गुणों से होता है, यदि गुण मुझ में होंगे तो आप और जनता कुर्सी छूटने पर भी मेरा सम्मान करेंगे, गुण नहीं है तो कुर्सी मिलने पर भी अधिक दिन टिकेगी नहीं ? फिर प्रधानमंत्री बनने का अभिमान कैसा ? और पद से हटने का दुःख कैसा।"

वास्तव में विनम्र व्यक्ति तो अधिकार प्राप्त कर और अधिक विनम्र होता है। उसका स्वभाव सदा ही विनयशील रहता है ? गौतम गणधर इतने ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित होकर भी कितने विनम्र ! और कितने मधुर स्वभाव के थे ? क्योंकि उनके स्वभाव में, हृदय के कण-कण में विनम्रता रमी हुई थी !

तो उक्त तीन प्रकार से हम अभिमान को विजय कर सकते हैं और मान-प्रतिसंलीनता तप की आराधना कर सकते हैं। क्रोध की भांति मान प्रतिसंलीनता में भी दो बातें बताई गई हैं—मान के उदय का निरोध करें व उदय प्राप्त मान को विफल बना दें।

माया से दूर रहो

माया—तीसरा कषाय है। मायामोहनीय कर्म के उदय से मनुष्य माया में प्रवृत्त होता है।

साधारणतः माया का अर्थ है दुरंगा व्यवहार—मन में और तथा वचन में और—बाहर-भीतर का दुरंगापन—यह माया की पहचान है। राजस्थानी भाषा में माया का स्वरूप बताते हुए कहा है—

तन उजला, मन सांवला बगुला कपटी भेख।
यां सू तो कागा भला बाहर-भीतर एक।

ऊपर से उजलापन दिखाना और मन में कलुष भाव -पाप छिपाए रखना—यही माया है– कपट है. धोखा है तथा छल है !

क्रोध व अभिमान से भी माया को अधिक खतरनाक बताया गया है—क्योंकि वे दोनों प्रकट दोष हैं—क्रोध व मान स्पष्ट दिखाई देते हैं– मनुष्य

गुस्सा पहचान लेता है, किन्तु माया को पहचानना बड़ा कठिन है। यदि पहचान लिया तो फिर माया ही कैसी? अतः माया को गूढ़ दोष बताया है। मायावी अपने भावों को छिपाकर ऊपर से बड़ा भोला भाला, मधुर भाव प्रदर्शित करता है, उसके लिए कहा है—

मुख ऊपर मिठास, घट मांहि खोटा घड़े

इसलिए माया को समझ पाना कठिन है, वह जितनी गूढ़ है, उतनी ही अधिक पापानुबन्धी है। गांधी जी कहते थे—'दंभ (माया) झूठ की बढ़िया पोशाक है।' असत्य स्वयं नंगा होता है, माया की उसकी पोशाक पहन कर वह सभ्य समाज के बीच बैठने लायक हो जाता है। धर्म ग्रन्थों में माया को अत्यन्त निकृष्ट व धर्म को भ्रष्ट करने वाली बताई गई है—

माया करण्डी नरयस्स हुण्डी।
तवो विघट्टी सुगइस्स भग्गी।

माया नरक की पिटारी है, तप को खण्डित करने वाली और धर्म को बदनाम करने वाली है।

स्वार्थ साधने के लिए, विषय वासना की पूर्ति के लिए, दूसरों से सत्ता अधिकार आदि हड़पने के लिए आज माया का धुनम-धुना प्रयोग हो रहा है। आज की राजनीति-माया कपट, छल-छद्म, धोखा और फरेब की एक जीती जागती तस्वीर है। मनुष्य कितना गूढ़ व कितना दंभी हो रहा है। क्षण-क्षण में कितने रूप, कितने चेहरे बदलता है और कितनी बोलियां बोलता है—यह आज की राजनीति की गंदी नीति में देखा जा सकता है। इसी दंभ व धूर्तता के कारण आज कोई किसी का विश्वास नहीं करता। कोई किसी का मित्र नहीं होता। माया—ऐसी तेज कैंची है जिसकी पहली धार में मित्रता के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं और दूसरी धार में विश्वास—चिथड़े-चिथड़े होकर बिखर जाता है। (इसीलिए भगवान महावीर ने कहा है—माया मित्ताणि नासेइ[1]—माया मित्रता का नाश करती है।) जैसे खटाई से दूध

---

१ दशवैकालिक ८।३८

फट जाता है, वैसे ही कपटाई से मन फट जाते हैं। कपटी मनुष्य किसी का मित्र हो ही नहीं सकता। यहां तक कि भगवान भी कपटी से मित्रता नहीं रख सकते। और न उसका विश्वास भी कर सकते हैं ?

माया के दुष्फल

शास्त्रों में माया को शल्य कहा है, जैसे तीखा कांटा, भाला व तीर शरीर में चुभ जाता है तो उसकी पीड़ा समूचे शरीर में कसकती रहती है, दर्द सालता रहता है, वैसे ही कपट करने वाले की आत्मा में—किया हुआ कपट कांटे की तरह सालता रहता है। न केवल इस जन्म में ही, किन्तु—जन्म-जन्म में। सूत्र में यहां तक बताया है कि मास-मास खमण की तपस्या करने वाला भी यदि माया कपट करता है तो उसे तपस्या का सुफल मिलना तो दूर रहा, किन्तु उलटा अनन्त-अनन्त जन्मों तक वह संसार में दुःखों को भोगता है—

जे इह मायाइं मिज्जइ आगंता गब्भाय णंतसो।[1]

माया के तीन दुष्परिणाम बताये गये हैं—

१ मित्रता का नाश
२ विश्वास का नाश
३ परलोक में दुर्गति

माया कपट करने वाले की गति—परलोक बिगड़ जाता है। शास्त्र में कहा है—**माया गई पडिग्घाओ**[2]—माया से सद्गति का नाश होता है। आचार्य उमास्वाति ने कहा है **माया तैर्यग् योनस्य**[3]—माया तिर्यंच गति को देने वाली है, पशु बांके होकर तिरछे चलते हैं इसका कारण है, माया का दुष्फल ! 'तिर्यंच गति के चार कारणों में प्रथम दो कारण माया के ही बताये हैं—**माइल्लयाए नियडिल्लयाए**[4]—माया कपट करने से, धूर्तता पूर्ण व्यवहार करने से प्राणी मरकर तिर्यंच योनि में जन्म लेता है।

---

१ सूत्रकृतांग २।२।९
२ उत्तराध्ययन ९।५४
३ तत्त्वार्थ सूत्र ६।२७
४ स्थानांग ४।४

प्रकार माया रूप विष वृक्ष को फलवान बनने से पहले, अर्थात् माया आचरण में आने से पहले ही उसे रोक दें। यह माया प्रतिसंलीनता तप है!

लोभ सर्व नाशक है

जैन धर्मके प्राचीन ग्रंथ उपदेश माला में कहा गया है—

लोभ मूलानि पापानि रसमूलानि व्याधयः
स्नेह मूलानि शोकानि त्रीणि त्यक्त्वा सुखी भवेत्॥

सब पापों की जड़-लोभ है।

सब रोगों की जड़-स्वाद है।

सब शोकों की जड़-स्नेह है।

इन तीनों को त्याग करने वाला सुखी होता है।

इसीलिए संसार में 'लोभ पाप का बाप' कहा जाता है। पुराने संत कहा करते हैं—

अठारे पापों का परम-पितु लोभी लचक है,
गई शुद्धी बुद्धि अगणित दुःखों में गचक है।
करे हत्या चोरी बनकर अघोरी फिरत है,
महा मिथ्या भावी विषय-अभिलाषी गरत में!

ज्ञानी तापस सूर कवि, कोविद गुन अनगार ।

केहि की लोभ विडम्बना कीन्ह न एहि संसार ।[1]

फिर लोभ से इस लोक में ही नहीं, किन्तु परलोक में भी कष्ट उठाने पड़ेंगे—लोहाओ दुहओ भयं[2] लोभ से दोनों जन्म में भय, कष्ट और यातना झेलनी पड़ती है ।

इस प्रकार वह लोभ के उदय को रोकता है, मन से लोभ की भावना दूर कर मन को निर्लोभ, संतुष्ट व शांत बनाता है ।

---

१ रामचरित मानस,

२ उत्तराध्ययन ६।५४

संतोष से लोभ को जीतो

लोभ को जीतने का एक ही मार्ग है और वह है—संतोष ! **लोहं संतोसओ जिणे**—लोभ को संतोष से जीतो। आग को शांत करने के लिए पानी की आवश्यकता है, भूख मिटाने के लिए रोटी की और रोग मिटाने के लिए औषधि की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार लोभ को जीतने के लिए संतोष ही एक मार्ग है।

संतोष से मन की लालसाएं, आशाएं कम होती हैं। वासना पर काबू पाया जाता है। विषयों से विरक्ति होती है, और जो वस्तु प्राप्त है उसी में आनंद का अनुभव किया जाता है। इस प्रकार संतोष के तीन फल सिद्ध हुए—

१ लालसाओं की कमी
२ विषयों से विरक्ति
३ प्राप्त सामग्री में आनन्द

हम अनुभव करते हैं और शास्त्र में भी बताया है कि मन की लालसाएं, आकाश के समान अनन्त हैं. असीम है[1], सागर तल की भांति अपार है, कोई उन्हें भरना चाहे तो वैसा ही असंभव काम है जैसे सागर जैसे गड्ढे को मिट्टी से भरना। इच्छा वस्तु से नहीं भरी जा सकती है। रोटी खाने से पेट भर सकता है, लेकिन मन नहीं भर सकता, मन तो तभी भरेगा—जब अन्य वस्तु-मिष्टान आदि की इच्छा नहीं रहेगी, और जो रूखी-सूखी रोटी मिले, उसी में आनन्द अनुभव होगा। योगदर्शनकार पतंजलि ऋषि ने कहा है—**संतोषादनुत्तमः सुखलाभः**[2] जो सुख, धन, संपत्ति, अधिकार और प्रभुत्व से प्राप्त नहीं हो सकता वह सुख—"सर्वोत्तम सुख संतोष से प्राप्त होता है। संतोषी के सामने समस्त वैभव तुच्छ होते हैं—**मुत्तीएणं अकिंचणं जणयइ**[3]—निर्लोभता से हृदय में अकिंचन भाव - अर्थात् भोग्य वस्तु को तुच्छ व सारहीन समझने की बुद्धि जग जाती है, इससे भौतिक वस्तुओं का आकर्षण कम हो जाता है।

---

१ इच्छा हु आगास समा अणंतिया—उत्तराध्ययन
२ योग दर्शन २।१२
३ उत्तराध्ययन २९।४७

अर्थ क्या है—इसे समझने के लिए जैन एवं वैदिक ग्रन्थों का सूक्ष्म अवलोकन करना चाहिए।

योगदर्शन के प्रणेता महर्षि पतंजलि ने कहा है—**योगश्चित्तवृत्ति निरोध:**[1]— चित्त वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। गीता में समता को योग कहा है - **समत्वं योग उच्यते**।[2] बौद्ध आचार्यों ने—कुशल प्रवृत्ति अर्थात् सत्प्रवृत्ति को— **कुशल प्रवृत्तिर्योग:** योग कहा है। जबकि जैन परिभाषा में योग का अर्थ इनसे प्राय: भिन्न ही है। यद्यपि भगवान महावीर के पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने योग के अर्थ को कुछ संशोधित कर वैदिक परिभाषा के निकट लाने का प्रयत्न किया है, जैसा कि आचार्य हरिभद्र सूरि ने कहा है—

मोक्खेण जोयणाओ, जोगो सव्वोविधम्म ववहारो।[3]

—जो आत्मा को मोक्ष के साथ जोड़ता है वह सभी धार्मिक व्यवहार योग है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी योग को इसी परिभाषा में बिठाया है—**मोक्षोपायो योग:**[4]— मोक्ष का जो उपाय है, वही योग है। किन्तु प्राचीन आगमों में योग' शब्द का अर्थ कुछ दूसरा ही है। वहां—योग की परिभाषा तो नहीं मिलती, किन्तु योग के तीन भेद मिलते है—मनोयोग, वचन योग तथा काययोग। इनसे यह स्पष्ट होता है कि—**कायवाङ्मनो व्यापारो योग:**[5]—शरीर, वचन एवं मन का व्यापार—इनकी हलन चलन रूप प्रवृत्ति को योग कहा गया है। मन की प्रवृत्ति को मनोयोग, वचन की प्रवृत्ति को वचनयोग तथा काया की प्रवृत्ति को काययोग कहा गया है। इन योगों की प्रवृत्ति शुभ एवं अशुभ दोनों प्रकार की हो सकती है, अत: योग शुभ भी होता है तथा अशुभ भी! अन्य परिभाषाओ में तथा आगम की इस परिभाषा

---

१ पातंजल योग दर्शन १।२

२ गीता २।४८

३ योगविंशिका

४ अभिधान चिन्तामणि १।७७

५ जैनसिद्धान्त दीपिका ४।२६

(ख) देखिए—तत्त्वार्थ सूत्र ६।१ से ४ तक

तीन भेद

योग प्रतिसंलीनता तप तीन प्रकार का है—

१ मन योग प्रतिसंलीनता

२ वचन योग प्रतिसंलीनता

३ काय योगप्रतिसंलीनता

मन आदि प्रत्येक योग के तीन-तीन भेद बताये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

मणजोग पडिसंलीणया तिविहा—पण्णत्ता तंजहा—

अकुसलमण निरोहो वा

कुसलमण उदीरणं वा

मणस्स वा एगत्तीभावकरणं

---

६ शुभः पुण्यस्य, अशुभः पापस्य। —तत्वार्थ सूत्र ६।३।४

—मनोयोग प्रतिसंलीनता तीन प्रकार की है—जैसे
अकुशल मन का निरोध,
कुशल (शुभ) मन की प्रवृत्ति,
मन को एकाग्र करना

मन के रूप

मन का अर्थ है—चिन्तन-मनन करने की शक्ति। दार्शनिकों ने मन की सैकड़ों प्रकार की परिभाषाएं की है, उनके शब्दजाल में उलझने से कुछ पल्ले पड़ने वाला नहीं है। मुख्य बात यह है कि कान, नाक, जीभ, आदि इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान, तथा अनुभव मनन करने की जो चिद्शक्ति है वह मन है। मन एक प्रकार से इन्द्रिय एवं आत्मा के बीच की कड़ी है।

मन के अनेक रूप हैं, किसी समय मन चंचल रहता है, किसी समय स्थिर। कभी वह क्रूर एवं अशुभ विचारों की गंदी नाली में बहता रहता है, कभी शुभ संकल्पों की पवित्र धारा में। मन कभी साधु बन जाता है, कभी शैतान! कभी भगवान में लीन हो जाता है और कभी विषय-वासना के कीचड़ में। इस तरह मन के अनेक रूप हमारे सामने आते हैं। वैसे साधारणतः मन चार प्रकार के बताये गये हैं— अर्थात् मन की ये चार अवस्थाएं होती हैं।

१ चंचल मन—कामी, लोभी, विषय वासना में फंसे हुए मनुष्यों का। सत्ता, धन आदि की प्राप्ति के लिए तोड़-फोड़ आदि में संलग्न मन 'चंचल मन' है।

२ मुर्दा मन आलसी निष्क्रिय व्यक्तियों का मन मुर्दामन होता है। उसमें न सांसारिक विषयों की प्राप्ति की उमंग होती है और न प्रभु भजन, सच्चितन की लीनता। एक प्रकार से वह शांति तो चाहता है किन्तु सचेतन शांति नहीं, उद्यान की रमणीय शांति नहीं, किन्तु श्मशान की बीभत्स शांति ही उसको प्रिय लगती है। इसलिए मुर्दामन कहा है।

३ शांत मन—यह मन सच्चितन में, प्रभु भजन स्तवन आदि में तथा

इह विक्षिप्तं यातायातं श्लिष्टं तथा सुलीनं च ।
चेतश्चतुःप्रकारं तज्ज्ञ चमत्कारकारि भवेत् ।[1]

१ विक्षिप्तमन— चपल, विषयों में भटकता हुआ मन ।

२ यातायातमन—इधर-उधर दौड़ता हुआ मन । कभी भीतर में जाकर स्थिर होता है और कभी फिर बाहर आकर विषयों में भटकने लगता है । इस स्थिति में कुछ-कुछ आनंद की भी अनुभूति होने लगती है ।

३ श्लिष्टमन—भीतर में स्थिर हुआ । आत्मानुभव के कारण आनन्द एवं प्रसन्नता में पगा हुआ यह चित्त प्रायः आध्यात्मिक विषयों में स्थिर हुआ रहता है ।

४ सुलीनमन—आत्मानुभव में अत्यन्त लीन समाधिस्थ चित्त । ये अवस्थाएं चित्त के क्रमिक विकास को सूचित करती हैं, साथ ही मन उत्तरोत्तर स्वस्थ, आत्मनिष्ठ एवं शुद्ध होता हुआ जब चतुर्थ दशा में पहुंचता है तो परम योगी का पद प्राप्त कर लेता है ।

पहले शुद्धीकरण; फिर स्थिरीकरण

यह निश्चित बात है कि मन पवन से भी अधिक चंचल है । इसका निग्रह करना, इसे पकड़ना वायु को पकड़ने से भी अधिक दुष्कर है—वायोरिव सुदुष्करम्[2]—इसीलिए कहीं इसे बन्दर सा चंचल, कहीं घोड़े सा दुस्साहसी, तेज दौड़ने वाला,[3] कहीं समुद्र की लहर-सा अस्थिर व तीव्रगामी बताया गया है ।

---

१ योगशास्त्र १२।२ से ४
२ गीता ६।३४
३ उत्तराध्ययन २३ । श्वेताश्वतर उपनिषद् २।९

जैसे नदी की धारा सदा बहती है वैसे ही मन सदा गतिशील रहता है। हां, नदी की धारा हमेशा ही नीचे की ओर बहती है, जबकि चित्त नदी की धारा कभी नीचे और कभी ऊपर—दोनों ओर ही बहती है। इसलिए महर्षि-पतंजलि ने चित्त रूप नदी को 'उभय-वाहिनी' बताया है—**चित्तनदी नाम उभयतो वाहिनी, वहति कल्याणाय, वहति पापाय च।** चित्त नाम की नदी कभी ऊपर की ओर—पुण्य के लिए, शुभ कर्म के लिए बहती है तो कभी नीचे की ओर पाप की तर्फ बहती है। दोनों ओर इसका मुंह है इससिए यह द्विमुखी धारा है। आरण्यक में कहा है—

मनोहि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाऽशुद्धमेव च।
अशुद्धं कामसपंर्काच्छुद्धं काम विवर्जितम्।[1]

मन दो प्रकार का है—शुद्ध और अशुद्ध। कामनाओं से सहित मन अशुद्ध है और कामनाओं से रहित मन शुद्ध है।

पानी का प्रवाह जिस प्रकार सहजतया नीचे की ओर ही बहता है उसी प्रकार मन भी सहजतया अशुभ विचारों की ओर अधिक बहता है। बुरे संकल्प, अशुद्ध विचार अनायास ही मन में आ जाते हैं, जैसे वृक्ष पर पक्षी बिना बुलाये ही आकर बैठ जाते हैं, उसी प्रकार मन में अशुभ विचार भी बिना बुलाये, बिना किसी प्रयत्न के अपने आप आ जाते हैं। यह तो प्रकट सत्य है कि मन कभी विचारशून्य नहीं रहता। मन को विचारों से खाली करने की बात—सहज रूप में अनुभवगम्य नहीं है। साधारण साधक के लिए वह संभव भी नहीं हैं, अतः जैन दर्शन में तथा योगदर्शन में भी सर्वप्रथम मन का परिष्कार करने की विधि पर ही बल दिया है। अशुभ विचारों से मन को हटाना, मन की कलुषता का प्रक्षालन करना और शुभ विचारों की ओर उसे मोड़ देना—मनोनिग्रह की प्रथम भूमिका यही है। इसे ही मन का संयम कहा है।[2]

---

१ मैत्रायणी आरण्यक ६।३४—६

२ मणसंजमो णाम अकुसलमणणिरोहो कुसलमणउदीरणं वा।
—आचार्य जिनदास, दशवैकालिक चूर्णि १

कुछ साधक सबसे पहले मन को एकाग्र करने की बात करते हैं, किन्तु यदि मन शुद्ध नहीं हुआ तो एकाग्रता से क्या लाभ होगा ? मछली को पकड़ने के लिए बगुला भी एकाग्र होता है, चूहे पर ताक लगाकर बिल्ली भी एक चित्त होकर बैठी रहती है—क्या यह एकाग्रता नहीं है ? किन्तु यह एकाग्रता भी घातक अशुद्ध एवं पाप मय है। इसलिए जैन दर्शन पहले मन के परिष्कार की बात कहता है। फिर एकाग्रता की ! शुद्ध मन ही एकाग्रता रूप ध्यान—चिंतन कर सकता है।

तीन घुड़सवार

भारतीय साधकों में कुछ हठयोगी साधक मन को मारने की बात भी कहते हैं। नशा करके, भांग, गांजा चरस आदि के द्वारा मन को विचार-शून्य करने के प्रयत्न करते हैं ! मन को मूर्च्छित कर के तल्लीनता का आनन्द अनुभव करना चाहते हैं। किन्तु यह साधना का गलत तरीका है। मन को मूर्च्छित करने से, इन्द्रिय आदि को काट देने से मन स्थिर नहीं हो सकता, वह तो एक प्रकार का मुर्दा मन हो जायेगा। मन अपंग हो गया, मूर्च्छित हो गया तो फिर शुभ कार्यों में भी वह गतिशील नहीं होगा ? अच्छा घुड़सवार वह नहीं है जो घोड़ा वश में नहीं आये तो उसकी टांग तोड़कर लंगड़ा ही कर दे, घुड़सवार तो वह है जो अपनी कुशलता से घोड़े को वश में करे, अपने काबू में रखे।

किसी राजा के तीन पुत्र थे। तीनों ही घुड़सवारी के बहुत शौकीन थे। एकबार राजदरबार में बहुत से विदेशी घोड़े आये। राजा ने तीनों राजकुमारों के लिए एक-एक सुन्दर घोड़ा खरीद कर उन्हें दिया। राजकुमार बहुत प्रसन्न हुए। तीनों ही अपने-अपने घोड़ों पर चढ़कर सैर करने निकले।

घोड़े दौड़े तो कुछ ही क्षण में हवा में तैरते हुए बहुत दूर जा निकले। रोकने के लिए जैसे रास खींचते वैसे घोड़े और तेज ! और अधिक तेज दौड़ने लगे। राजकुमारों का दम फूलने लगा। पहले ने सोचा—यदि घोड़े ने कहीं खड्डे में, खाई में गिरा दिया तो प्राणों पर बन जायेगी, इसलिए जैसे भी हो इसे रोककर नीचे उतरना चाहिए। और कोई उपाय न देखकर उसने अपनी तलवार निकाली और घोड़े की टांग काट डाली। घोड़ा वहीं

धड़ाम से गिर पड़ा, राजकुमार के प्राण तो बच गये, लेकिन इस जंगल में वह अब अकेला बे-सहारा हो गया, वापस जाये तो कैसे ? और लंगड़े घोड़े को सिर पर उठाकर कैसे ले जाय ? जो घोड़ा वाहन था, वह अब वाह्य बन गया, राजकुमार सिर पर हाथ धरे बैठा सोच रहा था।

दूसरे राजकुमार ने भी घोड़े को रोकने की बहुत चेष्टा की, किन्तु जब वह कैसे भी नहीं रुका तो वह स्वयं ही घोड़े से कूद पड़ा। कूदते ही उसकी टांग टूट गई, घोड़ा भी वहां ठहर गया।

तीसरे राजकुमार ने भी घोड़े को रोकने की चेष्टा की, ज्यों-ज्यों रोकने की चेष्टा की, घोड़ा तेज से तेज दौड़ता गया। आखिर उसने घोड़े की रास—(लगाम) ढीली छोड़ दी, जैसे ही लगाम ढीली छोड़ी, घोड़ा वहीं रुक गया, राजकुमार नीचे उतर कर छाया में विश्राम करने लगा। कुछ देर बाद उसने अपने भाइयों की खोज की, तो एक भाई अपनी टांग तोड़े बैठा मिला तो दूसरा घोड़े की टांग तोड़कर बैठा मिला।

जो साधक इन्द्रिय एवं मन को वश में करने के लिए उन्हें नष्ट करने, बेहोश करने तथा नशे-पते के द्वारा मूर्च्छा देने की बात करते हैं वे घोड़े की टांग तोड़ते हैं। यदि घोड़े को अपंग कर दिया तो फिर वह घोड़ा आपको कहीं भी नहीं ले जा सकेगा, जहां भयंकर जंगल में ले जाकर डाल दिया बस वहीं पड़े रहोगे। दूसरे सवार की भांति कुछ साधक मन व इन्द्रियों को बिल्कुल खुला छोड़ देने की बात कहते हैं। उन्हें यह घोड़ा कहां लेजाकर पटकेगा और कितना नुकसान करेगा कुछ पता नहीं ? उन्हें जीवन यात्रा के सर्वथा-अयोग्य ही बना देगा ! इसलिए तीसरे घुड़सवार की भांति मन को ढीला छोड़कर उसे दौड़ने से रोकना चाहिए। मन को कहां पर रोकना, कसना और कहां पर ढीला छोड़ना—जो साधक इस कला में निपुण होगा वही मन को प्रशान्त बनाकर समाधिस्थ कर सकता है।

मन को कैसे मोड़े ?

मन के दुस्साहसिक उत्पथगामी घोड़े को सुपथ पर लाने के लिए क्या करना चाहिए ? यह प्रश्न साधक जीवन के लिए बहुत ही महत्व पूर्ण है।

आज से ढाइ हजार वर्ष पूर्व इसी प्रकार का एक प्रश्न केशीकुमार श्रमण ने गणधर इन्द्रभूति गौतम से किया था—

अयं साहसिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावइ।
जंसि गोयम आरुढो कहं तेण न हीरसि ?

हे गौतम ! यह घोड़ा बड़ा दुस्साहसिक और दुष्ट स्वभाव वाला है, तुम उस पर आरूढ़—सवार हो, तो क्या तुम्हें वह घोड़ा कोई कष्ट नहीं देता ?

गौतम ने उत्तर दिया—

मणो साहसिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावइ।
तं सम्मं तु निगिण्हामि धम्म सिक्खाइ कंथगं ![1]

मन का यह साहसिक—दुष्ट घोड़ा है, बड़ा ही चंचल व तेज ! मैं धर्म शिक्षा रूप लगाम से उसे अपने वश में किये रखता हूं। इसलिए वह मुझे कोई परेशान नहीं करता, जिधर भी उसे दौड़ाना चाहता हूँ वह उधर ही दौड़ता है ! घोड़ा अपने मन से नहीं, किन्तु सवार के मन से चले,बस-इसी में सवार की दक्षता है। वही सच्चा अश्वारोही है !

गौतम स्वामी ने मन के घोड़े को मोड़ने का, वश में करने का यह तरीका बताया है – धर्म शिक्षा ! धर्म शिक्षा का अर्थ है—विवेक ! सद्विचार, उच्चसंकल्प ! मन को दुर्विचारों से रोकने का यही एक तरीका है—सद् विचार !

आचार्य हेमचन्द्र ने मन को शांत बनाने का साधन बताते हुए कहा है–

चेतोऽपि यत्र यत्र प्रवर्तते नो ततस्ततो वार्यम् !
अधिकीभवति हि वारितमवारितं शांतिमुपयाति !
मत्तो हस्ती यत्नान्निवार्यमाणोऽधिकी भवति यद्वद् ।
अनिवारितस्तु कामान् लब्ध्वा शाम्यति मनस्तद्वत् ।[2]

—मन जिन-जिन विषयो में प्रवृत्त होता हो, उनसे उसे बलात् रोकने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। क्योंकि बलपूर्वक—हठाग्रह के साथ रोकने

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र २३।५७-५८
२ योगशास्त्र १२।२७-२८

से मन और अधिक दौड़ने लगता है और न रोकने से शांत हो जाता है।

जैसे मदोन्मत्त हाथी को रोका जाए तो वह उस ओर ज्यादा तेजी से दौड़ना चाहता है, और उसे न रोका जाय; तो वह अपने इस विषय को प्राप्त कर सहज रूप में शांत हो जाता है। यही स्थिति मन की है।

धारा बदल दो

मन को विषयों से रोकने से अधिक विषयोन्मुख बनता है, और खाली छोड़ने पर भी विषयों का चिंतन करता है! इसलिए उसे शुद्ध बनाने का यही एक उपाय है कि उसे शिथिल कर दिया जाय, अर्थात् उसे रोकने के बजाय उसका मार्ग बदल दिया जाय। नदी का प्रवाह रोकने पर बाढ़ का भयंकर रूप धारण कर अधिक विनाशकारी हो सकता है, यदि खेतों की ओर, तथा शुष्क भूमि की ओर उसका प्रवाह बदल दिया जाय तो वही विनाश निर्माण में बदल सकता है। **अवारितं शान्तिमुपयाति** से आचार्य का यह अभिप्राय नहीं है कि मन को विषय भोगों की खुली छूट दे दी जाय! खूब भोग भोगे! यदि ऐसी ही बात होती तो फिर स्वयं आचार्य क्यों मन का संयम करते? क्यों साधना, भक्ति और ध्यान योग में प्रवृत्ति करते? मन तो विषयों को भोग कर स्वयं ही शांत हो जाता? किन्तु ऐसा मानना स्पष्ट ही मूर्खता होगी। मन को रोकना नहीं का अर्थ यह है कि मन की गति में आगे चट्टान मत लगाओ, किन्तु उस की धारा को बदल दो! अधोगामी धारा को ऊर्ध्वगामी बना दो, अशुभ संकल्पों को शुभ संकल्पों में बदल दो! जिस मन में मिट्टी कंकर भरे हैं, उसमें हीरे-जवाहरात भर दो।

मन की शुद्धि के लिए जैन धर्म में अनेक प्रकार की साधनाएं बताई गई हैं। ध्यान व एकाग्रता की साधना से पहले अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाएं बताई है, मैत्री, प्रमोद, करुणा, व माध्यस्थ भाव की साधना बताई गई है, यह भावना को शुद्ध व उदात्त बनाने की ही प्रक्रिया है। इन भावनाओं में संसार के विषयों के प्रति वैराग्य मय चिंतन होता है, दूसरों के गुण, कर्तव्य पालन आदि पर प्रसन्नता अनुभव की जाती है—इस प्रकार मन में शुभ विचारों का उदय होता है, अशुभ विचार दब जाते हैं।

की प्राप्ति बताई गई है। अतः पहले मन का शुद्धीकरण करके फिर स्थिरीकरण किया जाता है, यही मन प्रतिसंलीनता के तीन भेदों में स्पष्ट किया गया है—कि सर्वप्रथम मन को अशुभ विचारों में जाने से रोको, फिर उसे शुभ विचारों से पवित्र बनाओ, शुभ भावना के द्वारा निर्मल बनाओ और उसके बाद किसी एक शुभ ध्येय पर उसे एकाग्र करो। एकाग्रता का विशेष सम्बन्ध ध्यान से है अतः इस विषय की चर्चा अधिक विस्तार के साथ ध्यान प्रकरण में ही की गई है।

मन शुद्ध, तो वचन शुद्ध

वचनयोग प्रतिसंलीनता के भी तीन प्रकार बताये गये हैं—

१ अकुशल वचन का निरोध।

२ कुशल वचन का प्रवर्तन।

३ वचन का एकत्रीभाव—अर्थात् मौन का आलंबन!

मन की तरह वचन भी एक अद्भुत शक्ति है। इन दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन यदि राजा है तो वाणी उसका दूत है। मन यदि ध्वजा है तो वाणी उसका दंड है। वैदिक ग्रन्थों में कहा गया है—

मनसा हि सर्वान् कामान् ध्यायति
वाचा हि सर्वान् कामान् वदति[1]

सर्वप्रथम मन से ही अभीष्ट पदार्थों का ध्यान किया जाता है, फिर वाणी उस ध्यान व संकल्प को बाहर में व्यक्त करती है। मनुष्य पहले सोचता है, चिन्तन संकल्प करता है, फिर उसे वाणी द्वारा प्रकट करता है, बोलता है, इसलिए हमारे जीवन व्यवहार में मन और वाणी का पूर्वापर सम्बन्ध है।

मन एव पूर्वं रूपं वागुत्तररूपम्[2]

मन पूर्व रूप है, वाणी उत्तर रूप है। मन में जो बात होगी, वही वाणी द्वारा प्रकट होगी। मन के कुएं में विचारों का जैसा पानी होगा, वाणी के

---

१ ऐतरेय आरण्यक १।३।२

२ शांख्यायन आरण्यक ७।२

अशुभ वचन के लक्षण

सत्य की तरह असत्य की परिभाषा भी बड़ी व्यापक है। साधारणतः यथार्थ कथन को सत्य और अयथार्थ कथन को असत्य कहा जाता है। जो वस्तु जैसी है, उसे गलत रूप में कहना असत्य है। कहीं-कहीं—कहना कुछ और करना कुछ—**अन्नं भासइ अन्नं करेइ त्ति मुसावाओ**[1] —कथनी करनी का भेद भी मृषावाद-असत्य माना गया है। किन्तु यह सब असत्य की परिभाषाएं एक देशीय है। जैन धर्म में सत्य-असत्य का बड़ा गहरा विवेचन है। वहां—सिर्फ अयथार्थ कथन ही असत्य नहीं, किन्तु हृदय को कष्टकारी, अप्रिय, हिंसा-

---

१ निशीथचूर्णि ३९८८

कारी सत्य भी असत्य का ही बंधु माना गया है। असत्य के चार भेद बताये गये हैं—[1]

१ **सद्भाव प्रतिषेध**—आत्मा-पुण्य-पाप आदि तत्वों की सत्ता का निषेध करना, इन्हें नकारना।

२ **असद्भावोद्भावन**—जो तत्त्व नहीं है, उसे तत्त्व बताना—जैसे हिंसा में धर्म बताना।

३ **अर्थान्तर**—अपने गौरव के लिए, सम्प्रदाय आदि के मोह से तथा अपनी गलत विचारधारा को पुष्ट करने के लिए शास्त्र का अर्थ बदलना।

४ **गर्हा**—दूसरों की निन्दा एवं अपमान युक्त वचन बोलना।

ये चार भेद आचार्य हरिभद्र ने सूचित किये हैं– इनमें नास्तिकता, हिंसा, पर-निन्दा, अहंकार युक्त वाणी एवं साम्प्रदायिक अभिनिवेश को स्पष्ट रूप से असत्य घोषित किया है। इस प्रकार की भावना से जो वाणी बोली जाती है वह सब असत्य की कोटि में आती है।

मूल आगमों में असत्य के दस भेद और कहे गये है। जैसे—

दस विहे मोसे पण्णत्ते – तं जहा[2]

कोहे माणे माया लोहे पिज्जे तहेव दोसे य।

हास भये अक्खाइय उवघातनिस्सिए दसमे।

असत्य दस प्रकार का है—क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष एवं हास्य तथा भय के वश होकर कथन करना, कहानी आदि के मिष तथा हिंसा के निमित्त कथन करना— इन दस कारणों में सभी कारण ऐसे हैं जिनके वश होकर व्यक्ति सत्य बात कहे तब भी वह असत्य ही है। क्रोध, लोभ आदि के वश हुआ व्यक्ति जो वाणी बोलता है, उसके पीछे उसका विवेक नहीं रहता, ज्ञान नहीं रहता कि वह क्या बोल रहा है तथा उसके बोलने का क्या परिणाम होगा? वह विवेकहीन वचन बोलता है, और विवेकहीन, ज्ञानरहित

---

१ दशवैकालिकअध्ययन ४, टीका

२ स्थानांग सूत्र १०। प्रज्ञापना, भाषापद ११

यद्यपि आचार्य पतंजलि[1] ने सत्य की परिभाषा बहुत सीमित की है—"सत्यं यथार्थे वाङ् मनसे यथादृष्टं यथानुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति जैसा देखा-सुना, समझा हो, दूसरों को कहते समय मन वचन का वैसा ही प्रयोग करना सत्य है।" किन्तु सत्य की परिभाषा इस छोटी परिधि में नहीं बन्ध सकती। वास्तव में इन सब से ऊपर सत्य वह है जो सब जगत् के लिए हितकारी हो। जैसा महर्षि व्यास जी ने कहा है—

यद् भूतहितमत्यन्तं एतत् सत्यं मतं मम।

जो समस्त प्राणियों के लिए अत्यंत हितकारी हो, वही सत्य है। जैन धर्म में भी वही सत्य, सत्य माना गया है जो समस्त जगत का कल्याण करने वाला हो, जिसमें मन की, वाणी की, शरीर की और आचरण की सरलता एवं पवित्रता हो[3] उसे ही सत्य की सीमा में प्रवेश करने का अधिकार दिया है। इसलिए यह निश्चित तथ्य है कि जो कथन क्रोध आदि कलुषित विचारों से दूषित हो, वह सत्य देवता के मन्दिर में नहीं चढ़ सकता, जैसे कि दूषित अन्न व सड़े गले-पुष्प फल आदि देव मन्दिर में नहीं चढ़ सकते।

जैन सूत्रों में स्थान-स्थान पर असत्य एवं अकुशल वचन के लक्षण बताते हुए कहा गया है अपनी प्रशंसा, और दूसरों की निंदा करना यह भी असत्य का ही एक रूप है।[4] क्रोध आदि की आकुलता में कुछ कहना भी असत्य वचन है।[5] सावद्य—पापकारी कार्यों की प्रशसा करने वाला वचन, संशय

१ पातंजल योग दर्शन, साधना पद ३, भाष्य

२ महाभारत, शांतिपर्व, ३२६।१३

३ स्थानांग सूत्र ४।१ सत्य के चार भेद देखिए।

४ प्रश्नव्याकरण सूत्र २

५ दशवैकालिक चूर्णि ७।७

युक्तवचन व, दूसरे के दिल पर चोट लगाने वाला वचन, किसी का मजाक व निंदा करने वाला वचन, भ्रम फैलाने वाला वचन - यह सब असत्य व अशुभ वचन है, सत्य के साधक के लिए त्याज्य है।[1] इसके अतिरिक्त अधिक बोलना[2] निरर्थक बकवास करना, तथा मर्मघातक बोलना[3] तू-तू जैसे अभद्र शब्दों का प्रयोग करना,[4] तुच्छ तथा अशिष्ट भाषा बोलना[5] कलह व झगड़ा बढ़ाने वाला वचन (भले ही सत्य क्यों न हों)[6] ये सब प्रकार के वचन— असत्य एवं अकुशल वचन हैं। तथागत बुद्ध ने भी असत्य वचन के चार रूप बताते हुए कहा है— झूठ, चुगली, कठोर वचन और बकवास ये—चारों प्रकार के वचन मिथ्या वचन है।[7]

अकुशल वचन निरोध में इन सब प्रकार के वचनों का त्याग करना चाहिए, तथा विवेक पूर्वक, विचार कर सत्य वचन बोलना चाहिए। जैन आचार्यों ने तो यहां तक कहा है कि—जिस भाषा को बोलने पर चारित्र की शुद्धि होती हो, वह भाषा सत्य है, इसके अतिरिक्त जिस भाषा के प्रयोग से चारित्र दूषित होता हो, वह भाषा चाहे सत्य ही क्यों न हो, असत्य ही मानी जायेगी।"[8] भाषा-प्रयोग में शब्दों का महत्व नहीं, भावना और विवेक का महत्व है। हां शब्दों का प्रयोग करते समय भी उसकी सुन्दरता, श्रेष्ठता और उपयोगिता पर ध्यान देना चाहिए। शास्त्र में कहा है—

दिट्ठं मियं असंदिद्धं पडिपुन्नं विअंजियं
अयंपिर मणुव्विग्गं भासं निसिरअत्तवं।[9]

---

१ दशवैकालिक ७।५४
२ सूत्रकृतांग १।१४।२३
३ उत्तराध्ययन १।२५
४ सूत्रकृतांग १।६।२७
५ सूत्रकृतांग १।२४।२१
६ दशवैकालिक १०।१७
७ मज्झिमनिकाय ३।१७।१
८ दशवैकालिक चूर्णि ७ (जिनदास)
९ दशवैकालिक ८।४९

इस प्रश्न का सीधा समाधान यही है—कि मुनि—सावद्य वचन अर्थात्-पापकारी वचन का त्याग करता है, अशुभ वचन का परिहार करता है, इसलिए अशुभ एवं सावद्य वचन का त्यागी, सावद्य वचन के लिए मौन रखने के कारण उसे 'मुनि' कहा जाता है। यह मौन जीवन भर के लिए होता है अत: 'मुनिपद' भी जीवन भर के लिए सार्थक होता है।

मौन का दूसरा अर्थ है—वचन योग का निरोध। वचन योग का सर्वथा निरोध छद्मस्थ दशा में संभव नहीं है, वहां तो सिर्फ भाषा-प्रयोग अर्थात् शब्द प्रयोग का ही निरोध हो सकता है। शब्दों का उच्चारण मुख से न किया जाये, यह प्रचलित मौन का अर्थ है। इसमें भी कई प्रकार के मौन होते हैं—कुछ मौन व्रत में शब्द-प्रयोग का तो त्याग किया जाता है, किन्तु आंख, हाथ आदि के संकेत, करके भावों को प्रकट करना, लिखकर जताना आदि चालू रहते हैं और कुछ मौनव्रत में संकेत आदि का भी सर्वथा त्याग कर दिया जाता है।

वचन प्रतिसंलीनता के तीसरे भेद में मौन का दूसरा अर्थ ही ग्राह्य है। क्योंकि सावद्यवचन का त्याग रूप मौन तो अकुशलवचन निरोध में ही आ जाता है, उसको बार-बार कहने की कोई जरूरत नहीं रही, अत: यहां पर अकुशल वचन, एवं कुशलवचन दोनों का निरोध रूप ही मौन अभिप्रेत है—ऐसा हमारा अनुमान है!

काय-संकोच

वचन प्रतिसंलीनता के बाद काय प्रतिसंलीनता तप का वर्णन आता है। काय प्रतिसंलीनता का अर्थ है—काया का संकोच—अर्थात् कायसंयम! हाथ, पैर, नाक, आंख, कान आदि शरीर के प्रत्येक अंग का संयम रखना, इन्हें विषयों की तरफ जाने से रोकना तथा सेवा, भक्ति, परोपकार आदि कार्यों में लगाना - यह काय-संयम है। शास्त्र में कहा है—

> **हत्थसंजए, पायसंजए वायसंजए संजए इन्दियस्स।**
> **अज्झप्प रए सुसमाहियप्पा सुत्तत्थं च वियाणइ जे सभिक्खू।**[1]

---

१ दशवैकालिक १०।१५

(वचन एवं शरीर का संकोच करना द्रव्य पूजा है, तथा मन का संकोच करना भाव पूजा है।)

काय-संकोच में संयम की साधना तो स्पष्ट है ही। क्योंकि इन्द्रियों का निग्रह संयम है, शरीर को सात्विक दृष्टि से कष्ट देना, तपाना यह तप है। शब्द, रूप, रस आदि मनोमुग्धकारी विषयों का आकर्षण सामने आने पर उनकी तर्फ देखना नहीं, मन नहीं करना, आकृष्ट नहीं होना यह अनासक्ति भाव है। (स्वर्ग की अप्सराएं अपना अद्भुत सौन्दर्य बिखेरती हुई स्वर्ण-सी दमकती अर्धनग्न देह लेकर सामने खड़ी हो जाए, मन को मुग्ध कर देने वाले हाव-भाव, हास्य, लास्य और गीत-नृत्य करती रहे फिर भी उनकी तर्फ आँख उठा कर देखना नहीं, मधुर गीतों की धुन पर कानों को तनिक भी उस ओर जाने न देना कितना बड़ा आत्म-संयम है?) कहा जाता है— एक तपस्वी नदी के तट पर शांत वातावरण में भ्रमण कर रहा था। तभी एक सुन्दर रमणी शृंगार सझी नुपुर का झंकार करती हुई उधर से आई। तपस्वी को देखकर वह कामासक्त हो गई, हाव भाव करके वह खूब जोरों से हंसी। उसके दूधिया दांत तपस्वी की नजर में पड गए। उसने वहां से अपनी दृष्टि खींचली जैसे सूर्य की किरण पड़ने से आँखें बंदकर ली जाती है। रमणी आगे चली गई। कुछ देर बाद रमणी का पति उसकी खोज करता हुआ उधर आया। तपस्वी को वहां मार्ग पर बैठा देखकर उसने पूछा, महाराज! इधर से मनोहर वस्त्राभूषण पहनी हुई कोई एक सुन्दरी निकली क्या? उसके उत्तर में वह तपस्वी साधक बोला—

> नाभिजानामि इत्थी वा पुरिसो वा इतो गतो।
> अपि च अट्ठिसंघाटो गच्छतेस महापथे।[1]

मुझे नहीं मालूम इधर से कोई स्त्री या पुरुष कौन गया है, हाँ इस मार्ग से एक हड्डियों का समुह तो अवश्य निकला है, (उसके उजले दांत दिखाई देने से)

तो यह है इन्द्रियों का अदभुत संयम! यह संयम सधता है इन्द्रिय एवं

---

१ विशुद्धिमग्गो १।५५

काय पर संयम करने से। शरीर एवं मन को अपने अनुशासन में रखने से तथा उन्हें सदा परम विशुद्ध भाव में जोड़े रखने से।

काय प्रतिसंलीनता में शरीर के बाह्य संकोच पर ही अधिक बल दिया गया है, इसलिए कछुए का उदाहरण देकर बताया है—कछुआ जैसे अपने अंगों का गोपन करके, संकोच करके सदा निराबाध रहता है, वैसे ही साधक विषय वासनाओं के बीच अपने शरीर का गोपन करके रहे ताकि उनके चंगुल में न फँसे। जैसे कपड़ा खुला होने से शीघ्र ही पानी में पड़ने से भीग जाता है, किन्तु वही खूब कसकर गेंद जैसा बना दिया गया हो और फिर पानी में गिरे तो जल्दी से भीग नहीं सकता। इसी प्रकार काय प्रतिसंलीनता में रहा हुआ साधक आसानी से विषयों के वासना रूप पानी में नहीं भींग सकता।

विविक्त शय्यासन प्रतिसंलीनता

अनगार कौन ?

प्रतिसंलीनता तप का चौथा भेद है—विविक्त शयनासन सेवना। इस तप का सम्बन्ध साधक के आवास-निवास से हैं। साधक संसार में रहता है, शरीर धारण करता है, शरीर के लिए आहार पानी भी ग्रहण करता है, वस्त्र पात्र आदि भी रखता है, और रहने के लिए आश्रय-आवास आदि की भी गवेषणा करता है। चूँकि जैन साधु का रूप अनगार का है। अनगार का अर्थ है—न विद्यते **अगारं-गृहं यस्य सः अनगारः** जिसके पास अपना कोई घर (अगार) नहीं, वह अनगार है। अनगार के पास न अपना कोई घर, मठ, आश्रम व विहार होता है,और न वह अपने लिये कहीं घर, आश्रम आदि बनवाता है। न किसी आश्रम आदि के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता है। इस तरह वह प्रत्येक दृष्टि-से अनगार—गृह मुक्त होता है।

आश्रम और प्रासाद

भारतीय ऋषियों की परम्परा में वैदिक और श्रमण ऋषियों की दो परम्परा चली आ रही है। वैदिक ऋषि गृहत्याग कर आश्रम में निवास करते थे। प्रत्येक प्रमुख ऋषि अपना स्वतन्त्र आश्रम, विशाल उद्यान वगैरा रखते,

वहां अनेक ऋषि, शिष्य व गौ-मृग आदि आश्रय पाते थे। प्राचीन भारत में अनेक बड़े-बड़े ऋषियों के आश्रम व तपोवनों का वर्णन महाभारत, भागवत एवं उत्तरवर्ती काव्यों में मिलता है। आश्रमों का वातावरण बड़ा प्राकृतिक सुषमा युक्त, मनोहर, शांत एवं साधना के अनुकूल रहता था। किन्तु ऋषियों का भावात्मक (रागात्मक) सम्बन्ध भी उन आश्रमों के साथ उतना ही गहरा जुड़ा हुआ था जितना किसी राजा का अपने राजमहल या श्रेष्ठी का अपने हर्म्य के साथ। गृहत्याग कर आश्रमवास स्वीकार किया और वहां भी यदि ममत्व जुड़ गया तो फिर एक छोटा घर छोड़ बड़ा घर बसाने जैसी बात हो गई। फिर घर और आश्रम में अन्तर क्या रहा?

वैदिक ऋषियों की भांति बौद्ध श्रमणों ने भी आश्रम परंपरा को अपनाया। बुद्ध के युग में स्थान-स्थान पर बड़े-बड़े आराम और विहारों का निर्माण हुआ। (गृहपति अनाथपिंडक का जेतवन और विशाखा मृगारमाता द्वारा सत्ताईस करोड़ स्वर्ण मुद्रा खर्च करके बनवाया हुआ महाप्रासाद बौद्ध इतिहास में आज भी प्रसिद्ध है) बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार अनाथपिंडक ने मोहरें बिछाकर भूमि को खरीदी थी—अर्थात् आराम बनाने के लिए श्रावस्ती के राजकुमार से १८ करोड़ में भूमि खरीदी और फिर ८ करोड़ रुपये निर्माण में व्यय किए।[1] बौद्ध परम्परा में श्रमणों के लिए विहार एवं प्रासाद का निर्माण एक बहुत ही महत्त्व पूर्ण पुनीत कृत्य समझा जाता रहा है।

अनिकेत जैन श्रमण

जैन श्रमण परम्परा उक्त दोनों परम्पराओं से सर्वथा भिन्न रही है। किसी भी जैन राजा या धनाढ्य गृहस्थ ने अपने तीर्थंकरों या श्रमणों के आवास के लिए किसी आश्रम, विहार या प्रासाद का निर्माण किया हो—ऐसा उल्लेख इतिहास में नहीं मिलता। भगवान महावीर अनेक बड़े-बड़े नगरों में घूमते रहे, चातुर्मास भी बिताये, किन्तु कहीं पर भी उनके लिए किसी प्रासाद या विहार का निर्माण नहीं हुआ। वे अपने साधना काल में तो शून्य गृहों में, श्मशान में, वृक्षों के नीचे, खंडहरों में, या कुम्हार, जुलाहा, लुहार आदि

---

१ विनयपिटक-अट्ठकथा

की शालाओं में ठहरते थे, वहीं ध्यान समाधि लगाकर साधना करते थे और फिर तीर्थंकरत्व प्राप्त करने के बाद प्रायः नगर के बाहर स्थित उद्यानों या किसी विशेष परिस्थिति में आपणशाला एवं खाली सभागृहों में ही ठहरते थे। यही परम्परा समस्त तीर्थंकरों की रही है।

आवास क्यों नहीं ?

जैन गृहस्थ साधकों ने अपनी अध्यात्म साधना के लिए उपाश्रय, पौषध शाला एवं मन्दिर आदि का निर्माण अवश्य किया है, मन्दिर में अपने मुक्त भगवान को भी बिठाया है, किन्तु अपने जीवित भगवान के लिए, अथवा जीवित श्रमण के लिए उसने कभी किसी आवास का निर्माण नहीं किया—यह जैन धर्म का एक सैद्धान्तिक सत्य है।

जैन श्रमण अपने लिए आवास आदि का निर्माण क्यों नहीं करवाते—इसके उत्तर में सिद्धान्त-सम्मत दो तथ्य हैं—

१ गृह निर्माण आदि में होने वाली हिंसा।

२ गृह आदि के साथ जुड़ने वाला ममत्व बन्धन।

यदि साधु अपने लिए गृहनिर्माण आदि करवाता है, उद्यान, विहार व प्रासाद आदि बनवाता है तो उस निर्माण में होने वाली जीवहिंसा आदि का प्रेरक कारण एवं निमित्त श्रमण होता है, अतः वह भी हिंसा का भागी होता है, जो कि उसके अहिंसा महाव्रत के सर्वथा प्रतिकूल है।

दूसरा कारण है, जो श्रमण अपने लिए आश्रम, मठ आदि बनवायेगा उसका मन भी उसमें अवश्य आसक्त होगा। उसके साथ ममत्व भाव रहेगा, ममत्व भाव परिग्रह है, जो कि अपरिग्रही श्रमण धर्म के विपरीत है।

इन दो सैद्धान्तिक कारणों से प्रारम्भ से आज तक जैन श्रमण अपने लिए आवास आदि के निर्माण का त्यागी रहा है।

भगवान महावीर के जीवन का एक प्रसग है कि जब वे साधना काल के प्रथम वर्ष में दूइज्जंतक पाषण्डों के आश्रम में आये और वहां के कुलपति के आग्रह से उस आश्रम की पर्णकुटी मे चातुर्मास किया। चातुर्मास के कुछ ही दिन बीते थे, बरसात नहीं हो रही थी, भूखी गायें आश्रम की घास की

झोपड़ियों का घास खाने झपटती ! आश्रमवासी परिव्राजक दंडे लेकर गायों को भगाते, मारते और अपनी-अपनी झोंपड़ी की रक्षा करते । किन्तु भगवान महावीर तो अपनी झोपड़ी में ध्यान लगाए खड़े रहे । गायें उनकी झोंपड़ी को साफ करने लगी तो परिव्राजकों ने कुलपति से शिकायत की—"यह मूक तपस्वी कौन है, कैसा है ? गायें इसकी झोंपड़ी को खा रही है और यह उन्हें भगाता तक भी नहीं ? कैसा है यह तपस्वी ।"

कुलपति ने महावीर से कहा—'कुमार वर ! यह उदासीनता किस काम की ? एक पक्षी भी अपने घोंसले की रक्षा करता है, आप क्षत्रियकुमार होकर भी अपनी झोंपड़ी की रक्षा नहीं कर सकते ?"

भगवान महावीर मौन रहकर सब सुनते रहे,वे सोचने लगे—"मैंने राज महल को भी अपना नहीं समझा, उसकी भी रक्षा का मोह नहीं हुआ तो अब इस झोंपड़ी की रक्षा का मोह कैसा ? क्या इस झोंपड़ी की रक्षा के लिए मैं अपनी ध्यान समाधि का त्याग करदूं ? भगवान महावीर आश्रम को छोड़कर अन्यत्र विहार कर गये ।[1]

ऐसी घटनाओं से भगवान महावीर ने साधुओं की आश्रम व विहार के प्रति कितनी ममत्व भावना होती है यह स्पष्ट अनुभव किया होगा । वह अपनी झोंपड़ी के लिए साधना को बिसरा कर गायों को भगाने लग जाता है और उसे ही अपना धन मान बैठता है ।

तो इस प्रकार की ममत्व भावना के कारण साधु अपनी साधना से भ्रष्ट न हो इसीलिए भगवान महावीर ने साधु को अनगार—गृहमुक्त रहने की शिक्षा दी । अपने लिए किसी गृह आदि का निर्माण करवाने का स्पष्ट निषेध किया !

विवेकयोग्य आवास

प्रश्न होता है जब साधु अपने घर का त्याग कर देता है, और साधना करने के लिए नया गृह आदि बनवाये नहीं तो फिर कहां रहे ? इसके उत्तर में शास्त्र में कहा है—

---

१ कल्पसूत्र । त्रिषष्ठिशलाका पुरुषचरित्र । महावीरचरियं

निकेयमिच्छेज्ज विवेकजोग्गं
समाहिकामे समणे तवस्सी ।[1]

समाधि की कामना रखने वाला श्रमण तपस्वी ध्यान आदि साधना के लिए ऐसे निकेत-आवास की खोज करे जो कि सर्वथा विवेक योग्य हों।

विवेक योग्य आवास का अर्थ काफी गहरा है। टीकाकार आचार्यों ने बताया है, जहां स्त्री—पशु—नपुंसक आदि का वास न हो, जहां गृहस्थ की घर सम्बन्धी बातें, कोलाहल आदि सुनाई न दें तथा स्त्री—पुरुष के मिलन आदि की क्रियाएं जहां से दृष्टिगोचर नहीं, तथा जिस स्थान पर रहने से किसी को द्वेष, अप्रीति एवं अविश्वास न हो, तथा जो स्थान साधु के लिए न बनाया गया हो वह स्थान विवेकयोग्य माना जाता है। ऐसे स्थान को विविक्त शयनासन कहा गया है।

विविक्त शयनासन की व्याख्या करते हुए शास्त्र में बताया गया है—

एगंतमणावाए इत्थी पसु विवज्जिए।
सयणासणसेवणया विवित्त सयणासणं ।[2]

—एकांत और अनापात—जहां अधिक लोगों का आना जाना न हो, स्त्रियों, पशुओं, तथा नपुंसक आदि से रहित हो, ऐसे स्वच्छ, शांत स्थान में शयन आसन करना- विविक्त शयनासन है।

आदि का आवागमन कम हों। विषय वासना को जगाने वाले चित्र, आदि उत्तेजक कारण वहां न हों।

यहां प्रश्न खड़ा हो सकता है कि जैन धर्म तो भाववादी धर्म है, उसमें भावों पर ही अधिक महत्व दिया गया है, वस्तु, स्थान आदि गौण होते हैं, फिर यहां ब्रह्मचर्य के लिए स्थान बीच में क्यों अटक गया! यदि साधक का मन निर्विकार है तो स्थूलिभद्र जैसे गणिका की चित्रशाला में चौमासे में रहकर भी निर्विकार रह गये, और मन कच्चा है, तो सिंह गुफा में चार मास बिताने वाला साधक गणिका की चित्रशाला में एक दिन में ही पिघल गया। **निवृत्त रागस्य गृहं तपोवनं**- वीतराग के लिए तो घर ही तपोवन है, "मन चंगा तो कठोती में गंगा", फिर स्थान को इतना महत्व क्यों दिया गया?

इसका समाधान करते हुए जैन आचार्यों ने कहा है—

वाएण विणा पोओ

न चएइ महण्णवं तरिउं!

अच्छे से अच्छा जलयान (नाव) भी क्या हवा के बिना कभी महासागर में तैर सकता है? नहीं! वैसे ही ज्ञानी और अल्प मोह वाला साधक भी बिना योग्य साधनों के संसार सागर को नहीं तर सकता—

निउणो वि जीव पोओ

तव संजम मारुअ विहूणो[1]

आत्मा रूप कुशल नाविक भी तप संयम ब्रह्मचर्य आदि रूप पवन के बिना भव सागर को कैसे तर सकते हैं? साधक को साधन तो चाहिए ही, साधन की अवहेलना करने वाला साधक साधनों के अभाव में कितनी दूर चल सकेगा? समर्थ, बलिष्ठ पहलवान भी पांव कट जाने पर कितनी दूर दौड़ सकेगा?

साधना में वातावरण को, स्थान को, संगति को साधन माने हैं। उनके सहवास का मन पर प्रभाव होता ही है। नदियों का मधुर व हलका जल जब समुद्र के खारे जल के साथ मिल जाता है तो क्या वह भी नमकीन नहीं

---

१ आवश्यक निर्युक्ति ९५-९६

हो जाता है ?[1] शीतल जल अग्नि का स्पर्श पाने पर क्या गर्म नहीं हो जाता है ? फिर मनुष्य ही ऐसा कौन सा अजीब पदार्थ है, जिस पर संसर्ग का, वातावरण का, असर न पड़े ! मन भी तो आखिर चंचल स्वभाव वाला है हो सकता है वातावरण को पाकर वह चंचल हो उठे ! वस्त्र कीचड़ में गंदा होने के बाद सफाई करने से तो यही अच्छा है कि पहले ही कीचड़ से बचा जाय ? **प्रक्षालनाद् हि पंकस्य श्रेयो दूराद् विवर्जनम् ।**

मन भटकने के बाद उसे स्थिर करने का प्रयत्न करना पड़े, इससे तो यही अच्छा है कि मन को पहले ही उस मलिन व विकारपूर्ण वातावरण से दूर रखा जाये । इसीलिए मानव मन के रहस्यवेत्ता पुरुषों ने साधक को विविक्त शयनासन का उपदेश किया है । कहा है—

विवित्त सेज्जासणजंतियाणं,
ओमासणाणं दमि इंदिआणं ।
न राग सत्तू धरिसेइ चित्तं,
पराइओ वाहिरिवोसहेहिं ।[2]

जैसे अच्छी व उपयुक्त औषधि के द्वारा यदि रोग की जड़ ही काट दी जाय तो वह रोग पुनः शरीर पर आक्रमण नहीं कर सकता इसी प्रकार अल्प आहार करने वाले, इन्द्रियों पर संयम रखने वाले और विविक्त शयनासन का सेवन-अर्थात् शुद्ध वसति में रहने वाले साधक को राग रूप शत्रु आक्रांत नहीं कर सकता ।

यदि कोई अहंकार करे कि मैं बहुत बड़ा तपस्वी हूं, ज्ञानी हूं, मैं कहीं भी रहूँ तो जल में कमल की तरह निर्लेप रह सकता हूं । स्त्रियों के रंग-रास के बीच में भी मैं अपने ब्रह्मचर्य को अखंड अस्खलित रख सकता हूं, तो हो सकता है कि उसका अहंकार सत्य हो, किन्तु यदि मन चंचल हो उठा तो

---

१ जह नाम महुरसलिलं सागरसलिलं कमेण संपत्तं
पावेइ लोणभावं मेलणदोसाणुभविणं ।
—आचार्य भद्रबाहु, आवश्यकनि० ११२७-२८

२ उत्तराध्ययन ३२।१२

उस वातावरण में उसकी क्या दशा होगी ? जो दशा बिल्ली के सामने चूहे की होती है, क्या वह दशा उस साधक की उन सुंदरियों के झुंड के बीच नहीं होगी ? भगवान महावीर जैसे मानव मन के गहरे अनुभवियों ने कहा है—

जहा बिरालावसहस्स मूले
न मूसगाणं वसही पसत्था ।
एमेव इत्थी निलयस्स मज्झे
न बंभयारिस्स खमो निवासो ।[1]

जैसे बिल्लियों के घर के पास चूहों का रहना खतरे से खाली नहीं है, उसी प्रकार स्त्रियों के बीच में ब्रह्मचारी का रहना खतरे से भरा हुआ है ।

बिल्ली चाहे चूहे को कितना ही अभयदान दें, और चूहा भी मन में कितना ही शेर बना रहे किन्तु यदि वह बिल्ली के साथ मिलता है तो पता नहीं किस समय उसके शिर खतरे की घंटी बज उठे । राजस्थानी में एक कहावत है भूखी बिल्ली ने बिल में छुपे चूहे को देखकर कहा —

इस बिल केरा ऊंदरा उस बिल में आ जाय !
लाख टका द्यूं रोकड़ा बेठो-बेठो खाय !

भानजा ! तुम इस बिल से निकलकर उस बिल में चले आओ ! इतनी सी दूर के तुम्हें लाख रुपये दूंगी, जीवन भर बैठे-बैठे खाना !
बिल्ली की बात सुन चूहा बोला—

भू थोड़ी, भाड़ो घणो जीवन जोखा मांय !
बिच मांही गटको हुवै कहो मासी ! कुण खाय !

मौसी ! इतनी सी थोड़ी जगह का इतना ज्यादा भाड़ा देने वाला शायद तुम्हारे जैसा कोई उदार नहीं मिलेगा ? किन्तु इस दो फुट रास्ते में ही जीवन पर तलवार लटकी है, यदि बीच ही में मेरा गटका हो जाय, तुम खा जाओ ! तो फिर ये लाख रुपये कौन खायेगा ?

तो बिल्ली के घर में चूहे कितने दिन खैर मना सकते हैं ? उसी प्रकार

---

1 उत्तराध्ययन ३२।१३

स्त्रियों के बीच में ब्रह्मचारी कितने दिन अपना ब्रह्मचर्य अस्खलित रख सकता है ? इसीलिए ब्रह्मचर्य व्रत की पांच भावनाओं में पांचवी भावना में कहा है—ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ स्त्री-पशु-नपुंसक आदि से रहित शुद्ध स्थान में रहे, क्योंकि केवली– भगवान ने कहा है—वहां रहने से हो सकता है कभी उसके मन में चंचलता, उन्माद, मोह या उत्तेजना आदि के रूप में शांति भंग करने वाला भेद उत्पन्न हो जाय, अतः पहले ही उसे उस स्थान का त्याग कर देना चाहिए।[1] कहा तो यहां तक गया है कि—

> कामं तु देवीहिं विभूसियाहिं
> न चाइया खोयइउं तिगुत्ता।
> तहा वि एगंतहियं ति नच्चा
> विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो।[2]

यदि वह ब्रह्मचारी परम संयमी हों, देवांगनाएँ भी उसके चित्त को क्षुब्ध न कर सकती हों, फिर भी साधु-ब्रह्मचारी को स्त्रियों आदि से रहित एकांत स्थान में ही रहना उचित है।

अभय साधना के योग्य आवास

विविक्त शय्या में दूसरी दृष्टि है—साधक को निर्भयता एवं साहसिकता का अभ्यास करना। भ. महावीर के युग में विशाल प्रासादों में, विहारों में सुख-सुविधा के साधनों की भी होड़ लग गई थी। बौद्ध ग्रन्थों में विशाखा के प्रासाद निर्माण की घटना बड़े गौरवपूर्ण शब्दों में गाई गई है। जब प्रासाद का निर्माण संपन्न हो गया तो विशाखा की एक सहेली ने बुद्ध के आराम कक्ष में बिछाने के लिए एक बहुमूल्य (एक सहस्र मुद्रा का) गलीचा खरीदा और विशाखा को दिखाते हुए कहा—यह सुन्दर मुलायम गलीचा मैं एक आराम गृह (एक कमरे) में बिछाना चाहती हूँ। विशाखा कुछ नहीं बोली, वह सहेली को प्रासाद दिखाने के लिये ले गई और कहा—जहां तुझे जगह खाली

---

१ आचारांग सूत्र २ श्रुत स्कंध १५वां भावनाध्ययन

२ उत्तराध्ययन ३२।१६

मिले वहीं बिछा दे। सहेली देखकर चकित हो गई कि पूरे आराम में उसके गलीचे से भी बहुत कीमती और मुलायम गलीचे बिछे हैं। आखिर उसके आग्रह पर एक पैर पोंछने का स्थान खाली कर वहां सखि का गलीचा बिछाया गया।

उक्त प्रसंग से हमें पता चलता है भिक्षुओं के विहार उस समय राज-प्रासादों से होड़ लेने लग गये थे। सुख-सुविधा के, आराम के अनेक साधन वहां जुटाये जाते होंगे और फलस्वरूप भिक्षुओं में सुखशीलता भी बढ़ती गई होगी, इसके विपरीत भगवान महावीर ने ऐसे सुखद व रम्यस्थानों पर रहने का स्पष्ट निषेध किया है—

मणोहरं चित्तहरं मल्लधूवणवासियं।
सकवाडं पंडुरुल्लोयं मणसा वि न पत्थए।[1]

—मुनि ऐसे आवास की मन में भी इच्छा न करे, जो मनोहर हो, चित्र आदि से सज्जित हों, माला और धूप से सुगन्धित हों, तथा कवाड सहित एवं श्वेत चंदरोवे वाला हो। क्योंकि ऐसे स्थानों पर रहने से वह आरामपसन्द हो सकता है, तप, ध्यान और समाधि से दूर हटने लग जायेगा। उसमें ऐश्वर्य भोग की भावना भी जग सकती है। (अतः भगवान महावीर ने साधक को सुखशीलता का त्याग कर साहस और अभय की साधना की ओर अग्रसर करने के लिए, रहने के ऐसे स्थानों का निर्देश किया है जहां आराम से रहने के तो क्या, किन्तु सामान्य ढंग से रहने योग्य भी कोई साधन उपलब्ध नहीं होते थे। इससे निश्चित ही भिक्षु, श्रमण कष्ट-सहिष्णु बनते और उनमें स्वावलम्बन की भावना बढ़ती जाती। साधु के रहने योग्य जिन स्थानों का नाम निर्देश शास्त्रों में आता है उनसे यह भी पता चलता है कि ऐसे स्थानों में वही साधक रह सकता था जो सिर पर कफन बांध कर घर से निकला हो। मृत्यु का सामना करने का साहस जिसमें होता वही ऐसे स्थानों पर जाकर खड़ा होकर ध्यान मुद्रा लगा सकता। विविक्तशयनासन के योग्य स्थानों का उल्लेख करते हुए बताया गया है—

1 उत्तराध्ययन ३५।४

—"वे भिक्षु आरामों में, उद्यानों में, देवमन्दिरों में, सभाओं में, पानी की प्याऊ में, मुसाफिरखानों में और ऐसे ही स्त्री पशु नपुंसक रहित स्थानों में रहकर प्रासुक एषणीय पीठ, फलक, शय्या-संस्तारव आदि की याचना करके रहते।[1] और भी इस प्रकार के स्थान देखिए—

सुसाणे सुन्नागारे वा रुक्खमूले वा एगओ।
पइरिक्के परकडे वासं तत्थाभिरोयए।[2]

—साधु ऐसे स्थानों में रहना पसन्द करें जो सूने हों, श्मशान में, वृक्ष के नीचे, जंगल में और बहुत एकांत में हो, तथा जो साधु के निमित्त से नहीं बनाया गया हो।

आचारांग सूत्र में बताया गया है "भगवान महावीर कभी श्मशान में, कभी सूने घरों में, कभी वृक्ष के नीचे, कभी प्याऊ में, कभी घास के ढेर की छाया में, कभी लुहार की शाला में इस प्रकार के भयजनक, कष्टदायी और उपसर्गकारी स्थानों में रहते थे।"[3]

ऐसे स्थानों में रहने का स्पष्ट कारण यही है कि साधक का मन भय से मुक्त हो जाए। जो स्वयं अभय होगा, वही अभय की साधना कर सकेगा। बताया गया है—शून्य गृह आदि स्थानों में रहने से साधु को अनेक भय, उपसर्ग आदि उत्पन्न होते हैं, वहां पर वह अपनी साधना में भयभ्रान्त, चंचल एवं उद्‌विग्न न हो—

उवणीयतरस्स ताइणो भयमाणस्स विविक्कमासणं।
सामाइयमाहु तस्स जं जो अप्पाण भए ण दंसए।[4]

जो विविक्त आसन आदि की सेवना करता है ऐसे साधु को जब तिर्यंच, मनुष्य एवं देवसम्बन्धी उपसर्ग आते हैं तब वह उनमें स्थिर रहे। जो अपने आपको भयभीत नहीं करता, वही सामायिक-समाधि की साधना कर सकता है।

---

१ उववाई सूत्र तप वर्णन
२ उत्तराध्ययन ३५।६
३ आचारांग ६।२
४ सूत्रकृतांग १।२।२।१७

इस प्रकार विविक्तशयनासन साधना की दो मुख्य दृष्टियां आगम में मिलती है—

१ ब्रह्मचर्य की सुरक्षा

२ अभय भाव की साधना

इन्हीं दोनों दृष्टियों की आराधना करता हुआ साधक विविक्त शयनासन प्रतिसंलीनता तप की उपासना कर सकता है। इसमें मन, वचन एवं शरीर तीनों ही योगों की, इन्द्रियों की प्रतिसंलीनता समाहित हो जाती है।

इस प्रकार अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी (वृतिसंक्षेप) रसपरित्याग, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता—यह छह बाह्य तप का वर्णन समाप्त होता है।

●●

आभ्यन्तर तप का स्वरूप : ३

१ प्रायश्चित्त तप

बढ़ते जाओ :

भूल करने की आदत

प्रायश्चित्त की परिभाषा

दण्ड और प्रायश्चित्त

प्रतिसेवना बनाम दोषसेवन के कारण

प्रायश्चित्त के भेद

आलोचना बनाम दोष स्वीकृति

आलोचना से लाभ

आलोचना कौन कर सकता है ?

प्रायश्चित्त किसके पास ?

आलोचना के दोष

प्रतिक्रमण : पापों का प्रक्षालन

प्रतिक्रमण का फलितार्थ

●●

१

प्रायश्चित्त तप

बढ़ते जाओ !

एक कठियारा था, जंगल से लकड़ियां काटकर लाता, पेट पालता। कई पीढ़ियों से यही धंधा चल रहा था और यही हाल भी ! रोज लकड़ियां काटना, दो चार आना कमाना और रूखी-सूखी खाकर सो जाना। बिचारा दरिद्रता में जन्मा था और दरिद्रता की चक्की में ही पिसा जा रहा था।

एक दिन उसे एक सत्पुरुष मिला। कठियारे का हाल-बेहाल देखकर उसे दया आई। उसने पूछा—तुम क्या काम करते हो ?

दीनता पूर्वक कठियारा बोला—"रोज लकड़ियां काटना, बेचना और रूखी-सूखी खाकर दिन गुजारना ! बस यही काम करता हूं मैं।"

सत्पुरुष ने पूछा—"लकड़ियां किस जंगल में कहाँ काटते हो ?"

कठियारे ने बताया—"यहीं, पास में जंगल है, वहीं मेरे बाप ने लकड़ियां काटी थी, वहीं मैं काटता हूं।"

सत्पुरुष ने कहा—"तुम कुछ आगे बढ़ो ! आगे के जंगल में जाकर लकड़ी काटो।"

कठियारा उस दिन कुछ आगे गया, उसे अच्छी सूखी लकड़ियां मिलीं।

रोज की अपेक्षा आज उसकी लकड़ी दुगुने भावों में बिकी। दूसरे दिन फिर वही सत्पुरुष मिला। उसने फिर वही बात कही—"कुछ आगे बढ़ो!" कठियारा और आगे गया, आज और अच्छी लकड़ी मिली। यों रोज-रोज वह आगे बढ़ता गया, अब उसे बढ़िया इमारती लकड़ियां मिलने लगीं। एक भारी में ही उसे महीने भर की कमाई होने लगी। सत्पुरुष ने फिर उसे एक दिन प्रेरणा दी। रुको मत! और आगे बढ़ो! कठियारा जंगल में खूब दूर चला गया। आज उसे चन्दन के वृक्ष मिले। उसने ज्योंही वृक्ष को काटा, सारा जंगल चदन की सौरभ से महक उठा। कठियारा बहुत प्रसन्न हुआ। एक भारी बांधकर वह ले गया और बाजार में बेचा तो बस उसके जन्मभर की दरिद्रता दूर हो गई!

एक आदमी समुद्र के किनारे बैठा सीपें और शंखिए बीनता रहता। बाजार में उसे बेचकर चार-छः आने कमा लेता और चने चबाकर अपना पेट भर लेता। एक दिन किसी सत्पुरुष ने उसे पूछा—समुद्र के किनारे बैठे क्या करते हो?

उसने कहा— सीपें और शखिए बटोरता हूँ?

कब से?

यह तो मेरा पुश्तैनी धंधा है!

कभी समुद्र में गहरे नहीं उतरे?

नहीं!

सत्पुरुष ने कहा— जरा गहरे उतरो! देखो तो सही!

वह समुद्र में कुछ नीचे उतरा। उसे काफी मूल्यवान चमकदार सीपें मिलीं। उसे दुगुने पैसे भी मिल गये। सत्पुरुष ने फिर प्रेरणा दी—और गहरे उतरो! वह गहरा उतरता गया। समुद्र के गर्भ से मूल्यवान वस्तुएं लाता गया। धीरे-धीरे एक दिन उसने बहुत गहरा गोता लगाया—उसके हाथ अमूल्य मोती और रत्नों का ढेर लग गया। एक ही रत्न के मूल्य में उसकी पीढ़ियों की गरीबी दूर हो गई! सच ही—

जिन खोजा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी ढूंढ़न गई रही किनारे बैठ!

जो आगे बढ़ता है, वह चन्दन की लकड़ियां प्राप्त कर लेता है, जो गहरा उतरता है वह मोतियों से झोली भर लेता है।

तप का मार्ग, साधना का पथ किनारे बैठे रहने का नहीं है, जो किनारे-किनारे घूमता है, जंगल के बाहर-बाहर शोधता है उसे कुछ नहीं मिलता, किन्तु जो इस तपोमार्ग पर आगे से आगे बढ़ता रहता है, और आगे ! खूब गहरा उतरता जाता है, वह आत्मदर्शन रूप चन्दन, स्वरूपदर्शन रूप मोती प्राप्त कर लेता है। इसीलिए जैन धर्म में तप की विधि—बाहर से भीतर की ओर बढ़ती है। अन्तर्मुखी होती है। तप का क्रम इसी प्रकार बताया गया है कि साधक निरन्तर आगे से आगे एक तप से दूसरे, दूसरे से तीसरे तप की ओर सतत बढ़ता ही जाता है और चन्दन एवं मोती प्राप्त कर लेता है।

बाह्य तप का वर्णन हमने पिछले प्रकरण में किया है। साधक बाह्य तप तक आकर ही नहीं रुक जाता, वह बाह्य से आभ्यंतर की ओर गतिशील होता है। सद्गुरुदेव उसे प्रेरणा देते हैं— साधक ! और आगे बढ़ ! आभ्यन्तर में गहरा उतरता जा ! वह तुझे वह मिलेगा, जो आज तक नहीं मिला। अनन्त अनन्त जन्मों में जो नहीं मिला, वह खजाना मिल जायेगा। जरा आगे बढ़ता जा। तप की गहराई में उतरता जा ! देख !

आभ्यन्तर तप में मन की विशुद्धि, सरलता और एकाग्रता की विशेष साधना होती है। बाह्य तप की साधना से साधक अपने तन को, मन को साध लेता है, सहिष्णु बना लेता है और उसका संशोधन कर लेता है। विशुद्ध मन शीघ्र ही स्थिर हो सकता है, विनम्र हो सकता है, ध्येय में लीन हो सकता है, और सर्व ममत्व से मुक्त भी हो सकता है—इसीलिए बाह्य तप से आभ्यन्तर तप की ओर बढ़ने की ये छह सीढ़ियां जैनधर्म में बताई गई हैं। बाह्य तप की भांति आभ्यन्तर तप की भी छह सीढ़ियां बताई गई हैं जिनमें सबसे पहली सीढ़ी है— प्रायश्चित्त।

भूल करने की आदत

कहा जाता है भूल करना मनुष्य का स्वभाव है, यदि स्वभाव न कहें तो यह तो जरूर कहूँगा—भूल करना मनुष्य की आदत है। हम जब तक छद्मस्थ

अवस्था में वैठे हैं,असावधानी और विस्मृति का दोप दूर नहीं हुआ है,तबतक कोई दोप लगे ही नहीं, कोई भूल न हो-- यह कैसे कहा जा सकता है ? और कहने पर मानेगा भी कौन ? क्योंकि मन-वचन एवं शरीर का योग परिस्पंदात्मक है, चंचल है, उसमें कहीं भी कपाय भाव का मिश्रण हुआ कि फिर दोप लगे विना नहीं रहेगा। कोई यह कहे कि मैं दिन रात धर्ममय विचारों में ही रहता हूं, मुझसे कोई दोष नहीं हो सकता, कोई भूल नहीं हो सकती, तो उस छद्मस्थ का यह दावा वैसा ही है कि अंधा कहे— मैं कभी ठोकर नहीं खाता।

जैन धर्म और भारत का, विश्व का प्रत्येक धर्म, विचारक यह मानता है कि मनुष्य से भूल होती है, दोप होते हैं, किन्तु साथ ही उस भूल को सुधारा भी जा सकता है, दोप की विशुद्धि भी की जा सकती है। वस्त्र पर मैल का धब्बा लग सकता है,शरीर में रोग हो सकता है,किन्तु समझदारी इसमें है कि धब्बा तुरन्त साफ कर दिया जाय। रोग की चिकित्सा करके शरीर को स्वच्छ वना लिया जाय। इसीलिए कहा जाता है—भूल करना सरल है, भूल को स्वीकार करना, कठिन है. भूल का सुधार करना और भी कठिन है। किन्तु वड़ा आदमी वही है, सत्पुरुप या साधक वही है जो यह कठिन कार्य कर सकता है। जैन धर्म में इस भूल सुधार को, दोप-विशुद्धि को वहुत महत्व दिया है, यहां तक कि इसे आभ्यन्तर तप मान लिया है। दोप-विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त करने वाले को महान् तपस्वी माना गया हैं, इससे इस कार्य की महत्ता स्पष्ट हो जाती है। अन्य तपों की तरह प्रायश्चित्त तप के विपय में भी जैन धर्म ने वहुत गहरा चिंतन किया है।

प्रायश्चित्त की परिभाषा

राजनीति में जिस प्रकार अपराध के लिए दंड का विधान है, धर्म नीति में उसी प्रकार दोष के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। प्रायश्चित्त दोप की विशुद्धि के लिए होता है। उसकी परिभाषा समझने पर उसका स्वरूप व उपयोगिता भी काफी स्पष्ट हो जायेगी।

प्रायश्चित्त—में दो शब्दों का योग है—प्रायः + चित्त। आचार्य ने वताया है—

प्रायः पापं विनिर्दिष्टं चित्तं तस्य विशोधनम् ।[1]

—प्रायः का अर्थ है पाप और चित्त का अर्थ है उस पाप का विशोधन करना। अर्थात् पाप को शुद्ध करने की क्रिया का नाम है—प्रायश्चित्त!

एक अन्य आचार्य के मतानुसार—'प्रायः' नाम अपराध का है। उनका कथन है—

अपराधो वा प्रायः चित्तं—शुद्धिः। प्रायस चित्तं—प्रायश्चित्तं—अपराध-विशुद्धिः।[2]

—अपराध का नाम प्रायः है और चित्त का अर्थ है—शोधन! जिस क्रिया से अपराध की शुद्धि हो वह प्रायश्चित्त है।

प्राकृत भाषा में प्रायश्चित्त को **पायच्छित्त** कहा जाता है। 'पायच्छित्त' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य कहते हैं—

पावं छिंदइ जम्हा पायच्छित्तं ति भण्णइ तेण।[3]

—'पाय' नाम है 'पाप', जो पाप का छेदन करता है अर्थात् पाप को दूर कर देता है, उसे कहते हैं—**पायच्छित्त**।

दण्ड और प्रायश्चित्त

प्रायश्चित्त की इन शब्द-परिभाषाओं से यही स्पष्ट होता है कि पाप की विशुद्धि के लिए, दोष की विशुद्धि के लिए जो क्रिया—(पश्चात्ताप एवं तपस्या) की जाती है उसे प्रायश्चित्त कहा है। मनुष्य प्रमादवश अनुचित कार्य कर लेता है, दोषसेवन कर लेता है, अपराध कर लेता है। किन्तु जिसकी आत्मा जागरूक होती है, धर्म-अधर्म का विवेक रखती है, परलोक-सुधार की भावना जिसमें होती है, वह उस अनुचित आचरण के प्रति, मन में पश्चात्ताप करने लगता है, वह दोष कांटे की भांति उसके हृदय में खटकने लगता है, और शीघ्र से शीघ्र वह उस दोष की शुद्धि करने का प्रयत्न करता है। गुरुजनों के समक्ष अपना दोष प्रकट करता है, उनसे उसके लिए प्रायश्चित्त की प्रार्थना करता है. और गुरुजन उसे जो प्रायश्चित्त योग्य

---

१ धर्मसंग्रह ३, अधिकार
२ राजवार्तिक ९।२२।१
३ पंचाशक सटीक विवरण १६।३

समझते हैं वह बता देते हैं, कि, तुम इस दोष-विशुद्धि के लिए अमुक प्रकार का तपश्चरण करो ! बस, संक्षेप में यही प्रायश्चित्त की प्रक्रिया है।

राजनीति में अपराधी को दंड दिया जाता है, वहां अपराधी स्वयं अपने अपराध को स्वीकार भी नहीं करता, यदि स्वीकार भी ले तो उसके प्रति पश्चात्ताप या ग्लानि नहीं होती। ग्लानि भी हो तब भी वह उसके लिए दंड की मांग नहीं करता। दंड मिल भी जाता है तो प्रसन्नता और इमानदारी के साथ उसका पालन नहीं करता। जबकि अध्यात्म नीति में दोषी स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण करता है, पाप के प्रति उसके हृदय में तीव्र ग्लानि होती है, और प्रायश्चित्त लेकर वह अपने-आप को हलका, प्रसन्न और पवित्र अनुभव करने लगता है। प्रायश्चित्त और दंड में यह बहुत बड़ा अन्तर है। इसी कारण भारत के समस्त धर्मग्रन्थों में साधक के लिए प्रायश्चित्त शब्द का प्रयोग किया है, दंड का नहीं। दंड बाहर में अटक कर रह जाता है, वह अंतरंग को स्पर्श नहीं कर सकता। दंड अपराधी के मन को झकझोर नहीं सकता, प्रायश्चित्त दोष-सेवी के अन्तर्हृदय को गद्गद् कर देता है। दंड में दंडदाता की ओर से बलात्कार और भय का भाव बढ़ाया जाता है, इसलिए अपराधी दंड पाकर भी और ज्यादा उद्दण्ड, व धृष्ट बन जाता है। जबकि प्रायश्चित्त में गुरुजनों की ओर से करुणा, स्नेह एवं वात्सल्य का भाव दिखाया जाता है, इस कारण प्रायश्चित्त लेकर दोषी भावुक, विनीत एवं निष्कपट बनता है। वह सरल और प्रसन्न रहता है। दंड थोपा जाता है, प्रायश्चित्त हृदय से स्वीकार किया जाता है। इसलिए दंड और प्रायश्चित्त में काफी अन्तर है। साधना के मार्ग में दोष-विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त स्वीकार किया जाता है। वास्तव में व्यक्ति जब अपने अपराध के प्रति स्वयं घृणा करने लगता है तब उसके मन में उस अपराध से मुक्त होने का संकल्प जगता है, पश्चात्ताप द्वारा वह अपनी भूल पर आंसू बहाता है और भविष्य में पुनः अपराध न करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ होता है।

गाँधी जी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि बचपन में उन्होंने किसी दुकानदार से कुछ उधारी कर ली थी। दुकानदार रोज उन्हें तंग करता।

उसका कर्ज चुकाने के लिए गांधी जी ने घर से एक तोला सोना चुराया और दुकानदार का कर्ज चुका दिया। कर्ज तो चुक गया, किन्तु चोरी के पाप से हृदय भीतर ही भीतर झुलसने लगा। पश्चात्ताप से हृदय बैचेन हो उठा, जैसे भीतर में भयंकर आग जल रही हो। वे अपनी इस पीड़ा को सह नहीं सके। मन हुआ अभी जाकर पिताजी के चरण पकड़ लें और अपराध स्वीकार कर क्षमा माँग लें। किन्तु पिता के सामने जाने में शर्म भी आती थी, आखिर एक पत्र लिखकर उन्होंने अपनी चोरी की घटना बताई। स्वयं को धिक्कारा और भविष्य में कभी भी ऐसा अपराध न करने का दृढ़ संकल्प किया। समझदार पिता ने भी उन्हें प्रेमपूर्वक माफी देदी। इस पश्चात्ताप के बाद गाँधीजी ने कभी भी पुनः चोरी नहीं की। यह है पश्चात्ताप रूप प्रायश्चित्त का परिणाम ! दंड में ऐसा हृदय परिवर्तन नहीं हो सकता। इसलिए शास्त्रों ने साधक को अपने दोप का स्वयं प्रायश्चित्त करने के लिए प्रेरित किया है। अन्तःप्रेरणा से प्रेरित साधक जब गुरुजनों के समक्ष आता है तभी गुरुजन उसे प्रायश्चित्त देते हैं।

प्रतिसेवना बनाम दोष-सेवन के कारण

यद्यपि भूल करना, अपराध करना, दोप सेवन करना मनुष्य की सामान्य मनोवृत्ति है। जैन मनोविज्ञान के अनुसार हर सामान्य प्राणी इस मनोवृत्ति का शिकार होता है, कोई भी संसारी मनुष्य कभी भी अपराध कर सकता है, किसी की कोई गारंटी नहीं क्योंकि किस समय उसके मन में प्रमाद व कषाय का उदय प्रबल हो उठे, और वह दोप सेवन करले इसका कोई समय निश्चित नहीं है। हां, विवेकी, ज्ञानी मनुष्य उस कषाय आवेग पर कुछ नियंत्रण कर सकता है, अविवेकी उस प्रवाह में लकड़ी की तरह बह जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान भी यही बात मानता है कि बड़े से बड़ा और छोटे से छोटा कोई भी प्राणी भूल व अपराध कर सकता है।

भूल व दोप स्वभाव नहीं है, वह आत्मा का विभाव है। जैसे रोग, फोड़े-फुन्सी आदि शरीर के विकार हैं, वैसे ही अपराध, दोप आदि मानव-मन के विकार हैं। विकार दबे हुए रहते हैं, किन्तु कोई-न-कोई कारण मिलते ही वे जागृत हो उठते हैं। जैन मनोविज्ञान के आचार्यों ने मन में उन विकारों के

जाग्रत होने के अनेक कारण बताये हैं। उन कारणों से प्रेरित होकर मनुष्य दोष सेवन करता है, अपराध करता है। साधना की भाषा में उस दोष सेवन को प्रतिसेवना (पडिसेवणा) कहा जाता है। शास्त्रों में प्रतिसेवना के दस प्रकार बताये गये हैं—

दप्प-प्पमादऽणाभोगे आउरे आवतीति य।
संकिन्ने सहसक्कारे भय-प्पओसा य वीमंसा ॥[1]

दर्प, प्रमाद अनाभोग, आतुर, आपत्ति, संकित, सहसाकार, भय, प्रद्वेष और विमर्श—इन दस कारणों से होने वाली संयम की विराधना (दोष-सेवना) प्रतिसेवना कहलाती है।

१ **दर्पप्रतिसेवना**- अहंकार, गर्व आदि के कारण जो दोष सेवन किये जाते हैं और उस कारण संयम की विराधना होती है उसे दर्प प्रतिसेवना कहते हैं।

२ **प्रमाद प्रतिसेवना**—मद्यपान, विषय, कषाय, निद्रा एवं विकथा—इन पाँच प्रकार के प्रमाद के सेवन से होने वाली संयम विराधना।

३ **अनाभोग प्रतिसेवना**—अज्ञान के वश होने वाली संयम विराधना।

४ **आतुर प्रतिसेवना**—भूख, प्यास. आदि किसी पीड़ा से व्याकुल होकर की गई संयम की विराधना।

५ **आपत्प्रतिसेवना**– किसी प्रकार की आपत्ति, उपद्रव या संकट आने पर अकल्प का सेवन करने से होने वाली संयम विराधना।

आपत्ति चार प्रकार की मानी गई है—

द्रव्यापत्ति—प्रासुक, निर्दोष आहार आदि न मिलना।

क्षेत्रापत्ति—अटवी समुद्र तीर आदि भयंकर स्थानों में रहना पड़े तब।

कालापत्ति—दुर्भिक्ष आदि पड जाए तब।

भावापत्ति बीमार हो जाना, शरीर में रोग या चोट आदि लग जाने पर।

---

१ भगवतीसूत्र २५।७ तथा स्थानांग सूत्र १०

साधक-जीवन में जब ये चार प्रकार की आपत्तियाँ आती हैं तो न चाहते हुए भी विवश होकर उसे अपने कल्प के विपरीत आचरण करना पड़ता है। ऐसे समय में हिंसा, जलतरण, विद्या प्रयोग, आदि करके स्वयं की, संघ की एवं राष्ट्र की रक्षा करनी पड़ती है। उसमें दोषसेवन से आनन्द व सुख प्राप्ति की भावना नहीं, किन्तु संयम व संघ रक्षा की भावना रहती है। इसीलिए बृहत्कल्प भाष्य के कर्ता आचार्य संघदास गणी ने 'प्रतिसेवना के दो मूल भेद कर दिये हैं—

रागद्दोसाणुगता तु दप्पिया कप्पिया तु तदभावा।
आराधतो तु कप्पे, विराधतो होति दप्पेणं ॥[1]

रागद्वेषपूर्वक की जाने वाली प्रतिसेवना दर्पिका है और रागद्वेष से रहित (आपत्ति काल में परिस्थितिवश निषिद्ध आचरण करने पर) प्रतिसेवना कल्पिका है। कल्पिका प्रतिसेवना में संयम की विराधना नहीं है,[2] किन्तु दर्पिका में निश्चित ही संयम की विराधना है।

आपत्प्रतिसेवना में आचार्य के उक्त कथन को आधार मानकर ही भाष्य ग्रन्थों में सिंह का वधकरना आदि अनेक अपवाद मार्गों का उल्लेख किया है।

६ शङ्कित प्रतिसेवना—ग्रहण करने योग्य आहार आदि में शंका या सदेह हो जाने पर भी उसे ग्रहण करना।

७ सहसाकार प्रतिसेवना—सहसा अकस्मात् कोई कार्य उपस्थित हो गया तो उस समय बिना सोचे-समझे नियम विरुद्ध आचरण कर लेना।

८ भय प्रतिसेवना—भय से अनुचित आचरण करना। जैसे—लोक निंदा तथा अपमान, संत्रास आदि के भय से झूठ बोलना आदि।

९ प्रद्वेष प्रतिसेवना—किसी व्यक्तिगत द्वेष आदि के कारण ईर्ष्या,

---

१ बृहत्कल्पभाष्य ४९४३। निशीथ भाष्य ३६३

२ यह आचार्य का अपना मत है, इसमें कई प्रकार के मतभेद भी हैं।

प्रतिस्पर्धा के वश किसी पर झूठा कलंक आदि लगाना। कषाय आदि के कारण संयम की विराधना भी इसी के अन्तर्गत मानी जाती है।

१० **विमर्श प्रतिसेवना** - जान-बूझकर, विचारपूर्वक दोष सेवन करना—जैसे शिष्य आदि की परीक्षा के लिए झूठे प्रश्न पूछना, दोष स्वीकार कराने के लिए धमकाना, झूठा आरोप लगाना आदि।

आचार्यों ने बताया है कि इन दस कारणों से प्रेरित हो साधक अपने चारित्र में दोष लगाता है, अथवा दोष लग जाता है। इन दसों कारणों को भी चार कारणों में अन्तर्हित कर दिया गया है—जैसे— १ उपेक्षा, २ विवशता, ३ अज्ञान और ४ भावी लाभ।

दर्प, प्रमाद और द्वेष के कारण जो दोष लगाए जाते हैं, उनमें प्रायः विषय, कषाय की परिणति ही मुख्य रहती है,और उस कारण संयम के प्रति उपेक्षा का भाव अधिक रहता है।

भय, आपत्ति और शंकित में, यद्यपि चारित्र के प्रति उपेक्षा का भाव तो नहीं रहता, किन्तु विकट परिस्थिति आ पड़ने पर उसकी विषमता—संकट दशा को पार कर निराबाध स्थिति में पहुंचने का प्रयत्न रहता है- अतः इसे परिस्थिति की विवशता कहा जा सकता है। परिस्थिति से विवश होकर ही साधक अपवाद मार्ग का सेवन करता है। किन्तु उसमें भावना उत्सर्ग मार्ग—विधि मार्ग तक पहुंचने की ही रहती है।

अनाभोग और सहसाकार में अज्ञान दशा - अनजानपने में दोष लगता है तथा विमर्श में भावी लाभ का विचार कर जान-बूझ कर दोष लगाया जाता है। चारित्र की उपेक्षा, विवशता तथा अज्ञान आदि न होने पर भी सिर्फ स्थिति का सही रहस्य जानने या भावी लाभ को दृष्टिगत रखकर ही यह विमर्श प्रतिसेवना की जाती है।

इस प्रकार इन दस कारणों में से कभी कोई, कभी कोई कारण जीवन व्यवहार में ऐसा आ सकता है,जब साधक अपने नियम के प्रतिकूल,मर्यादा को लांघकर विपरीत आचरण कर लेता है। यह आचरण—**प्रतिसेवना** कहा जाता

है, इसमें दोष सेवन कर साधक वापस उसकी आलोचना कर अपने विधि मार्ग में लौट आता है।

उक्त कारणों से जो दोष सेवन होता है, साधक उसके लिए मन में पश्चात्ताप आदि भी करता है, और जहां, जब, जिसप्रकार के प्रायश्चित्त की विधि होती है, वह पूर्ण कर आत्मा को शुद्ध बनाता है।

प्रायश्चित्त के भेद

१ आलोयणारिहे आलोचनार्ह
२ पडिक्कमणारिहे—प्रतिक्रमणार्ह
३ तदुभयारिहे—तदुभयार्ह
४ विवेगारिहे—विवेकार्ह
५ विउस्सग्गारिहे—व्युत्सर्गार्ह
६ तवारिहे—तपार्ह
७ छेदारिहे—छेदार्ह
८ मूलारिहे—मूलार्ह
९ अणवट्ठप्पारिहे—अनवस्थाप्यार्ह
१० पारंचियारिहे—पाराञ्चिकार्ह

आलोचना बनाम दोष-स्वीकृति

दस प्रायश्चित्त में सबसे पहला प्रायश्चित्त—आलोचना है। आलोचना शब्द आज के युग में बहुत व्यापक और प्रसिद्ध शब्द है। किसी भी विषय में नुक्ताचीनी करना, टीका-टिप्पणी अथवा किसी की कोई गुण—दोष सम्बन्धी चर्चा करना आलोचना कहा जाता है। किन्तु जैनधर्म के प्राचीन ग्रंथों में आलोचना का कुछ दूसरा ही अर्थ मिलता है। वहां दूसरों के गुण-दोष की समीक्षा से तो कोई प्रयोजन ही नहीं, वह तो अध्यात्मवादी दर्शन है, स्वयं को देखना और स्वयं का सुधार करना ही वहां मुख्य प्रयोजन है। इसलिए आलोचना का अर्थ भी वहां यही किया है—"अपना दोष सरल मन से गुरुजनों के समक्ष प्रकट कर देना आलोचना है।" आचार्यों ने कहा है—

आ—अभिविधिना सकलदोषाणां, लोचना—गुरुपुरतःप्रकाशना—आलोचना[1]—संयम में जो कोई दोष लग गया हो, उसको गुरुजनों के समक्ष जाकर निष्कपट मन से प्रकट कर देना—गुरुदेव ! मुझ से यह दोष हो गया है—इस प्रकार दोष प्रकट रूप से स्वीकार कर लेना आलोचना है।

आलोचना—एक प्रकार की आत्म-निन्दा है। आत्म-निन्दा करना सरल

१ भगवती सूत्र २५।७ टीका।

कार्य नहीं है। पर-निन्दा तो हर कोई कर सकता है, दूसरों के दोष देखना सरल है, किन्तु अपना दोष देखना और अपनी निन्दा करना बहुत कठिन है–

दोष पराए देखकर चले हसंत हसंत।
अपने याद न आवहिं जाका आदि न अंत!

अपना दोष तभी नजर आता है जब मन में पाप का भय होता है, दोष के प्रति पश्चात्ताप एवं ग्लानि होती है तथा मन सरल होता है। इसलिए आलोचना में सर्वप्रथम बात हृदय की सरलता है। बालक जैसा सरल हृदय करके अपने दोषों को गुरु के समक्ष प्रकट कर देना चाहिए। बहुत से पाप ऐसे होते हैं, जिनका और कोई प्रायश्चित्त नहीं होता, सरलतापूर्वक प्रकट करने से ही उनका प्रायश्चित्त हो जाता है, उस दोष की शुद्धि हो जाती है। आचार्य ने बताया है—

जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जयं भवई।
तं तह आलोएज्जा माया मय-विप्पमुक्को उ।[1]

बालक—जो भी उचित या अनुचित कार्य कर लेता है वह सब सरल भाव से कह देता है। उसके मन में कोई दुराव-छिपाव या कपट नहीं होता। एक कहावत प्रसिद्ध है कि—किसी साहब से कोई सज्जन मिलने को आया। बाहर से आवाज लगाई। साहब भीतर बैठे थे, बच्चे को कहा—जाओ! कह दो, पिताजी यहां नहीं हैं।

बच्चे ने आकर कहा—पिताजी ने कहा है—पिताजी यहां नहीं हैं!

आप देखिए—पिता ने बच्चे को झूठ बोलना सिखाया पर बच्चा तो झूठ बोलने में भी सरल रहा—उसने कह दिया—"पिताजी ने कहा है—कि पिताजी यहाँ नहीं हैं।"

आलोचना से लाभ

तो हृदय की इतनी सरलता जब होती है कि कुछ भी छिपाना नहीं, जो कुछ हो, वह खुली किताब की तरह स्पष्ट साफ हो! न माया, न दंभ

---

१ ओघनिर्युक्ति ८०१।

और न अहंकार ! बस सीधा सरल होकर अपना दोष स्वीकार कर लेना ! यह है आलोचना । कृत पापों की आलोचना जब तक नहीं की जाती तब तक हृदय में एक शल्य (कांटा) रहता है । उस अवस्था में बिना आलोचना किए ही यदि मृत्यु हो जाय तो वह साधक धर्म का विराधक हो जाता है ।[1] यदि आलोचना की भावना जग गई, मन सरल हो गया और आलोचना नहीं कर पाया तो उस स्थिति के लिए—आचार्य भद्रबाहु ने तो यहां तक कहा है कि सरल मन से आलोचना करने की भावना जगने पर भी साधक की पाप विशुद्धि हो जाती है । यदि कोई पापों की आलोचना करने के लिए गुरु के समक्ष जाता हो, बीच रास्ते में किसी आकस्मिक कारण से मृत्यु हो जाये तो वह आलोचनोन्मुख साधक (आलोचना ग्रहण किये बिना भी) आराधक ही होता है[2] क्योंकि उसकी भावना सरल और पाप के प्रति पश्चात्ताप की थी । आयुष्य क्षय हो जाने के कारण वह आलोचना कर नहीं पाया, किन्तु हृदय उसका सरल हो गया था, सरलता के कारण शुद्धि तो अपने आप ही हो चुकी थी ।

भगवान महावीर ने बताया है कि मनुष्य पाप करके जब तक मन में पाप के प्रति आसक्ति रखता है, उसे पाप नहीं समझता या 'पाप' समझकर भी यह सोचता है कि इसे किये बिना मेरा काम नहीं चलेगा तब तक उसके मन में पाप के प्रति घृणा पैदा नहीं होती और वह पाप का प्रायश्चित्त भी नहीं कर सकता ।[3] यदि कोई सोचे कि दोष को स्वीकार करने से लोगों में मेरी कीर्ति, यश, प्रतिष्ठा एवं मान-सम्मान घट जायेगा, लोग मुझे दोषी कहने लग जायेंगे अतः अपना दोष स्वीकार नहीं करना चाहिए, ऐसा मनुष्य अपने झूठे अहंकार में अंधा हुआ रहता है । यदि मान-सम्मान घटने का डर था, तो पहले दोष सेवन करना ही नहीं चाहिए था । पाप करके पाप को छिपाना तो मूर्खता है । जिसे स्वास्थ्य की चिन्ता हो उसे पहले ही

१　भगवती सूत्र १०।२
२　आवश्यक निर्युक्ति ४
३　स्थानांग सूत्र ३।३ (आलोचना करने न करने के तीन-तीन कारण देखें)

अपनी तबियत का ध्यान रखना चाहिए, रोग हो जाने के बाद यदि कोई सोचे कि अब डाक्टर या वैद्य के पास जाऊंगा और लोगों को पता चलेगा तो लोग मुझे 'रोगी' 'बीमार' समझेंगे यदि ऐसा सोचकर कोई अपना रोग छिपा कर बैठा रहे, तो क्या वह स्वस्थ व प्रसन्न रह सकता है? स्वस्थता तभी रहेगी जब रोग दूर हट जायेगा, उसका उपचार किया जायेगा, इसी प्रकार जीवन में निर्दोषता और प्रसन्नता भी तभी आयेगी जब दोष को प्रकट कर उसका प्रायश्चित्त किया जाये! जीवन में उल्लास, मन में हलकापन और हृदय में निर्मलता तभी प्राप्त होती है जब व्यक्ति का अन्तरजीवन निर्दोष हो। गौतम स्वामी के प्रश्न पर भगवान महावीर ने बताया है कि आलोचना करने से साधक माया, निदान एवं मिथ्यादर्शन रूप तीन शल्यों को निकालकर दूर कर देता है, कांटा निकलने

क्लेश, केशलोच आदि कठोर कष्ट सहन की सब क्रियाएं बेकार हो जायेंगी, परलोक में न केवल मैं साधना की दृष्टि से दरिद्र ही रहूंगा, किन्तु पुरुष वेद को खोकर स्त्री वेद का भी बन्धन कर लूंगा। इस प्रकार का विवेकमय चिंतन कर साधक आलोचना के लिए मन को तैयार कर लेता है।

आलोचना करने वाले की मनोवैज्ञानिक स्थिति का चित्रण करते हुए शास्त्र में बताया है कि निम्न दस गुणों से सम्पन्न व्यक्ति कृत पाप की आलोचना करने में कभी पीछे नहीं हटता।[1] वे दस गुण ये हैं—

१ **जातिसम्पन्न**—उत्तम जाति वाला—वह व्यक्ति प्रथम तो ऐसा बुरा काम करता नहीं, जिससे लोक निंदा और आत्मा दूषित हो, यदि भूल से कर लेता है तो शुद्ध मन से उसकी आलोचना के लिए भी प्रस्तुत रहता है।

२ **कुलसम्पन्न**—उत्तम कुल वाला—वह व्यक्ति जो भी प्रायश्चित्त लेता है उसे पूरा पालता है, तथा पुनः दोष सेवन नहीं करने का सकल्प भी कर लेता है।

३ **विनयसम्पन्न**—विनयशील व्यक्ति भूल करने पर बड़ों की बात मान कर उसका प्रायश्चित्त कर लेता है।

४ **ज्ञानसम्पन्न**—जिसके हृदय में ज्ञान होगा वह जानता है कि मोक्ष-मार्ग की आराधना के लिए क्या करना चाहिए और क्या नहीं! अकार्य कर लेने पर तुरन्त उसकी शुद्धि कर लेनी चाहिए।

५ **दर्शनसम्पन्न**—श्रद्धासम्पन्न व्यक्ति भगवान की वाणी पर विश्वास रखता है, वह समझता है कि शास्त्रों में दोष के लिए जो प्रायश्चित्त की विधि बताई है वही हृदय की शुद्धि करने में समर्थ है।

६ **चारित्रसम्पन्न**—उत्तम चारित्र वाला व्यक्ति अपने चारित्र को निर्मल रखने के लिए दोषों की आलोचना करता है।

७ **क्षान्त**—क्षमाशील व्यक्ति में इतना धैर्य होता है कि दोष के कारण उसे गुरुजनों की फटकार, धिक्कार व भर्त्सना आदि मिलने पर भी

---

१ भगवती सूत्र २५।७ तथा स्थानांग १०

वह क्रोध नहीं करता, किन्तु अपने दोष की हर स्थिति में शुद्धि करना चाहता है।

८ दान्त—इन्द्रियों का दमन करने वाला—प्रायश्चित्त रूप में कठोर तपश्चरण आदि मिलने पर भी उसका पालन करने को तैयार रहता है, इन्द्रिय-विषयों की अनासक्ति के कारण वह प्रायश्चित्त से न तो डरता है और न अन्य प्रकार की लोलुपता रहती है अतः ऐसा व्यक्ति आलोचना कर सकता है।

९ अमायी—सरल हृदय वाला व्यक्ति कभी अपने पापों को छिपाता नहीं। वह खुले दिल से हर समय अपना दोष स्वीकार करने को तैयार रहता है

१० अपश्चात्तापी—अपना दोष स्वीकार कर लेने पर जिसके मन में कभी पश्चात्ताप नहीं होता कि मैंने ऐसा क्यों स्वीकार कर लिया? यदि छुपाया रखता तो क्या हो जाता? इस प्रकार आलोचना के बाद में अनुताप न करने वाला आलोचना कर सकता है, और आलोचना करके वह हृदय में हलकापन अनुभव करता है।

इन दस कारणों पर सूक्ष्म विचार किया जाय तो अनुभव होगा कि प्रत्येक कारण ऐसा है जो व्यक्ति के अन्तर्हृदय को कुरेदता रहता है। इनमें से कोई भी गुण यदि किसी में होगा तो पहले तो वह पाप की ओर बढ़ने में ही संकोच करेगा, भूल, अज्ञान या परिस्थिति वश पाप कर लिया तो वह फिर चुपचाप नहीं बैठ सकता, उसका हृदय भीतर-ही-भीतर प्रेरित करता रहेगा कि चल! गुरुजनों के समक्ष! अपना पाप प्रकट कर और उसका प्रायश्चित्त ले! इस प्रकार उक्त कारणों से व्यक्ति का मन दोषस्वीकृति के लिए, प्रायश्चित्त के लिए एक भूमिका बना लेता है और वह स्वयं प्रायश्चित्त लेने तैयार हो जाता है।

प्रायश्चित्त किसके पास?

पीछे जो दस प्रकार के प्रायश्चित्त बताये गए हैं उनमें कुछ प्रायश्चित्त ऐसे हैं, जो मन में पश्चात्ताप कर लेने मात्र से ही पूरे हो जाते हैं जैसे प्रति-

क्रमण ! किन्तु बाकी कुछ प्रायश्चित्त जो हैं, वे गुरुजनों आदि की साक्षी से ही किये जाते हैं। प्रायश्चित्त कर्ता चाहे अल्पज्ञानी हो, अथवा शास्त्रों का धुरंधर, किन्तु जो प्रायश्चित्त गुरु साक्षी से करना हो उसे तो वैसे ही उनके समक्ष जाकर करना चाहिए। यह नहीं कि "मुझे तो सब शास्त्रों का ज्ञान है, मुझे किसी के पास जाने की क्या जरूरत है ?" यदि ज्ञानी के मन में ऐसा विचार आता है तो इसका कारण है - उसे दूसरों के समक्ष दोष प्रकट करने में लज्जा या अपमान का अनुभव होता है, यदि ऐसी भावना है तो फिर सरलता कहां ? बिना सरलता के प्रायश्चित्त कैसा ? दूसरी बात यह है कि अच्छे से अच्छा वैद्य भी अपना इलाज स्वयं नहीं करता। कहा है—

> **जह सुकुसलो वि विज्जो अन्नस्स कहेइ अत्तणो वाहिं।**
> **विज्जुवएसं सुच्चा पच्छा सो कम्ममायरइ।**
> **छत्तीसगुण समन्नागएण, सुट्ठु वि ववहारकुसलेण।**
> **पर सक्खिया विसोहि तेण वि अवस्स कायव्वा।[1]**

जैसे परम निपुण वैद्य भी अपनी बीमारी दूसरे वैद्य से कहता है और उससे ही चिकित्सा करवाता है, उस वैद्य के कहे अनुसार कार्य करता है, वैसे ही आचार्य के छत्तीस गुणों से युक्त एवं ज्ञान क्रिया— व्यवहार आदि में विशेष निपुण होने पर भी पाप की विशुद्धि दूसरों की साक्षी से ही करनी चाहिए। क्यों कि ऐसा करने से हृदय की सरलता का परिचय मिलता है, तथा दूसरों को भी सरल एवं विशुद्ध होने की प्रेरणा मिलती है।

जैन आचार शास्त्र के प्रमुख सूत्र व्यवहार सूत्र में इस विषय का स्पष्ट उल्लेख किया है कि आलोचना किसके पास करनी चाहिए ? बताया गया है— "सर्व-प्रथम आलोचना अपने आचार्य, उपाध्याय के पास करनी चाहिए। वे न हों तो सांभोगिक बहुश्रुत साधु के पास, उनके अभाव में समान रूप वाले बहुश्रुत साधु के पास, उनके अभाव में पच्छाकड़ा (जो साधुपन त्याग कर श्रावक व्रत पाल रहा हो किन्तु पूर्व काल में संयम पालने से प्रायश्चित्त विधि का ज्ञान हो, जिसे, ऐसे) श्रावक के पास, उसका भी अभाव हो तो जिनभक्त यक्ष आदि देवों के पास अपने दोषों की आलोचना करनी चाहिए। अगर

---

१ गच्छाचार प्रकीर्णक गाथा १२-१३

कभी ऐसा प्रसंग आये कि इनमें से कोई भी न मिले तो ग्राम या नगर के बाहर जाकर पूर्व-उत्तर दिशा में मुंह कर, विनम्रभाव से हाथ जोड़कर अपने अपराधो व दोषों का स्पष्ट उच्चारण करना चाहिए और अरिहंत-सिद्ध भगवंत की साक्षी से अपने आप प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हो जाना चाहिए।"[1]

यह तो हुई एक विशेष परिस्थिति की बात ! वैसे सामान्य नियम यह है कि आलोचना किसी बहुश्रुत गंभीर श्रमण के पास करनी चाहिए। जैसे न्यायाधीशपद के लिए अनेक प्रकार के अध्ययन, अनुभव आदि की श्रेणी रखी जाती है, जो अनुभवी हो, अनेक विषयों का विद्वान हो, गंभीर हो, अपराधी के साथ पक्षपात व रिश्वत आदि का शिकार न होता हो, उसे ही न्यायाधीश के महान पद पर बिठाया जाता है, वैसे ही धर्मसंघ में आलोचना देने वाला एक प्रकार का न्यायाधीश होता है। प्राचीन राज्य व्यवस्था में तो न्यायाधीश को 'धर्माध्यक्ष' कहा जाता था। वास्तव में न्याय और धर्म में बहुत ही नजदीक का सम्बन्ध है, 'सत्य' दोनों की ही मूल कड़ी है। तो धर्मसंघों में भी आलोचना देने वाला, दोषी का अपराध सुनने वाला कुछ विशिष्ट होना चाहिए। शास्त्र में आलोचना देने वाले की आठ विशेषताएं बताई गई हैं—

१ **आचारवान्**—आचार संपन्न हों।

२ **आधारवान्**—(अवधारणायुक्त)—उसकी स्मृति स्थिर हो, सुनी हुई बात को ठीक से ग्रहण करे और उस पर गंभीरतापूर्वक विचार करने वाला हो।

३ **व्यवहारवान्**– आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत-व्यवहार इन पाँचों व्यवहारों का ज्ञाता हों, तथा प्रवृत्ति-निवृत्ति, उत्सर्ग-अपवाद आदि का उचित प्रवर्तन करने वाला हो।

४ **अप्रवीड़क**—अपराधी लज्जावश अपने दोषों को छिपाने की चेष्टा करे तो वह मधुर वचनों आदि से उसकी लज्जा दूर करके उसे उचित आलोचना कराने वाला हो।

---

१ व्यवहार सूत्र उ० १ बोल ३४ से ३९

५ **प्रकुर्वक**—आलोचित अपराध का तत्काल प्रायश्चित देकर अपराध की शुद्धि कराने में समर्थ हों। क्योंकि जब दोषी अपने दोष व अपराध का प्रायश्चित मांगता हो तो फिर उसमें विलंब नहीं करना चाहिए। शीघ्र ही प्रायश्चित देकर शुद्ध करें।

६ **अपरिस्रावी**—आलोचना करने वाले के दोषों को दूसरे के सामने प्रकट नहीं करने वाला हों। क्योंकि आलोचना करने वाला अपने गुप्त रहस्य प्रकट कर उनका प्रायश्चित लेता है, यदि आलोचना देने वाला गंभीर न होकर छिछला हो, तो वह उसके दोषों को दूसरों के समक्ष प्रकट कर देगा। जिससे लोगों में उसकी हीलना हो सकती है। और फिर उसके समक्ष कोई अपना गुप्त दोष प्रकट करना नहीं चाहेगा। इसीलिए शास्त्र में विधान है कि आलोचना दाता आलोचना करने वाले के दोषों को दूसरे के समक्ष प्रकट करदें तो उसे भी उतना ही प्रायश्चित आयेगा जितना कि दोष की आलोचना करने वाले को। इसका स्पष्ट अर्थ है—किसी के दोष का उड़ाह करना भी बहुत बड़ा दोष है।

७ **निर्यापक**—यदि किसी ने दोष गुरुतर किया हो, किन्तु शरीर से अशक्त हो, बीमार हों, उसकी शुद्धि हेतु जो प्रायश्चित रूप तपश्चरण आदि दिया जाय उसे वह पूरा निर्वाह न कर सकें तो उसे थोड़ा-थोड़ा करके प्रायश्चित देवे और उसकी शुद्धि कराए।

८ **अपायदर्शी**—यदि कोई दोष करके उसकी आलोचना करने में संकोच करता हो, तो उसे दोष छिपाने एवं आलोचना न करने के शास्त्र-वर्णित दुष्परिणाम समझा कर आलोचना करने के लिए तैयार करने में निपुण हों।[१]

इस तरह आलोचना देने वालों में भी ये विशेषताएं होनी चाहिए ताकि आलोचना करने वाला प्रसन्नता एवं विश्वासपूर्वक उसके पास आलोचना कर सके और स्वयं के दोषों से मुक्त हो सकें।

---

१ भगवती सूत्र २५।७ तथा स्थानांग सूत्र ८।

आलोचना के दोष

भगवतीसूत्र में आलोचना के सभी पहलुओं पर काफी गंभीरता के साथ विचार किया गया है। जहां आलोचना न करने के दुष्परिणाम दिखाये गये हैं, वहां आलोचना कर लेने के सुखद फल का भी वर्णन किया है। आलोचना लेने वाले और देने वाले की मानसिक गंभीरता, विवेकशीलता और सरलता का वर्णन है, वहां यह भी बताया है कि बहुत से व्यक्ति मन सरल न होने पर भी लोगों में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए, विश्वास पैदा करने के लिए और गुरुजनों को प्रसन्न रखने के लिए आलोचना करने का अभिनय किया करते हैं। इसलिए वे आलोचना करने में भी कपट और चालाकी से काम लेते हैं। शास्त्रकार ने उनकी इस चालाकी व धूर्तता को आलोचना का दोष बताया है। भगवती सूत्र में बताया है कि यदि मन में सरलता न हो तो आलोचना करने में भी ये दस प्रकार के दोष लग जाते हैं—

१ आकंपयित्ता—आलोचना लेने वाला यह सोचे कि जिनके पास आलोचना कर रहा हूं पहले उनकी सेवा आदि करके उन्हें प्रसन्न करलूँ ताकि वे प्रसन्न होकर थोड़ा प्रयश्चित लेंगे।

यह एक प्रकार की रिश्वत देने जैसी मनोवृत्ति है। न्यायाधीश को जैसे पहले रिश्वत देकर अपने पक्ष में करने की चेष्टा की जाती है वैसे ही गुरुजनों की सेवा आदि करके। इस मनोवृत्ति को आलोका प्रथम दोष माना है।

२ अणुमाणइत्ता—पहले छोटे दोष की आलोचना करके यह अनुमान करने की चेष्टा करना कि आचार्य आदि दण्ड कैसा देते हैं? कम देते हैं, या ज्यादा? अथवा प्रायश्चित के भेदों को पूछ कर पहले अनुमान करना कि मुझे कितना दण्ड मिलेगा, उसके बाद आलोचना करना।

३ दिट्ठं (दृष्ट)—जिस दोष को किसी ने देख लिया हो, उसी की आलोचना करना, बाकी की न करना।

४ बायरं (स्थूल)—सिर्फ बड़े-बड़े दोषों की आलोचना कर लेना।

५ सुहुयं (सूक्ष्म)—छोटे-छोटे दोषों की आलोचना करना।

४-५ वें दोष में शायद यही दिखाने की मनोवृत्ति रहती है कि "जो बड़े बड़े दोषों की आलोचना करता भी नहीं शर्माया या नहीं डरा, वह छोटे-छोटे दोषों को क्यों छुपायेगा? तथा जो छोटे-छोटे दोषों की आलोचना कर लेता है वह बड़े दोष को कैसे छिपा सकता है" दूसरों के मन पर इस प्रकार प्रभाव डालने के लिए यह दोनों प्रकार की धूर्तता की जाती है।

६ छन्नं (प्रच्छन्न)—लज्जालुता का प्रदर्शन करते हुए गुप्तस्थान में जाकर आलोचना करे और इतना धीरे व अस्पष्ट बोले कि आलोचना देने वाला पूरा सुन भी न सके।

७ सद्दाउलयं (शब्दाकुल)—दूसरों को सुनाने के लिए कि देखो मैं आलोचना कर रहा हूं—जोर-जोर से बोलकर आलोचना करना।

८ बहुजण (बहुजन)—लोगों में अपनी पाप-भीरुता का प्रदर्शन कर प्रशंसा प्राप्त करने के लिए एक ही दोष की अनेक व्यक्तियों के पास जाकर आलोचना करना।

९ अव्वत्त (अव्यक्त)—ऐसे अगीतार्थ साधु के पास जाकर आलोचना करना—जिसे यह भी ज्ञात न हो कि किस अतिचार का क्या प्रायश्चित दिया जाता है।

१० तस्सेवी (तत्सेवी)—जिस दोष की आलोचना करनी हो, उसी दोष का सेवन करने वाले आचार्य आदि के पास जाकर इस भावना से आलोचना करना कि ये स्वयं भी इस दोष के सेवी होने के कारण कुछ अधिक न कह सकेंगे तथा प्रायश्चित भी कम देंगे।[1]

आलोचना करने वाले को इन दोषों से बचकर सरल व निष्कपट मन से आलोचना करनी चाहिए। क्योंकि जब दोष की शुद्धि करने का दृढ़ संकल्प कर लिया हो तो फिर गुरु दंड कितना देंगे या लोग क्या कहेंगे आदि ये सब

---

१ भगवती सूत्र २५।७ तथा स्थानांग सूत्र ८।

विकल्प छोड़ देने चाहिए। कहावत है—"ऊखल में सिर दे दिया तो फिर मूसल से क्या डरना?' तो जब मन को, आत्मा को दृढ़ बना कर दोष मिटाने की तैयारी कर ही ली तो फिर जो भी दंड मिले उससे क्या डरना?

इस प्रकार प्रायश्चित के दस भेदों में यह प्रथम भेद हुआ आलोचना। आलोचना के सम्बन्ध में जैन धर्म ने बहुत सूक्ष्मरीति से विचार किया है, सिर्फ विचार ही नहीं, किन्तु इसे जीवन-व्यवहार का प्रमुख अंग माना है। प्रत्येक जैन चाहे वह श्रावक हो, या श्रमण, जीवन में पद-पद पर अपनी आलोचना—अर्थात् आत्मालोचन—आत्मनिरीक्षण करता रहता है। सामायिक लेते हुए सबसे पहले वह अपने पूर्वकृत पापों की आलोचना, निंदा, और गर्हा करता है। पापों के प्रति घृणा (गर्हा) करना—यही तो जैन धर्म का मूल तत्व है। उसका कहना है, पापी से नहीं पाप से घृणा करो। पापी की नहीं, पाप की आलोचना करो। इस प्रसंग में भगवती सूत्र का एक निम्न प्रकरण बड़ा ही प्रेरणाप्रद है।

एकबार पार्श्वसंतानीय कालासवेसियपुत्र नामक अणगार ने भगवान महावीर के स्थविरों से पूछा- क्या आप सामायिक को जानते हैं? सामायिक का अर्थ ज्ञात है आपको? यदि नहीं जानते हैं तो फिर कैसे स्थविर हैं आप? कैसे ज्ञानी हैं?

स्थविरों ने कहा—"अणगार! हमें सामायिक का अर्थ आदि सब ज्ञात है! हम सब रहस्य जानते हैं। कालासवेसिय पुत्र बोला—तो फिर बताइए सामायिक क्या है? सामायिक का अर्थ क्या है?

स्थविर—आत्मा ही सामायिक है, आत्मा ही सामायिक का अर्थ (प्रयोजन) है। इस पर कालासवेसियपुत्र अणगार बोले—यदि ऐसा ही है तो क्रोध मान आदि कषाय भी तो आत्मा में रहे हुए हैं, उनकी निन्दा-गर्हा क्यों करते हैं? स्थविरों ने गम्भीर होकर कहा—आर्य! संयम के लिए ही उनकी गर्हा करते हैं। क्योंकि उन दोषों (पापों) की निंदा करना, गर्हा—उनसे घृणा करना—यही तो संयम है, यही संयम का प्रयोजन है—गरहा

संजमे··· गरहा वि यं णं सव्वं दोसं पविणेति, सव्वं बालियं परिण्णाए[1]—गर्हा (आत्म-निरीक्षण और पापों के प्रति घृणा) यही संयम है, इसी से सब दोषों का प्रक्षालन होता है तथा सब बालभाव (मूर्खता—अज्ञान) दूर हो जाते हैं।" स्थविरों के इस उत्तर से अणगार कालास वेसिय पुत्र को पूर्ण समाधान हो गया।

तो आपने देखा कि पापों के प्रति गर्हा, निंदा और आलोचना—यही संयम का मुख्य-प्रयोजन है, और उसकी यही उपलब्धि भी है। आलोचना के द्वारा–गर्हा का—पापों के प्रति घृणा का गुरुजनों के समक्ष उसको स्वीकार करने का मार्ग प्रशस्त होता है।

प्रतिक्रमण : पापों का प्रक्षालन

आलोचना के बाद दूसरा प्रायश्चित्त है—प्रतिक्रमण। प्रतिक्रमण-जैन जीवन चर्या का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण और अति आवश्यक अंग है। इसीलिए जीवन में अवश्य करने योग्य कार्यों में इसकी गणना कर इसको 'आवश्यक' कहा गया है।[2] अनुयोग द्वार सूत्र में साधु एवं श्रावक के लिए छह आवश्यकों का विधान किया गया है, वहां चौथा आवश्यक कृत्य है—प्रतिक्रमण। प्रति-क्रमण-एक प्रायश्चित्त भी है, आवश्यक कृत्य भी है। यह एक प्रकार का स्नान है, दोषों का प्रक्षालन है। साधक जिस क्रिया के द्वारा आत्मनिरीक्षण, आत्म-परीक्षण एवं पश्चात्ताप के द्वारा अपने किये हुए दोषों, अपराधों एवं पापों का प्रक्षालन कर शुद्ध हो सकता है—उस का एक ही मार्ग है प्रतिक्रमण!

प्रतिक्रमण का अर्थ

जीवन में जो पाप स्वयं किये जाते हैं, दूसरों से करवाये जाते हैं, तथा दूसरों के द्वारा किये हुए पापों का अनुमोदन किया जाता है—उन सब पापों की निवृत्ति के लिए जो मानसिक पश्चात्ताप किया जाता है, पापों की

---

१ भगवती सूत्र १।९

२ समणेण य सावएण य अवस्सं कायव्वं हवइ जम्हा—अनुयोगद्वार आवश्यक अधिकार

अपवित्र दुनियां से निकलकर पुनः अपने पवित्र भाव लोक में आगमन किया जाता है—उसे जैन परिभाषा में प्रतिक्रमण कहते हैं। आचार्य हरिभद्र सूरि ने प्रतिक्रमण की भावात्मक परिभाषा करते हुए लिखा है—

स्वस्थानाद् यत्परंस्थानं प्रमादस्य वशंगतः !
तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते ।

—आत्मा प्रमाद के वश होकर अपने शुभयोग से गिर जाता है, और अशुभ योगों में चला जाता है। तब फिर से अशुभयोग को छोड़कर शुभ योग में आना—पर-स्थान से पुनः स्वस्थान में लौट आना—इसी का नाम है—प्रतिक्रमण।

आचार्य हेमचन्द्र ने भी प्रतिक्रमण की ऐसी ही व्याख्या की है। उनका कथन है—**प्रतीपं क्रमणं—प्रतिक्रमणं। शुभ योगेभ्योऽशुभयोगान्तरं क्रान्तस्य शुभेषु एव क्रमणात् प्रतीपं क्रमणं**—अर्थात् शुभ योगों से अशुभ योगों में गये हुए अपने आपको पुनः शुभ योगों में लौटा लाना—प्रतिक्रमण है।

संक्षेप में प्रतिक्रमण का अर्थ है—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, अशुभ योग-रूप पर-भाव में जब कभी आत्मा चला जाता है तो उसे तुरन्त अपने स्वभाव में सम्यक्त्व, संयम, अप्रमाद, क्षमा आदि धर्म एवं शुभ योग में ले आना—अशुभ से शुभ की ओर मोड़ लेना, पर-भाव से स्व-भाव में ले आना—इस क्रिया का नाम प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण में साधक अपने पापों का स्वयं निरीक्षण करता है, वह एकांत शांत स्थान में बैठकर संध्या व प्रातःकाल की पवित्र वेला में मन को स्थिर कर के अपने दिन भर के कृत्यों का निरीक्षण करता है कि आज मैंने क्या-क्या शुभ कार्य किये और क्या-क्या बुरे ! जिन कार्यों से मेरी आत्मा मलिन होती हैं, मेरे व्रत दूषित होते हों ऐसे कौन से कार्य मैंने आज किये हैं ? इस प्रकार वह गंभीरता के साथ अपना आत्म-निरीक्षण करता है, जो-जो दोष, पाप, अपराध उसके ध्यान में आते हैं उन पर वह सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करता है, मिच्छामि दुक्कड़ं—लेता है और पुनः उन पापों को नहीं करने का संकल्प लेता है। इस प्रकार साधक अपने व्रतों में जो दोष रूप छिद्र हो गये थे जिनके

द्वारा पाप रूप जल आत्मा में आ रहा था उन छिद्रों को पुनः रोक देता है। जैसे नाव के छिद्र रोक देने से नाव में पुनः पानी नहीं भरता, घर की छत आदि वर्षा में चूने लग जाती है तो उस पर सीमेंट आदि का प्लास्टर करने से उनका टपका (चूना) बन्द हो जाता है। इसी तरह कृत पापों का प्रतिक्रमण कर लेने से व्रतों के सब छिद्र रुक जाते हैं और आत्म-भवन सुरक्षित हो जाता है। भगवान महावीर से गौतम स्वामी ने जब पूछा कि भगवन्! प्रतिक्रमण करने से आत्मा को किस फल की प्राप्ति होती है, आत्मा को इससे क्या लाभ होता है? तो भगवान महावीर ने बताया **पडिक्कमणेणं वयछिद्दाइं पिहेइ**[1]—प्रतिक्रमण करने से व्रतों के दोष (अतिक्रम-व्यतिक्रम-अतिचार आदि) रूप जो छिद्र हो गये हों, वे पुनः बंद हो जाते हैं, उन छिद्रों का निरोध हो जाता है। छिद्रों का निरोध होने से आश्रव का भी निरोध हो जाता है। कर्म आने का रास्ता भी रुक जाता है।

तो प्रतिक्रमण का यह फल है कि—इससे व्रतों की शुद्धि हो जाती है, कर्म आने के द्वार बन्द कर दिये जाते हैं, कर्म द्वार (आश्रव) निरोध होने से फिर मुक्ति कितनी दूर रहती है? अर्थात् धीरे-धीरे जीव मुक्ति की ओर बढता जाता है।

दूसरी बात यह है—प्रतिक्रमण करने से मनुष्य में आत्मनिरीक्षण की आदत पड़ती है, आत्मनिरीक्षण करने से साधक आत्म-दर्शन की ओर बढता है, वह अपनी भूलों को, दुर्बलताओं को दूर कर आत्मा को शुद्ध, सुदृढ़ और स्वस्थ बना सकता है।

प्रतिक्रमण करने वाले के मन-वचन और कर्म में विभेद—अन्तर, नहीं रहता। जीवन में एक रूपता आती है। जो बात मन में होंगी वही उसके वचन में आयेगी, और वही बात उसके कर्म में साकार होंगी—यह नहीं कि–

'मन मैला, तन ऊजला कपटी बुगला भेख'

—यह कपट, यह बुगला वृत्ति, बाहर भीतर का फर्क, प्रतिक्रमण करने

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र २९।११

वाले के जीवन में नहीं टिक सकता। क्योंकि वह किसी दूसरे के डर से, लालच या दबाब से प्रतिक्रमण नहीं करता, किन्तु आत्मा को शुद्ध करने के लिए ही करता है, जो भूल होती है उसे सच्चे दिल से स्वीकार करता है और उसे दूर करने का भी प्रयत्न करता है। वह एक बार नहीं, किन्तु दिन में दो बार इस एकरूपता की साधना करता है। दिन में होने वाली समस्त भूलों को सायंकालीन प्रतिक्रमण के समय दूर हटाकर जीवन को पवित्र व सम-रूप बनाया जाता है और रात में होने वाली भूलों को प्रातःकालीन प्रतिक्रमण के समय दूर कर जीवन की विविधता व अनेकता मिटाई जाती है। मन-वचन-कर्म की एकरूपता प्राप्त की जाती है। जीवन में जहां-जहां उसे दोष, अनेकता के दाग दिखाई देते हैं उन्हें आत्मालोचन के जल से धो-धोकर सम्पूर्ण वस्त्र को एकदम स्वच्छ व निर्मल बना लेता है।

प्रतिक्रमण को जीवन की डायरी कहा जा सकता है। जीवन का वही-खाता कहा जा सकता है। जैसे लोग अपनी डायरी में ईमानदारी के साथ रोज-मर्रा की घटनाएं लिखते हैं,फिर उन पर चिंतन करते हैं जो भूल प्रतीत होती है, गलतियां लगती है उन्हें सुधारने का प्रयत्न करते हैं। वही-खाते में लाभ और हानि का हिसाब लिखा जाता है, फिर हानि होने के कारणों पर विचार कर उन्हें दूर किया जाता है और लाभ कमाने का प्रयत्न भी। प्रतिक्रमण से भी जीवन में यही होता है, भूलें ध्यान में आने पर व्यक्ति उन भूलों को सुधारने की चेष्टा करता है, दुबारा भूलें न करने का संकल्प करता है और इससे जीवन को निर्दोष बना लेता है।

सच्चे मन से लो 'मिच्छामिदुक्कडं'

प्रतिक्रमण में पाप के प्रति पश्चात्ताप कर जो प्रायश्चित्त लिया जाता है उसे जैन भाषा में 'मिच्छामिदुक्कडं' कहा जाता है। किसी भी प्रकार की शारीरिक, वाचिक और मानसिक भूल हो जाने पर दोष हो जाने पर साधक मन में पश्चात्ताप के साथ कहता है—मिच्छामि दुक्कडं'—अर्थात् मेरा यह दुष्कृत, मेरा यह दोष मिथ्या हो।

यह प्रश्न हो सकता है कि क्या 'मिच्छामि दुक्कडं' कोई ऐसा टोना है,

छूमंतर है कि जिसे बोलते ही सब पाप साफ हो जाये, दोष दूर हो जाय ? वास्तव में ऐसी कोई बात नहीं है कि मुंह से 'मिच्छामि दुक्कडं' कहने से ही पाप धुल जाते हों, पाप शब्द से नहीं, मन से धुलता है। 'मिच्छामि दुक्कडं' के साथ जो मन का पश्चात्ताप होता है, पाप के प्रति घृणा, और भविष्य में उसे पुन: न करने को दृढ़ संकल्प होता है उसी में यह शक्ति है कि वह शब्द उच्चारण करने पर पापों का सफाया कर डालती है ! मंत्र में भी शक्ति तभी जागृत होती है जब उसके पीछे मनोबल रहता है, मंत्र मुंह से बोलते जाये और मन कहीं रमता रहे तो क्या केवल मंत्रोच्चार से सिद्धि मिल जायेगी ? नहीं ! इसी तरह 'मिच्छामि दुक्कडं' शब्द के पीछे अन्तरमन का पश्चात्ताप रहता है, उसी महाशक्ति के कारण पाप का प्रक्षालन हो सकता है !

यदि मुंह से 'मिच्छामि दुक्कडं' बोलते जाय और बार-बार वही आचरण करते जाय तो इससे कोई शुद्धि नहीं होती। यह तो उलटा धर्म का उपहास है, साधना का मजाक है। पुराने आचार्यों ने एक उदाहरण देकर बताया है कि केवल शाब्दिक मिच्छामि दुक्कडं कैसा निरर्थक है—

एक बार एक विद्वान आचार्य किसी गांव में पधारे। उपाश्रय के पास में ही एक कुम्हार रहता था, वह मिट्टी को गोंद कर चाक पर चढ़ाता और उसके घड़े बना-बनाकर एक ओर रख रहा था। आचार्य के साथ एक छोटा साधु था जो कुछ चंचल प्रकृति का क्रीड़ाप्रिय था। कुम्हार ज्योंही चाक पर से घड़ा उतार कर नीचे रखता त्योंही वह बाल साधु कंकर का निशाना मार कर उसे तोड़ देता। कुम्हार ने कहा– महाराज ! यह क्या कर रहे हो ?

बाल साधु बोला—ओह ! भूल हो गई—मिच्छामि दुक्कडं ! किन्तु कुछ देर बाद फिर वह कंकर फैंककर बर्तन फोड़ने लगा। कुम्हार बार-बार टोकता गया और साधु मिच्छामि दुक्कडं लेता गया। आखिर कुम्हार को भी रोष और जोश आ गया, वह उठा, और एक कंकर लेकर साधु के कान पर रख कर जोर से दबाया, बाल साधु पीड़ा से तिलमिलाने लगा और बोला—"अरे यह क्या कर रहे हो ? साधु को मार रहे हो ?" कुम्हार बोला—मिच्छामि

दुक्कडं। और वह बार-बार दबाता जाता, साधु चीखता तो कुम्हार फिर कह देता – मिच्छामि दुक्कडं।

बाल साधु बोला—यह क्या! मारते जाते हो और 'मिच्छामि दुक्कडं' लेते जाते हो! कुम्हार ने भी हंसकर कहा! महाराज—जैसा तुम्हारा मिच्छामि दुक्कडं' वैसा ही मेरा 'मिच्छामि दुक्कडं!'[1]

तो ऐसा मिच्छामि दुक्कडं लेने से क्या लाभ है! यह तो उलटा धर्म का उपहास है। जिस 'मिच्छामि दुक्कडं' के साथ मन में पश्चात्ताप की लहर न उठे वह 'मिच्छामि दुक्कडं' आत्मा को शुद्ध नहीं, किन्तु और अधिक अशुद्ध बना देता है। इसलिए प्रतिक्रमण रूप 'मिच्छामि दुक्कडं' बोलते समय सच्चे मन से बोलना चाहिए, वाणी के साथ हृदय भी बोलना चाहिए तभी यह सच्चा प्रायश्चित्त होता है।

मिच्छामि दुक्कडं : शब्द और भाव

'मिच्छामि दुक्कडं" बोलकर, पाप का प्रायश्चित्त कर यदि पुनः उसी दोष का सेवन किया जाता है तो वह एक प्रकार का झूठ और दम्भ हो जाता है। आचार्य भद्रबाहु ने कहा है—

जं दुक्कडं ति मिच्छा तं चेव निसेवए पुणो पावं।
पच्चक्ख मुसावाई माया नियड़ी पसंगो य।[2]

जो एक बार 'मिच्छामिदुक्कडं' लेकर भी यदि फिर उस पाप का आचरण करने लगता है तो वह प्रत्यक्ष ही झूठ बोलता है, दम्भ का जाल फैलाता है। एक ओर 'मिच्छामि दुक्कडं' दूसरी ओर फिर वही दोष! वही घोड़ा वही मैदान! एक प्राचीन आचार्य धर्मदास गणी ने तो इस प्रकार का आचरण करने वाले को स्पष्ट ही मिथ्यादृष्टि भी कह दिया है—

जो जहावायं न कुणइ मिच्छादिट्ठी तउ हु को अन्नो?[3]

---

१ आवश्यक चूर्णि (आचार्य जिनदास गणी)
२ आवश्यक निर्युक्ति ६८५
३ उपदेशमाला ५०६

1934, सोंथलों ... जौहरी बाजार, जयपुर-302003 दूरभाष - 45549

जो व्यक्ति जैसा बोलता है, यदि वैसा करता नहीं तो उससे बढ़कर और मिथ्यादृष्टि कौन होगा ?

अगर हम 'मिच्छामि दुक्कडं' शब्द बोलते समय इसके शब्दार्थ एवं भावार्थ पर ध्यान देते रहे तों उच्चारण के साथ-साथ सहज ही भावना में एक स्पन्दन उठता रहेगा जो मन को शुद्ध बनाता रहेगा। आचार्य भद्रबाहु ने उसके एक-एक शब्द का अर्थ करते हुए बताया है—

'मि' त्ति मिउमद्दवत्ते,
'छ' त्ति य दोसाण छायणे होइ।
'मि' त्ति य मेराए ठिओ,
'दु' त्ति दुगुंछामि अप्पाणं॥
'क' त्ति कडं मे पावं,
'ड' त्ति य उवेमि तं उवसमेणं।
एसो मिच्छादुक्कड—
पयक्खरत्थो समासेणं॥

'मि'—अर्थात् मृदुता और मार्दवता।

'छ'—अर्थात् दोषों का छादन-ढँकना।

'मि'—अर्थात् चारित्ररूप मर्यादा में रहना।

'दु'—अर्थात् दुष्कृत की निंदा करना।

'क' अर्थात् कृत-पाप कर्म को स्वीकार करना

'ड' अर्थात् उपशम भाव के द्वारा पाप का प्रतिक्रमण करना।

इस सम्पूर्ण पद का अर्थ हुआ—मैं मन को नम्र और सरल बनाकर अपने पापों को रोकता हूं। संयम की मर्यादा में रहता हुआ अपने कृत दोषों को मानकर उनकी निंदा करता हूं और उनसे दूर हटने का संकल्प करता हूं।

तो, इस प्रकार 'मिच्छा मि दुक्कडं' शब्दोच्चारण के साथ मन में यह संकल्प जगना चाहिए! इस संकल्प में ही वह जादू है, जो पापों का छूमंतर करके भगा देता है। इस प्रायश्चित में समिति-गुप्ति में अंशमात्र जो दोष

लग जाते हैं उनकी विशुद्धि की जाती है। यह प्रायश्चित्त लेने के बाद फिर गुरु के पास आलोचना करने की आवश्यकता नहीं रहती।

प्रायश्चित्त : आगे का क्रम

प्रायश्चित्त के तीसरे भेद में उक्त दोनों का समन्वय किया गया है—अतः उसका नाम है—**'तदुभयार्ह'**। जिस दोष में आलोचना एवं प्रतिक्रमण दोनों करने से शुद्धि होती हो उसकेलिए इन दोनों का विधान है। जैसे एकेन्द्रियादि जीवों का संघट्टा हो जाने पर उक्त प्रायश्चित्त लिया जाता है, अर्थात् पहले मिच्छामि दुक्कडं बोला जाता है, और फिर गुरु के पास जाकर आलोचना भी की जाती है।

विवेकार्ह—प्रायश्चित्त का चोथा भेद है। विवेक का अर्थ है—त्याग। छोड़ना! किसी वस्तु का त्याग कर देने से ही जिस दोष की विशुद्धि होती हो उसे **विवेकार्ह-प्रायश्चित्त** कहते हैं। जैसे आधाकर्म आदि आहार आजाता है तो उसको अवश्य ही परठना पड़ता है ऐसा करने से ही उस दोष की विशुद्धि होती है।

व्युत्सर्गार्ह—पांचवा प्रायश्चित्त है। व्युत्सर्ग का अर्थ है—शरीर के व्यापार को रोक कर स्थिर होकर ध्येय वस्तु में उपयोग लगाना। नदी आदि पार करने में, मार्ग चलने में यदि असावधानी के कारण कोई दोष लग गया हो तो उसका प्रायश्चित्त करने के लिए ध्यान—कायोत्सर्ग किया जाता है। कायोत्सर्ग करने से ही उस दोष की विशुद्धि हो जाती है। उक्त प्रकार की प्रायश्चित्त विधि को व्युत्सगार्ह-प्रायश्चित्त कहा जाता है।

तपार्ह—यह प्रायश्चित्त का छठा स्वरूप है। तप करने से जिस दोष की शुद्धि हो, उसके लिए आगमोक्त विधि से तप करना तपार्ह-प्रायश्चित्त है। इस प्रायश्चित्त को पूरा करने के लिए निर्विकृतिक, आयम्बिल आदि से लेकर छमासी तप तक का विधान है।

छेदार्ह - सातवां प्रायश्चित्त है। छेद का अर्थ है काटना, कम करना।

जिस दोष की शुद्धि के लिए दीक्षा पर्याय का छेदन किया जाता हो उसे छेदार्ह-प्रायश्चित्त कहा जाता है। इसमें भी दोष की गुरुता के हिसाब से मासिक, चातुर्मासिक आदि अनेक भेद हैं। छेद सूत्रों में मुख्यतः इसी कोटि के प्रायश्चित्त का वर्णन है। तप रूप प्रायश्चित्त से इस प्रायश्चित्त की साधना कठिन है। क्योंकि तप में तो अधिकतर शरीर पर ही भार पड़ता है, किन्तु इस प्रायश्चित्त में मनुष्य के अहंकार पर सीधी चोट पड़ती है। यह प्रायश्चित्त देने पर दीक्षा में छोटे साधु बड़े बन जाते हैं। छोटे साधुओं का विनय करना उपवास आदि से भी अधिक कठिन कार्य है। इसी विनय के अभाव में तो बाहुबली एक वर्ष तक वन में खड़े रहे—कि भगवान के पास जाऊंगा तो वहां छोटे साधुओं को वदना करनी पड़ेगी। जब यह अहंकार दूर हुआ और एक कदम बढ़ाया तो बस केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। इस प्रायश्चित्त में जितने दिन का छेद दिया जाता है उतने दिनों में कोई दीक्षित हुआ हो तो वह उससे दीक्षा में बड़ा मान लिया जाता है। अर्थात् इसमें उतने दीक्षा के दिन काट दिये जाते हैं।

मूलार्ह—(नई दीक्षा) यह आठवां प्रायश्चित्त है। छद्मस्थ साधु कभी-कभी इतने गुरुतर दोषों का सेवन कर लेता है कि आलोचना और तप आदि से भी उसकी शुद्धि नहीं हो सकती। उन दोषों के सेवन से वह चारित्र से सर्वथा भ्रष्ट हो जाता है। जैसे मनुष्य, गाय, भैंस आदि की हत्या, या हत्या हो ऐसा क्रूर झूठ, शिष्य आदि की चोरी, ब्रह्मचर्य व्रत का भंग आदि। ये मूल दोष माने जाते हैं। इनके सेवन से चारित्र भ्रष्ट हो जाता है, उस दोष की शुद्धि के लिए चारित्र पर्याय का सर्वथा छेद कर नई दीक्षा देनी पड़ती है, महाव्रतों का पुनः आरोपण करना होता है। इसलिए इसे **मूलार्ह-प्रायश्चित्त** कहा जाता है।

अनवस्थाप्यार्ह—नौंवा प्रायश्चित है। जिस गुरुतर दोष की शुद्धि के लिए अनवस्थापित होना पड़ता हो, अर्थात्—साधु संघ से अलग होकर गृहस्थ का वेश धारण किया जाय और विशेष तप की आराधना की जाय। इस

प्रकार दोनों आचरण करने के बाद फिर नई दीक्षा लेनी होती है। उक्त विधि से जो प्रायश्चित्त दिया जाता है वह **अनवस्थाप्यार्ह-प्रायश्चित्त** है।

पाराञ्चिकार्ह—जिस महादोष की शुद्धि पाराञ्चिक अर्थात् वेष और क्षेत्र का त्याग कर महातप करने से होती है उसके लिए वैसा आचरण करना **पाराञ्चिकार्ह-प्रायश्चित** है। यह दसवां तथा अन्तिम प्रायश्चित है। साधु जीवन में सबसे गुरुतर महादोष के लिए यह प्रायश्चित दिया जाता है।

पाराञ्चिक-प्रायश्चित पांच कारणों से दिया जाता है—वे कारण ये हैं।[1]

१ गण में फूट डालना।

२ फूट डालने की योजना बनाना, उसके लिए तत्पर रहना।

३ साधु आदि को मारने की भावना रखना

४ मारने के लिए योजना बनाना, छिद्र--अवसर आदि की तलाश करते रहना

५ बार-बार असंयम के स्थान रूप सावद्य अनुष्ठान की पूछताछ करते रहना अर्थात् अङ्गुष्ठ-कुड्य आदि प्रश्नों का प्रयोग करना। इन प्रश्नों से दीवार या अंगूठे में देवता बुलाया जा सकता है।

इन पांच कारणों के सिवा साध्वी या राजरानी का शील भंग करने पर भी यह प्रायश्चित दिया जाता है। इसकी शुद्धि के लिए ६ महीने से लेकर बारह वर्ष तक गण, साधुवेष एवं अपने क्षेत्र को छोड़कर जिनकल्पिक साधु की तरह कठोर तपश्चर्या करनी होती है। उक्त तपश्चरण की अवधि पूरी होने के बाद उसे नई दीक्षा देकर साधुसंघ में सम्मिलित किया जा सकता है।

टीकाकार आचार्य का कथन है कि यह दसवां प्रायश्चित्त विशेष पराक्रम वाले आचार्य को ही दिया जा सकता है। उपाध्याय को नौवें प्रायश्चित तक

---

१ स्थानांग सूत्र ५।१

और सामान्य साधु के लिए आठवें प्रायश्चित तक का ही विधान है। वर्तमान समय में अधिक से अधिक आठवें प्रायश्चित तक देने की विधि है।

उपसंहार

प्रायश्चित के इन विभिन्न स्वरूपों पर विचार करने से कई बातें स्पष्ट होती हैं। पहली बात प्रायश्चित वही लेगा जिसका मन सरल होगा। जिसे पाप का भय होगा और आत्मा को निर्दोष बनाने की चिंता। मन में जरा भी कपट या धूर्तता रही तो प्रायश्चित नहीं लिया जाता, यदि कपट पूर्वक प्रायश्चित किया भी जाय तब भी उससे शुद्धि नहीं होती। आचार्य आदि को यदि ज्ञात हो जाय कि अमुक व्यक्ति कपट पूर्वक आलोचना कर रहा है तो उसे दुगुना प्रायश्चित दिया जाता है, पहला सेवन किए हुए दोष का, और दूसरा कपट करने का। अर्थात् जब तक कपट की भी आलोचना नहीं हो जाती तब तक दोष की शुद्धि नहीं हो सकती इसलिए प्रायश्चित लेने वाले को सर्वप्रथम सरल हृदय, विनम्र एवं सद्भावनायुक्त होना आवश्यक है।

दूसरी बात— दोष छोटा हो चाहे बड़ा; उसकी शुद्धि हो सकती है। यह नहीं कि बड़ा दोष सेवन कर लेने के बाद व्यक्ति सर्वथा सर्वदा के लिए ही पतित हो गया हो। जैनधर्म आत्मा की शुद्धि में विश्वास रखता है। बड़े से बड़ा दोषी और अपराधी भी शुद्ध हो सकता है, पवित्र हो सकता है। क्योंकि आत्मा मूलतः दोषी नहीं है, दोष तो प्रमाद एवं कषाय भाव है। कषाय आदि की उत्पत्ति होती है तो उनकी शुद्धि भी हो सकती है। मन में जब विवेक जागृत हो जाय, पाप के प्रति ग्लानि, पश्चात्ताप और उसे त्यागने का संकल्प जग पड़े तो व्यक्ति सरल, निरभिमान होकर बड़े-से बड़े दोष की भी शुद्धि कर लेता है। तपश्चर्या, विनय एवं ध्यान के द्वारा वह अपने कृत पाप का प्रक्षालन कर शुद्ध हो सकता है।

प्रायश्चित तप इस बात को सिद्ध करता है कि प्रत्येक आत्मा अपने दोषों का प्रक्षालन कर सकती है। इसके लिए कहीं जाने की जरूरत नहीं रहती,

बस हृदय को मांजने की ही जरूरत रहती है। वैदिक ग्रन्थों में पाप-मुक्ति के लिए जहां ईश्वर की शरण में जाकर सब कुछ अर्पण कर देने का विधान है वहां जैन धर्म में हृदय को अत्यंत सरल बनाकर गुरुजनों के समक्ष पाप प्रकट कर उसके लिए तपःसाधना करने की विधि है। क्योंकि कुछ दोष सिर्फ पश्चात्ताप से ही दूर हो जाते हैं और कुछ दोष तप, सेवा एवं विनय आदि के द्वारा। इसी दृष्टि से प्रायश्चित को तप मान कर उसका यह विस्तृत वर्णन सूत्रों में किया गया है और पाप-मुक्ति का मार्ग दिखाया गया है।

विनय तप

आभ्यन्तर तप का दूसरा भेद 'विनय तप' है। विनय का सम्बन्ध हृदय से रहता है। जिसका हृदय सरल और कोमल होता है वही गुरुजनों का विनय कर सकता है। इससे अहंकार का नाश होता है, अहंकार को 'स्तब्धता' कहा गया है जिसका अर्थ है—पत्थर के जैसी कठोरता। पत्थर टूट जाता है, पर झुकता नहीं, क्योंकि उसमें कोमलता नहीं होती। लेकिन सोना ? चाहे जितना झुकालो, घुमालो, चाहे जिस आकार में ढाल लो, उसमें कोमलता होती है, मुलायमी होती है इसीलिए उसका मूल्य भी अधिक होता है। विनम्र व्यक्ति का हृदय भी कोमल होता है, उसकी वाणी भी कोमल होती है, और शरीर भी नम्र, एवं सभ्यता के नियमों के अनुकूल रहता है। उसके चलने में, उठने-बैठने में अकड़ नहीं होती, इस प्रकार विनय से मन-वचन-तन तीनों में ही मृदुता, कोमलता और सरलता की मधुर सुवास महकती रहती है।

विनय को तप क्यों कहा ?

एक प्रश्न हो सकता है विनय तो एक प्रकार का सद्व्यवहार है, इसमें ऐसी कौन सी बड़ी बात है जिसे तप की श्रेणी में लिया जाये। क्योंकि तप में तो शरीर व मन को तपाना पड़ता है, संयम व साधना करनी पड़ती है,

विनय में तो ऐसी कोई बात नहीं दीखती। गुरुजनों के साथ नम्रतापूर्ण व्यवहार करना—यह तो बहुत साधारण सी बात है! इसका उत्तर है—विनय सिर्फ एक सद्व्यवहार का ही नाम नहीं है। विनय की सीमा बहुत लम्बी-चौड़ी है, इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। सद्व्यवहार तो विनय का एक प्रत्यक्ष फल है, वास्तव में तो विनय का अर्थ बहुत गहरा है। यश-प्रतिष्ठा की भावना पर संयम करना, अहंकार पर विजय करना, स्वेच्छाचारिता का दमन कर, मन की निरंकुशता को समाप्त करना एवं गुरुजनों की आज्ञा-इंगित के अनुसार वर्तन करना—यह सब विनय है, विनय की परिभाषा में इन सब का समावेश हो जाता है। इस प्रकार विनय एक कठोर मनोनुशासन अर्थात् आत्मानुशासन है। आत्म-संयम का अभ्यास किये बिना विनय की आराधना नहीं हो सकती। जैसे कि आगमों में विनय के भेद—प्रभेद बताये हैं उनको समझने से यह बात स्पष्ट हो जायेगी, कि विनय मात्र एक सद्व्यवहार का नाम नहीं है, किन्तु वह एक दुर्लभ आत्मिक गुण है, जिसकी प्राप्ति के लिए संयम, अनुशासन एवं सरलता की साधना करनी पड़ती है इसी दृष्टि से विनय को तप का स्थान दिया गया है और उसे धर्म का मूल माना गया है।[1]

व्युत्पत्ति तो नहीं बताई गई है, किन्तु विनय का फल, विनय का स्वरूप और विनय की विधि व नियम जरूर बताये गये हैं। उन सब पर एक विहंगम दृष्टि डालने से पता चलता है वहां 'विनय' शब्द अधिकतर तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—

१ विनय—अनुशासन

२ विनय – आत्मसंयम—शील (सदाचार)

३ विनय—नम्रता एवं सद्व्यवहार

अनुशासन

उत्तराध्ययन सूत्र के प्रथम अध्ययन में जो विनय का स्वरूप बताया गया है वह प्रायः अनुशासनात्मक है। गुरुजनों की आज्ञा व इच्छा का ध्यान रखना, और तदनुसार वर्तन करना, यह एक प्रकार का अनुशासन है। गुरुजन शिष्य के हित के लिए कभी मधुर वचन व कभी कठोर वचन से उसे हित शिक्षा देते रहते हैं तब शिष्य को सोचना चाहिए—

जं मे बुद्धाणुसासंति सीएण फरुसेण वा।
मम लाभो त्ति पेहाए पयओ तं पडिसुणे।[1]

गुरुजनों का मधुर व कठोर अनुशासन मेरे लाभ के लिए ही है इसलिए मुझे उस पर खूब ध्यान रखना चाहिए, सावधानी के साथ उसे सुनना चाहिए।

आज्ञाराधना—एक प्रकार का अनुशासन है, इसलिए उत्तराध्ययन में गुरु आज्ञा को अनुशासन कहकर बताया है—**फरुसं पि अणु सासणं**[2] अनुशासन चाहे कठोर ही क्यों न हो, किन्तु शिष्य गुरुजनों के द्वारा अनुशासित किया जाने पर उनके द्वारा आत्महित के कार्य में आदेश देने पर, **अणुसासिओ न कुप्पेज्जा**[3] अनुशासित होने पर क्रोध नहीं करें किन्तु उसे हितकारी एवं लाभकारी मानकर श्रद्धा पूर्वक आचरण में लाये।

---

१ उत्तराध्ययन १।२७
२ ,, १।२९
३ ,, १।९

आत्मसंयम व शील

इसी अध्ययन में 'विनय' के नाम से आत्मसंयम एवं शील सदाचार की भी शिक्षा दी गई है जैसे—

अप्पा चेव दमेयव्वो..........[1]

वरं मे अप्पा दंतो संजमेण तवेण य[2]

आत्मा का दमन करना चाहिए क्योंकि आत्मा पर संयम करने वाला दोनों लोक में सुखी होता है। इसलिए अच्छा है कि मैं स्वयं की विवेक बुद्धि से अपना नियंत्रण, संयम एवं तप के द्वारा स्वयं ही करता रहूं, अन्यथा दूसरे लोग वध-बंधन के द्वारा मुझे अपने नियंत्रण में रखेंगे।

यह आत्मानुशासन—आत्मसंयम की शिक्षा भी विनय की शिक्षा है। क्योंकि विनीत आत्मा ही आत्मसंयम कर सकता है। गुरुजनों का अनुशासन तभी माना जा सकता है, जब पहले मन पर अनुशासन हो, क्योंकि उसमें कभी कभी मन के, अपनी इच्छा व रुचि के प्रतिकूल बात को स्वीकार करने में कठिनाई होती है, किन्तु जो मन को साध लेता है, उसके लिए यह कठिनाई भी सरल हो जाती है।

विनयशील व्यक्ति पापों से, असद् आचरणों से डरता है, एक प्रकार की लज्जा करता है, इसलिए उसे लज्जालु कहा गया है। विनीत की परिभाषा करते हुए यही बात कही गई है—**हिरिमं पडिसंलीणे सुविणीए त्ति वुच्चइ**[3] जो लज्जाशील और इन्द्रियों का दमन करने वाला है उसे ही सुविनीत कहा जाता है।

स्थानांग तथा भगवती सूत्र आदि में भी जो प्रशस्त मनविनय आदि के भेद बताए गए हैं उनका सम्बन्ध भी मन के उच्च व स्वच्छ विचारों से है। मन पर संयम करने से ही मन पवित्र व प्रशस्त रहता है।

---

१ उत्तराध्ययन १।१५
२ उत्तराध्ययन १।१६
३ उत्तराध्ययन ११।१३

विनय के माध्यम से शील-सदाचार की भी शिक्षा दी गई है। कहा है—

तम्हा विणयमेसिज्जा सीलं पडिलभेज्जओ ।[1]

दुःशील, असदाचारी व्यक्ति सड़े कानों की कुतियां की भांति दर-दर ठोकरें खाता है, अपमानित होता है, लोग उससे घृणा करते हैं, इसलिए दुःशील का बुरा परिणाम समझकर शील का आचरण करना चाहिए, विनय की उपासना करनी चाहिए। गुरुजनों के समक्ष स्थिर आसन से सभ्यतापूर्वक बैठना, उनकी शिक्षाओं पर क्रोध न करना, कम बोलना, बिना पूछे न बोलना, उन्हें प्रसन्न कर विद्याभ्यास में लीन रहना—यह सब शील एवं सदाचार है, जो कि विनय का ही परिवार है।

नम्रता व सद्‌व्यवहार

विनय का नम्रतासूचक अर्थ तो काफी प्रसिद्ध है ही। आगमो में भी इस का कई जगह वर्णन मिलता है। **नीयावित्ती अचवले** नीची वृत्ति रखना, चंचल नहीं होना—यह विनीत का लक्षण बताया गया है। नीची वृत्ति से आशय है—गुरुजनों के समक्ष नम्र होकर रहना, विनीत भाव से वर्तन करना। दशवैकालिक में कहा है—

नीयं सिज्जं गइं ठाणं नीयं च आसणाणि य ।
नीयं च पाए वंदिज्जा नीयं कुज्जा य अंजलिं ।।[2]

गुरुजनों के समक्ष शय्या (सोने का बिस्तर) स्थान और आसन उनसे कुछ नीचा रखना चाहिए। नमस्कार करते समय झुककर उनके चरणों का स्पर्श, वंदना करनी चाहिए। और हाथ भी जोड़े तो नीचे झुककर अंजलिबद्ध हो। मतलब यह है कि किसी भी व्यवहार में अकड़, अहंकार और स्तब्धता झलके ऐसा नहीं होना चाहिए। शिष्य के प्रत्येक व्यवहार में नम्रता टपकनी चाहिए। दूसरी बात नम्रता में भी विवेक रहना चाहिए। जिसे सभ्यता कहते हैं, जैसे गुरुजनों के बुलाने पर आसन पर बैठा न रहे, किन्तु खड़ा

---

१ उत्तराध्ययन १।७
२ दशवैकालिक ६।२।१७

होकर हाथ जोड़कर **पुच्छिज्जा पंजलीउडो**[1]—अंजलि जोड़कर उकड़ु आसन अर्थात् वंदना की मुद्रा बनाकर पूछे "गुरुदेव ! क्या आज्ञा है ? किसलिए मुझे याद करने की कृपा की ?" बैठते समय उनके आसन से बहुत दूर भी न बैठे, और बिल्कुल सटकर भी न बैठे किन्तु उचित रीति से बैठे, पैर आदि फैलाकर न बैठे, या पालथी लगाकर, बड़प्पन का आसन लगाकर न बैठे, उनके आगे-आगे न चले, अड़कर भी न चले, वे बोले तो बीच में न बोले—इस प्रकार प्रत्येक व्यवहार में नम्रता और सद्व्यवहार की झलक मिले, शिष्टता, सभ्यता और सुशीलता का परिचय मिलता हो ऐसा व्यवहार करे, यह विनय का तीसरा रूप है। इसी रूप में गुरुजनों की अशातना—अवमानना, हीलना न करना, उनका स्वागत, सत्कार और बहुमान आदर आदि करना आता है। बड़ों का विनय करने की शिक्षा देते हुए कहा गया है—**रायणिएसु विणयं पउंजे**[2]—अपने से बड़े पुरुषों के प्रति विनय रखना चाहिए। समवायांग एवं दशाश्रुतस्कंध में जो ३३ अशातनाएं बताई गई हैं वे भी एक प्रकार से सद्व्यवहार की ही विधियां हैं। उन सबके अवलोकन से यही स्पष्ट होता है की नम्रता, बड़ों का आदर एवं सद्व्यवहार—यह सब विनय के ही अन्तर्गत है।

इस प्रकार विनय के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए विनय की तीन परिभाषाएं हमारे सामने आई हैं—१ गुरुजनों का आज्ञापालन व अनुशासन, २ आत्मानुशासन व सदाचार तथा ३ बड़ों का आदर एवं सद्व्यवहार।

विनय का फलार्थ

स्थानांग सूत्र की टीका में आचार्य अभयदेवसूरि ने विनय शब्द की फलात्मक व्युत्पत्ति की है। विनय के फल को ध्यान में रखते हुए उन्होंने एक गाथा उद्धृत की है—

> **जम्हा विणयइ कम्मं अट्ठविहं चाउरंतमोक्खाय।**
> **तम्हा उ वयंति विउ विणयं ति विलीणसंसारा।**[3]

---

१ उत्तराध्ययन १।२२
२ दशवैकालिक ८।४१
३ स्थानांग ६। टीका

जिससे आठ कर्म का वि+नय (विशेष-दूर होना) होता है, उसे विनय कहते हैं, अर्थात् विनय आठों कर्मों को दूर करता है, और उससे चार गति का अन्त करने वाले मोक्ष की प्राप्ति होती है, अतः सर्वज्ञ भगवान ने उसे 'विनय' कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि कर्म का नाश (विनयन) करने के कारण ही इसे विनय कहा जाता है। इसी प्रकार की व्याख्या प्रवचन सारोद्धार की वृत्ति में भी उपलब्ध होती है—**विनयति क्लेशकारकमष्ट-प्रकारं कर्म इति विनयः** क्लेश पैदा करने वाले आठ कर्म शत्रुओं को जो दूर करे वह 'विनय' है।

वि-नय—शब्द से नम्रता का भी अर्थ निकलता है, जो अहंकार, स्तब्धता आदि को दूर करे—वह 'विनय'।

इस प्रकार भाव और शब्द दोनों ही दृष्टि से विनय का स्वरूप हमारे सामने आता है कि नम्रता, सेवा, आत्मसंयम, गुरु अनुशासन—यह सब विनय है। विनय का फल तो मोक्ष है ही। यह बात स्वयं आगमकारों ने भी उद्घोषित की है—जैसे वृक्ष का मूल है जड़ और अन्तिम फल है—रस! उसी प्रकार—**एवं धम्मस्स विणओ मूलं परमो से मुक्खो।**[1] धर्म रूप वृक्ष का मूल विनय है, और उसका अन्तिम फल—रस है मोक्ष है।

विनय की महिमा

जैन धर्म में विनय को धर्म का मूल बता कर एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत किया है। वह यह है कि विनय—हमारे समस्त जीवन व्यवहार एवं धार्मिक आचरणों की मूल पृष्ठभूमि है। छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा आचरण विनय मूलक होना चाहिए। विनय से रहित व्यवहार तो क्या, विनय रहित धर्म भी वास्तव में धर्म नहीं है, इसीलिए सर्व प्रथम यह उद्घोषणा कर दी गई—**धम्मस्स विणओ मूलं**—धर्म का मूल विनय है।

जैन दर्शन एवं योग के महान विद्वान आचार्य हरिभद्र ने तो विनय की महिमा में और भी चार चांद लगाते हुए कहा है—

---

१ दशवैकालिक ६।२।२

विणओ जिणसासणे मूलं विणीओ संजओ भवे।
विणयाओ विप्पमुक्कस्स कओ धम्मो कओ तवो।[1]

विनय जिनशासन का मूल है, विनीत ही संयम की आराधना कर सकता है। जिसमें विनय का गुण नहीं है, वह क्या तो धर्म की आराधना कर सकेगा और क्या तप की? अर्थात् धर्म, तप एवं संयम की आराधना वही कर सकता है जो विनयी होगा, नम्र होगा और श्रद्धा एवं सद्भावना से युक्त होगा।

विनय सब गुणों का आधार माना गया है, जैसे सब वनस्पतियों को उत्पन्न करने वाली पृथ्वी है, समस्त जीवों का आधार है, वैसे ही विनय विश्व के समस्त सद्गुणों का आश्रय स्थान है, केन्द्र है। विनीत व्यक्ति गुणों को प्राप्त करता है, उससे संसार में उसकी कीर्ति, यश एवं प्रतिष्ठा बढ़ती है—

नच्चा नमइ मेहावी लोए कित्ती से जायइ।
हवइ किच्चाणं सरणं भूयाणं जगई जहा।[2]

विनय की महिमा में इससे बढ़कर और क्या कहा जा सकता है! विनयशील को विश्व के समस्त गुण, समस्त विद्याएं और सभी सम्पत्तियां स्वयं आकर प्राप्त करती हैं। विद्या स्वयं विनीत को पाकर अपने को वैसे ही अलंकृत समझती है जैसे सुशील कन्या सत्पुरुष का वरण कर। इसीलिए शास्त्र में कहा है—

विवत्ती अविणीयस्स संपत्ती विणियस्स य[3]

अविनीत को सब विपत्तियां घेरे रहती हैं और सुविनीत को सब सम्पत्तियां।

विनय के सात प्रकार

जैन धर्म में विनय को इतना व्यापक रूप दिया गया है कि जीवन का

---

१ [illegible] आवश्यक १२।२६
२ उत्तराध्ययन १।४५
३ दशवैकालिक ९।२।२२

कोई भी क्षेत्र विनय से अछूता नहीं रहा है। सम्पूर्ण जीवन को विनय की सुवास से महका दिया गया है जैसे पूजा के समय मन्दिर का कौना-कौना सुगंधित धूप से महका दिया जाता है। साधना एवं व्यवहार के समस्त क्षेत्रों को विनय से आप्लावित करते हुए उसके विभिन्न भेद किये गये हैं। भगवती आदि सूत्रों में विनय के सात भेद बताये गए हैं—

सत्तविहे विणए पण्णत्ते, तं जहा—

णाणविणए, दंसणविणए, चरित्तविणए, मणविणए

वइविणए, कायविणए लोगोवयारविणए।[1]

विनय सात प्रकार का है—

१. ज्ञान विनय, २. दर्शन विनय, ३. चारित्रविनय, ४. मन विनय, ५. वचन विनय, ६. कायविनय, ७. लोकोपचार विनय।

ज्ञान विनय का अर्थ है—ज्ञान के धारक का विनय करना। क्योंकि ज्ञान एवं ज्ञानी मूलतः एक ही है। ज्ञान आत्मा का लक्षण है, स्वरूप है, गुण है। गुण गुणी में ही रहता है, इसलिए ज्ञान विनय कहने से अर्थ होता है ज्ञानवान का विनय करना।

ज्ञानी का विनय करने में दो मुख्य दृष्टियां है—एक तो ज्ञानी (मति ज्ञानी आदि पांचों ही ज्ञान धारक समझने चाहिए) का आदर करना चाहिए। जिस समाज में, जिस संघ एवं गण में, विद्वानों का आदर होगा, विद्वानों की, ज्ञानियों की पूजा होगी और उनकी बात सुनी जायेगी वह संघ, समाज सदा उन्नति करता रहेगा, वह कभी संकट में नहीं फंसेगा, यदि भाग्यवशात् संकट आ भी गया तो ज्ञानी विद्वान शीघ्र ही उस संकट से मुक्त होने का उपाय बता देंगे।

ज्ञानी एवं विद्वान समाज तथा संघ की आंख होता है, मार्गदर्शक होता

---

१ भगवती सूत्र २५।७
(ख) स्थानांग सूत्र ७।
(ग) औपपातिक सूत्र, तपवर्णन

है। कहा जाता है कि यूनान का दार्शनिक एवं यूनानी राजनीति का गुरु अरस्तू इस सिद्धान्त का कट्टर समर्थक था कि समाज एवं राष्ट्र का नेतृत्व ज्ञानी जनों के हाथ में रहना चाहिए। उसका यह कथन आज भी प्रसिद्ध है कि "शासक को दार्शनिक (विद्वान) होना चाहिए, और विद्वान दार्शनिक को ही शासन सूत्र संभालना चाहिए।"

ज्ञानी का विनय होने से संघ में ज्ञान की महिमा बढ़ती है, ज्ञान का आदर होता है एवं ज्ञानाभ्यास के प्रति सर्व साधारण का आकर्षण बढ़ता है। जो संघ व राष्ट्र ज्ञानी का आदर करता है, वहां अपने आप ही ज्ञान का विस्तार होता रहता है ! आज के युग में तो यह बात और भी स्पष्ट हो रही है।

प्राचीन काल में यहूदी जाति में ज्ञानी लोगों का बड़ा सम्मान होता था, उन्हें अनेक सुख सुविधाएं दी जाती, उनका पूरे देश में सम्मान किया जाता। यही कारण है कि आईंस्टीन जैसा विश्वविख्यात वैज्ञानिक उस जाति में पैदा हुआ, और भी अनेक वैज्ञानिक, लेखक, विद्वान यहूदी जाति में पैदा हुए हैं। इजरायल जैसा छोटा-सा देश भी कितना अग्रगामी और शक्तिशाली है ? इसका कारण है वहां आज भी विद्वानों का सम्मान होता है। अमेरिका और रूस में विज्ञान का इतना तीव्र विकास हुआ इसका भी मुख्य कारण यही रहा है कि उन देशों ने वैज्ञानिकों का, साहित्यकारों का आदर किया है, उनको गौरव प्रदान किया है।

भारत के प्राचीन कवियों की कथाओं में आप सुनते हैं कि अमुक कवि ने एक श्लोक कहा और राजा ने सवा लाख रुपये पुरस्कार में दे दिये। अमुक गांव बख्शीस कर दिए।[१] क्या वे राजा लोग इतने मूर्ख थे कि एक श्लोक पर लाखों रुपए लुटा देते ! सिर्फ एक श्लोक पर फिदा होने की बात नहीं थी,

---

१ राजा विक्रमादित्य के सम्बन्ध में कहा जाता है कि—उसने एक कवि के श्लोक पर सैकड़ों हाथी, घोड़े, गांव और लाखों स्वर्ण मुद्राएं दान दे दी। देखें—प्रबन्ध चिंतामणी

बात थी ज्ञानी का सम्मान करने की, ज्ञानी का उत्साह बढ़ाने की ! ज्ञानी, विद्वान यदि समाज में आदर पायेगा तो वह अपनी बुद्धि को अधिक से अधिक समाज एवं राष्ट्र के के कल्याण में लगायेगा। तो ज्ञान विनय का अर्थ हमें सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन के साथ देखना चाहिए कि हमारे प्रत्येक व्यवहार से ज्ञानी जनों का आदर व्यक्त हो।

आज शिक्षा क्षेत्र में घोर अनुशासन-हीनता, उद्दंडता छाई हुई है। शिक्षक विद्यार्थी से डरते हैं जैसे वह तो गुरु हो और गुरु शिष्य हों। इसका कारण क्या है ? यही कि छात्रों में विनय के संस्कार नहीं हैं ? वे जानते नहीं कि विनय किस चिड़िया का नाम है ? जबकि भारतीय नीति का सूत्र है कि शिक्षा के साथ विनय अत्यन्त आवश्यक है। विनय के विना शिक्षा, विद्याभ्यास सम्पूर्ण ही नहीं हो सकता तो सफलता तो दूर की बात है। इस संदर्भ में जैन सूत्रों का एक प्रसंग बहुत ही मननीय है।

एकबार गौतम स्वामी के पास उदकपेढाल पुत्र नामक एक अणगार कुछ जिज्ञासा लेकर आया। वह पार्श्वसंतानीय श्रमण था, अध्ययन तो उसने किया होगा पर परिपक्व नहीं हुआ था, और परिपक्व होता कैसे, क्योंकि विनय आदि की सम्पूर्ण शिक्षा उसकी अधूरी ही रही थी। तो गौतमस्वामी से उसने कुछ प्रश्न किये। गौतम स्वामी ने बड़े ही स्नेह एवं सौहार्द के साथ उनका उत्तर दिया। उत्तर पाकर उदकपेढाल पुत्र प्रसन्न तो हुआ पर वह यों ही विना किसी प्रकार की कृतज्ञता प्रकट किये उठने लगा। गौतम स्वामी ने देखा कि यह तो निरा अविनय पूर्ण व्यवहार कर रहा है। तो गौतम स्वामी ने उसे मधुर वचनों के साथ कहा --"आयुष्मन् ! किसी के पास धर्म एवं हित शिक्षा का एक भी वचन सुनने को मिला हो तो क्या उसके साथ ऐसा व्यवहार करना उचित है ?"

उदक पेढालपुत्र ने अपनी जिज्ञासा रखते हुए कहा—'आयुष्मन् ! मुझे इस विषय में कुछ अनुभव नहीं है, कृपा कर आप ही बताइए कि कैसा व्यवहार करना चाहिए ?' इस पर गौतमस्वामी ने जो शिष्टता की रीति बताई वह आज भी उतनी ही उपयोगी है। गौतमस्वामी ने कहा—हे उदग ! तथा रूप

श्रमण माहन के पास एक भी आर्य सुवचन यदि सुनने को मिलता है, तो वह सुनकर (हितशिक्षा का एक भी बोल पाकर) उसे पूज्य बुद्धि के साथ नमस्कार करना चाहिए, उसका सत्कार सन्मान करना चाहिए।"[1]

तो यह है गुरु के प्रति, हितशिक्षक के प्रति कर्तव्य का निर्देश! विनय की विधि! शास्त्र में यहाँ तक कहा है—

तस्संतिए धम्मपयाइं सिक्खे तस्संतिए वेणइयं पउंजे[2]

जिससे धर्म का एक पद भी सीखने को मिले तो उसका विनय, सत्कार करना चाहिए। सिर झुका कर, हाथ जोड़कर आदर सूचक वचनों से उसका अभिवादन करना चाहिए।

ज्ञान विनय के, ज्ञानी की अपेक्षा से पांच भेद किये गये हैं—जैसे मति ज्ञानी का विनय, श्रुत ज्ञानी का विनय, अवधिज्ञानी का विनय, मनःपर्यव ज्ञानी का विनय एवं केवलज्ञानी का विनय!

दर्शन विनय और अनाशातना

दर्शन विनय का अर्थ है, सम्यक् विचार रूप—सम्यक्त्व का आदर, सम्यक्दृष्टि गुरुजनों का सन्मान, सेवा आदि करना। इसके भी दो भेद हैं —१, शुश्रूषा विनय तथा २ अनाशातना विनय।

गुरुजनों के आने की सूचना मिलने पर अगवानी करने सामने जाना; ठहरे तब तक सेवा करना, जाएं तब कुछ दूर तक उनके साथ जाना यह शुश्रूषा विनय का स्वरूप है।"

इसी विनय का दूसरा रूप है—अनाशातना ! अनाशातना शब्द का सीधा अर्थ इतना ही है कि—देव, गुरु, धर्म आदि रत्नत्रय की अवहेलना व अपमान हो ऐसा व्यवहार न करना। वैसे शब्द की व्युत्पत्ति की दृष्टि से आशातना का अर्थ है—ज्ञान आदि सद्‌गुणों की आय—प्राप्ति का मार्ग रोकना, खण्डित करना—'**आसातणा णामं न णादि आयस्स सातणा**।"[१] भाव यही है कि पूज्यजनों की अवहेलना हो ऐसा कार्य न करना, जिस व्यवहार से किसी प्रकार की अशिष्टता व असभ्यता झलके वैसा व्यवहार न करना। आशातना के कहीं-कहीं ४५ भेद और कहीं-कहीं ३३ भेद बताये गये हैं। अरिहंत, अरिहतप्ररुपित धर्म, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल; गण, संघ, क्रियावंत, संभोगी एवं मति-श्रुत आदि पांच ज्ञान के धारक—इस प्रकार इन पन्द्रह की आशातना न करना उनकी भक्ति करना और उनकी स्तुति करना—इस प्रकार १५×३ अनाशातना के ये ४५ भेद होते हैं।[२]

समवायांग एवं दशाश्रुतस्कंध में आशातना के ३३ भेद बताये हैं। ये भेद वास्तव में गुरुजनों आदि के साथ रात दिन के व्यवहार की एक सुन्दर परिपाटी बताते हैं। जैसे—गुरुजनों से आगे न चलना, उनके बराबर न चलना, वैसे ही बैठते समय, आहार करते समय, बोलते समय - अर्थात् दैनिक जीवन के प्रत्येक व्यवहार में उनकी मान-मर्यादा का ध्यान रखना। उनकी ज्येष्ठता, श्रेष्ठता एवं पद-प्रतिष्ठा का सम्मान करते हुए सम्मान—जनक व्यवहार करना, (आज की भाषा में एक प्रकार का 'संसदीय सद्व्यवहार' करना—यह दर्शन विनय है)।[3] यह एक विशेष ध्यान में रखने की बात है

१ आवश्यक चूर्णि (आचार्य जिनदास गणी)

२ भगवतीसूत्र २५।७

३ विशेष जानकारी हेतु देखें दशाश्रुतस्कंध, तथा श्रमणसूत्र (श्री अमरमुनिजी) का परिशिष्ट पृ० ४७६

कि आज से हजारों वर्ष पूर्व भी जैन मनीषियों ने मानव के व्यवहार को इतना ऊँचा, इतना मधुर एवं विवेकपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है जिसे आज देख सुनकर भी आश्चर्य होता है।

तीसरा चारित्रविनय है। इसके पांच भेद हैं। पांच प्रकार के चारित्र का अर्थात् उन चारित्र सम्पन्न आत्माओं का विनय करना—चारित्र विनय है।

ज्ञान विनय से ज्ञानी का सम्मान करने की शिक्षा दी गई हैं। दर्शन विनय से सम्यक् श्रद्धासम्पन्न गुरुजनों आदि के प्रति सद्व्यवहार की एवं चारित्र विनय से सच्चारित्रसम्पन्न सदाचारी पुरुषों का बहुमान करना, उनकी सेवा, भक्ति, स्तुति एवं परिचर्या करना। इस प्रकार विनय के इन तीन रूपों के द्वारा जीवन में सम्पूर्ण सदाचार एवं विनय की शिक्षा दी गई है।

मन विनय से तात्पर्य है—मन पर अनुशासन रखना। इसके दो भेद हैं—प्रशस्त मनविनय, अप्रशस्त मनविनय। मन में पवित्र (पाप रहित) निर्दोष, अक्रिय (दुष्ट क्रिया से रहित) दूसरों को क्लेश नहीं करने वाले, दूसरों को परिताप नही देने वाले, दूसरों का नाश नहीं करने वाले और दूसरों की हिंसा नहीं करने वाले विचारों से मन को भावित रखना—प्रशस्त मन विनय है। उक्त सातों बातों का विपरीत आचरण अप्रशस्त मन विनय है जिसका त्याग करना। वास्तव में प्रशस्त मन विनय से यही बात बताई गई है कि (हमारा मन सदा पवित्र, निर्दोष एवं उच्च विचारों से परिपूर्ण रहे—यह मन का विनय है।) इसी प्रकार वचन भी सुन्दर, सौम्य, सर्वजन सुखकारी एवं निर्दोष हो, वह भी उक्त सात गुणों से युक्त रहे। इनके विपरीत न जाये वह प्रशस्तवचन विनय होता है।

कायविनय में उपयोग—यतना की प्रमुखता बताई गई है। उपयोगपूर्वक चलना, ठहरना, बैठना, सोना, किसी देहली आदि को उलंघना, तथा इन्द्रियों की यतनापूर्वक प्रवृत्ति करना—यह सब काय विनय के भेद हैं। प्रशस्त-अप्रशस्त के रूप में इसके भी सात-सात भेद हैं। चलने फिरने, घूमने बैठने आदि प्रत्येक प्रवृत्ति में शिष्टता, विवेक एवं अहिंसा की भावना रखना वास्तव

में ही एक प्रकार का विनय है और इसका सीधा सम्बन्ध शरीर से है। इसलिए इन सब प्रवृत्तियों को काय विनय के अन्तर्गत माना गया है।

विनय का सातवां भेद है—लोकोपचार विनय। इसे एक प्रकार का लोक व्यवहार भी कह सकते हैं। इसके सात भेद बताये गए हैं जो इस प्रकार हैं—१. गुरु आदि के निकट रहना, २. उनकी इच्छानुसार वर्तन करना, ३. उनके किसी कार्य को पूरा करने के लिए साधन आदि जुटाना ४. गुरुजनों ने जो उपकार किये हैं उनका स्मरण कर उनके प्रति कृतज्ञ रहते हुए उस उपकार का बदला चुकाने का प्रयत्न करना, ५. रोगी आदि की सेवा के लिए तैयार रहना ६. जिस समय जैसा व्यवहार और जैसा संभाषण उपयुक्त हो, वैसा करना अर्थात् समयोचित व्यवहार करना ७. और किसी के विरुद्ध आचरण न करना।

इस सात बातों में लोकव्यवहार की कला बताई गई है। संसार के जितने भी लोकप्रिय नेता हुए हैं उनके जीवन को देखने से पता चलेगा कि प्रायः इन बातों पर उनका विशेष ध्यान रहा है। एक प्रकार से ये लोकप्रियता के नुसखे हैं। हां, यह जरूर है कि लोकप्रियता के नाम पर 'गंगागये गंगादास, जमना गये जमनादास' वाली बात न हो, व्यक्ति का कुछ अपना अस्तित्व, सिद्धान्त और विचार भी होता है, किन्तु सिद्धान्तवादिता के नाम पर अव्यावहारिक होना और अप्रिय भाषण करना उचित नहीं है। सत्य को भी मधुर व प्रिय भाषा के साथ रखना और किसी के विरुद्ध द्वेषमूलक व्यवहार न करना—यही बात लोकोपचार विनय में बताई गई है।

विनय और चापलूसी

विनय का यह जो स्वरूप बताया गया है वह मुख्यतः मन के अहंकार आदि दुर्भावों को दूर करने के लिये ही बताया है। क्योंकि अहंकार मोक्ष का बाधक है। बाहुबली के जीवन प्रसंग से यह बात हमारे समक्ष स्पष्ट हो जाती है कि एक वर्ष तक कठोर तप करते रहने पर भी मन के एक कोने में छोटा-सा अहंकार दुबका रहा कि "मैं छोटे भाइयों की वंदना कैसे करूं ?" बस इतने से अहंकार ने केवलज्ञान के महान उज्ज्वल अमित प्रकाश को भी रोक

दिया, किन्तु जैसे ही यह अहंकार मिटा, मन में विनम्रता आई, विनय एवं भक्ति की भावना जगी तो बस कदम उठते ही केवलज्ञान प्राप्त होगया। इससे स्पष्ट होता है कि आत्मिक शक्तियों के विकास में विनय का कितना महत्वपूर्ण योगदान है। अहंकार की दुर्भेद्य चट्टानों को तोड़ने का एकमात्र साधन विनय ही है। इसीलिए—**माणं मद्दवया जिणे**—मान को मृदुता से जीतो का उपदेश दिया गया है। गांधी जी का कथन है—नम्रता का अर्थ है अहंभाव का—आत्यंतिक क्षय। विनय से अहंकार हटता है, अहंकार हटने से ज्ञान प्राप्त होता है। अहंकार और ज्ञान, अहंकार और विनय एक साथ नहीं रह सकते।

जैन धर्म में विनय का उपदेश आत्म-विकास के लिये, ज्ञानप्राप्ति के लिए और गुरुजनों की सेवा द्वारा कर्मनिर्जरा करने के लिये ही दिया गया है।

कुछ लोग विनय को चापलूसी के रूप में भी प्रयोग करते हैं, किन्तु यह गलत है। चापलूसी दोष है, मन की कपट पूर्ण स्थिति है, जबकि नम्रता गुण है, यह मन की सरल स्पष्ट वृत्ति है। सद्‌गुणों की प्राप्ति के लिए, एवं गुणीजनों के सम्मान के लिये झुकना नम्रता है। अपने स्वार्थ के लिए, अपना उल्लू सीधा करने के लिए झुकना, दूसरों को ठगने के लिए झुकना चापलूसी है। इसलिए कहा गया है—

नमन-नमन सब को कहे नमन-नमन में फाण।
दगाबाज दूणो नमै चीतो चोर कबाण।

नमना—झुकना सब एक जैसा नहीं होता। एक आदमी विनय करने के लिये झुकता है और एक किसी का गला दबाने भी झुकता है। चीता शिकार पर हमला करने से पहले झुकता है, छुपता है, पर उसका उद्देश्य कितना क्रूर है? बाण भी चलने से पहले झुककर दुहरा हो जाता है पर वह भी किसी की घात करने के लिये झुकता है न कि सम्मान व भक्ति करने के लिए। तो इस प्रकार निम्न स्वार्थ व लोभ के वश नम्र होना विनय नहीं है वह चापलूसी व कपट है।

विनय कई प्रकार की भावना से किया जाता है। एक प्राचीन आचार्य ने इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—

लोगोवयारविणओ अत्थनिमित्तं च कामहेउं च।
भयविणय-मुक्खविणओ विणओ खलु पंचहा होई।[1]

विनय करने के पांच उद्देश्य हैं—१. लोकोपचार अर्थात् लोक व्यवहार निभाने के लिये माता-पिता, अध्यापक आदि का विनय करना २. अर्थ विनय—धन आदि के लालच से सेठ, मैनेजर या बड़े आदमी की सेवा, पूजा करना। ३. काम विनय—कामवासना की पूर्ति हेतु स्त्री आदि की आजीजी करना, उनकी प्रशंसा करना। ४. भय विनय—अपराध होने पर मजिस्ट्रेट, कोतवाल, शिक्षक आदि का विनय करना। ५. मोक्षविनय—आत्म कल्याण एवं ज्ञान प्राप्ति के लिये गुरु आदि का विनय करना।

इनमें प्रथम चार प्रकार का विनय-सभ्यता की सीमा तक तो उचित हैं किंतु सीमा के बाहर वे ही चापलूसी बन जाते हैं। (मोक्ष के लिये किया जाने वाला विनय वास्तव में विनय तप है, चूंकि उसमें उद्देश्य पवित्र रहता है और वृत्तियां शुद्ध!)

उपसंहार

इस प्रकार विनय का सर्वांगीण—विवेचन जैनधर्म में प्रस्तुत किया है। आगमों में स्थान-स्थान पर इसके आचरण का उपदेश ही नहीं, बल्कि सुन्दर विधि भी बताई गई है। विनयशील को समस्त योग्यताओं का पात्र और संपूर्ण विद्याओं का अधिकारी माना गया है। स्थानांगसूत्र में जहां तीन व्यक्तियों को विद्यादान का अधिकारी और तीन को अनधिकारी बताया है—वहां एक अधिकारी विनीत ही है। अविनीत को विद्या देना भी अपराध माना गया है कहा है—

तओ अवायणिज्जे पण्णत्ते तं जहा—
अविणीए, विगइपडिबद्धे अविओसियपाहुडे।

---

१ विशेषावश्यक भाष्य ३१०
२ स्थानांग सूत्र ३।४

तीन व्यक्ति विद्या के अयोग्य हैं-- अविनीत, रसलोलुपी और बार-बार कलह करने वाला। इसका अर्थ यह है कि अविनीत जीवन में सद्गुण प्राप्त नहीं कर सकता। सद्गुण एवं सद्ज्ञान प्राप्त करने के लिये मनुष्य को विनयशील बनना ही होगा। समस्त गुण विनय के अधीन रहते हैं— **विनयायत्ताश्च गुणाः सर्वे** और इससे भी बड़ी बात है—समस्त गुणों का शृंगार विनय ही है— **सकलगुणभूषा च विनयः** विनीत की विद्याएं सुशोभित होती हैं।

एक प्राचीन आचार्य ने विनय का जीवनव्यापी प्रभाव बताते हुए कहा है—

विणएण णरो गंधेण चंदणं सोमयाइ रयणियरो।

महुररसेण अमयं जणपियत्तं लहइ भुवणे।[1]

जैसे सुगन्ध के कारण चन्दन की महिमा है, सौम्यता के कारण चन्द्रमा का गौरव है, मधुरता के लिये अमृत जगत्प्रिय है वैसे ही विनय के कारण ही मनुष्य समस्त जगत में प्रिय एवं आदर योग्य होता है।

इस दृष्टि से विनय तप—जीवन में उभय लोक लाभकारी है। विनय से लोकप्रियता एवं आदर भी बढ़ता है और आत्मा सरल, शुद्ध एवं निर्मल भी बनती है।

---

१ धर्मरत्न प्रकरण १

३

वैयावृत्य तप

मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह समाज में रहता है। एक—दूसरे के सहयोग की अपेक्षा रखता है। स्वयं दूसरों के काम आता है और समय पर दूसरे भी उसके काम में आते हैं। सुख-दुख में एक-दूसरे के लिए प्रसन्नता और संवेदना प्रकट करते हैं। एक यदि संकटों के दलदल में फंसता है तो दूसरा उसे निकालने का प्रयत्न करता है। एक यदि रोगग्रस्त होता है तो दूसरा उसकी सेवा करता है और सहयोग देता है। एक के दुःख से, पीड़ा से दूसरे का हृदय द्रवित हो उठता है, वह उसके प्रति सहानुभूति दिखाता है। यह परस्पर सहयोग की भावना है, उपकार की भावना है और सेवा की भावना है, इसे ही दूसरे शब्दों में सामाजिकता कहा गया है। यह सामाजिक भावना ही मानव की उन्नति और विकास का प्रमुख आधार है।

वैसे तो प्राणी मात्र में ही परस्पर-उपकार की भावना रहती है। आचार्य उमास्वाति ने तो जीव का लक्षण ही बताया है—**परस्परोपग्रह जीवानाम्**[1]—जीवों में परस्पर एक दूसरे का सहयोग व उपकार करने की वृत्ति रहती है।

---

१ तत्वार्थसूत्र ५।२१

एक-दूसरे के सहयोग के बिना कोई जीवित भी नहीं रह सकता। परस्परोपकार की यह वृत्ति छोटे से छोटे जीव में भी रहती है। आप देखते हैं चींटियां कैसे समूह व दल बनाकर चलती हैं, वे एक-दूसरे की रक्षा में भी सहयोग करती हैं। मधु मक्खियों का समूह और संगठन तो विश्वप्रसिद्ध है। उनमें राजा और रानी भी होती है, सेवक सेविकाएं, सैनिक और आरक्षक भी ! मधुमक्खियों का पालन करने वालों का कथन है कि मानव की भांति ही उनमें पूरी राजव्यवस्था होती है। पशुओं के झुंड और यूथ तो आप देखते सुनते ही हैं। उनमें यूथपति भी होता है जो पूरे यूथ की सुरक्षा और पालन-पोषण की फिक्र करता है। ज्ञातासूत्र में वर्णन आता है कि मेघकुमार अपने पिछले भव में मेरु-प्रभ नामका एक बड़ा यूथपति हस्ती बना था जिसके दल में एक हजार हाथी-हथिनियां थी। उन सब के सुख-दुख की चिन्ता यूथपति मेरु प्रभु रखता था। मृगों, गायों और अन्य पशुओं के भी काफी बड़े-बड़े समूह और झुंड होते हैं और सभी एक दूसरे के सहयोग व उपकार के आधार पर चलते हैं।

पशु-पक्षियों आदि में समूह तो होते हैं, एक दूसरे का सहयोग भी करते हैं, किन्तु उनमें सामाजिक भावना का विकास बहुत ही निम्नस्तर का होता है। वे सहयोग करते भी हैं किन्तु जो सहयोग का आदर्श और अपनत्व का उच्चसंस्कार होना चाहिए, वह पशुओं में नहीं होता। मनुष्य एक पूर्ण विकसित प्राणी है, उसमें सामाजिक भावना का पूर्ण विकास हुआ है। वह सेवा सहयोग देता भी है, और लेता भी है। उसमें उस सहयोग के पीछे एक पवित्र भावना है, नैतिक आदर्श है, उच्च संकल्प है – वह है सेवा का, उपकार का और कर्तव्य का। वह किसी का सहयोग करता है तो उसे अपना कर्तव्य समझता है। उसके हृदय में दया की, करुणा की, स्नेह की, बन्धुत्व की, उपकार की और कृतज्ञता की भावना उठती है, एक पवित्र लहर मचलती है जो उसे निस्वार्थवृत्ति के साथ उस ओर उन्मुख करती है। यही भावना सेवा का आदर्श है। इसी भावना को लक्ष्य करके गीता में कहा है—

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ![1]

नि:स्वार्थ वृत्ति से परस्पर में एक दूसरे का सहयोग करते हुए एक दूसरे की उन्नति में हाथ बंटाते हुए परम कल्याण को प्राप्त होंगे। वास्तव में देखा जाय तो मनुष्य को पशुता से हटाकर मानवता में प्रतिष्ठित करने वाला यही आदर्श है। वह एक-दूसरे की जीवन-उन्नति में सहायक बनें। ऋग्वेद में समूची मानवजाति को एक दूसरे के प्रति समर्पण की भावना का उपदेश देते हुए कहा है—**त्वमस्माकं तव स्मसि**[2]—तुम हमारे हो, हम तुम्हारे हैं। हम एक-दूसरे के लिए तैयार हैं, एक दूसरे के सुख-दुख में सहयोगी हैं।

वैयावृत्य का महत्व और लाभ

जैन धर्म में इस परस्परोपग्रह की भावना पर बहुत ही बल दिया गया है। वहां इसे वैयावृत्य, सेवा, शुश्रूषा, पर्युपासना, साधर्मिक वात्सल्य आदि अनेक नामों से अनेक रूपों में बताया गया है और जीवन के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ा गया है। वैयावृत्य का अर्थ बताते हुए कहा है—**वैयावृत्यं—भक्तादिभिः धर्मोपग्रहकारित्व वस्तुभिरूपग्रह-करणे**—धर्म साधना में सहयोग करने वाली आहार आदि वस्तुओं के द्वारा सहयोग करना—सहायता करना—इसी अर्थ में वैयावृत्य शब्द आता है। इसका भाव है, एक दूसरे के जीवन में, धर्म की साधना में, आत्मविकास में, तथा जीवन-विकास में सहयोग करना वैयावृत्य—सेवा है।

बताया गया है कि मानव-संसार में दो पद सर्वोत्कृष्ट हैं—भौतिक वैभव एवं ऐश्वर्य की दृष्टि से चक्रवर्ती का और आध्यात्मिक ऐश्वर्य की दृष्टि से तीर्थंकर का। चक्रवर्ती विश्व का सबसे बड़ा भौतिक वैभव एवं ऐश्वर्य से सम्पन्न छह खण्ड का साम्राट होता है, उसके बल, वैभव, सेना एवं समृद्धि की होड़ विश्व में कोई दूसरा नहीं कर सकता। और तीर्थंकर आध्यात्मिक वैभव की दृष्टि से विश्व के अद्वितीय पुरुष होते हैं। वे अनन्तबली होते हैं, आत्मा की अनन्तशक्तियों का पूर्ण विकास वे कर चुके होते हैं, तथा अनन्त

---

१ भगवद्गीता ३।११
२ ऋग्वेद ८।९२।३२

आध्यात्मिक ऐश्वर्य, अपार विभूतियां उनके चरणों में लोटती रहती हैं। चक्रवर्ती, देवता और देवेन्द्र, एक नहीं, लाखों-करोड़ों-इन्द्र उनकी चरण-सेवा करते रहते हैं। तो यह दोनों चक्रवर्ती एवं तीर्थंकर का महान पद प्राप्त होने के जो कारण हैं, जिस तपोबल से इन पदों की प्राप्ति हो सकती है उसमें एक मुख्य तप है सेवा, वैयावृत्य ! सेवा-वैयावृत्य के द्वारा आत्मा चक्रवर्ती का पद भी प्राप्त करता है, और उससे भी उत्कृष्ट तीर्थंकर पद भी।

भगवान महावीर से एक बार गणधर गौतम ने प्रश्न किया—प्रभो ! आपने सेवा-वैयावृत्य का इतना महत्व तो बताया है, और वैयावृत्य करने का खूब उपदेश भी दिया है, किन्तु यह भी बताइये कि इस वैयावृत्य के द्वारा आत्मा को किस फल की प्राप्ति होती है ?

उत्तर में भगवान ने कहा—

वेयावच्चेणं तित्थयर नाम गोयं कम्मं निबंधेइ[1]

वैयावृत्य करने से आत्मा तीर्थंकर नाम गोत्र कर्मका उपार्जन करता है। यह है वैयावृत्य का महान फल ! जिसके आचरण से आत्मा विश्व के सर्वोत्कृष्ट पद की प्राप्ति कर सकता है।

ज्ञातासूत्र[2] में बीस स्थान बताये गये हैं जिनकी सेवा-आराधना से आत्मा तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन करता है, उन पर ध्यान देने से पता चलेगा कि उनमें आठ कारण तो सेवा से सम्बन्धित ही है, अरिहंत, सिद्ध, प्रवचन, गुरु, स्थविर, ज्ञानी एवं तपस्वी की भक्ति तथा संघ को समाधि पहुंचाना। साथ ही उनकी वत्सलता, गुरुजनों आदि का विनय और इनकी वैयावृत्य करना ये ८ स्थान है जिनकी आराधना से जीव तीर्थंकर गोत्र का बंधन करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि धर्माराधना के क्षेत्र में सेवा का कितना बड़ा महत्व है। धर्म के अन्य सब अंग एक ओर तथा सेवा-वैयावृत्य एक ओर ! इतना इसका महत्व बताया गया है। इन्हीं बीस स्थानों को दिगम्बर आचार्यों

---

१ उत्तराध्ययन २९।४३

२ ज्ञातासूत्र ८।

ने सोलह कारण भावनाएं मानी हैं और उसमें भी वैयावृत्य, विनय एवं वत्सलता का महत्वपूर्ण स्थान है।

इसी प्रसंग में एक बात और बता देना चाहता हूं कि इस पद के अलावा भी अन्य अनेक विभूतियां भी वैयावृत्य करने वाले को प्राप्त होती है। भगवान ऋषभदेव के दो सुपुत्र—भरत चक्रवर्ती और बाहुबली का नाम भी आपने सुना होगा—ये दोनों ही महान पिता के महान पुत्र थे। भरत चक्रवर्ती थे, अद्भुत वैभव एवं ऐश्वर्य के स्वामी थे ही, किन्तु बाहुबली भी कम नहीं थे। संसार में उन्हीं का एक उदाहरण है कि अपार सैन्य बलधारी महाबली चक्रवर्ती को भी एक शस्त्ररहित बाहुबली ने अपने बाहुबल के द्वारा हरा दिया। भरत जैसे चक्रवर्ती के दिव्य शस्त्र और बाहुबल भी बाहुबली के समक्ष मात खा गये। बाहुबली को यह अपूर्व अद्भुत बल किस साधना से प्राप्त हुआ था? पूर्व जन्म की सेवा के बल पर! उनके पूर्व भव की साधना का अध्ययन करने पर पता चलेगा—पूर्व भव में भगवान ऋषभदेव का जीव वज्रनाभ मुनि थे। उन्होंने बीस स्थानों की आराधना कर तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन किया था। बाहु-सुबाहु मुनि इन्हीं वज्रनाभ मुनि के छोटे भाई थे। ये दोनों सदा सेवा-वैयावृत्य में ही लीन रहते। बाहु मुनि—थके हुए, श्रांत मुनिजनों को विश्रामणा देते—उनके अवयवों का मर्दन व उनको आराम पहुंचे ऐसी सेवा करते थे और सुबाहु मुनि वैयावृत्य—आहार आदि द्वारा उनको सुख साता पहुंचाना, रोगी आदि की परिचर्या करना आदि कार्य करते थे। इस प्रकार दोनों मुनि जीवन भर अग्लान भाव से वैयावृत्य और विश्रामणा देते रहे।[२] इस कारण इन दोनों मुनियों की सर्वत्र प्रशंसा और ख्याति होने लगी। आचार्य जिनदास गणी ने मुनियों के मुंह से कहलाया है कि भाई! जो सेवा करेगा उसकी प्रशंसा तो होगी ही—**जो करेइ सो पसंसिज्जइ**[१]—जो करता है, वह प्रशंसा पाता है। संसार का नियम है—**कार्यकृद् गृह्यको जनः**[२]—जो काम करता है, सेवा करता है लोग उसे ही अपनाते हैं। हां, तो

१ आवश्यक चूर्णि पृ० १३३
२ त्रिषष्ठिशलाका पुरुषचरित्र १।१।९०८

इस सेवा, एवं विश्रामणा के फलस्वरूप बाहुमुनि ने चक्रवर्ती के विराट सुखों के योग्य कर्म उपार्जित किये एवं सुबाहु मुनि ने विश्रामणा के द्वारा अपार दिव्य बाहुबल प्राप्त करने योग्य कर्म उपार्जन किये ! तो तीर्थंकर पद, चक्रवर्ती पद एवं लोकोत्तर बल, वैभव आदि की प्राप्ति का मुख्य कारण सेवा, वैयावृत्य आदि है—यह इन प्राचीन घटनाओं से भी जाना जा सकता है।

सेवा बड़ी या भक्ति ?

जैन धर्म में सेवा को कितना महत्व दिया है यह उक्त घटनाओं से तथा उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है। जो सेवा करता है, उसमें चाहे अन्य कोई विशेषता हो या न हो किन्तु एक इसी विशेष गुण के कारण वह अपनी आत्मा को महान बना सकता है, और तो क्या भगवान बना सकता है। भक्त सेवा करके भगवान बन सकता है—यह कितनी बड़ी बात है कि जितनी आत्म-शुद्धि उपवास, ध्यान आदि से होती है उतनी शुद्धि वह सेवा के द्वारा भी कर लेता है। शास्त्र में कहा है—रोगी, नवदीक्षित आचार्य आदि की सेवा करता हुआ साधक महानिर्जरा और महापर्यवसान (परम मुक्ति पद) को प्राप्त कर, लेता है।[१] इसका अर्थ है सेवा मुक्तिदायिनी है।

साधक के सामने जब सेवा का प्रसंग आ जाता है तो उसे इधर-उधर नहीं देखना चाहिये। यदि कोई ध्यान कर रहा है, कोई स्वाध्याय कर रहा है, या उपदेश कर रहा है अथवा प्रभु भक्ति में ही मस्त हो रहा है, उस समय में यदि उसके समक्ष कोई वृद्ध, रोगी या ऐसा साधर्मिक आगया जिसे तत्काल सेवा की आवश्यकता है तो क्या वह पहले ध्यान आदि करेगा, प्रभु भक्ति करेगा या सेवा में लगेगा ? सहजतया मनुष्य यही सोचता है कि कोई रोगी है, अस्वस्थ है या सेवार्थी है तो बैठा रहे, मैं तो पहले अपना ज्ञान-ध्यान करूंगा, भक्ति-पूजा करूंगा, फिर किसी की सेवा के लिए देखा जायेगा—पहले अपना काम फिर दूसरों का—'पहले पेट पूजा पीछे काम दूजा !'

---

१ स्थानांग ५।१

तो क्या उसका यह चिंतन उचित है ? नहीं ! वास्तव में जितना महत्व वह ध्यान एवं भक्ति को देता है उतना ही महत्व सेवा का भी है। दूसरों की सेवा करना—दूसरों का काम नहीं, अपना ही काम है। सेवा कराने वाले को तो सिर्फ क्षणिक लाभ है, कि तत्काल उसे साता पहुँच जाती है, किन्तु वास्तविक लाभ तो सेवा करनेवाले को ही मिलता है, कर्मों की महान निर्जरा तो सेवा करने वाले को ही होती है। सोचिए—सेवा से जिस तीर्थंकर पद की प्राप्ति बतलाई है क्या वह सेवा करानेवाले को होती है या सेवा करनेवाले को ? तीर्थंकर पद, मुक्ति और अनन्त ऐश्वर्य सेवा करने वाले को मिलता है तो सेवा करना दूसरों का काम कैसे हुआ ? यह तो अपना ही काम है, जिस काम से स्वयं को लाभ मिलता है वह काम स्वयं का ही होगा। इसलिए सत्य तो यह है कि जो दूसरों की सेवा करता है, वह वास्तव में अपनी ही सेवा करता है। अपना ही लाभ करता है।

एक प्राचीन आचार्य ने बताया है कि एक बार गणधर गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—"भगवन् ! एक साधक आपकी सेवा करता है, रात-दिन हाथ जोड़े आपके चरणों में खड़ा रहता है, और एक साधक रोगी, बालक, वृद्ध आदि साधुओं की सेवा करता है, तो इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है ! आप किसे धन्यवाद देंगे ?

उत्तर में भगवान महावीर ने कहा—**जे गिलाणं पडियरइ से धन्ने !**—गौतम ! जो रोगी की सेवा करता है, वही वास्तव में धन्यवाद का पात्र है !

गौतम के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। एक और अनन्तज्ञानी विश्व के महातिमहान लोकोत्तम पुरुप स्वयं भगवान की सेवा, भक्ति ! और दूसरी और एक साधारण रुग्ण साधु की परिचर्या ! दोनों में महान अन्तर दीखता है फिर भी भगवान अपनी भक्ति से भी बढ़कर रोगी की सेवा को बता रहे हैं, इसका क्या कारण ? गौतम ने पुनः जिज्ञासु भाव से पूछा तो भगवान ने कहा—गौतम ! मेरे शरीर की सेवा का कोई महत्व नहीं, महत्व है मेरी आज्ञा की आराधना करने का—**आणाराहणं खु जिणाणं**—जिनेश्वरों की आज्ञा का पालन करना—यही उनकी, धर्म की सबसे बड़ी सेवा है।"

इस प्रसंग से यह स्पष्ट होता है कि प्रभु की भक्ति से भी बड़ी है सेवा ! कहा है—

ज्ञान ध्यान पूजा तथा सामायिक अरु दान ।
'मिश्री' इनसे भी बड़ा है सेवा का स्थान ।

सेवा का इतना महत्व है इसीलिए तो यह कहा गया है—कि कोई साधु, साध्वी बीमार हो गये हों, तब जो दूसरे स्वस्थ साधु-साध्वी निकट हों, उन्हें उनकी सेवा में तत्काल लग जाना चाहिए और हर प्रकार की सावधानी के साथ उनकी सेवा तथा सार-संभाल करनी चाहिए। यदि किसी को पता लग जाये कि अमुक साधु बीमार है, और फिर भी वह उनकी सेवा नहीं करें, जानबूझ कर सेवा के प्रति लापरवाही बरते—तो शास्त्र में कहा है, सेवा के प्रति लापरवाही बरतने वाले साधु को बहुत कड़ा दंड देना चाहिए, उसे चार मास का गुरु प्रायश्चित देना चाहिए, और लोगों के बीच में उसकी हीलना करनी चाहिए कि उसने रुग्ण साधु की सेवा के प्रति उपेक्षा बरती।[1] जो सेवा की उपेक्षा करता है वह वास्तव में धर्म संघ की उपेक्षा करता है, प्रभु आज्ञा की उपेक्षा करता है।

भगवान महावीर ने साधु एवं श्रावकों के लिए आठ अमर शिक्षाएं दी हैं जो स्थानांग सूत्र में आज भी विद्यमान है। उनमें दो शिक्षाएं खासकर सेवा के विषय में ही दी है—

असंगिहीय परिजणस्स संगिण्हणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ—

—जो अनाश्रित हैं, असहाय हैं, जिनका कोई आधार नहीं है उन को सहायता, सहयोग एव आश्रय देने में सदा तत्पर रहना चाहिए।

गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चकरणयाए अब्भुट्ठेयव्व भवइ।[2]

रोगी की सेवा करने के लिए अग्लान भाव से सदा तत्पर रहना चाहिए।

सेवा का उद्देश्य

जैन धर्म में सेवा का जो इतना महत्व है उसका भी मनोवैज्ञानिक कारण

---

१ निशीथभाष्य १०।२७

२ स्थानांग सूत्र ८।

है, और उसके पीछे कुछ महान उद्देश्य है। अन्य धर्मों में भी मनुष्य की और प्राणि मात्र की सेवा का उपदेश है—उसके कुछ दार्शनिक कारण भी है और व्यावहारिक कारण भी ! अद्वैतवादी कहते हैं—प्राणिमात्र में एक ही आत्मा अनेक रूपों में विराजमान है, इसलिए किसी भी प्राणी की सेवा करना वास्तव में उस एक ही आत्मा की सेवा है, ईश्वर की ही सेवा है। ईश्वर को घट-घट व्यापी मानने वाले भी—**शुनि चैव श्वपाके च** सभी में एक ही ईश्वर का प्रतिविम्व देखते हैं इसलिए प्राणी मात्र और खासकर मनुष्य की सेवा का महत्व मानते है। गांधी जी भी नर सेवा को ही नारायण की सेवा मानते हैं। किन्तु जैन धर्म न तो अद्वैतवादी है, न ईश्वर को घट-घटव्यापी मानता है, हां, आत्मा को परमात्मा जरूर मानता है, आत्मा में ही परमात्मा बनने की सत्ता छिपी है यह उसका अटल सिद्धान्त है, किन्तु इस सिद्धान्त के कारण भी वहां सेवा का उपदेश नहीं दिया गया है। मनुष्य के रूप में ईश्वर की सेवा करना या ईश्वर के रूप में ही ईश्वर की सेवा करना—आखिर इन दोनों का भी तो कोई लक्ष्य होना चाहिए, उद्देश्य होना चाहिए ! इसलिए जहाँ तक मेरा अनुभव है जैन दर्शन की भावना को समझ पाया हूं सेवा के ये पांच उद्देश्य जैन धर्म में मुख्य हैं—

१ प्रत्येक सचेतन प्राणी में एक जागृत आत्मा है, वह अनुभव करता है, संवेदनशील है, और सुख एवं साता उसे प्रिय है। जैसे हमें सुख प्रिय है, वैसे ही प्राणिमात्र को ही सुख प्रिय है। 'जो प्राणिमात्र को सुख-साता देता है, समाधि पहुँचाता है वह वास्तव में अपनी आत्मा को ही सुख साता एवं समाधि पहुंचाने वाला है—यह भगवान महावीर का कथन है—(**समाहिकारए णं तमेव समाहिं पडिलब्भइ**[1] समाधि पहुँचाने वाला समाधि को प्राप्त होता है।) यही दार्शनिक पृष्ठ भूमि है—सेवा भावना की ! सेवा करने से दूसरी आत्मा को शांति पहुंचेगी, उससे अपनी आत्मा को भी शांति व प्रसन्नता अनुभव होगी। जैसे दूसरे को पीड़ा व कष्ट देने से स्वयं की आत्मा में भी ग्लानि, क्षोभ एवं पीड़ा का अनुभव होता है,

---

१ भगवती सूत्र ७।१

वैसे ही दूसरों को सुख देने से स्वयं की आत्मा में एक सहज प्रफुल्लता और प्रसन्नता की अनुभूति होगी। यह आत्म-प्रफुल्लता ही साधक के लिए सर्वोपरि वस्तु है, इसे ही प्राप्त करना है और यह सेवा के द्वारा प्राप्त होती है इसलिए सेवा करना, दूसरों को सुख पहुंचाना वास्तव में अपनी आत्मा को ही सुख पहुँचाना है।

२. जैन दर्शन प्राणी मात्र में समता का भाव रखता है, अर्थात् अपनी आत्मा के समान ही दूसरों को समझता है। अपने सुख-दुख के समान दूसरों के सुख दुख को समझता है। इसी के साथ वह प्रत्येक प्राणी को अपना मित्र भी मानता है, **मित्ति मे सव्व भूएसु** मेरी समस्त प्राणिजगत के साथ मैत्री है। मित्रता का नियम है—मित्र के सुख-दुख में सहयोगी और सहभोगी बनना। मित्र का दुख दूर करना, कष्ट में उसकी सेवा करना मित्र का धर्म है। अतः मित्रता के नाते भी हमें प्रत्येक प्राणी की सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए।

३. रुग्ण अवस्था में, संकट की दशा में मनुष्य बेचैन हो जाता है। उस का चित्त क्षुब्ध और व्याकुल हो उठता है। ऐसी दशा में वह धर्म से, सत्कर्म से भ्रष्ट भी हो सकता है। अपनी मर्यादा से च्युत होकर असंयम एवं असदाचार में प्रवृत्त हो सकता है—जो कि उसके पतन एवं विनाश का मार्ग है। उस प्राणी को, संकट व वेदना के समय में यदि कोई धैर्य बंधाता है, सहायता पहुंचाता है, उसे आधार देता है और वह उसे पतित होते, संयम भ्रष्ट होते हुए बचा लेता है तो वास्तव में वह उस का महान उपकार करता है, एक प्रकार से उसे धर्मजीवन प्रदान करता है और उसकी आत्मा को सच्चे सुख की ओर बढ़ाता है—इस कारण सेवा संकट के समय में मनुष्य की धर्म रक्षा कर सकती है।

४. व्यावहारिक दृष्टि से भी सेवा एक कर्तव्य भावना है। मनुष्य मनुष्य का पड़ोसी है, मित्र है, बन्धु है। एक बन्धु यदि दुखी होता है, असहाय

है तो दूसरे बन्धु को उसका दुःख दूर करना ही चाहिए, उसकी सहायता करना बन्धु का कर्तव्य है। मानवता है।

५ सेवा करने में भावना शुद्ध होती है, मन में पवित्र विचार आते हैं और शरीर को कष्ट व संयम की साधना भी करनी होती है, इस कारण सेवा स्वयं में एक तपश्चर्या भी है, इससे कर्म निर्जरा होती है, कर्म निर्जरा होने से आत्मा की विशुद्धि होती है, विशुद्ध आत्मा ऊर्ध्वगति करता है, वह मोक्ष पद भी प्राप्त कर सकता है। इसलिए मुक्ति की प्राप्ति के लिए भी सेवा करनी चाहिए।

ये कुछ मुख्य तत्व हैं, विचार सूत्र हैं जिन पर जैन धर्म की सेवा भावना टिकी हुई है। इस सेवा से दोनों लाभ है—इह लोक में भी यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा, सम्मान एवं प्रसिद्धि मिलती है। सेवा करने वाला जनता का प्रिय एवं नेता भी बन सकता है और परलोक में अपार ऋद्धि, बल, वैभव ऐश्वर्य तथा तीर्थंकर पद एवं मुक्ति तक मिल सकती है—इस प्रकार—**एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा** एक ही क्रिया दो काम सिद्ध करने वाली होती है।

हां, एक बात ध्यान में रखनी चाहिए—सेवा, सेवा की भावना से होनी चाहिए, मेवा खाने की भावना से नहीं। लोग कहते हैं—**करो सेवा, पावो मेवा!** यह उक्ति आज कल काफी बदनाम हो गई है। सेवा करने में तो बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं, लोग सेवा तो कुछ नहीं करते, केवल सेवा का ढोल पीट देते हैं। दुखी और आपद्ग्रस्त व्यक्तियों के बीच में जाकर खड़ा हुआ और फोटू खिचवा लिया कि हम यहां सेवा करने आये हैं, अखबारों में फोटू छप गया कि अमुक ने बड़ी सेवा की, पर वास्तव में तो उसने दुखियों से एक बात भी नहीं की, तो वह कैसी सेवा? लोग सेवा के नाम पर अपना घर भर लेते हैं, अपनी पांचों अंगुलियां घी में कर लेते हैं और कहते हैं—हम सेवा कर रहे हैं। वास्तव में यह सेवा के नाम पर धोखा है। आज कल तो सेवा के नाम पर बड़े जघन्य कृत्य सुनने में आते हैं। घृणित से घृणित आचरण सेवा की आड़ में लोग कर जाते हैं। गत वर्ष बंगला देश के करोड़ों शरणार्थी जब भारत में आये और भारतवासी तथा अन्य विदेशी लोगों ने

उनके लिए जो सहायता भेजी वह सुनने में आया कि उन तक तो बहुत कम पहुंची,बहुत से स्वार्थी और सेवा की आड़ में पाप करने वाले लोग बीच ही में उन गरीबों और दुःखियों की सहायता सामग्री से चांदी बनाने लगे और अपने घर भरने में जुट गये। ऐसे जघन्य कृत्य मनुष्य करता है, भूखे की रोटी छीनकर अपनी चांदी बनाना चाहता है। दीन का पेट काटकर अपनी पेटी भरने वाला—कितना बड़ा पाप करता है, कितना नीच आचरण करता है—इसके लिए शायद कोई उपयुक्त शब्द नहीं होंगे।

तो सेवा करने में लोभ,प्रतिष्ठा व प्रसिद्धि की कामना नहीं होनी चाहिए। सेवा—दया, करुणा, मैत्री वत्सलता और विनय व बन्धुत्व भावना से प्रेरित होकर होनी चाहिए।

वैयावृत्य के दस प्रकार

सेवा—वैयावृत्य के सम्बन्ध में जैन धर्म का मुख्य उद्देश्य क्या है यह ऊपर स्पष्ट कर दिया गया है। वैसे तो प्राणिमात्र की सेवा करना, प्रत्येक जीव को समाधि पहुंचाना हमारा लक्ष्य है, किन्तु यह विशाल लक्ष्य तभी सफल होगा जब पहले हम अपने जीवन में निकटतम व्यक्तियों के प्रति सेवा व वैयावृत्य का आचरण करेंगे। जो पड़ोसी को बीमार छोड़कर विश्व सेवा की बात करता है, वह एक प्रकार से सेवा की बिडम्बना करता है। इसलिए जैन धर्म का आदर्श है सेवा का प्रारम्भ अपने जीवन के निकटतम सहयोगियों से, अपने उपकारी व साधर्मिजनों से करो। इस दृष्टि से यहां सेवा के दस प्रकार बताये गये हैं—

दस विहे वेयावच्चे पण्णत्ते तं जहा[1]—

दस प्रकार की वैयावृत्य बताई गई है—

१ आयरिय वेयावच्चे—आचार्य की सेवा

२ उवज्झाय वेयावच्चे—उपाध्याय की सेवा

३ थेर वेयावच्चे—स्थविर की सेवा

४ तवस्सि वेयावच्चे—तपस्वी की सेवा

५ गिलाण वेयावच्चे—रोगी की सेवा

---

१ स्थानांग १०। भगवती २५।७

६ **सेह वेयावच्चे**—नव दीक्षित मुनि की सेवा

७ **कुल वेयावच्चे**—कुल[1] की सेवा

८ **गण वेयावच्चे**—गण[2] की सेवा

९ **संघ वेयावच्चे**—संघ[3] की सेवा

१० **साहम्मिय वेयावच्चे**—सार्धमिक[4] की सेवा

इन दस भेदों में साधु जीवन का समस्त सम्बन्धित समूह आ गया है। आचार्य का अर्थ वहुत व्यापक होता है—दीक्षा देने वाले, धर्म का उपदेश, सन्मार्ग का ज्ञान और कर्तव्य को बोध देने वाले आचार्य होते हैं। उपाध्याय ज्ञान दाता है, शिक्षक हैं। अपने से आयु में बड़े, ज्ञान एवं अनुभव में बड़े, दीक्षा आदि में ज्येष्ठ जो हैं उन्हें स्थविर कहा जाता है। तपस्या करने वाले, तथा रुग्ण, बीमार, अस्वस्थ साधक भी सेवा के अधिकारी हैं। शैक्ष का अर्थ है—नवदीक्षित! उसे आचार पद्धति का अभी पूरा ज्ञान नहीं मिला होने के कारण तथा साधुचर्या की कठोरता का अभ्यास न होने के कारण उसे भी दूसरो की सेवा की अपेक्षा रहती है। इसी तरह अपने सार्धमिक गुरु भाई, साथी साधक, संघ आदि की भी सेवा—एक सहज कर्तव्य होता है—अतः इन दसों की सेवा करना, उनकी परिचर्या करना तथा जिस प्रकार उन्हें समाधि एवं साता प्राप्त हो वैसा आचरण करना वैयावृत्य है।

वैयावृत्य की विधि

वैयावृत्य—सेवा शब्द वैसे तो छोटा-सा है, किन्तु अर्थ की दृष्टि से या विधि की दृष्टि से विचार किया जाय तो सेवा एक विराट धर्म है, इसका अर्थ वहुत ही व्यापक है। इसकी विधि वहुत सूक्ष्म है। इसीलिए तो कवि ने कहा है—**सेवाधर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः**—सेवा धर्म परम

---

१ एक आचार्य के शिष्यों का समुदाय

२ एक व दो से अधिक आचार्य के शिष्यों का समुदाय

३ कई गणों का समूह

४ समान धर्म वाले, (इससे मुनि के लिए मुनि व गृहस्थ के लिए गृहस्थ अभिप्रेत है)

गहन है, इसकी बारीकियों को योगी लोग भी नहीं समझ पाते। सेवा में सर्वप्रथम आवश्यकता है विवेक की! किस व्यक्ति को, किस समय किस प्रकार की सेवा की जरूरत है यह ध्यान में रखना चाहिये। यह नहीं कि प्रसंग की आवश्यकता कुछ और ही हो, और सेवा कुछ अन्य प्रकार से ही की जाय! प्राचीन आचार्यों ने समय के अनुसार सेवा के अनेक प्रकारों की व्याख्या की है। जैसे कहा है—

भत्ते पाणे सयणासणे य, पडिलेह पायमिच्छमद्धाणे।

राया तेणे दंड गाहे गेलन्नमत्ते य।[1]

आवश्यकता होने पर भोजन (आहार) देना, पानी देना, सोने के लिए, विस्तर (शय्या) आदि देना, आसन देना, गुरुजनों आदि का प्रतिलेखन कर देना, पांव पोंछना, रोगी हों तो (नेत्र का रोगी) उनके लिये दवा आदि का प्रवन्ध करना यदि रास्ते चलते डगमगाते हों तो सहारा देना, राजा आदि के क्रुद्ध होने पर आचार्य, संघ आदि की रक्षा करना, चोर आदि से बचाना। यदि किसी ने दोष सेवन कर लिया हो, अपराध किया हो तो स्नेहपूर्वक उनकी विशुद्धि कराना, कोई रोगी हो तो उनके लिये दवा पथ्य आदि की व्यवस्था करना, शारीरिक आवश्यकता—(जैसे मल-मूत्र त्याग आदि) होने पर उनको उपयुक्त सहयोग करना। इस तरह अनेक प्रकार की विधियां हैं, जिनको ध्यान में रखकर सेवाभावी व्यक्ति उपयुक्त समय पर उपयुक्त सेवा का अवसर ढूंढ़ता रहे और तदनुसार आचरण करता रहे।

वैयावृत्य करते समय मन में रोगी के प्रति घृणा या ग्लानि नहीं होनी चाहिये—इसलिए शास्त्रों में स्थान-स्थान पर अग्लानभाव से सेवा करने का उपदेश किया गया है। रोगी के प्रति घृणा करने से उसे शांति के स्थान पर उलटी मानसिक अशांति हो सकती है। वैसे ही संकटग्रस्त की सेवा करते समय भी उसके प्रति अनादर, तिरस्कार व उपहास का भाव नहीं होना चाहिए। ताकि सेवा लेने वाला स्वयं को हीन व असहाय न समझे।

---

१ व्यवहारभाष्य ३।१०।१२

सेवा के विषय में जैन ग्रन्थों में महामुनि नंदीषेण का चरित्र अत्यन्त आदर्श माना गया है जिन्होंने जीवन भर सेवाव्रत को अग्लानभाव से निभाया। रोगी, तपस्वी- वृद्ध आदि की सेवा करने में न कभी उनके मन में ग्लानि आई, और न समय असमय देखा। सेवा में ऐसी ही लीनता और तन्मयता होनी चाहिए। तभी वैयावृत्य का जो महान् फल बताया गया है उसकी प्राप्ति हो सकती है (और सेवा परम धर्म, सर्वोत्तम तप और मोक्ष की परम साधना सिद्ध हो सकती है।)

●●

स्वाध्याय तप

पहले बताया जा चुका है कि तप का उद्देश्य केवल शरीर को क्षीण करने का ही नहीं है, किन्तु इसका मूल उद्देश्य है—अन्तर विकारों को क्षीण कर मन को निर्मल एवं स्थिर बनाना, आत्मा को स्वरूप दशा में प्रकट करना। मानसिक शुद्धि के लिए तप के विविध स्वरूपों का वर्णन जैन सूत्रों में किया गया है, उनमें स्वाध्याय और ध्यान—ये दो प्रमुख हैं। स्वाध्याय मन को शुद्ध बनाने की प्रक्रिया है और ध्यान मन को स्थिर करने की। शुद्ध मन ही स्थिर हो सकता है, इसलिए पहले मन की शुद्धि पर विचार करना चाहिए कि किन-किन साधनों से, किन प्रक्रियाओं से मन को निर्मल एवं निर्दोष बनाया जाय! इसलिए आभ्यन्तर तप के चौथे क्रम में 'स्वाध्याय तप' रखा गया है। यहां हम स्वाध्याय तप पर विचार कर रहे हैं।

स्वाध्याय की परिभाषा

स्वाध्याय की परिभाषा करते हुए बताया गया है—**सुष्ठु आ—मर्यादया अधीयते इति स्वाध्यायः**[1]—सत् शास्त्रों को मर्यादा पूर्वक पढ़ना, विधि सहित अच्छी पुस्तकों का अध्ययन करना स्वाध्याय है।

१ आचार्य अभयदेव—स्थानांग टीका ५।३।४६५

स्वाध्याय का महत्व

स्वाध्याय का जीवन विकास में कितना महत्व है यह तो तभी मालूम होगा जब आप इसका अनुभव करेंगे। मनुष्य के विकास के लिए सत्संगति का बड़ा गौरव गाया है, किन्तु सत्संगति से भी बढ़कर सत् शास्त्र का महत्व है। सत्संग हर क्षण नहीं हो सकता, साधुजनों का परिचय व सम्पर्क कहीं मिलता है कहीं नहीं मिलता, किन्तु सत् शास्त्र हर समय मनुष्य के साथ रह सकता

है, और प्रत्येक क्षण वह अभिन्न मित्र की भांति सद्परामर्श व सद्विचार दे सकते हैं। अंग्रेजी के प्रसिद्ध विद्वान टपर की उक्ति है— **बुक्स आर अवर बेस्ट फ्रेन्ड्स**—पुस्तकें हमारे सर्वश्रेष्ठ मित्र हैं। एक विचारक ने कहा है— "पुस्तकें ज्ञानियों की जीवित समाधि है। किसी पुस्तक में—ऋषभदेव, अरिष्ट नेमि एवं महावीर हैं तो किसी में राम, कृष्ण और युधिष्ठिर। किसी में वाल्मीकि, सूरदास, तुलसीदास एवं कबीर हैं तो किसी में ईसा, मूसा, और हजरत मुहम्मद! जब पुस्तक को खोलते हैं तो वे महा पुरुष जैसे उठकर हम से बोलने लग जाते हैं और हमारा मार्गदर्शन करने लगते हैं।"

रोटी मनुष्य की सर्वप्रथम आवश्यकता है, वह जीवन देती है, किन्तु सत् शास्त्र उससे भी बड़ी आवश्यकता है। वह जीवन की कला सिखाता है। इसीलिए महात्मा तिलक ने एक बार कहा था— "मैं नरक में भी उन सत् शास्त्रों का स्वागत करूंगा, क्योंकि उनमें वह अद्भुतशक्ति है कि वे जहां भी होंगे वहां अपने-आप स्वर्ग बन जायेगा।" इसलिए सत् शास्त्र का अध्ययन जीवन में अत्यन्त आवश्यक है। इसी कारण उसे **शास्त्रं तृतीयं लोचनं**[1]— तीसरी आंख कही है। अपनी ही नहीं, किन्तु समस्त जगत की —**सर्वस्य लोचनं शास्त्रं**—आंख है— शास्त्र! व्यावहारिक जीवन में सत्शास्त्र के अध्ययन का यह महत्त्व है। आध्यात्मिक दृष्टि से शास्त्र-स्वाध्याय का इससे भी अधिक महत्व है।

भगवान महावीर ने अपने अन्तिम उपदेश में कहा है—

सज्झाएवा निउत्तेण सव्वदुक्खविमोक्खणो[2]

स्वाध्याय करते रहने से समस्त दुःखों से मुक्ति मिलती है। जन्म जन्मान्तरों में संचित किये हुए अनेक प्रकार के कर्म स्वाध्याय करने से क्षीण हो जाते हैं—

बहुभवे संचियं खलु सज्झाएण खणे खवइ[3]

---

१ नीतिवाक्यामृत ५।३५

२ उत्तराध्ययन २६।१०

३ चन्द्रप्रज्ञप्ति ९१

अनेक भवों में संचित दुष्कर्म को स्वाध्याय द्वारा क्षण भर में खपाया जा सकता हैं।

स्वाध्याय का फल बताते हुए भगवान ने कहा है—स्वाध्याय—एक प्रकार से ज्ञान की उपासना है, इस कारण स्वाध्याय करने से ज्ञान सम्बन्धी ज्ञानावरण कर्मों का क्षय हो जाता है। **सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेई**।[1]

स्वाध्याय स्वयं में एक बहुत बड़ी तपश्चर्या है। इसे सबसे बड़ा तप मानते हुए आचार्यों ने कहा है—

न वि अत्थि न वि अ होही सज्झाय समं तवोकम्मं[2]

स्वाध्याय एक अभूतपूर्व तप है। इसकी बराबरी का तप अतीत में न कभी हुआ है, वर्तमान न कहीं है और न भविष्य में कभी होगा। आप देखिए कितनी बड़ी बात कही गई है—स्वाध्याय के विषय में। स्वाध्याय के समान विश्व में दूसरा कोई तप नहीं—इसका अर्थ है स्वाध्याय अपनी दृष्टि से एक ही अद्भुत तप है।

वैदिक ग्रन्थों में भी जैन धर्म की भांति स्वाध्याय को तप माना गया है कहा है—**तपोहि स्वाध्यायः**[3]—स्वाध्याय स्वयं में एक तप है। इसकी साधना-आराधना में कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए—**स्वाध्यायान् मा प्रमदः**[4]। स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान हृदय में उतर आता है, अर्थात् जैसे दीवार की बार-बार घुटाई करने से वह चिकनी हो जाती है और उसके सामने जो भी प्रतिविम्ब आता है वह उसमें झलकने लग जाता है, उसी प्रकार स्वाध्याय करने से मन इतना निर्मल व पारदर्शी बन जाता है कि शास्त्रों का रहस्य उसमें प्रतिविम्बित होने लग जाता है। योगदर्शनकार आचार्य पतंजलि ने तो इससे भी आगे कहा है—**स्वाध्यायादिष्टदेवता संप्रयोगः**[5]—स्वाध्याय से इष्ट

---

१ उत्तराध्ययन २९।१८

२ वृहत्कल्पभाष्य ११६९ तथा चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र ८९

३ तैत्तिरीय आरण्यक २।१४

४ तैत्तिरीयोपनिषद् १।११।१

५ योगदर्शन २।४४

देव का साक्षात्कार होने लगता है। यहां स्वाध्याय को जप के रूप में लिया गया है, क्योंकि जप, माला, आदि भी स्वाध्याय के अन्तर्गत आते हैं जिसका वर्णन भी आगे किया जा रहा है।

स्वाध्याय के लाभ

शास्त्रों में स्वाध्याय का यह जो महत्व बताया गया है, व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से उसका जो गुण-गौरव गाया गया है उसका विचार करने से हमारे सामने चार बातें आती हैं—

१. स्वाध्याय से जीवन में सद्‌विचार आते हैं, मन में सद् संस्कार जागृत होते हैं।

२. स्वाध्याय से प्राचीन ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि होती है। हजारों वर्षों के अनुभवों की थाती स्वाध्याय के द्वारा हमें प्राप्त होती है। और जिन महापुरुषों ने दीर्घकालीन साधनाएं करके जो ज्ञान प्राप्त किया उस ज्ञान का लाभ बहुत ही सहज में मिल जाता है।

३. स्वाध्याय से मनोरंजन तो होता ही है, आनन्द भी आता है और योग्यता भी प्राप्त होती है।

४. स्वाध्याय करते रहने से मन एकाग्र एवं स्थिर होता है। जीवन में नियमितता आती है और निर्विकारता भी। जैसे अग्नि से सोने-चांदी का मल दूर होता है वैसे ही स्वाध्याय से मन का मैल दूर हो जाता है।

सतत स्वाध्याय करते रहने से ज्ञान का विस्तार होता है। यदि नियम पूर्वक हम १५ मिनट भी प्रतिदिन पढ़ते रहें तो कितनी पुस्तकें पढ़ सकते हैं इसका अनुमान है कुछ आपको? कल्पना करिए यदि एक मिनट में ३०० शब्द भी पढ़े जाय और पन्द्रह मिनट रोज पढ़े तो एक मास में १ लाख ३५ हजार शब्दों की एक पुस्तक पढ़ी जा सकती है। अर्थात् २२०-से २२५ पेज तक की एक पुस्तक प्रतिमास पढ़ी जा सकती है सिर्फ १५ मिनट नियमित पढ़ने से। इस प्रकार देखिए कि सतत स्वाध्याय करने वाला कितना विस्तृत अध्ययन कर सकता है।

स्वाध्याय के पांच भेद

प्राचीन समय में वेद एवं आगम जितने भी शास्त्र थे वे प्रायः कंठस्थ रखे

जाते थे। और कण्ठस्थ शास्त्र तभी याद रह सकते थे जब उनका बार-बार स्वाध्याय-चिन्तन मनन, परावर्तन आदि किया जाता हो। जो प्राचीन विशाल साहित्य आज लुप्तप्राय: हो गया है उसका भी मुख्य कारण है—स्वाध्याय का अभाव। और आज जो कुछ विद्यमान है वह भी स्वाध्याय के बल पर ही। वर्तमान के आगम स्वाध्याय की ही देन है! ज्ञान को स्थिर, सुरक्षित एवं जनोपयोगी बनाने की दृष्टि से जैन आगमों में स्वाध्याय के पाँच भेद बताये गये हैं। वहां सिर्फ शास्त्र पढ़ना ही स्वाध्याय नहीं, किन्तु उस पर विचार करना, पढ़े हुए का स्मरण करना, और यहां तक कि प्रवचन आदि के रूप में ज्ञान का कथन करना भी स्वाध्याय की कोटि में माना गया है।

स्वाध्याय के पाँच प्रकार यों बताये गये हैं—

सज्झाए पंचविहे पण्णत्ते तं जहा

वायणा, पडिपुच्छणा, परियट्टणा, अणुप्पेहा, धम्मकहा।[1]

स्वाध्याय पाँच प्रकार के हैं—१ वाचना, २ पृच्छना, ३ परिवर्तना ४ अनुप्रेक्षा, ५ धर्मकथा।

१ वाचना—सद्ग्रन्थों को पढ़ना, उनका वाचन करना! यदि स्वयं पढ़ने में असमर्थ हों तो दूसरों से सुनना, अथवा दूसरों को सुनाना यह सब वाचना में आ जाता है। नियमपूर्वक प्रतिदिन कुछ-न-कुछ वाचन करना चाहिए। जो व्यक्ति पढ़ने का शौकीन होता है,जिसे पढ़ने में आनन्द आता है वह बिना अधिक श्रम के ही अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लेता है। नियमित १५ मिनट पढ़ते रहने से कितना पढ सकते हैं यह अभी बताया ही जा चुका है अत: स्वाध्याय के प्रथम अभ्यास में वाचन करने की आदत बढ़ानी चाहिए, नियमित रूप से धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन करते रहना चाहिए।

वाचना स्वाध्याय क्रम—का वर्णन करते हुए प्राचीन आचार्यों ने कहा है—साधक को पहले अपने आचार मूलक ग्रन्थों को पढ़ना चाहिए, जिनसे कि आचार विधि या सदाचार की प्रेरणा मिले, उसका ज्ञान हों। उसके बाद स्व-दर्शन विषयक ग्रन्थों को पढ़ना चाहिए ताकि शुद्ध आचार के साथ

---

१ भगवती सूत्र २५।७ तथा स्थानांग एवं उववाई आदि में भी

शुद्ध विचार का ज्ञान प्राप्त हो, और आचार दृढ़ हो। स्व-दर्शन के बाद अन्य दर्शनों के ग्रन्थों का भी अवलोकन करना चाहिए, इससे दर्शनों व धर्मों का तुलनात्मक ज्ञान होगा, सत्य-असत्य की सूक्ष्म पहचान भी होगी और स्व-दर्शन की आस्था अधिक दृढ़ होगी। इसी क्रम से ग्रन्थों को पढ़ने का चुनाव करना चाहिए। एक विद्वान ने भी इस विषय में कहा है—

पहले वह पढ़ो, जो आवश्यक हों,
फिर वह पढ़ो, जो उपयोगी हों,
उसके बाद वह पढ़ो, जिससे ज्ञान बढ़ता हो,

२. पृच्छना- पढ़ते समय बहुत से प्रकरण, बहुत सी बातें ऐसी भी आती है जो पाठक की समझ में नहीं आए। अथवा उसमें कई प्रकार की शंकाएं उठने लगे - तब अपने गुरु जनों के पास, अथवा जो अधिक ज्ञानी हैं उनके पास विनयपूर्वक पूछना और उनसे समाधान प्राप्त करना यह पृच्छना स्वाध्याय है।

पृच्छना—पूछना स्वाध्याय व ज्ञानप्राप्ति का एक महत्त्व पूर्ण अंग है। क्योंकि शंका व जिज्ञासा होना तो मनुष्य मात्र का सहज स्वभाव है। जब तक केवलज्ञान प्राप्त न होगा शंका एवं जिज्ञास तो उठती ही रहेगी और उठनी ही चाहिए। शंका दो को ही नहीं होती—या तो सर्वज्ञ को, या सर्वथा जड़बुद्धि को। जिसमें थोड़ा भी ज्ञान का स्फुरण होगा—विचारों की हलचल होगी उसे संशय, शंका, जिज्ञासा अवश्य होगी। संशय कोई बुरा नहीं है। आगमों में स्थान-स्थान पर आता है—गौतम स्वामी ने अमुक बात सुनी, अमुक बात देखी - बस मन संशय से, जिज्ञासा से आन्दोलित हो उठा—जाय संसए, जायसड्ढे जाय कोउहल्ले—ये शब्द जैन सूत्रों में सैकड़ों बार आये हैं, और यह सूचित करते हैं कि संशय, जिज्ञासा—जीवित मस्तिष्क का चिह्न है, प्रबुद्ध ज्ञान चेतना का लक्षण है। गीता में इसीलिए तो कहा है—

न संशय मनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति

संशय किये बिना—मनुष्य अनेक अच्छी-अच्छी बातें देख नहीं पाता। यदि गौतम स्वामी जिज्ञासा करके भगवान से प्रश्न नहीं पूछते तो क्या आज जैन

आगमों का जो रूप है वह इस रूप में मिलता और हमें इतनी तत्व की बातें जानने को मिलती ? तो पृच्छना, ज्ञान को सत्योन्मुखी बनाती है,स्थिर बनाती है। पश्चिम के प्रसिद्ध दार्शनिक डेकार्ट, कांट, हेंगल आदि ने तो संशय को ही दर्शन का आदि सूत्र माना है। मनुष्य में जितनी मात्रा में इन्टेलेक्चुअल क्युरियासिटी—बौद्धिक कुतूहल होता है, वह उतना ही अधिक ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में प्रगति करता है।

पृच्छना में दो बातों का विशेष ध्यान रखा जाता है—पूछना—जिज्ञासा पूर्वक होना चाहिए। सिर्फ दिमाग चाटने को ऊट-पटांग प्रश्न करना, ऐसे प्रश्न जिनका कोई तर्क युक्त समाधान न हो, या जिन से द्वेष व विवाद खड़ा होता हो इस प्रकार के प्रश्न नहीं करने चाहिए। प्रश्न में शुद्ध जिज्ञासा,ज्ञान प्राप्ति का निर्दोष उद्देश्य होना चाहिए।

दूसरी बात—जिससे पूछा जाय—उसका विनय व सत्कार करना चाहिए। प्रश्न की विधि है—प्रश्न करने से पूर्व हाथ जोड़कर उनसे पूछे कि—"मैं आपसे अमुक बात पूछना चाहता हूं आप कृपा कर इसका उत्तर देंगे तो बहुत ही आभारी होऊंगा।" यह पूछने पर गुरुजन आदि उत्तरदाता जब प्रसन्न होके स्वीकृति दें तभी प्रश्न को ठीक ढंग से उनके सामने रखना चाहिए। समाधान पाकर फिर उनका आभार प्रकट करना चाहिए और विनय पूर्वक उठना चाहिए—प्रश्नोत्तर में विनय की शैली हमें गणधर गौतम के व्यवहार से सीखनी चाहिए। वे प्रश्न करने से पूर्व प्रभु की वन्दना कर अनुमति लेते हैं, स्वीकृति प्राप्त कर अपना प्रश्न रखते हैं और समाधान पाकर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहते हैं--**तहमेयं भंते !** प्रभु आपका कथन सत्य है, मैं इस पर श्रद्धा-विश्वास करता हूं। और फिर विनय पूर्वक-वन्दना करके उठते हैं। प्रश्नोत्तर की यह बहुत ही सुन्दर शैली है, इसी शैली का अनुसरण कर हमें अपनी जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त करना चाहिए। वास्तव में तो जिज्ञासा पूर्वक एवं विनय पूर्वक पूछना—वही पृच्छना स्वाध्याय है। अविनय पूर्वक, या ऊट-पटाग प्रश्न करना स्वाध्याय नहीं है।

३ परिवर्तना—पढ़े हुए ज्ञान का, कंठस्थ किये हुए तत्व, श्लोक आदि

को स्मृति में स्थिर रखने के लिए वार-वार दुहराना, पुनरावर्तन करना—परिवर्तना है।

याद करके, उसे पुनः दुहराया नहीं जाय, सीखा हुआ पाठ यदि वार-वार पलटा नहीं जाय—तो धीरे-धीरे वह स्मृति से मिट जाता है, धुंधला होकर विस्मृत-सा हो जाता है। रटा हुआ ज्ञान यदि दुहराया न जाय तो भूला जाता है। एक कहावत है—

पान सड़ै, घोड़ा अड़ै विद्या वीसर जाय।
तवै पर रोटी जलै कहो चेला किण न्याय!
गुरु जी! फेरया नांय!

पान को रखकर यदि पलटा नहीं जाय तो वह पड़ा-पड़ा सड़ जाता है। घोड़े को यदि घुमाया नहीं जाय तो वह खड़ा-खड़ा अड़ जाता है, विना घूमे घोड़ा अकड़ जाता है। तवे पर रोटी सेकने को डाल दी लेकिन डालकर फिर पलटी नहीं, तो एक तरफ पड़ी-पड़ी रोटी जल कर कोयला वन जायेगी, वैसे ही विद्या रटकर याद तो कर ली, लेकिन फिर कभी चितारा नहीं, उसका पुनरावर्तन नहीं किया तो वह भी भूली जाती है। इसलिए इन सबको 'फेरना', पड़ता है, यह फेरना ही परिवर्तना है।

परिवर्तना से ज्ञान स्थिर होता है, सीखी हुई विद्या अधिक मजबूत होती है। ज्ञान को जितना अधिक दुहराया जायेगा वह उतना ही अधिक स्थिर होगा एवं सुतीक्ष्ण भी होगा।

जप का स्वरूप

मंत्र का जप करना, पाठ करना, स्तोत्र आदि पढ़ना—यह सब भी परिवर्तना स्वाध्याय के अन्तर्गत आते हैं। क्योंकि जप आदि में मंत्र-पाठ आदि का बार-बार चिन्तन करना होता है, स्मरण होता है, अतः यह भी परिवर्तना ही है।

जप के दो प्रमुख उद्देश्य होते हैं—१. मन को स्थिर करने के लिए तथा २. इष्ट कार्य की सिद्धि के लिए। दोनों ही लक्ष्यों के लिए जप में इष्टदेव का स्मरण किया जाता है। उनके नामाक्षरों को विशिष्ट मंत्रों द्वारा, स्तोत्रों

द्वारा पढ़ा जाता है और उनकी स्तुति-प्रार्थना में तन्मय होकर साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है।

मन को स्थिर व तन्मय बनाने के लिए, अशुभ विचारों से हटाकर शुभ विचारों में लीन होने के लिए जो जप किया जाता है—(वह वीतराग साधना है, **निष्काम जप** है। और किसी कामना व सिद्धि के लिए इष्टदेव का जप करना सराग-साधना है, **सकाम जप** है।)

जप करने की विधि के अनुसार उसके तीन भेद और भी है—

१ **मानस जप**—मंत्र, पाठ,स्तोत्र आदि का चिन्तन करते समय मन-ही-मन अक्षरों व पदों की आवृत्ति करना— मानस जप है। मानस जप में शब्द होठों पर नहीं आने चाहिए, सिर्फ मन के भीतर ही उसकी ध्वनि उठे और वहीं विलीन हो जाय—मन उसी में रमता चला जाय—उस दशा को मानस जप कहा जाता है। यह सबसे श्रेष्ठ जप विधि है।

२. **उपांशुजप**— मंत्र आदि की ध्वनि भीतर से उठकर होठों तक आकर टकराती है, जीभ भी स्पंदित होती है, हिलती है, किन्तु शब्द होठों से बाहर निकल कर किसी दूसरे को सुनाई नहीं देते, सिर्फ उस मंत्र की ध्वनि अपने कानों तक ही पहुंच पाय—इतनी धीमी आवाज से पाठ करना —उपांशु जप है। यह जप की द्वितीय विधि है।

३. **भाष्य जप**—शब्दों व मंत्र-श्लोक आदि का खूब जोर-जोर से उच्चारण किया जाता है। यह एक प्रकार का सामूहिक रूप ले लेता है, जैसे प्रार्थना आदि सब लोग मिलकर गाते हैं, स्तोत्र आदि उच्च स्वर से सुनाये जाते हैं। जप के विशेष अभ्यासी आचार्यों का कथन है—भाष्य जप साधारण श्रेणी का जप है। उपांशु जप में इससे सौगुना फल मिलता है तथा मानस जप में हजार गुना!

जप में द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव का भी बहुत विचार किया जाता है। जप करते समय सादे व स्वच्छ वेश में रहना चाहिए, सूत की या लकड़ी की माला रखना चाहिए, स्वच्छ और शांत स्थान में बैठना चाहिए। प्रातःकाल का या संध्याकाल का उपयुक्त समय होना चाहिए, शरीर चिन्ताओं से निवृत्त

होकर स्थिर आसन से बैठना चाहिए तथा मन को अपने इष्ट देव में लगा देना चाहिए। मंत्र उच्चारण करते समय उसके अर्थ का चिन्तन करने से, इष्टदेव के स्वरूप का ध्यान करने से मन स्थिर हो जाता है। जिसका विस्तृत वर्णन ध्यान प्रकरण में किया गया है। इन सब बातों का विचार कर जप करना चाहिए। जप में माला, स्तोत्र पाठ, लोगस्स का ध्यान, नवकार मंत्र का स्मरण तथा अन्य इष्ट मंत्रों का स्मरण किया जाता है। यह सब परिवर्तना—स्वाध्याय है। ध्यान के भेदों में भी इसे धर्म ध्यान के स्वरूप में बताया गया है।

४ अनुप्रेक्षा—तत्व के अर्थ व रहस्य पर विस्तार के साथ गम्भीर चिंतन करना। अनुप्रेक्षा में एक प्रकार का चिंतन प्रारम्भ किया जाता है, फिर उसी सूत्र को पकड़कर धीरे-धीरे आगे बढ़ा जाता है और उससे सम्बन्धित विषयों पर चिंतन चलता जाता है। अनुप्रेक्षा—एक प्रकार की सीढ़ियां है—जो तन्मयता के महल पर चढ़ने के लिए एक से दूसरी सीढ़ी, दूसरी से तीसरी सीढ़ी पर चढ़ते हुए आगे से आगे ऊँचाई पर पहुंचा जाता है। इसका विशेष वर्णन ध्यान के संदर्भ में किया गया है। क्योंकि अनुप्रेक्षा में एक प्रकार की ध्यान की स्थिति ही आ जाती है।

धर्मकथा भी स्वाध्याय है

५ **धर्मकथा**—स्वाध्याय का यह पांचवा भेद है। पढ़ा हुआ, चिंतन मनन किया हुआ तथा अनुभव से प्राप्त किया हुआ श्रुत जब लोककल्याण की भावना से शब्दों द्वारा प्रकट कर दूसरों को समझाया जाता है तब वह तत्त्व कथन—**धर्म** कथा कहलाता है। इसे ही प्रवचन, उपदेश, व्याख्यान आदि कहा जाता है।

धर्म कथा को पांचवे स्थान पर रखने का एक कारण यह भी है कि साधारण ज्ञानी कभी प्रवक्ता व उपदेशक नहीं बन सकता। इसके लिए बहुत अध्ययन, अनुभव और स्व-मत तथा पर-मत का प्रामाणिक ज्ञान होना चाहिए। मन निर्भीक होना चाहिए, तथा वाणी में शिष्टता, मधुरता आदि गुण होने चाहिए। प्रवचन करने वाला धर्म में ज्येष्ठ माना जाता है—भासंतो होइ

जेट्ठो न परियाएण तो वन्दे—[1] शास्त्र का प्रवचन करने वाला बड़ा है, दीक्षा पर्याय मात्र से कोई बड़ा नहीं होता है। अतः पर्याय ज्येष्ठ भी अपने कनिष्ठ किन्तु शास्त्र के व्याख्याता को नमस्कार करें—यह आचार्य भद्रबाहु का कथन है, जिसमें धर्म कथा करने वाले की ज्येष्ठता बताई गई हैं।

चार प्रकार की धर्मकथा

धर्म कथा के चार भेद बताये गये हैं—

आक्षेपणी—स्याद्वाद-ध्वनि से युक्त अपने सिद्धान्तों का मंडन करने वाली तथा उपदेश आदि आक्षेपणी कथा कहलाते हैं।

विक्षेपणी—अपने सिद्धान्त के मंडन के साथ दूसरे सिद्धान्त में रहे हुए दोषों का वर्णन कर स्व-सिद्धान्त में दृढ़निष्ठा पैदा कराने वाली विक्षेपणी कथा है। स्व-सिद्धान्त का ज्ञाता होना सरल है, पर-सिद्धान्त का ज्ञाता होना कठिन है, उसमें भी पर सिद्धान्त का खण्डन करना और भी कठिन है। क्यों कि दूसरे मत के खण्डन करने से परस्पर द्वेष, ईर्ष्या आदि वढ़ने की संभावना रहती है, साधारण सी वात पर भी लोग वक्ता को उलटे 'निंदक' कहने लग जाते हैं, इस कथा का प्रवचन करते समय वक्ता को वहुत ही कुशलता, दक्षता एवं विवेकशीलता रखनी होती है ताकि श्रोताओं पर प्रवचन का सुन्दर प्रभाव पड़े ! और दूसरों में भी द्रेष न फैले।

संवेगनी—कर्मों के विपाक फलों की विरसता बताकर संसार से वैराग्य उत्पन्न करने वाली कथा संवेगनी है।

निर्वेदनी—हिंसा-असत्य आदि के कटुफल वताकर अहिंसा सत्य, ब्रह्मचर्य का उपदेश देकर व्यक्ति को त्याग मार्ग की ओर मोड़ने वाली कथा निर्वेदनी है।

इस प्रकार स्वाध्याय के ये पांच भेद वताये हैं। इनके आधार पर साधक अपना जीवन अधिक से अधिक स्वाध्याय तप में लगाकर श्रुत की आराधना करता है, ज्ञान की उपासना करता है, इससे ज्ञान का दिव्य प्रकाश प्राप्त करता हुआ जीवन को सफल बनाता है।

---

१ आवश्यक निर्युक्ति ७०४

९

ध्यान-तप

चंचल मन

योगीराज आनन्दघनजी ने भगवान की स्तुति करते हुए कहा है—प्रभो ! मैं आपके चरणों में मन को लगाना चाहता हूं जैसे भंवरा फूलों के रस में लीन हो जाता है वैसे ही मैं मन को आपके चरणों में लीन कर देना चाहता हूं किन्तु यह मन बड़ा चंचल है, आपके चरणों में क्षण भर ठहरता है और फिर भाग जाता है। वश में आता ही नहीं। मैंने तो समझा—

मैं जाण्युं ए लिंग नपुंसक सकल मरदने ठेले।
बीजी वाते समरथ वे नर एह न कोई न झेले।
कुंथु जिनवर रे ! मनडुं किम ही न बूझे।

यह मन नपुंसक है। (संस्कृत में मनस् शब्द को नपुंसक लिंगी माना है।) और मैं मर्द हूं, समर्थ पुरुष हूं इसको शीघ्र ही हराकर अपने अधीन कर लूंगा ! पर यह नपुंसक तो ऐसा जबर्दस्त निकला कि बड़े-बड़े समर्थ मनुष्यों को भी धूल चटा देता है। वीरों को भी भटका देता है और कैसे भी वश में नहीं आता।

वास्तव में मन की ऐसी ही स्थिति है। पवन को पकड़ कर रखा जा

सकता है, धूएं को भी बाँधा जा सकता है। देवता और इन्द्र आदि को भी अपने अधीन किया जा सकता है किंतु मन को काबू में करना बहुत कठिन है। बहुत ही मुश्किल है। गणधर गौतम ने इसे दुस्साहसिक दुष्ट अश्व कहा है जो अनियंत्रित दौड़ लगा रहा है और श्रीकृष्ण ने इसके निग्रह को वायु को पकड़ने से भी अधिक कठिन बताया है। संसार के बड़े-बड़े योद्धा मन से हार गये हैं और मन को वश में करने का मार्ग खोजते आये हैं। आज भी लोग पूछते हैं—"महाराज! इस मन को वश में कैसे करें? सामायिक करते हैं, स्वाध्याय करते हैं, पूजा करते हैं किन्तु मन तो दुनियां भर में भटकता रहता है। इस को एकाग्र करने का क्या उपाय है?"

मानसिक एकाग्रता का साधन

वास्तव में साधना में जब तक मन एकाग्र नहीं होता तब तक आनन्द नहीं आता। क्योंकि बाहर में जब मन की दौड़धूप रुकेगी तभी भीतर में शांति की, आनन्द की हिलोर उठेगी। तो आज हमें इसी बात पर विचार करना है कि तपस्या के विविध अंगों की साधना-आराधना में मन को वश में करने की क्या विधि है! मन को वश में करने की विधि पर विचार करते हैं तो गीता का यह सूत्र हमारे सामने आ जाता है—

अभ्यासेन तु कौन्तेय! वैराग्येण च गृह्यते।[1]

(हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मन दो प्रकार से वश में किया जा सकता है अभ्यास के द्वारा और वैराग्य के द्वारा।) अभ्यास का अर्थ है एकाग्रता की साधना और वैराग्य का अर्थ है—विषयों के प्रति विरक्ति। एकाग्रता के अभ्यास व विषय-विरक्ति के द्वारा मन को काबू में किया जा सकता है।

भगवान महावीर से भी जब मन को स्थिर करने का उपाय पूछा गया तो उन्होंने दो उपाय बताये हैं—**सज्झाय झाण संजुत्ते**[2] स्वाध्याय और ध्यान से युक्त मुनि अपने मन को स्थिर रख सकते हैं। स्वाध्याय और ध्यान—ये

---

१ भगवद् गीता ६।३५
२ उत्तराध्ययन

दोनों ही मन को एकाग्र करने के अमोघ साधन हैं। मन में जब-जब दुर्विचार और विकल्प आयें तब-तब स्वाध्याय में जुट जाय, ध्यान करने का अभ्यास करें तो मन उन दुर्विचारों से हटकर सद्‌विचारों में स्थिर हो सकता है। पुराने संत एक कहानी सुनाया करते हैं –

एक वेदान्ती ब्राह्मण था। छूआछूत का बहुत ही विचार रखता था। खास कर भोजन के समय यदि कोई उसके चौके को छू देता तो वह समूचा भोजन फेंक देता और या तो दिन भर भूखा रहता या फिर दूसरा भोजन बनाकर खाता। उसके कुछ मित्र थे जिनको वह कभी चौका छूने नहीं देता। उनकी छाया भी चौके में नहीं पड़ने देता। एक बार उन मित्रों ने ब्राह्मण की यह छूआछूत छुड़ाने के लिए उसे परेशान करना शुरू किया। जैसे ही वह खाना पकाकर हाथ मुंह धोकर खाना खाने बैठता, उनमें से एक मित्र आकर पूछता—पंडितजी आज क्या बनाया है? देखें जरा हमें भी चखाओ और वह जबर्दस्ती चौके में घुसकर चौका भ्रष्ट कर देता। पंडितजी मन-ही-मन बड़बड़ाते रहते और विचारे दिन भर भूखे मरते। कई दिनों तक ऐसा ही होता रहा। पंडितजी परेशान हो गये। आखिर एक दिन उन्होंने किसी अनुभवी व्यक्ति से अपनी परेशानी बताई तो उसने एक उपाय बताया।

दूसरे दिन पंडित जी ने खाना पकाकर हाथ मुंह धोये। एक बड़ी मोटी लट्ठी लेकर चौके में खाना खाने बैठे। रोज के अनुसार वह मित्र चौका छूने आने लगा तो पंडित जी ने लाठी हिलानी शुरू की—दूर रहो! खाना खा रहा हूं। लाठी देखकर मित्र वहीं रुक गया। बस, पंडित जी एक हाथ से लाठी हिलाते गये और एक हाथ से खाना खाते गये। दोस्तों ने आज चौका भ्रष्ट करने की हिम्मत नहीं की। पंडित जी ने खूब आनन्द के साथ भोजन कर लिया!

कहानी का सार यह है कि ब्राह्मण की तरह यह आत्मा है। पुराने दोस्तों की तरह काम, क्रोध, लोभ आदि दुर्विचार हैं। जब यह आत्मा भजन स्मरण रूप भोजन करने बैठता है तो दुर्विचार आकर उसके हृदय रूप चौके को अशुद्ध कर देते हैं,फलस्वरूप भोजन रुक जाता है। अब यदि ज्ञान, विवेक

ध्यान और वैराग्य रूप लाठी यदि हाथ में रहेगी तो दुर्विचार दूर से ही हट जायेंगे पास में नहीं फटक सकेंगे और वे हृदय को अपवित्र व चंचल नहीं बना सकेंगे !

तो स्वाध्याय और ध्यान की लट्ठी से दुर्विचार व विकल्प दूर भग जाते हैं और मन स्थिर व पवित्र बना रहता है। स्वाध्याय के विषय में पिछले प्रकरण में काफी प्रकाश डाला जा चुका है यहां ध्यान के सम्बन्ध में ही विशेष विचार करना है।

ध्यान की परिभाषा

मन की एकाग्र अवस्था का नाम ध्यान है। विचारकों ने मन के कई भेद बताये हैं– कोई मन पागल के जैसे इधर-उधर भटकता रहता है—वह **विक्षिप्त मन** कहलाता है। कोई मन विषयों की भाग दौड़ में कभी स्थिर होता है कभी चंचल होता है—उसे **यातायात मन** कहते हैं। विषयों से हटकर मन कभी-कभी थोड़ा सा स्थिर भी हो जाता है किन्तु उसमें शांति नहीं रहती वह **श्लिष्ट मन** कहलाता है तथा जो मन प्रभु भक्ति में, आत्मचिंतन में एवं सद् शास्त्रों के स्वाध्याय मनन में निर्मल एवं स्थिर बन जाता है उसे **सुलीन मन** कहा गया है। सुलीन मन ही वास्तव में ध्यान का अधिकारी बन सकता है।

ध्यान का सीधा सा अर्थ है—मन की एकाग्रता ! आचार्य हेमचन्द्र ने बताया है– **ध्यानं तु विषये तस्मिन्नेकप्रत्ययसंततिः**[1] अपने विषय में (ध्येय में) मन का एकाग्र हो जाना ध्यान है। आचार्य भद्रबाहु ने भी यही बात कही है—**चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं**—[2] चित्त को किसी भी विषय पर स्थिर करना, एकाग्र करना ध्यान है। साधारण बोलचाल की भाषा में भी हम कहते हैं—'इस पर ध्यान दो। आपका ध्यान किधर है ?" इन शब्दों से यही भाव प्रकट किया जाता है कि आपके मन का झुकाव, मन का लगाव किधर है ! मन जहां भी, जिस विषय में लग गया वहां वह जब तक स्थिर

---

१ अभिधानचिंतामणि कोष १।८४

२ आवश्यक निर्युक्ति १४५६

रहता है तब तक उस विषय का 'ध्यान' होता है। इसलिए 'ध्यान' का प्रथम अर्थ है—मन का एक विषय में स्थिर होना।

ध्यान की दो धाराएँ

प्रश्न हो सकता है—मन का किसी विषय में स्थिर होना ही यदि ध्यान है तो फिर तो कोई कामी पुरुष यदि किसी स्त्री के रूप पर आसक्त होकर उसी का चिंतन करता हो, लोभी धन कमाने की योजना में ही मशगूल बना हो और कोई हत्यारा, चोर, षड्यन्त्र कारी अपनी स्कीम जमाने में यदि गहरा चिंतन करता हो तो वह भी एक विचार में लीन होता है क्या उसे भी ध्यान कहा जायेगा ?

इसका उत्तर 'हां' में ही मिलेगा। वह पापात्मक चिंतन भी 'ध्यान' तो है ही। और इसीलिए आचार्यों ने 'ध्यान' के दो भेद किये हैं—शुभ ध्यान और अशुभ ध्यान ! जैसे एक गाय का दूध, और एक थूहर का ! दूध तो दोनों ही सफेद है और दोनों को ही दूध कहा जाता है, पर दोनों में अन्तर कितना है—एक जहर है एक अमृत ! एक (थूहर का) दूध मार डालता है—एक (गाय का) दूध जीवनी शक्ति देता है। इसी प्रकार ध्यान-ध्यान में अन्तर है। एक ध्यान शुभ होता है एक ध्यान अशुभ ! शुभ ध्यान मोक्ष का हेतु है, और अशुभ ध्यान नरक का।

मन की गति जब बहिर्मुखी होती है—विषयों में, धन, परिवार आदि की चिन्ता में, मोह और लोभ में तथा क्रूरता विषयक हिंसा-प्रधान विचारों में जब वह खोया रहता है तो उसकी धारा नीचे की ओर बहती है, अशुभ की ओर चलती है। और जब मन पवित्र विचारों से भरा होता है, दया, करुणा, कोमलता, भक्ति, विनय एवं आत्मस्वरूप का चिंतन करता हुआ अन्तर्मुखी होता है, तो उसकी धारा भी ऊर्ध्वमुखी होती है, वह शुभ की ओर गति करता रहता है।

चित्त रूप नदी की दो धाराएं हैं—**चित्तनाम नदी उभयतो वाहिनी, वहति कल्याणाय पापाय च** चित्त नाम की नदी दोनों ओर बहती है, कभी कल्याण की ओर और कभी पाप की ओर ! चित्त की उभयमुखी गति के

कारण ध्यान के भी दो भेद किये गये हैं शुभ-प्रशस्त ध्यान और अशुभ—अप्रशस्त ध्यान ! अशुभ ध्यान दो प्रकार का है और शुभ ध्यान भी दो प्रकार का है—इस तरह ध्यान के कुल चार भेद हो गए। शास्त्र में बताया है–

चत्तारि झाणा पण्णत्ता तं जहा—

अट्टे झाणे, रोद्दे झाणे, धम्मे झाणे सुक्के झाणे।[1]

ध्यान के चार प्रकार कहे हैं—आर्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान !

यद्यपि मूल आगमों में और प्राचीन आचार्यों ने इन अशुभ ध्यानों को भी 'ध्यान' की संज्ञा दी है, और वह इसीलिए कि वह भी मन की एकाग्र दशा तो है ही। बिल्ली चूहे पर, बगुला मछली पर और छिपकली कीड़ों मच्छरों पर कितनी दत्तचित्त होकर घात लगाए बैठती है, मन में पाप है, क्रूरता है, किन्तु एकाग्रता तो होती ही है—इस कारण वह भी 'ध्यान' माना है, हां, वह अशुभ ध्यान है। किन्तु बाद के कुछ आचार्यों ने तो अशुभ ध्यानों को 'ध्यान' के पद से ही हटा दिया है। उनका कहना है, 'ध्यान' जैसे पवित्र शब्द को इन अशुभविचारों के लिए प्रयोग ही क्यों किया जाय ? इसलिए आचार्य सिद्धसेन ने ध्यान की परिभाषा भी यही कर दी—**शुभैकप्रत्ययो ध्यानम्**[2] शुभ और पवित्र आलम्बन पर एकाग्र होना ध्यान है।

कुछ लोग कहते हैं—ध्यान में मन को रोक दिया जाता है, किन्तु साधारण साधक के लिए मन को रोक पाना बहुत कठिन है। मन गतिशील हैं, वह कभी वहिर्मुखी होकर दौड़ता है और कभी अन्तर्मुखी हो जाता है। उसकी गति का कुछ न कुछ आलम्बन होता है। जब किसी बुरी वस्तु को देखता है तो उसी के आधार पर वह अशुभ विचार करने लगता है, विचारों में जब गहरा लीन हो जाता है तो वह अशुभ ध्यान करने लगता है, यदि आलम्बन अच्छा व शुभ मिल जाय, कोई भव्य व श्रेष्ठ वस्तु पर मन टिक जाय तो विचार भी शुभ हो जाते हैं, विचारों की लीनता बढ़ती है तो शुभ ध्यान हो

---

१ स्थानांग सूत्र ४

२ द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका १८।११

जाता है। इसलिए यह बताया गया है कि शुभ व पवित्र आलम्बन पर मन जब स्थिर होता है, तो वह ध्यान या शुभध्यान ध्याने लगता है। वास्तव में ध्यान का अर्थ यही है कि अशुभ विचार प्रवाह को रोक कर शुभ की ओर मोड़ देना और शुभ में ही बढ़ते जाना। मन की अर्न्तमुखता, अन्तरलीनता यह शुभ ध्यान है। मन अधिक समय तक न अशुभ में स्थिर रहता है और न शुभ में। उसमें प्रवाह की भांति चंचलता होती है, वह चंचलता कुछ समय के लिए रुक सकती है। जैन आचार्यों ने बताया है **मुहुर्तान्तर्मनः स्थैर्यं ध्यानं छद्मस्थ योगिनाम्**[1]—छद्मस्थ साधक का मन अधिक से अधिक अर्न्तमुहूर्त भर (४७ मिनट) तक एक विषय में एक आलम्बन पर स्थिर रह सकता है। इससे अधिक समय स्थिर रहने की शक्ति उसमें नहीं होती है, और यदि इससे अधिक समय भी मन एक आलम्बन पर स्थिर रह जाय तो समझ लो फिर वीतराग दशा प्राप्त हो गई, फिर मन की चंचलता समाप्त है, एक रूप से मन ही वहां समाप्त हो जाता है, अर्थात् मन को पूर्ण रूप से जीत लिया जाता हैं, किन्तु छद्मस्थ साधक जब तक मन पर पूर्ण विजय नहीं कर पाता वह एक मुहुर्त से कम ही अपने मन को एक विषय पर स्थिर रख सकता है, उसके बाद विषय व आलम्बन बदल जाते हैं, हां शुभ ध्यान का प्रवाह तो जरूर चलता रहता है, किन्तु मन की निष्पंदता टूट जाती है।

आर्तध्यान का स्वरूप व लक्षण

चार ध्यानों में दो ध्यान अशुभ माने गये हैं—आर्तध्यान एवं रौद्रध्यान ! आर्त का अर्थ है—दुःख, पीड़ा, चिन्ता शोक आदि से सम्बन्धित भावना। जब भावना में दीनता, मन में उदासीनता, निराशा एवं रोग आदि से व्याकुलता, अप्रिय वस्तु के वियोग से क्षोभ तथा प्रिय वस्तु के वियोग से शोक आदि के संकल्प मन में उठते हैं तब मन की स्थिति बड़ी दयनीय एवं अशुभ हो जाती है। इस प्रकार के विचार जब मन में गहरे जम जाते हैं और मन उनमें खो जाता है, चिन्ता-शोक के समुद्र में डूब जाता है तब वह आर्तध्यान की कोटि में पहुंच जाता है। ये विचार कई कारणों से जन्म लेते हैं उन

---

१ योग शास्त्र ४।११५

कारणों का वर्गीकरण करते हुए आर्तध्यान के चार कारण एवं चार लक्षण बताये गये हैं। चार कारण ये हैं—

१ **अमणुन्न संपओग**—अमनोज्ञ संप्रयोग—अप्रिय, अनचाही वस्तु का संयोग होने पर उससे पिंड छुड़ाने की चिंता करना कि कब यह वस्तु दूर हटे। जैसे भयंकर गर्मी हो, कड़कड़ाती सर्दी हो तब उससे छुटकारा पाने के लिए तड़पना। किसी दुष्ट या अप्रिय आदमी का साथ हो जाये तो यह चाहना कि कैसे यह मेरा पल्ला छोड़े—इन विषयों की चिन्ता जब गहरी हो जाती है वह मन को कचोटने लगती है, और मनुष्य भीतर में बहुत ही दुख, और क्षोभ एवं व्याकुलता अनुभव करने लगता है। यही गहरी व्याकुलता अमनोज्ञ संप्रयोग-जनित है, अर्थात् अनिष्ट के संयोग से यह चिंता उत्पन्न होती है तथा अमनोज्ञ-वियोग-चिन्ता अर्थात् अनिष्ट संयोग को दूर करने की तीव्र लालसा रूप आर्त ध्यान का प्रथम कारण है।

२ **मणुन्न संपओग**—मनोज्ञ संप्रयोग—मन चाही वस्तु मिलने पर, जो प्रसन्नता व आनन्द आता है, वह उस वस्तु का वियोग होने पर विलीन हो जाता है, और आनन्द से अधिक दुःख व पीड़ा अनुभव होने लगती है। प्रिय का वियोग होने पर मन में जो शोक की गहरी घटा उमड़ती है वह मनुष्य को बहुत बड़ा सदमा पहुँचाती है, उससे दिल को गहरी चोट लगती है और आदमी पागल जैसा हो जाता है। अप्रिय वस्तु के संयोग से जितनी चिन्ता होती है प्रिय के वियोग में उससे भी अधिक चिन्ता व शोक की कसक उठती है। आर्त ध्यान का यह दूसरा कारण है—**मनोज्ञ वस्तु के वियोग की चिंता।**

३ **आयंक सम्पओग**—आतंकसंप्रयोग—आतंक नाम है रोग का, बीमारी का। रोग हो जाने पर मनुष्य उसकी पीड़ा से व्यथित हो जाता है और उसे दूर करने के विविध उपाय सोचने लगता है। रोगी कभी-कभी पीड़ा से व्यथित होकर आत्महत्या तक भी कर लेता है। रोग मिटाने के लिए भी वह बड़े से बड़ा पाप व हिंसा आदि करने की भी सोचने लग जाता है—यह **रोगचिंता**—आर्त ध्यान का तीसरा कारण है।

४ **परिजुसिय काम-भोग संपओग**—प्राप्त काम-भोग संप्रयोग—अर्थात् काम, भोग आदि की जो सामग्री, जो साधन उपलब्ध हुए हैं, उनको स्थिर

रखने की चिंता, कि कहीं ये छूट न जाय और भविष्य में उन्हें बनाये रखने की चिन्ता, तथा अगले जन्म में भी वे काम-भोग कैसे प्राप्त हों ताकि मैं वहां भी सुख व आनन्द लूट सकूं — इस प्रकार का चिन्तन, चिन्ता और भविष्य की आकुलता, आर्त ध्यान का चौथा कारण है। इस आर्त ध्यान में भविष्य चिंता की प्रमुखता रहती है अतः इसे निदान भी माना गया हैं, जिसके सम्बन्ध में प्रथम खण्ड के "तप का पलिमंथु—निदान" शीर्षक मे विचार किया गया है।

जो आत्मा आर्त ध्यान करता है—उसकी आकृति बड़ी दीन-हीन, मुर्झाई हुई, शोकसंतप्त तो रहती ही है, किन्तु कभी-कभी तो यह चिन्ता एवं व्याकुलता सीमा भी लांघ जाती है। रोना, छाती व सिर पीटना आदि तक पहुंच जाती है। आर्त ध्यान वाले की स्थिति का दिग्दर्शन कराने के लिए उसके चार लक्षण बताये गये हैं—

अट्टस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा।
कंदणया, सोयणया: तिप्पणया, परिदेवणया।[1]

१ क्रन्दनता—रोना, विलाप करना, चिल्लाना।

२ शोचनता—शोक करना, चिन्ता करना।

३ तिप्पणता—आंसू बहाना,

रौद्र ध्यान के भी चार लक्षण हैं, जिनसे व्यक्ति के रौद्र भावों की पहचान होती है।

१ **ओसन्नदोसे**—हिंसा, झूठ आदि किसी एक पाप कर्म में अत्यन्त आसक्त होकर सोचना।

२ **बहुलदोसे**—अनेक प्रकार के पापकारी दुष्ट विचारों में आसक्त हुए रहना।

३ **अण्णाणदोसे**—हिंसा आदि अधर्म कार्यों में धर्म बुद्धि रखकर उनमें (अज्ञान वश) आसक्त हुए रहना।

४ **आमरणांतदोसे**—मृत्यु तक मन में द्वेष और क्रूरता से भरे रहना। आखिरी समय में भी अपने पापों के प्रति पश्चात्ताप न करना किन्तु उनमें वैसा ही रौद्र एवं आसक्त हुए रहना।

रौद्र ध्यान वाला प्रायः दूसरों को कष्ट देने, उन्हें पीड़ा पहुँचाने तथा उनकी हिंसा करने की चिंता में घिरा रहता है। आर्तध्यान वाला अपनी आग से अपना ही घर जलाता है, किन्तु रौद्र ध्यान वाला अपना घर तो जलाता ही है, किंतु दूसरों के घरों में भी आग लगा कर प्रसन्न होता है। दूसरों को रोते देख कर या रुलाकर अपने आँसू पोंछना चाहता है।

आर्त एवं रौद्र— दोनों ही ध्यान छठे गुणस्थान तक रहते हैं[1] पुलाक लब्धि वाले मुनि जब क्रोधांध होकर चक्रवर्ती की विशाल सेना को मृतप्रायः कर डालते हैं, तथा तेजोलब्धि धर श्रमण सोलह देशों को अपने तेज से भस्मीभूत कर डालने को उतावले हो जाते हैं उस समय उनका चिंतन भी अत्यंत रुद्र होता है अतः उस वक्त उनमें भी रौद्र ध्यान आ जाता है। इन दोनों ध्यानों में मृत्यु होने से नरक व तिर्यंच गति में ही उत्पत्ति होती है।

धर्मध्यान का स्वरूप

आर्त एवं रौद्र ध्यान को—सिर्फ इसलिये 'ध्यान' माना गया है कि उनमें भी चिंतन की एकाग्रता होती है, यद्यपि वह एकाग्रता अशुभमुखी—

---

१ कुछ आचार्यों ने रौद्र ध्यान पाचवें गुण स्थान तक माना है, देखें ध्यान शतक २५, ज्ञानार्णव २६।३६।

अशुभ की ओर बढ़ने वाली होती है, उससे आत्मा का पतन होता है। और जो चिंतन, जो एकाग्रता निम्न गति की ओर ले जाए, वह कभी भी ग्राह्य नहीं। इसलिए भगवान महावीर ने कहा है—

अट्ट रुद्दाणि वज्जित्ता झाएज्जा सुसमाहिए।
धम्म सुक्काइं झाणाइं झाणं तं तु बुहा वए।[1]

समाधि एवं शांति की कामना रखनेवाला आर्त एवं रौद्र ध्यान का त्याग करके धर्म एवं शुक्ल ध्यान का चिंतन करें। वास्तव में ये दो ध्यान ही ध्यान-तप कहे गये हैं।

इसका अभिप्राय है—ध्यान भले ही चार प्रकार के हों, किन्तु चारों ध्यान तप नहीं है, ध्यान तप की कोटि में तो सिर्फ दो ही ध्यान है—धर्म ध्यान एवं शुक्ल ध्यान।

धर्म का अर्थ है—आत्मा को पवित्र बनाने वाला तत्व। जिस आचरण से आत्मा की विशुद्धि होती है—उसे धर्म कहते हैं। उन धार्मिक विचारों में—आत्मशुद्धि के साधनों में मन को एकाग्र करना—अर्थात् पवित्र विचारों में मन को स्थिर करना धर्म ध्यान है।[1] वास्तविक दृष्टि से यह धर्म—एवं शुक्ल ध्यान ही आत्म-ध्यान है। आचार्यों ने बताया है कि आत्मा का, आत्मा के द्वारा, आत्मा के विषय में सोचना, चिंतन करना—यही ध्यान है, यही आत्म ध्यान है।[2] इन ध्यानों में आत्मा पर-वस्तु से हटकर स्व-लीन हो जाता है, अपने विषय में ही चिंतन करने लगता है और चिंतन करते-करते आत्मस्वरूप का दर्शन कर लेता है। इसी ध्यान रूप अग्नि के द्वारा आत्मा कर्म रूप काष्ठ को जलाकर भस्म करता है और अपना शुद्ध-बुद्ध सिद्ध-निरंजन स्वरूप प्राप्त कर लेता है—**ध्यानाग्नि दग्ध कर्मातु सिद्धात्मा स्यान्निरञ्जनः।**[3]

---

१ दशवैकालिक अ. १ वृत्ति
२ तत्त्वानुशासन ७४
३ योगशास्त्र (आचार्य हेमचन्द्र)

इन दो ध्यानों को ही परम तप कहा गया है—षट्खण्डागम[1] में कहा है—"धर्म एवं शुक्ल ध्यान परम तप है, बाकी जितने तप हैं वे सब इस (ध्यान) के साधन मात्र हैं।" तो इस परम तप रूप ध्यान में प्रथम है—धर्म ध्यान! धर्म ध्यान के स्वरूप, लक्षण, आलम्बन आदि पर संक्षेप में हम यहां विचार करेंगे।

आगमों में धर्म ध्यान के चार प्रकार बताये हैं—

धम्मे झाणे चउव्विहे—पंण्णत्ते तं जहा—

आणा विजए, अवाय विजए, विवागविजए, संठाण विजए[2]।

धर्म ध्यान के चार प्रकार है—

१ **आज्ञा विचय**—'विचय' का अर्थ है निर्णय या विचार करना। आज्ञा के सम्बन्ध में चिंतन करना 'आज्ञा विचय' है। प्रश्न है - आज्ञा किसकी? उत्तर है—आज्ञा उसी की मान्य होती है जो हमारा श्रद्धेय एवं परम पूज्य हो, स्वामी हो और वीतराग हो। उनकी आज्ञा ही वास्तव में धर्म हैं—**आणाए मामगं धम्मं**[3]—जो धर्म है, वही उनकी आज्ञा है, और जो आज्ञा है वही उनका धर्म है। **आणा तवो आणाइ संजमो**[4]—आज्ञा में तप है, आज्ञा में संयम है। इसलिए आज्ञा का अर्थ है—वीतराग भगवान द्वारा कथित धर्म! प्रभु का वैराग्य एवं निवृत्ति मय उपदेश। तो उस भगवद् कथित धर्म का, प्रभु के उपदेश का चिंतन करना। उनके द्वारा उपदिष्ट तत्व पर अटल श्रद्धा रखना—क्योंकि बिना श्रद्धा के किसी वस्तु पर चिंतन नहीं किया जा सकता। विश्वास के बिना लीनता नहीं आती, अतः पहले उस तत्त्व पर यह विश्वास रखे कि—**तमेव सच्चं नीसकं जं जिणेहिं पवेइयं** जिनेश्वर देव ने जो तत्व बताया है, वही सत्य है, उसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं। इस प्रकार की अटल आस्था रखकर उस तत्व के स्वरूप पर, प्रभु द्वारा उपदिष्ट

---

१ षट्खण्डागम ५, पु० १३, पृ० ६४
२ भगवती २५।७। स्थानांग ४।१ तथा उववाई आदि।
३ आचारांग ६।२
४ सम्बोधसत्तरि ३२

मार्ग पर तथा साथ ही उनके द्वारा निषिद्ध कार्यों पर चिंतन-मनन करना यह धर्म ध्यान का प्रथम भेद है—आज्ञाविचय।

२ अपाय विचय—अपाय का अर्थ है—दोष या दुर्गुण! आत्मा में अनादिकाल से पांच दोष छुपे हुए हैं—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद कषाय एवं योग (अशुभ योग) इन दोषों के कारण ही आत्मा जन्म मरण के चक्र में भटकता है, दुःख, वेदना एव पीड़ा प्राप्त करता है। इन दोषों के स्वरूप पर विचार करना, उनसे छुटकारा कैसे मिले, कैसे उनको कम किया जाय तथा किन-किस साधनो से उन दोषों की शुद्धि हो सकती है, इस विषय पर चिंतन करना अपाय विचय है। चिंतन करने से ही चिंता दूर होती है, विचार करने से ही विचार शुद्ध होता है—अतः दोषों के विषय में विचार करने का फल होगा दोषों से विमुक्ति! तो यह धर्म ध्यान का दूसरा स्वरूप है।

३ विपाक विचय—ऊपर जो पांच दोष बताये हैं—वे ही कर्म बंधन के कारण हैं। क्योंकि वह पाँचों प्रमाद है और प्रमाद ही वास्तव में कर्मबंध का हेतु होने से स्वयं भी कर्मरूप है—**पमायं कम्म माहंसु**[1]। कर्म बांधते समय मधुर भी लगते हैं, तथा उनके परिणाम की सही कल्पना भी नहीं होती किंतु ऐसा अज्ञानी एवं मोहग्रस्त आत्मा को ही होता है। ज्ञानी आत्मा तो कर्मों के विपाक को समझता है। वह मानता है—

सयमेव कडेहिं गाहइ नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं[2]

आत्मा अपने स्वयं किये हुए कर्मों से ही बंधन में पड़ता है और जब तक उन कर्मों को भोगा नहीं जायेगा, उनसे मुक्ति नहीं होगी। आसक्ति, अज्ञान एवं मोहवश बांधे हुए कर्म जब फल में, विपाक में आते हैं तो उनका भोग बहुत ही दुखदायी एवं त्रासजन्य होता है—**जं से पुणो होइ दुहं विवागे**[3] वे कर्म विपाक के समय बहुत ही दुःखदायी होते हैं। भगवान ने शुभाशुभ कर्मों के विपाक-परिणामों को बताने वाले अनेक ऐतिहासिक दृष्टांत भी दिए

---

१ सूत्रकृतांग १।८।३
२ सूत्रकृतांग १।२।१।४
३ उत्तराध्ययन ३२।४६

हैं जो मुख्यरूप से 'सुख विपाक' एवं 'दुख विपाक' में दिखाये गए हैं। सुख के हृदयाल्हादक एवं दुःख के रोमांचक विपाकों—परिणामों पर चिंतन करते रहने से पाप के प्रति भय, घृणा एवं लगाव कम हो जाता है, जिससे आत्मा में पाप से बचने का संकल्प जागृत होता है। तो इस तरह पाप के कटु परिणामों और पुण्य के शुभ फलों पर जो चिन्तन किया जाता है वह धर्म ध्यान के तीसरे भेद—विपाकविचय के अन्तर्गत आता है।

४ **संस्थान विचय**—संस्थान का अर्थ है आकार। लोक के आकार एवं स्वरूप के विषय में चिंतन करना कि लोक का स्वरूप क्या है? नरक-स्वर्ग कहाँ है? आत्मा किस कारण भटकता है? किस-किस योनि में क्या-दुख व वेदनाएं हैं? आदि विश्व सम्बन्धी विषयों के साथ आत्म-सम्बन्ध जोड़कर उनका आत्माभिमुखी चिंतन करना **संस्थान विचय** है।

धर्मध्यान के लक्षण व आलम्बन

धर्मध्यान वाले आत्मा की पहचान जिन कारणों से होती है उसे लक्षण कहते हैं। ये लक्षण चार हैं:—

१ **आज्ञारुचि**—रुचि का अर्थ है विश्वास, मानसिक लगाव और दिलचस्पी। जिनेश्वर देव की आज्ञा में, सद्गुरुजनों की आज्ञा में विश्वास रखना व उस पर आचरण करना यह धर्मध्यान का प्रथम लक्षण है। यदि आज्ञा आदि में रुचि न होगी तो वह आगे धर्मध्यान भी कैसे कर सकेगा। इसलिए रुचि उस कार्य की सफलता का चिह्न है। जिस मनुष्य को जिस विषय में रुचि होगी, वह उस विषय में अवश्य ही आगे बढ़ेगा। अतः यहाँ अपेक्षा की गई है कि सर्वप्रथम जिनाज्ञा में हमारी रुचि हो।

२ **निसर्गरुचि**—धर्म पर, सर्वज्ञभाषित तत्वों पर और सत्य-दर्शन पर यदि हमारे हृदय में सहज श्रद्धा होती है, जिसका कारण कोई बाहरी न होकर दर्शनमोहनीय कर्म का क्षयोपशम होता है, तो वह श्रद्धा, वह रुचि निसर्गरुचि कहलाती है।

३ **सूत्ररुचि**—सूत्र से यहां अभिप्राय है—भगवद्‌वाणी रूप आगम—अंग उपांग रूप सूत्र से है। उन्हें सुनने से धर्म में जो रुचि होती है वह सूत्र-रुचि है।

४ **अवगाढ़रुचि**—अवगाहन का अर्थ है—गहरा उतरना। नदी, सरोवर आदि किसी गहराई के भीतर डुबकी लगाकर नीचे उस की तह में जाना अवगाहन कहलाता है। मनुष्य शास्त्रों का अध्ययन तो करता है, लेकिन जब तक उनका भाव हृदयंगम नहीं कर पाता जब तक शास्त्र का ज्ञान प्रकाश नहीं दे सकता। ज्ञान शब्दों का पाठ करने से नहीं, किन्तु उस के अर्थ पर चिंतन-मनन करने से मिलता है। अतः यह चिंतन-मननरूप अवगाहन करने की जिस की रुचि हो, अर्थात् जो शास्त्रों के वचनों पर गहरा मनन चिंतन करने को उत्सुक हों, वह उत्सुकता—**अवगाढ़रुचि** कही जाती है।

इन चार लक्षणों से धर्मध्यानी आत्मा पहचाना जाता है। धर्म ध्यान को स्थिर रखने के लिये, उस चिंतन प्रवाह को अधिक स्थायी बनाने के लिये धर्म ध्यान के चार आलम्बन बताये गए हैं—

१ **वाचना**– विचारों को पवित्र व शुद्ध बनाने वाला धार्मिक साहित्य स्वयं पढ़ना तथा दूसरों को पढ़ाना।

२ **पृच्छना**—पढ़ते हुए यदि मन में कही कोई शंका होगई, कोई बात समझ में न आई तो उसे गुरुजनों से, बहुश्रुतों से विनयपूर्वक पूछकर अपने ज्ञान की गति को आगे बढ़ाना—पृच्छना है। पृच्छना—जिज्ञासा है, और जिज्ञासा ही ज्ञान की कुंजी कहलाती है।

३ **परिवर्तना**—जो ज्ञान सीखा हुआ है, पढ़ा हुआ है उसको बार-बार रटना। कंठस्थ ज्ञान को चितारना। इससे ज्ञान में स्थिरता आती है और धारणा दृढ़ बनती है।

४ **धर्मकथा**—धर्मोपदेश सुनना एवं दूसरों को धर्म का उपदेश करना। इन चारों का वर्णन स्वाध्याय प्रकरण में विस्तार के साथ किया गया है। वास्तव में ये स्वाध्याय तप में ही आते हैं, किन्तु धर्म ध्यान के आलम्बन—सहायक होने से इन्हें धर्मध्यान के अन्तर्गत भी बताया गया है।

चार अनुप्रेक्षाएं

मन को धर्म ध्यान में लीन बनाने के लिए जो चिंतन किया जाता है—उसे अनुप्रेक्षा कहते हैं। ईक्षा—नाम है दृष्टि का, देखने का। इसके साथ जब प्र उपसर्ग लगा दिया तो उसका अर्थ हुआ—खूब गहराई से देखना, बारीकी से और तल्लीनता के साथ देखना—'प्रेक्षा' है। वह तल्लीनता किसी अन्य विषय में न होकर अपनी आत्मा के विषय में ही होनी चाहिए। आत्मा और परमात्मा से सम्बन्धित जो सूक्ष्मचिंतन, जो विचारों की तल्लीनता है, उसे ही 'अनुप्रेक्षा' कहा गया है। अनुप्रेक्षा—को 'भावना' भी कहते हैं। मन में इस प्रकार की भावनाएं करना, चिंतन मनन करके विचारों को विशुद्ध तथा मोह-मुक्त बनाने का प्रयत्न करना-भावना का फल है। इसलिए अनुप्रेक्षा के द्वारा आत्मा वैराग्य प्रधान विचारों में लीन हो जाता है, कुछ समय के लिए, जब तक कि लीनता बनी रहती है वह वीतरागभाव जैसा आनन्द लेने लगता है और संसार की मोह-ममता को भूल जाता है। धर्म ध्यान के इच्छुक साधक को इन भावनाओं—अनुप्रेक्षाओं का निरंतर अभ्यास करना चाहिए। यहां धर्मध्यान की चार भावनाएं बताई जा रही हैं—

१ एकत्वानुप्रेक्षा—आत्मा के एकाकीपन का चिंतन करना। जैसे—मेरा आत्मा अकेला जन्मा है, अकेला मरेगा, अकेला कर्म करता है और अकेला ही भोगेगा। इसलिए संसार के किसी भी अन्य के साथ—परिवार, पुत्र, धन, आदि के साथ अपनापन जोड़ना, उन्हें अपना समझना अज्ञान है। मोह है, इसी मोह के कारण सब दुख उठाने पड़ते हैं। नमिराजर्षि ने जब यह सूत्र समझा—कि "आत्मा एकाकी है, कोई किसी का नहीं। एकत्व में आनन्द है, दो में दुख है"—तो इसी चिंतन में लीन होकर उन्होंने अपने दुःख का किनारा पा लिया और परम शांति प्राप्त कर ली। यह एकत्वानुप्रेक्षा की धारा है।

२ अनित्यानुप्रेक्षा—वस्तु की अनित्यता का चिंतन करना। शरीर, धन आदि सब नाशमान है, कोई भी वस्तु स्थिर नहीं, सब क्षणिक है, क्षण-क्षण-नाश हो रही है। यह शरीर जो कभी बालक था, युवा हुआ, और वृद्ध होकर

एक दिन नष्ट होगया। बलदेव, वासुदेव और तीर्थंकरों का शरीर भी आखिर एक दिन नष्ट होता है। जैसे पानी का बुद्‌बुदा क्षण भर में विलीन हो जाता है वही दशा इस शरीर की है—"पानी का पतासा तैसे तन का तमाशा है।"

यह जो धन, वैभव, साम्राज्य आदि प्राप्त हुए हैं वह भी सब नश्वर है। बादलों की चंचल छाया है। इस प्रकार नश्वरता का, अनित्यता का चिंतन करना। भरत चक्रवर्ती राजमहलों में बैठे हुए भी जब अपने शरीर की, अपने धन-वैभव की अनित्यता का चिंतन करने लगे—कि "अरे! जिस शरीर का इतना सौन्दर्य था, एक अंगूठी निकल जाने से भी वह सौन्दर्य घट गया तो बस, यह सौन्दर्य तो क्षणिक है, यह सब वस्तुएं अनित्य है"—इसी अनित्य भावना में लीन हुए वहीं बैठे-बैठे केवली बनगए!

३ अशरणानुप्रेक्षा—संसार में कोई किसी का शरण—रक्षक नहीं है। तन, धन, परिवार आदि सब सुख के साथी हैं—जब दुख आता है, रोग उत्पन्न होता है तो कोई किसी की पीड़ा को बँटा नहीं सकता। बड़े-बड़े चक्रवर्ती भी इस धन वैभव से अपनी रक्षा नहीं कर सके। आत्मा की रक्षा करने वाला एक धर्म ही है। धर्म अर्थात् अपना सत्कर्म! वही आत्मा का रक्षक है, वही शरण है, अन्य कोई शरणभूत नही है! अनाथी मुनि की तरह संसार की प्रत्येक वस्तु को असार एवं अशरणभूत समझना—अशरणानुप्रेक्षा है।

४ **संसारानुप्रेक्षा**—संसार के स्वरूप का चिंतन करना—यह संसार दुःख मय है, कष्टमय है। आत्मा कभी नरक में जाता है तो वहां भयंकर कष्ट व पीड़ाएं झेलता है। वैसे ही, तिर्यंच योनि तथा अन्य योनियों के कष्टों का स्मरण कर आत्मा को जन्म मरण से मुक्त करने के उपायों पर विचार करना। संसार की शोकाकुल दशा से मन को निराकुल भावना की ओर लाना—**यही संसारानुप्रेक्षा** है।

इन चारों भावनाओं से मन में वैराग्य की लहर उठती है, सांसारिक वस्तुओं के प्रति आकर्षण कम होता है और आत्मा निराकुल, शांत आनन्दमय स्वरूप की ओर बढ़ने लगता है। इसलिए आत्मशांति के लिए, मन को निर्मोह बनाने के लिए इन भावनाओं का बहुत बड़ा महत्व है।

धर्म ध्यान के अन्य प्रकार

अभी जो धर्मध्यान का स्वरूप उसके लक्षण, आलंबन और अनुप्रेक्षाएं बताई हैं—वह सभी आगमों में व प्राचीन ग्रन्थों में विस्तार के साथ प्राप्त होता है। भगवान महावीर के पश्चात्वर्ती युग में ध्यान के विषय में और भी गहरा चिंतन चला, उसके अनेक साधनों पर योगियों ने, ध्यानी मुनियों ने विचार किया और कई नए आलम्बन, नये स्वरूपों व साधनों का भी समावेश ध्यान परम्परा में किया है। ध्यान की विधि को सरल और सहज साध्य बनाने के लिए कई प्रकार की साधनाए आचार्यों ने बताई है। यहां हम उन पर भी संक्षेप में विचार कर लेंगे।

ध्यान में मुख्य तीन वस्तुएं हैं, **ध्याता, ध्यान** और **ध्येय**। ध्याता का अर्थ है ध्यान करने वाला, ध्यान का अधिकारी! ध्यान का अर्थ है—तल्लीनता, एकाग्रता और ध्येय का अर्थ है—इष्टदेव! जिसका ध्यान किया जाय वह! इन तीनों की पवित्र भूमिका है। ध्याता को सर्वप्रथम अपने हृदय को शांत, पवित्र एवं स्थिर बनाना होता है। क्योंकि चंचल चित्त वाला ध्यान का अधिकारी नहीं हो सकता। आंखें मूंद कर बैठ गया, आसन जमा लिया, किन्तु मन स्थिर नहीं हुआ, वह कहीं का कहीं भटकता रहा तो ध्यान कैसे होगा? वास्तव में आसन स्थिर करने में ही नहीं, मन स्थिर करने से ध्यान होता है। कहा है—

यस्य चित्तं स्थिरीभूतं स हि ध्याता प्रशस्यते।[1]

जिसका चित्त स्थिर हो गया हो वही वास्तव में ध्यान का अधिकारी होता है। ध्यान की पवित्रता के विषय में बताया है—

जितेन्द्रियस्य धीरस्य प्रशान्तस्य स्थिरात्मनः।
सुखानस्य नासाग्रन्यस्तनेत्रस्य योगिनः॥[2]

जो योगी जितेन्द्रिय है, धीर है, शांत है, स्थिर आत्मा वाला है, नासाग्र–

---

१ ज्ञानार्णव पृ० ८४,

२ ध्यानाष्टक ६,

नाक के अग्र भाग पर दृष्टि को स्थिर कर सुखासन से बैठा है वही ध्यान करने का अधिकारी है।

तो ऐसा योग्य ध्याता—ध्यान करने वाला जब अपने ध्येय पर—लक्ष्य व इष्टदेव पर मन को स्थिर करता है तभी ध्यान में लीनता व एकाग्रता आती है।

ध्येय के विषय में भी तीन प्रकार की कल्पनाएं हैं– परालम्बन, स्वरूपालम्बन और निरवलम्बन।

१ **परालम्बन**—में दूसरी वस्तुओं का आलम्बन लेकर मन को स्थिर करने का प्रयत्न किया जाता है। जैसे कोई त्राटक (काला गोला बनाकर) पर दृष्टि को स्थिर रखकर मन को उस पर टिकाने का अभ्यास करता है। आगमों में भगवान महावीर की साधना का वर्णन करते हुए बताया है—**एगपोग्गलनिविट्ठ विट्ठिए**[1]—एक पुद्गल पर दृष्टि को स्थिर करके ध्यान मुद्रा में खड़े रहे। यह एक पुद्गल पर दृष्टि टिकाना भी त्राटक जैसी ही कोई विधि हो सकती है, जिसमें किसी वस्तु पर दृष्टि को स्थिर कर लिया जाता है। इसी तरह वृक्ष के पत्तों पर, शून्य आकाश पर आदि विविध बाह्य आलम्बन लेकर उन पर मन को स्थिर रखने का प्रयत्न किया जाता है।

२ **स्वरूपालम्बन**—यह ध्यान का दूसरा प्रकार है, पर वस्तु अर्थात् बाहर से दृष्टि को हटाकर मूंद लेना और कल्पना की आंखों द्वारा अपने स्वरूप का दर्शन करना यह इस ध्यान की विशेषता है। इस ध्यान में अनेक प्रकार की रचनाएं व कल्पनाएं की जाती हैं। योग शास्त्र, ज्ञानार्णव आदि ग्रंथों में पिंडस्थ, पदस्थ आदि चार भेद बताए हैं उनमें तीन ध्यान इसी श्रेणी के हैं। रुपातीत ध्यान निरवलम्बन की श्रेणी में जाता है।

३ **निरवलम्बन**—यह ध्यान का तीसरा तथा उत्कृष्ट तम प्रकार है। इसमें न कोई आलम्बन रहता है और न विचार। मन विचारों एवं विकल्पों

---

१ भगवती सूत्र ३।२

से सर्वथा शून्य हो जाता है, और किसी भी प्रकार के आलम्बन के बिना स्थिर व विकल्प रहित हो जाता है। उक्त दोनों भेदों को समझने के लिए यहां चार प्रकार के ध्यान का स्वरूप समझना जरूरी है। ये सब धर्मध्यान के अन्तर्गत ही है। वास्तव में ये ध्यान के आलम्बन भूत --ध्येय हैं।

पिण्डस्थध्यान व धारणाएं

१ **पिण्डस्थ ध्यान**—'पिण्ड' का अर्थ है शरीर। शांत, एकांत, स्वच्छ स्थान में वीरासन, सुखासन, सिद्धासन आदि किसी योग्य आसन पर स्थिर बैठकर शरीर (पिण्ड) में स्थित आत्म देवता का ध्यान करना पिण्डस्थ ध्यान है। इसमें शुद्ध निर्मल आत्मा को लक्ष्य करके चिंतन किया जाता है। इस ध्यान में जो मुद्रा बनाई जाती है उसे 'ध्यान मुद्रा' कहा है। ध्यान मुद्रा का अर्थ है चित्त अन्तर्मुखी हो, आँखें नीचे झुकी हों तथा नासाग्र पर स्थिर हों शरीर सीधा सुखासन पर स्थित हो।[1]

अन्तश्चेतो बहिश्चक्षुरधःस्थाप्य सुखासनम्।
समत्वं च शरीरस्य ध्यानमुद्रेति कथ्यते।[2]

तो इस प्रकार 'ध्यान मुद्रा' लगाकर शरीरस्थ आत्मा के स्वरूप का चिंतन करना पिण्डस्थ ध्यान है। आत्मा की कल्पना इस प्रकार करनी चाहिए कि मेरा यह आत्मा सर्वज्ञ भगवान की आत्मा के तुल्य,पूर्णचन्द्र वत् निर्मल है, कांतिमान् है। शरीर के अन्दर पुरुष आकृतिवाला होकर स्फटिक सिंहासन पर विराजमान है। इस प्रकार कल्पना की आँखों से आत्मा का स्वरूप दर्शन करना चाहिए।

पिण्डस्थ ध्यान की पाँच धारणाएं बताई गई हैं।[3] जैसे—

१ पार्थिवी, २ आग्नेयी, ३ वायवी, ४ वारुणी, ५ तत्त्वरूपवती।

१ **पार्थिवी-धारणा**—धारणा का अर्थ है—बांधना! ध्येय में चित्त को स्थिर करना धारणा है—**धारणा तु क्वचिद् ध्येये चित्तस्य स्थिरबंधनम्।**[4]

---

१ योगशास्त्र ७।८
२ गोरक्षाशतक ६५
३ योगशास्त्र ७।९
४ अभिधानचिन्तामणि (आचार्य हेमचन्द्र) १।८४

अपने शरीर व आत्मा को पृथ्वी की पीत वर्ण कल्पना के साथ बांधना पार्थिवी धारणा है। इस धारणा में मध्यलोक को क्षीर समुद्र के समान निर्मल जल से परिपूर्ण होने की कल्पना करें। उसके मध्यभाग में जम्बूद्वीप के तुल्य सुवर्ण के समान चमकते हुए हजार पत्तोंवाले (सहस्रदल) कमल की कल्पना करें। उस कमल के बीच में जहाँ कर्णिका होती है उस पर स्वर्णमय मेरुपर्वत की आकृति का चिंतन करें और फिर सोचें उस मेरुपर्वत के शिखर पर पाण्डुक वन में पाण्डुकशिला के ऊपर स्फटिकरत्न का उज्ज्वल सिंहासन बिछा है और मैं (आत्मा) उस सिंहासन पर योगीराज के रूप में बैठा हूँ। साधक जब इस प्रकार के दृश्य की कल्पना करता है तो उसका मन बड़ा ही शांत व सौम्य बन जाता है, बड़ी शीतलता का अनुभव होता है। इस कल्पना में मन रम जाने से स्थिरता आती है। याज्ञवल्क्य के कथनानुसार पृथ्वीधारणा सिद्ध होने पर शरीर में किसी प्रकार का रोग नहीं होता।[1] स्पष्टता के लिए चित्र संख्या १ देखें।

२ आग्नेयी धारणा—पार्थिवी धारणा से आगे बढ़कर साधक आग्नेयी धारणा में प्रवेश करता है। आत्मा सिंहासन पर विराजमान होकर नाभि के भीतर हृदय की ओर ऊपर मुख किए हुए सोलह पंखुड़ियों वाले रक्त कमल की कल्पना करता है। (कहीं-कहीं श्वेत कमल भी बताया है, पर अग्नि का वर्ण रक्त होने से कुछ आचार्यों ने रक्त कमल को ही मुख्य माना है) उन पंखुड़ियों पर अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः इन सोलह स्वरों की स्थापना की जाती है, तथा कमल के मध्य में 'र्हं' अक्षर की। कमल के ठीक ऊपर हृदय स्थान में नीचे की ओर मुख किए हुए औंधा आठ पत्तों वाला एक मटिया रंग का कमल बनाना चाहिए। उसके प्रत्येक पत्ते पर काले रंग से लिखे हुए आठ कर्मों का चिंतन करना चाहिए।

इस चिंतन में नाभि में स्थित कमल के बीच में लिखे हुए 'र्हं' अक्षर के ऊपरी सिरे 'रेफ' में से निकलते हुए धुएं की कल्पना की जाती है, उसी के

---

१ योगवाशिष्ठ—निर्वाण प्रकरण (प्रकरण ८८-९२)
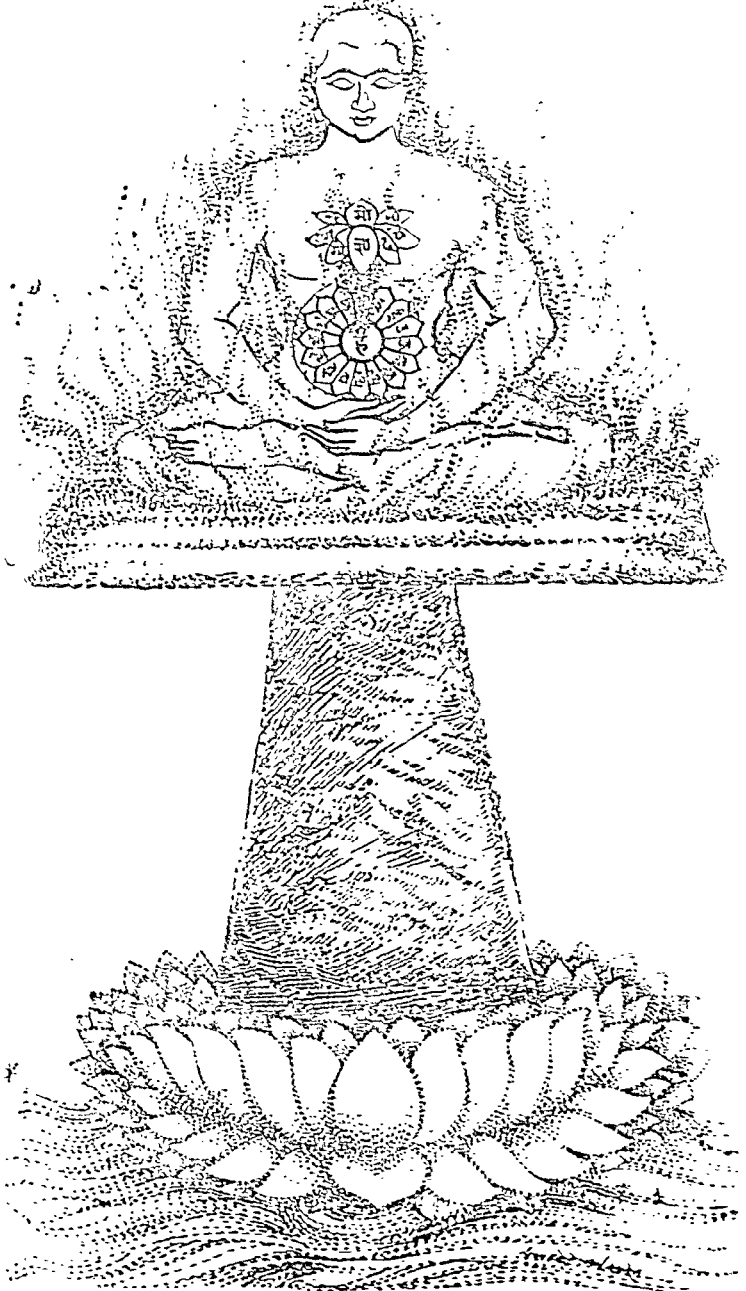
आग्नेयी धारणा

आग्नेयी धारणा में रमण करते हुए मुनिराज

साथ रक्त वर्ण की ज्वाला को भी कल्पना से देखना चाहिए और वह ज्वाला प्रचंड होती हुई ऊपर लिखे हुए आठ कर्मों को जलाने लगे और कमल के मध्य को छेदकर ऊपर मस्तक तक पहुँच जाए ऐसी कल्पना करें। फिर सोचे—ज्वाला की एक रेखा बायीं और तथा दूसरी दाहिनी और निकल रही है, दोनों रेखाएं नीचे आकर मिल जाती है और एक अग्निमय रेखा बनती – उस आकृति से शरीर के बाहर तीन कोष वाला अग्नि मंडल बन रहा है– ऐसी कल्पना करते जाए। उस अग्निमंडल में तीव्र ज्वालाएं उठती हुई देखें, उनमें आठों कर्म भस्म हो रहे हैं, तथा वे जलकर राख बन गये हैं आत्मा तेज रूप में दमक रहा है, इस प्रकार की कल्पना करें।

अग्नि धारणा में सर्वत्र जो प्रकाश फैला है, उसमें स्वयं का ही प्रतिबिम्ब देखा जाता है। उपनिषदों के अनुसार अग्नि धारणा सिद्ध होने पर योगी का शरीर यदि धधकती ज्वाला में भी डाल दिया जाय तो वह जलता नहीं है।[1] विशेष कल्पना के लिए चित्र संख्या २ पर ध्यान देवें।

३ **वायवीधारणा**—अग्नि धारणा में कर्मों को भस्म कर राख बने हुए देखने के बाद पवन धारणा की कल्पना की जाती है। पवन की कल्पना के साथ मन को जोड़ा जाता है—योगी सोचता है, खूब जोर की हवाएं चल रही हैं, उसमें आठ कर्मों की राख उड़ रही है, नीचे हृदय कमल सफेद सा उज्ज्वल हो गया है और आत्मा पर लगी राख सब हवा के झोंके से साफ हो रही है। वैदिक आचार्यों के अनुसार इस धारण में समस्त ब्रह्मांड को वायु से प्रकम्पित होता हुआ देखा जाता है और प्रभंजन का प्रेरक मैं ही हूं इस प्रकार पवन धारणा में आत्मा को बांध दिया जाता है। वायवी धारणा सिद्ध होने पर योगी आकाश में उड़ सकता है। वायु रहित स्थान में भी जीवित रह सकता है। उसे बुढ़ापा नहीं आता। स्पष्ट जानकारी के लिए देखिए चित्र संख्या ३।

४ **वारुणी धारणा**—अर्थात् जल की कल्पना के साथ मन को जोड़ना। वायवी धारणा से आगे बढ़कर योगी सोचता है, आकाश में मेघों का समूह

---

१ ध्यान और मनोबल (डा० इन्द्र चन्द्र) पृ० १४१

उमड़ रहा है विजली चमक रही है, और धीरे-धीरे खूब जोर की वर्षा भी शुरु हो गई है। मैं वीच में बैठा हूं, मेरे शरीर पर पानी बरस रहा है जल के बीजाक्षरों में प-प-प-प लिखा हुआ है। इस जल वृष्टि से आत्मा पर लगी समस्त कर्म रज धुल कर साफ हो गई है, आत्मा पवित्र व निर्मल बनती जा रही है। जल धारणा सिद्ध योगी जल में डूबता नहीं, अगाध जल में भी जीवित रह सकता है और मन व शरीर के समस्त ताप शांत हो जाते हैं— ऐसा वैदिक आचार्यों का मत है।[1] अधिक स्पष्टता संलग्न चित्र संख्या ४ से प्राप्त कीजिए।

५ **तत्वरूपवती धारणा**—इसे 'तत्व भू' धारणा भी कहा गया है। योग वाशिष्ठ आदि वैदिक ग्रंथों में इसे 'आकाशधारणा' कहा गया है। वारुणी धारणा के पश्चात् यह अन्तिम धारणा तथा सर्वश्रेष्ठ धारणा है। इसमें आत्मा के निराकार निर्मल रूप का चिंतन करते हुए योगी सोचता है—"मैं अनन्त शक्तियों का पुंज हूं। मैं आकाश से भी विराट् व व्यापक हूं। जिस प्रकार आकाश पर कोई लेप नहीं है, वैसे ही मुझ पर भी किसी बाह्य वस्तु का लेप-आवरण नहीं है। इस धारणा में आत्मा स्वरूप दशा की उत्कृष्ट अनुभूति कर सकता है।

इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यान की ये पांच धारणाएं हैं जिनके आधार पर मन को अपने ध्येय के निकट लाया जा सकता है, और ध्येय के साथ बांधा जा सकता है। यह धारणाएं सिद्ध हो जाने पर साधक की आत्मशक्तियां बहुत ही विकसित व प्रचंड बन जाती है। उस पर किसी प्रकार की मलिन विद्याओं का प्रभाव नहीं पड़ सकता। भूत-पिशाच आदि उस के दिव्य तेज से भयभीत रहते हैं।

पदस्थध्यान का स्वरूप

पदस्थ ध्यान का अर्थ है किन्हीं पदों—पवित्र अक्षरों पर मन को स्थिर करना। इसकी परिभाषा यों की गई है—

---

१ योगवाशिष्ठ, निर्वाण प्रकरण

यत्पदानि पवित्राणि समालम्ब्य विधीयते ।

तत्पदस्थं समाख्यातं ध्यानं सिद्धान्तपारगैः ।[1]

किन्हीं पवित्र पदों का आलम्बन लेकर उनके आधार पर चित्त को स्थिर कर देना—इसे पदस्थ ध्यान कहा गया है ।

इस ध्यान में अपने इष्टपदों का जैसे भगवद्नाम, नवकार महामंत्र, तथा अन्य शास्त्रीय वाक्यों का, स्मरण करते हुए साधक उनमें तदाकार होने का प्रयत्न करता है । इष्ट का स्मरण करते-करते साधक उन मंत्र-पदों के अक्षरों को अपनी कल्पना से लिखता है,फिर उन्हीं अक्षरों को मनसे देखने का प्रयत्न करता है, मन उन मंत्राक्षरों में एकात्मकता की अनुभूति करने लगता है । ध्यान के अभ्यासी आचार्यों का मत है कि साधक जब ध्येय में लीन होने लगता है, अर्थात् स्वयं भगवद्स्वरूप की अनुभूति करने लगता है तो वह वास्तव में ही भगवद्स्वरूप बनने की ओर कदम बढाता है और उसमें क्रमिक सफलता भी मिलती जाती है ।

यद्ध्यायति तद्भवति

ध्यान-ग्रन्थों में एक उदाहरण देकर बताया है- जैसे कीट (लट) भौंरे की मिट्टी के साथ मिलकर स्वयं को भ्रमरी अनुभव करते हुए धीरे-धीरे वह भ्रमरी ही बन जाती है, उसी प्रकार साधक ध्येय स्वरूप का अनुभव-स्मरण करते-करते वह ध्येय रूप बन सकता है । काव्य ग्रन्थो में इस पर एक लघु रूपक दिया गया है कि महाराज रामचन्द्र जी सीता के विरह से व्यथित हुए मन-ही-मन 'सीता-सीता' पुकारते रहते थे । सोते-उठते-बैठते उनके मुंह से बस एक ही अक्षर शब्द निकलता – "सीता-सीता !"

एक बार बैठे-बैठे रामचन्द्रजी के मन में विचार आया और वे चिन्तित से हो गए । पास में बैठे भक्त हनुमान ने स्वामी की चिंता देखी तो इसका कारण पूछा । रामचन्द्रजी ने पहले तो कुछ संकोच किया, फिर कुछ चिंता के साथ बोले—पवनपुत्र ! मेरे मन में एक शंका हो उठी है । कहा जाता है कि—कीट स्वयं को भ्रमरी अनुभव करती हुई भ्रमरी बन जाती है,क्यों कि **यद् ध्यायति**

---

१ योगशास्त्र ८।१

तद् भवति ।....रुद्रस्य चिन्तनाद् रुद्रो विष्णुः स्याद् विष्णु-चिन्तनाद्—जो जिसको ध्याता है, वह उसी रूप बन जाता है। रुद्र की चिन्तना से रुद्र तथा विष्णु के चिंतन से विष्णु। मैं सीता-सीता रटता हुआ यदि कहीं सीता बन गया तो ? फिर मेरा दाम्पत्य सुख तो चला जायेगा, पुरुष से नारी भी बन जाऊँगा।"

आशुप्रज्ञ हनुमान ने तभी हँसते हुए कहा—"महाराज ! इसमें आपको चिंतित होने की क्या बात है ? यदि ऐसा हो भी गया तो कोई चिंता की बात नहीं। जैसे आप रात-दिन सीता की रटन लगा रहे हैं, आपके मन में सीता बसी हुई है, उसी प्रकार माता सीता के हृदय के कण-कण में 'राम' बसे हुए हैं। वह क्षण-क्षण 'राम-राम' रटती रहती है। तो यदि राम 'सीता' सीता' रटते हुए राम बन गये तो सीता भी 'राम-राम' रटती हुई 'राम-स्वरूप' बन जायेगी। फिर चिन्ता की क्या बात है ?

यह एक रूपक हैं, कवि की कल्पना भी हो सकती है, किन्तु इसमें सचाई है, एक तथ्य है कि मनुष्य जिस स्वरूप का, जिस रूप का और जिन अक्षरों का एकाग्रता के साथ, तन्मय होकर चिंतन करता है वह तद्स्वरूप भी बन सकता है। तन्मय का अर्थ ही है—तद्+मय=(उसी के अनुरूप) तन्मय। तो पदस्थ व रूपस्थ ध्यान में यही तद्स्वरूप का चिंतन किया जाता है और भगवद्मय बनने की ओर गति भी होती है।

सिद्धचक्र

पदस्थ ध्यान को स्थिर करने के लिए आचार्यों ने सिद्ध चक्र की स्थापना की कल्पना दी है। इस सिद्ध चक्र में—आठ पंखुड़ियों वाले सफेद कमल की कल्पना की जाती है। और उसके भीतर कर्णिका पर (बीज-कोष) में **णमो अरिहंताणं** की स्थापना की जाती है। फिर पूर्व-पश्चिम आदि चारों दिशाओं की पंखुड़ियों पर णमो सिद्धाणं आदि चार पद की स्थापना होती है। चार विदिशा की पंखुड़ियों पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का ध्यान किया जाता है इस प्रकार नौ पदों की स्थापना कर इस सिद्धचक्र पर ध्यान किया जाता है। आचार्य हेमचन्द्र ने ज्ञान दर्शन के स्थान पर '**एसो पंच नमुक्कारो**' आदि चार पदों की स्थापना की विधि बताई है। अभ्यास की दृष्टि से इन

चार पदों की अपेक्षा ज्ञान, दर्शन आदि पदों की स्थापना से ध्यान में आलम्बन अधिक सुदृढ़ बनता है। इसकी स्पष्ट कल्पना के लिए संलग्न चित्र देखिए—
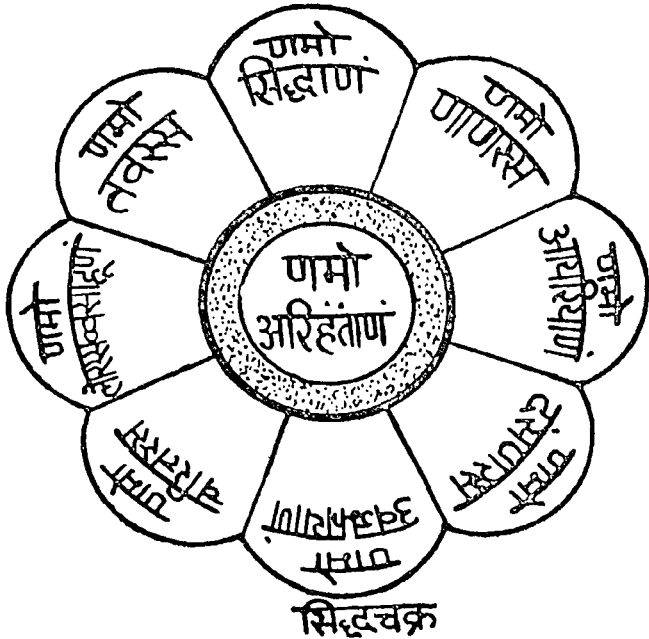
सिद्धचक्र

इसी प्रकार अन्य मंत्राक्षरों पर किसी आकृति की कल्पना बनाकर उनका ध्यान भी किया जाता है। इसमें आगम के किसी पद पर भी ध्यान टिकाया जा सकता है। **चत्तारि मंगलं, ऊं, ह्रीं** आदि मंत्रों पर भी! इनका स्मरण व जप करना स्वाध्याय में गिना जाता है, किन्तु उन पर चिंतन करना विचार प्रवाह को एक धारा में ही प्रवाहित किये रखना ध्यान है।

अक्षर ध्यान

सिद्ध चक्र की भाँति **अक्षर ध्यान** में भी कल्पना के आधार पर अक्षरों की स्थापना की जाती है। उन अक्षरों पर भगवद् स्वरूप की कल्पना करके चिंतन किया जाता है। अक्षर का अर्थ है कभी नष्ट नहीं होने वाला अविनाशी! अविनाशी तत्व एक ही है—आत्मा! शुद्ध स्वरूप स्थित

अविनाशी आत्मतत्व, अथवा परमात्मतत्व की कल्पना के आधार पर मन की धुरी को स्थिर रखना ही अक्षर-ध्यान का उद्देश्य है। इसकी कल्पना निम्न चित्र के अनुसार समझनी चाहिए।
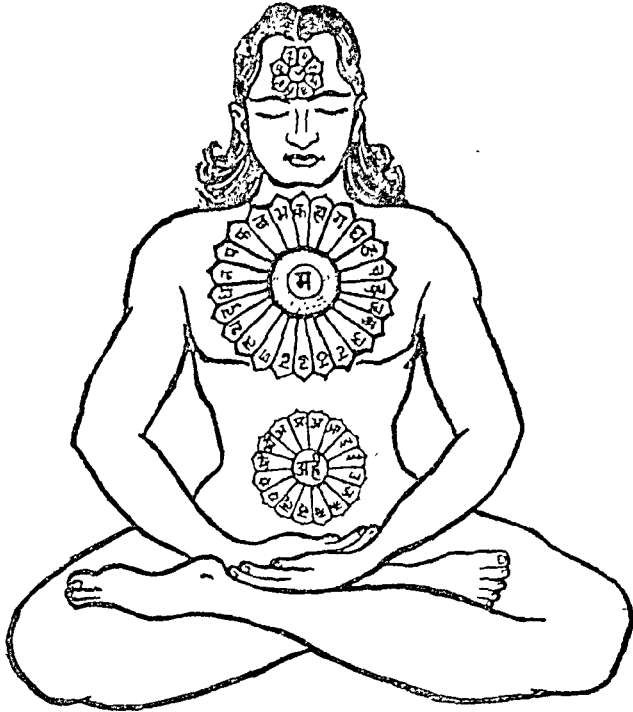
अक्षर ध्यान

उक्त चित्रानुसार नाभि कमल, हृदय कमल और मुख कमल पर अक्षरों की स्थापना करके प्रत्येक अक्षर के आधार पर क्रमशः चिंतन करते जाना चाहिए। उदाहरणार्थ—नाभि कमल के मध्य में 'अर्हं' लिखा है। पहले अर्हं के भावार्थ पर, उसके स्वरूप पर चिंतन प्रारम्भ करना चाहिए। फिर अ-आ-इ-ई आदि अक्षरों से चिंतन धारा को बढ़ाना चाहिए। जैसे—

अ—अरिहंत! अरिहंत प्रभु का स्वरूप, अरिहंत पद प्राप्त करने के साधन। अरिहंत शब्द पर चिंतन करने के बाद इसी 'अ' पर 'अजर', 'अमर'

आदि वाक्यों का भी चिंतन किया जा सकता है तथा 'आ' पर सीधा आकर आ—आत्मा, आत्मस्वरूप, आत्मदर्शन आदि की कल्पना के रंग में मन को गहरा रंग देना चाहिए। इस प्रकार की कल्पना में मन को आनन्द भी आने लगेगा। आनन्द आने पर मन स्वतः ही स्थिर हो जायेगा।

नाभिकमल से आगे बढ़कर फिर हृदयकमल पर आना चाहिए। उसकी पंखुडियों पर 'क' से प्रारंभ कर 'म' तक अक्षर लिखे गये हैं। पूर्वानुसार इन्हीं प्रत्येक अक्षर से अपना चिंतन प्रारम्भ करना चाहिए। जैसे क—कर्म, कर्ता, ख—खंति, खामी (गलती) आदि। अक्षरों पर बंधना नहीं चाहिए कि अमुक अक्षर के अनुसार ही लघु शब्द ही प्रारम्भ में आये, यह कोई आग्रह नहीं है, जो भी शब्द पहले कल्पना में स्फुरित हो जाये उसी पर प्रारम्भ किया जा सकता है।

हृदय कमल के पश्चात् मुख कमल पर ध्यान को केन्द्रित करना चाहिए। इस अक्षर ध्यान में यदि शांत वातावरण रहे तो मन प्रायः एक मुहुर्त या १ घंटा तक बड़ी आसानी से स्थिर किया जा सकता है।

बीजाक्षर : शब्द और संकेत

वैदिक ग्रन्थों में जिसे 'शब्द-ब्रह्म' कहा गया है, जैन दर्शन में वह पदस्थ ध्यान ही है। शब्द में अपार शक्ति है, चित्त के साथ एकाकार होने से शब्द की वह शक्ति प्रकट होकर अपना चमत्कार दिखाने लगती है। कुछ लोगों की शंका है—कि जिन शब्दों का, संकेतों का या बीजाक्षरों का—जैसे ॐ, ह्रीं, अर्हं आदि का हम अर्थ नहीं समझते, उनके ध्यान से क्या लाभ हो सकता है? इसका उत्तर है—कि शब्द में एक विराट शक्ति छिपी रहती है, वह अपने संकेत में संपूर्ण अर्थ को, भाव को समेटे हुए होता है, हम अगर उसका अर्थ नहीं जानते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं है कि शब्द शक्तिहीन है। यह हमारा अज्ञान है कि हम उस शब्द शक्ति से अनभिज्ञ हैं। जैसे तार में संकेत-लिपि का प्रयोग होता है, उसमें लकीरों और बिन्दुओं के अतिरिक्त और क्या दीखने में आता है? किन्तु जानने वाले उससे पूरी भाषा और संदेश निकाल लेते हैं। शीघ्रलिपि (शार्ट हैन्ड) में भी तो संकेतों का ही प्रयोग होता है! जो उन संकेतों को समझते हैं उनके लिए वह सब कुछ है!

वीजाक्षरों में भी देवताओं के, इष्ट देव के संकेत छिपे रहते हैं। जैसे—'ॐ' शब्द में ईश्वर का व ,पंचपरमेष्ठी का संकेत है। वैदिक ग्रन्थों के अनुसार 'ॐ' ईश्वर का वाचक है। कुछ आचार्यों ने इसे ब्रह्मा-विष्णु-महेश का द्योतक बताया हैं। जैसे—

अकारो वासुदेवः स्याद् उकारस्तु महेश्वरः।
मकारः प्रजापतिः स्यात् त्रिदेवो ॐ प्रयुज्यते।

इसी प्रकार जैन आचार्यों ने भी इसे पंच परमेष्ठी का वाचक माना है। जैसे—

अरिहंता असरीरा आयरिय उवज्झाय मुणिणो।
पढमक्खर निप्फन्नो ॐकारो पंच परमिट्ठी।[1]

अरिहंत—अ
सिद्ध (अशरीरी)—अ
आचार्य—आ
उपाध्याय—उ = ओ
मुनि—म— म् = ओम—ॐ

तो इस प्रकार पांचों परमेष्ठी पदों का प्रथम अक्षर मिल कर 'ॐ' शब्द बनता है। 'ॐ' के ऊपर चन्द्र विन्दु है, इसके भी दो अर्थ हैं—वैदिक आचार्यों की दृष्टि में प्रत्येक बीजाक्षर के ऊपर जो अनुस्वार या चन्द्रविन्दु लगता है वह 'नाद' है, और वह अक्षर के शक्तितत्व को प्रकट करता है। शब्द की ध्वनि में भी वह ओज भरता है इसलिए प्रत्येक वीज मंत्र के ऊपर चन्द्रबिन्दु लगाना अनिवार्य होता है। जैन आचार्यों की दृष्टि में अर्ध चन्द्र के आकार में सिद्ध शिला की कल्पना की गई है! तंत्र शास्त्र के अनुसार अलग-अलग शक्तियों व वीज मंत्रों के अलग-अलग संकेत होते हैं जो उसके शक्ति तत्व के प्रतीक माने गये हैं। उदाहरण स्वरूप—

ह्रीं—माया बीज है।
श्रीं—लक्ष्मी बीज है।

---

१ बृहद् द्रव्य संग्रह, टीका पृष्ठ १८२

क्रीं—काली बीज है।

ऐं—सरस्वती बीज है।

फट्—अस्त्र बीज है।

क्लीं—काम बीज है।

ईं—योनि बीज है।

कुछ बीज ईष्टदेव के प्रथम अक्षरों के आधार पर भी बनाये जाते हैं। जैसे—अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और साधु—इन पंच परमेष्ठी के प्रथमाक्षरों को लेकर 'असिआउसा' बीजाक्षर बन गया है। वैदिक ग्रन्थों में भी इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं—यथा गणेश के लिए 'गं' दुर्गा के लिए 'दुं' आदि।[1]

इन बीजाक्षरों के आधार पर अपने इष्ट देव (ध्यान रहे—ध्येय—इष्ट हमेशा ही वीतराग होना चाहिए, और ध्यान निष्काम भाव से करना चाहिए) के स्वरूप का चिंतन करना पदस्थ ध्यान है।

रूपस्थ ध्यान

रूपयुक्त—इष्टदेव तीर्थंकर आदि का चिंतन करना—रूपस्थ ध्यान है —**अर्हतो रूपमालम्ब्य ध्यानं रूपस्थमुच्यते।**[2] इस ध्यान में कल्पना बड़ी सुरम्य और रंग-बिरंगी होती है। साधक एकांत शांत वातावरण में बैठा हुआ आंखें मूंदकर हृदय की आंखें खोल लेता है। आकाश को चित्रपट—पर्दा बना लेता है, मन को कूंची। भगवान के दिव्य रूप, उनके समवसरण आदि की रंग-बिरंगी कल्पनाओं में इतना लीन हो जाता है कि उसे जैसे लगता है, वह साक्षात् वहां बैठा प्रभु के पावन दर्शन कर रहा है, कानों से प्रवचन-पीयूष धारा पी रहा है, और समवसरण का रम्य दृश्य देख रहा है। इष्ट-देव के रूप सम्बन्धी विभिन्न दृश्य बनाने चाहिए और उनमें मन को रमाना

---

१ देखें—ध्यान और मनोबल (डा० इन्द्रचन्द्र) पृ० ८८-८९

२ योगशास्त्र ९।७

चाहिए। इसी ध्यान का आलम्बन सरल बनाने के लिए आगे चलकर प्रतिमा-मूर्ति का आधार लिया गया है। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए—मूर्ति सिर्फ प्रेरक हो सकती है, किन्तु मूर्ति को ही भगवान मानकर उसकी पूजा करना, उसके समक्ष फल-फूल चढ़ाना, दीपक जलाना और यह मानना कि मैं तो भगवान की ही साक्षात् अर्चना कर रहा हूं—यह एक प्रकार की अंधश्रद्धा व अज्ञान की श्रेणी में चला जाता है!

रूपातीत ध्यान

धर्म ध्यान का यह चौथा प्रकार है– इसमें रूप से अतीत निराकार—निरंजन सिद्ध भगवान परमात्मा का चिंतन करते हुए आत्मा उसी में तन्मय हो जाता है। आचार्यों ने बताया है—

निरंजनस्य सिद्धस्य ध्यानं स्याद् रूप वर्जितम्।[1]

निरंजन सिद्ध स्वरूप का ध्यान करते हुए आत्मा स्वयं को कर्म मल मुक्त सिद्ध स्वरूप में ही अनुभव करता है। इस ध्यान में पूर्व वर्णित ध्यानों की तरह कोई साकार कल्पना नहीं होती, न कोई मंत्र व पद होता है, न दृश्य आदि की कल्पना। किन्तु मन इतना सध जाता है कि विना दृश्य के ही वह एक विचार में स्थिर हो जाता है। रूपातीत शब्द से यहां दो अर्थ लिये जा सकते हैं—एक—किसी आलम्बन के विना अरूप कल्पना में ही मन स्थिर हो जाना। दूसरा - रूप रहित आत्म तत्त्व या सिद्ध स्वरूप की कल्पना करते हुए आत्म चिंतन करना कि—मैं अरूपी हूं, अभौतिक हूं। मेरा आत्मा अन्य है, इन्द्रियां अन्य है। जो दीखता है वह मैं नहीं, इस प्रकार स्वयं को अरूप मानकर चिंतन करना और अरूपी—सिद्ध भगवान के गुणों आदि का चिंतन करना—ये दोनों ही अर्थ रूपातीत ध्यान के साथ जुड़े हुए हैं।

आजकल जिसे भावातीत, विचारशून्य ध्यान कहते हैं वह रूपातीत ध्यान की ही एक परिकल्पना है। किन्तु कोई साधक सीधा ही इस ध्यान की श्रेणी में पहुँचना चाहे तो वह प्रायः असंभव है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर धीरे धीरे बढ़ा जाता है। रूप से अरूप की ओर बढ़ने में काफी अभ्यास और

१ योग शास्त्र १०।१

साधना चाहिए। पूर्व के भेदों में ध्याता, ध्यान और ध्येय का भेद रहता है, किन्तु रूपातीत ध्यान सिद्ध होने पर यह भेद रेखा समाप्त हो जाती है, ध्याता ध्येय और ध्यान तीनों एकाकार हो जाते हैं—जैसे समुद्र में समस्त नदियां अपना-अपना स्वरूप विलीन कर समुद्राकार हो जाती हैं, उसी प्रकार इस ध्यान में ध्याता—ध्येय रूप में एकाकार हो जाता है।

श्वेताम्बर मान्यतानुसार छठे गुणस्थान में धर्मध्यान होता है, किन्तु दिगम्बर परम्परा सातवें गुणस्थान से ही धर्मध्यान मानती है—**धर्ममप्रमत्तसंयतस्य**[1]—धर्म ध्यान अप्रमत्त संयत को ही होता है तथा जिसके कषाय उपशांत एवं क्षीण हो गए हों वही धर्मध्यान का अधिकारी हो सकता है।

शुक्लध्यान का स्वरूप

ध्यान की यह परम उज्ज्वल निर्मल दशा है। मन से जब विषय-कषाय दूर हो जाते हैं, तो उसकी मलिनता अपने आप घट जाती है। मन उज्ज्वल होते-होते—जब शुभ्र वस्त्र की भांति सर्वथा मल रहित हो जाता है तो वह मन शुक्लता को—अर्थात् निर्मलता को प्राप्त कर लेता है। उस निर्मल मन की एकाग्रता एवं अत्यन्त स्थिरता ही शुक्लध्यान कहलाती है। आचार्यों ने शुक्लध्यान की दशा का वर्णन करते हुए बताया है—जिस ध्यान में बाह्य विषयों का सम्बन्ध होने पर भी मन उनकी ओर नहीं जाता तथा पूर्ण वैराग्य दशा में रमता रहता है। इस ध्यान की स्थिति में यदि कोई साधक के शरीर पर प्रहार करे, छेदन भेदन करे तब भी उसके चित्त में संक्लेश पैदा नहीं होता, शरीर को पीड़ा होते हुए भी उस पीड़ा की अनुभूति मन को स्पर्श नहीं कर सकती। भयंकर से भयंकर वेदना व उपसर्ग भी मन को चंचल नहीं बना सकते। साधक का चिंतन बाहर से भीतर की ओर चला जाता है, देह होते हुए भी वह स्वयं को विदेह या देहमुक्त सा अनुभव करने लगता है।

---

१ तत्त्वार्थ सूत्र ९।३७-३८

भगवान महावीर ने दीक्षा लेते समय शरीर पर चन्दन आदि सुगंधित वस्तुओं का लेप किया था। दीक्षा के बाद जब जंगल में ध्यान करने खड़े हुए तो उस सुगंध के कारण भौंरे आदि कीट पतंग-आ-आकर उनके शरीर पर बैठने लगे और उनकी चमड़ी को छेद कर मांस तक भी नोंचने लग गये। किन्तु प्रभु तो उस स्थिति में अपने ध्यान में ऐसे खड़े रहे जैसे कुछ अनुभव ही नहीं हो रहा हो। उनके जीवन में ध्यानावस्था में अनेक उपसर्ग हुए, पर कभी भी उनका ध्यान भंग नहीं हो सका, वे कभी जी चंचल नहीं बने—यही शुक्लध्यान की स्थिति है। गजसुकुमाल मुनि के मस्तक पर अंगारे भर देने पर भी वे उस मरणांतक पीड़ा से अकम्पित और अचंचल बने रहकर शुक्ल ध्यान में लीन बने रहे। चित्त की इस प्रकार की निर्मलता एवं स्थिरता जिस अवस्था में प्राप्त हो जाती है वही अवस्था जैन परिभाषा में शुक्ल ध्यान है, वैदिक परिभाषा में समाधि' है।

शुक्ल ध्यान के दो भेद किए गये हैं—शुक्ल और परम शुक्ल! चतुर्दश पूर्वधर तक का शुक्ल ध्यान है, केवली भगवान का ध्यान परम शुक्लध्यान है।[१] यह भेद ध्यान की विशुद्धता एवं अधिकतम स्थिरता की दृष्टि से किये गए हैं।

स्वरूप की दृष्टि से शुक्लध्यान के चार भेद बताये गये हैं[२]—

१ **पृथक्त्व वितर्क सविचार**—पृथक्त्व—का अर्थ है भेद! वितर्क का अर्थ है—तर्क प्रधान चिंतन। इस ध्यान में श्रुत ज्ञान का सहारा लेकर वस्तु के विविध भेदों पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिंतन किया जाता है। जैसे कभी जड़ वस्तु को अपने ध्येय का विषय बनकर उसी के स्वरूप पर चिंतन करते चले गए। द्रव्य-गुण-पर्याय आदि पर विचार करते हुए द्रव्य से पर्याय पर, पुनः पर्याय से द्रव्य पर—इस प्रकार ध्येय का विषय भेदप्रधान बनाकर सूक्ष्म चिंतन करते जाना।

---

१ तत्वार्थ सूत्र ९।३९-४०

२ स्थानांग ४।१० समवायांग ४। भगवती २५।७।

२ **एकत्ववितर्कसविचार**—जब भेद प्रधान चिंतन में मन स्थिरता प्राप्त कर लेता है तो फिर अभेद प्रधान चिंतन में स्वतः ही स्थिरता आ जाती है। इस ध्यान में वस्तु के एक रूप को ही ध्येय बनाया जाता है। यदि किसी एक पर्यायरूप अर्थ पर चिंतन चलता है तो उसी पर वह चिंतन चलता रहेगा। साधक जिस योग (मन वचन व काया) में स्थिर है उसी योग पर अटल रहेगा। विषय व योग का परिवर्तन इस ध्यान में नहीं होता। जैसे निर्वात—हवा रहित स्थान में दीपक स्थिरता के साथ जलता है, वैसे ही विचार-पवन से मन अकंप रहता हुआ ध्यान की लौ लगाए रहता है। यद्यपि निर्वात गृह में भी दीपक को सूक्ष्म हवा मिलती रहती है, वैसे ही इस ध्यान में भी साधक सूक्ष्म विचारों पर चलता है, यह ध्यान सर्वथा निर्विचार ध्यान नहीं है किन्तु विचार स्थिर हो जाते हैं—किसी एक ही वस्तु तत्व पर।

३ **सूक्ष्मक्रिया ऽ प्रतिपाति**—यह ध्यान अत्यन्त सूक्ष्म क्रिया पर चलता है। इस ध्यान की स्थिति प्राप्त होने के बाद योगी पुनः अपने ध्यान से गिर नहीं सकता अतः इसे सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती कहा है। जैन आगमों में बताया गया है कि यह ध्यान केवली-वीतराग आत्मा को ही होता है। जब आयुष्य का बहुत कम समय (अन्तर्मुहूर्त) शेष रह जाता है उस समय वीतराग आत्मा में योगनिरोध की प्रक्रिया चालू हो जाती है। स्थूल काययोग के सहारे से स्थूल मन योग को सूक्ष्म बनाया जाता है, फिर सूक्ष्म मन के सहारे स्थूलकाय योग को सूक्ष्म रूप देते हैं। फिर सूक्ष्म काययोग के अवलंबन से सूक्ष्म मन-वचन का निरोध करते हैं उस अवस्था में सिर्फ सूक्ष्म काय योग-मात्र श्वासोच्छ्‌वास की प्रक्रिया ही शेष रह जाती है उस स्थिति का ध्यान ही यह ध्यान है। बस इसके अन्तर्मुहुंत में ही आत्मा अयोगी सिद्ध बन जाता है।

४ **समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति**—शुक्लध्यान की तीसरी दशा—अयोगी दशा की प्रथम भूमिका है, उस ध्यान में श्वासोच्छ्‌वास की क्रिया शेष रहती है, चतुर्थ ध्यान में प्रविष्ट होते वह दशा भी समाप्त हो जाती है। आत्मा सर्वथा योगों का निरोध कर देती है। आत्म-प्रदेश सर्वथा निष्कम्प बन जाते हैं। समस्त योग-चंचलता समाप्त हो जाती है। आत्मा चौदहवें गुण स्थान

की श्रेणी में आरूढ़ होकर अयोगी केवली बन जाता है। यह परम निष्कम्प व समस्त क्रिया योग से मुक्त ध्यान दशा है इस दशा को प्राप्त होने पर पुनः उस ध्यान से निवृत्ति-हटना नहीं होता इसी कारण इसे समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति शुक्ल ध्यान कहा है। इसी ध्यान के प्रभाव से आत्मा के साथ रहे हुए शेष चार कर्म शीघ्र ही क्षीण हो जाते हैं और अरिहंत भगवान—वीत-राग आत्मा—सिद्ध दशा को प्राप्त कर लेते हैं।

प्रथम दो भेद सातवें से बारहवें गुणस्थान तक माने गए हैं। तीसरा रूप तेरहवें गुणस्थान में रहता है। तथा चोथे ध्यान में आत्मा चोदहवें गुण स्थान में प्रवेश कर जाती है। प्रथम दो ध्यान सालम्बन है—उनमें श्रुत ज्ञान का आलम्बन रहता है किन्तु शेप दो ध्यान—निरवलम्ब ध्यान है, उनमें किसी भी सहारे व आलम्बन की अपेक्षा नहीं रहती।

शुक्लध्यान के चार लिंग व आलम्बन

शुक्लध्यानी आत्मा के चार चिह्न हैं। वह इन चिह्नों (लिंगों) से पहचाना जाता है—

१ **अव्यथ**—भयंकर से भयंकर उपसर्गों में व्यथित-चलित नहीं होता।

२ **असम्मोह**—सूक्ष्म तात्विक विषयों में, अथवा देवादिकृत माया से सम्मोहित नहीं होता। उसकी श्रद्धा अचल रहती है।

३ **विवेक**—आत्मा और देह के पृथक्त्व का वास्तविक ज्ञान उसे होता है। कर्तव्य अकर्तव्य का सम्पूर्ण विवेक उसमें जागृत होता है।

४ **व्युत्सर्ग**—समस्त आसक्तियों से, भोजन, वस्त्र तथा देह की आसक्ति से भी सर्वथा मुक्त रहता है। उसका मन परम वीतराग भाव की ओर सतत गतिशील रहता है।

इन चार लक्षणों से पहचाना जा सकता है कि अमुक आत्मा शुक्लध्यान की योग्यता रखता है।

शुक्लध्यान रूप महल पर चढ़ने के लिए चार आलंबन भी शास्त्रों में बताये गये हैं। आलम्बन से मतलब यही है कि प्रारम्भिक दशा में बिना आलम्बन के मन स्थिर नहीं होता। मन को बांधने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता होती है, वे यहां बताये गये हैं। वे आलम्बन चार हैं—

१ क्षमा – उदय में आये हुए क्रोध को शांत करना।

२ मार्दव—उदय में आये हुए मान को शांत करना—अर्थात् किसी भी प्रकार का मान नहीं करना।

३ मार्जव—माया का त्याग कर हृदय को सरल बनाना।

४ मुक्ति – लोभ को सर्वथा जीत लेना।[1]

चार अनुप्रेक्षाएं

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं[2]—विशेष चिंतन की धारा भी बताई गई है—

१ **अनन्त वर्तितानुप्रेक्षा**—अनन्त भव-परम्परा के सम्बन्ध में विचार करना। आत्मा किस प्रकार जन्म मरण करती है इस विषय में चिंतन करना।

२ **विपरिणामानुप्रेक्षा**—वस्तु परिवर्तनशील है। देह से लेकर सूक्ष्म से सूक्ष्म और पौद्‌गलिक वस्तु सतत बदलती रहती है, शुभ वस्तु अशुभ रूप में अशुभ शुभ रूप में। उनकी परिवर्तनशीलता-विपरिणामों पर विचार करने से वस्तु की आसक्ति व राग-द्वेष कम हो जाता है।

३ **अशुभानुप्रेक्षा**—संसार के अशुभ स्वरूप पर विचार करना। इससे भोग्य पदार्थों के प्रति मन में ग्लानि उत्पन्न हो जाती है जिसे **निर्वेद** कहते हैं।

४ **अपायानुप्रेक्षा**—पापाचरण के कारण अशुभ कर्मों का बन्ध होता है और उससे आत्मा को विविध गतियों में कष्ट व दुःख झेलने पड़ते हैं। उन अपायों—क्रोधादि दोषा तथा उनके कटुफलों का विचार करना।

वास्तव में ये चार अनुप्रेक्षएं प्रारम्भिक अवस्था की है, जब तक मन में स्थिरता की कमी होती है तब तक ही इन भावनाओं से मन को बाहर में दौड़ते हुए रोककर भीतर की ओर मोड़ा जाता है, जब धीरे-धीरे वह स्थिर होने लगता है तो मन इन विचारों में स्वतः ही रम जाता है और उसकी बाह्योन्मुखता कम हो जाती है।

---

१ स्थानांग सूत्र ४।१। तथा भगवतीसूत्र २५।७
२ " " " "

उपसंहार

ध्यान के विषय में यह गहरा व विस्तृत चिंतन जैन दर्शन में किया गया है। इनमें प्रथम दो ध्यान तो त्याज्य ही है। धर्म ध्यान एवं शुक्ल ध्यान आत्मा के लिए हितकारी है, और उनके द्वारा ही आत्मा कर्म मुक्त हो सकता है।

ध्यान साधना में मुख्य तत्त्व है—समता ! मन को समभाव का जितना ही अभ्यास होगा वह उतना ही अधिक स्थिर बनेगा। आचार्य हेमचन्द्र ने इसीलिए कहा है—

न साम्येन विना ध्यानं न ध्याने न विना च तत्

समभाव के अभ्यास के विना, समत्व की साधना किये विना ध्यान नहीं हो सकता, मन स्थिर नहीं हो सकता और विना मन स्थिर हुए समाधि शांति प्राप्त नहीं हो सकती। अनासक्ति, वीतरागता, निर्ममत्व इनकी उपलब्धि तभी हो सकती है जब मन 'सम' हो गया हो, विषमता दूर हो गई हो। और जिसकी विषमता दूर हो गई वह किसी भी विक्षेप बाधा पर विजय प्राप्त कर मन को ध्यानस्थ, समाधिस्थ कर सकता है। वास्तव में मन की स्थिरता, समाधि यही सच्चा तप है।

●●

६

व्युत्सर्ग तप

निर्ममत्व की साधना-व्युत्सर्ग

जैन धर्म के उपदेशों का सार यदि एक वाक्य में बताना हो तो कहा जा सकता है—निर्ममत्व ! वीतरागता ! ममत्व का त्याग करके वीतराग भाव प्राप्त करना, बस यही समस्त जैन दर्शन का सार है। किसी विद्वान से पूछा जाय कि समस्त भारतीय दर्शन का सार क्या है ? तो वह इसके सिवा और क्या बतायेगा ? उपनिषदों का सार गीता है। और गीता का सार है—अनासक्ति योग ! बुद्ध के समस्त उपदेशों में जो तत्त्व मुख्य है, वह है—उपेक्षा वृत्ति ! और जैन धर्म के समस्त आगमों में जिस शब्द की प्रतिध्वनि गूंज रही है, वह है वीतरागता। आखिर समस्त दर्शनों की मूल भावना एक ही है—शरीर, भोग, यश प्रतिष्ठा आदि समस्त बाह्य तत्वों के प्रति उदासीनता रखना, उनके प्रति उपेक्षा भाव रखना, उनसे अनासक्त रहना और उनके प्रति ममत्व भाव का त्याग कर देना। भगवान महावीर ने कहा है—

जे ममाइय मइं जहाइ से जहाइ ममाइयं।
सेहु दिट्ठपहे मुणी जस्स णत्थि ममाइयं[1]

---

१ आचारांग १।२।६

जिसने ममत्ववृत्ति का त्याग कर दिया है उसने समस्त संसार का त्याग कर दिया। वास्तव में उसी ने मोक्ष का मार्ग देखा है, जिसके मन में किसी भी भौतिक वस्तु के प्रति, शरीर के प्रति भी मेरापन—ममत्व नहीं है। विश्व में सबसे बड़ा बन्धन एक ही है—ममत्व ! परिग्रह।

नत्थि एरिसो पासो पडिबंधो अत्थि सव्व जीवाणं[२]

जीव के लिए ऐसा पाश-बंधन और प्रतिबंध संसार में दूसरा नहीं है जैसा यह परिग्रह अर्थात् ममत्व है ! इस ममत्व-बुद्धि का त्याग कर देने वाला ही सच्चा साधक व सच्चा तपस्वी हो सकता है।

ममत्व बुद्धि का परिहार करने के लिए अनेक साधन व उपाय बताये गये हैं उनमें ही एक मुख्य साधन है—व्युत्सर्ग !

व्युत्सर्ग—आभ्यन्तर तपों की श्रेणी में छठा व अन्तिम तप हैं। इस तप की साधना जीवन में निर्ममत्व की, निस्पृहता की और अनासक्ति एवं निर्भयता की ज्योति प्रज्ज्वलित करती है। साधक में आत्मसाधना के लिए अपूर्व साहस और बलिदान की भावना जगाती है।

व्युत्सर्ग की परिभाषा

व्युत्सर्ग—में दो शब्द हैं वि-उत्सर्ग। वि का अर्थ है विशिष्ट और उत्सर्ग का अर्थ है—त्याग। विशिष्ट त्याग, अर्थात् त्याग करने की विशिष्ट विधि—व्युत्सर्ग है।

आशा और ममत्व जीवन का सबसे बड़ा बंधन है। वह आशा, ममत्व चाहे धन का हो, परिवार का हो, शिष्यों का हो, भोजन आदि रसों का हो, या अपने शरीर का ही हो, बंधन है, मोह है और जब तक वह नहीं छूटता-मुक्ति नहीं मिल सकती। व्युत्सर्ग में इन सब पदार्थों के मोह का त्याग किया जाता है, उनके प्रति, यहां तक कि शरीर व प्राण के प्रति भी मोह त्याग दिया जाता है, सर्वत्र सर्वदा—निर्ममत्व भाव की पवित्र भावना से आत्मा को बलिदान के लिए तैयार किया जाता है। दिगम्बर आचार्य अकलंक ने व्युत्सर्ग की परिभाषा करते हुए लिखा है—

---

२ प्रश्नव्याकरण १।५

निःसंग-निर्भयत्व जीविताशा व्युदासाद्यर्थो व्युत्सर्गः[1]

निःसंगता—अनासक्ति, निर्भयता और जीवन की लालसा का त्याग, बस इसी आधार पर टिका है—व्युत्सर्ग ! धर्म के लिए, आत्म साधना के लिए, अपने आपको उत्सर्ग करने की विधि ही व्युत्सर्ग है। यही व्युत्सर्ग की संक्षिप्त परिभाषा जैन धर्म में की गई है। आचार्य भद्रबाहु ने कहा है—

अन्नं इमं सरीरं अन्नो जीवुत्ति कय बुद्धी।[2]

व्युत्सर्ग तप की साधना करने वाले में यह दृढ़ बुद्धि होती है कि—यह शरीर अन्य है, और मेरा आत्मा अन्य है। शरीर को त्यागना है,नाशमान है, आत्मा को अपनाना है, वह शाश्वत है, चिरकाल का साथी है। बस इसी धारणा पर चलता हुआ साधक शरीर जो कि 'पर' है—उसकी ममता से दूर हटता है, और आत्मा जो कि 'स्व' है उसके निकट आता है। आत्मा के लिए सब कुछ त्याग देने को तत्पर हो जाता है।

व्युत्सर्ग का स्वरूप

व्युत्सर्ग को छठा आभ्यन्तर तप माना है—और इसका वर्णन अनेक सूत्रों में मिलता है। उत्तराध्ययन में बहुत संक्षेप में ही इस विषय में बताया है, और सिर्फ कायोत्सर्ग को ही वहां व्युत्सर्ग का पर्यायवाची बताया गया है—

सयणासणठाणे वा जेउ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउस्सग्गो छट्ठो सो परिकित्तिओ।[3]

जो भिक्षु—सोना-बैठना-उठना आदि समस्त कायिक क्रियाओं का त्याग कर शरीर को स्थिर करके उसकी ममता का, उसकी सार संभाल का त्याग कर देता है—वह कायोत्सर्ग छठा तप है।

यहां व्युत्सर्ग का स्वरूप बहुत ही संक्षेप में बताया है। कायोत्सर्ग भी व्युत्सर्ग है, किन्तु इसके साथ अन्य भी कई प्रकार के व्युत्सर्ग संलग्न हैं,

---

१ तत्वार्थराजवार्तिक ९।२६।१०
२ आवश्यक निर्युक्ति १५५२
३ उत्तराध्ययन ३०।३६

जिनकी चर्चा भगवती, स्थानांग आदि सूत्रों में की गई है। यहां व्युत्सर्ग के उन समस्त भेदों पर विचार करना है।

विउस्सग्गे दुविहे पण्णत्ते तं जहा—
दव्वविउस्सग्गे य भावविउस्सग्गे य।[1]

व्युत्सर्ग तप दो प्रकार का है, द्रव्य व्युत्सर्ग और भाव व्युत्सर्ग। द्रव्य व्युत्सर्ग के चार प्रकार हैं—

१. गण व्युत्सर्ग, २. शरीर व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग)
३. उपधि व्युत्सर्ग, ४. भक्तपान व्युत्सर्ग।

१. गणव्युत्सर्ग—'गण' नाम समूह का है। भारतीय परम्परा में गण शब्द बहुत ही विश्रुत है। प्राचीन समय में 'गण' का बहुत महत्व था। मनुष्यों के विविध प्रकार के समूह, दल या कुटुम्ब होते थे जो गण कहलाते थे। यहां गण से—एक या अनेक गुरुओं के शिष्यों का समूह—यह अर्थ अभिप्रेत है। गण में अनेक प्रकार के साधु रहते हैं जो अपनी-अपनी रुचि व सामर्थ्य के अनुसार साधना व श्रुत अध्ययन करते रहते हैं। साधना करने के लिए 'गण' का आलंवन—सहारा आवश्यक होता है। जैसे शरीर, गृहस्थ आदि साधना में उपकारी होते हैं, वैसे ही 'गण' भी साधना में सहयोगी व उपकारी होता है। गण के आश्रय से साधु अपनी चर्या निर्दोष एवं समाधिपूर्वक चला सकता है। भगवान महावीर के शासन में तथा अन्य तीर्थंकरों के शासन में गणव्यवस्था थी, एक-एक गण में सैकड़ों हजारों साधु रहते थे, सबकी समाचारी तथा प्ररुपणा एक जैसी होती थी। उस गण के नायक 'गणधर' कहलाते थे।

यहां प्रश्न होता है जब 'गण' साधना में अति आवश्यक है तो फिर उसका व्युत्सर्ग—त्याग क्यों किया जाय? उत्तर है—'गण' से भी अधिक उपकारी मनुष्य का अपना 'शरीर' है, किन्तु साधना को अधिक तेजस्वी व प्रखर बनाने के लिए जब शरीर का ही त्याग किया जाता है तो 'गण' की बात तो बहुत ही साधारण हो गई। अतः साधक को जब यह अनुभव हो

---

१ भगवती सूत्र २५।७

कि मेरी साधना, ज्ञानाभ्यास आदि में गण को छोड़ देने से अधिक लाभ हो सकता है तो उन कारणों को ध्यान में रखकर वह 'गण' को छोड़ भी सकता है। स्थानांग सूत्र में बताया है, साधक सात कारणों से गण का व्युत्सर्ग, गण का त्याग कर सकता है।

—गण छोड़ने के सात कारण ये हैं—

१. मैं सब धर्मों (ज्ञान, दर्शन और चारित्र की साधनाओं) को प्राप्त करना (साधना) चाहता हूँ और उन धर्मों (साधनाओं) को मैं अन्य गण में जाकर ही प्राप्त कर (साध) सकूंगा अतः मैं गण छोड़कर अन्य गण में जाना चाहता हूं।[1]

२. मुझे अमुक धर्म (साधना) प्रिय है और अमुक धर्म (साधना) प्रिय नहीं है। अतः मैं गण छोड़कर अन्य गण में जाना चाहता हूं।

३. सभी धर्मों (ज्ञान, दर्शन और चारित्र) में मुझे सन्देह है अतः संशय निवारणार्थ मैं अन्य गण में जाना चाहता हूं।

४. कुछ धर्मों (साधनाओं) में मुझे संशय है और कुछ धर्मों (साधनाओं) में संशय नहीं है। अतः मैं संशय निवारणार्थ अन्य गण में जाना चाहता हूं।

५. सभी धर्मों (ज्ञान, दर्शन और चारित्र सम्बन्धी) की विशिष्ट धारणाओं को मैं देना (सिखाना) चाहता हूं। इस गण में ऐसा कोई योग्य पात्र नहीं है अतः मैं अन्य गण में जाना चाहता हूं।

६. कुछ धर्मों (पूर्वोक्त धारणाओं) को देना चाहता हूं और कुछ धर्मों (पूर्वोक्त धारणाओं) को नहीं देना चाहता हूं अतः मैं अन्य गण में जाना चाहता हूं।

७. एकल विहार की प्रतिमा धारण करके विचरना चाहता हूँ। (अतः मैं गण छोड़कर जाना चाहता हूँ।)

'गण व्युत्सर्ग' का मुख्य प्रयोजन है—श्रुत ज्ञान व चारित्र का विशेष

---

१ धर्माचार्य को गण छोड़ने का कारण बताकर गण छोड़ने की आज्ञा प्राप्त कर लेनी चाहिए। आज्ञा लिये बिना गण नहीं छोड़ना चाहिए।

आराधना के लिए गण का त्याग कर अन्य गण में जाना अथवा एकाकी रहना।

कायोत्सर्ग

२. शरीर व्युत्सर्ग—इसी का दूसरा नाम कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग का मुख्य उद्देश्य है– दोषों की विशुद्धि करना। धर्माराधना करते हुए कभी-कभी उसमें प्रमाद भी हो जाता है, उस प्रमाद के कारण अशुभ कर्मों का बन्धन भी होता है। चारित्र में कुछ दोष लग जाने से मलिनता भी आ जाती है। उस मलिनता को दूर कर चारित्र रूप शरीर को पुनः उज्ज्वल व निर्मल बनाने के लिए कायोत्सर्ग एक प्रकार का स्नान है। इससे चारित्र शरीर पर लगा मल, उसके कण-कण से दूर होकर पुनः निर्मलता और कांति प्राप्त होती है। विशुद्धि का यह उद्देश्य स्पष्ट करते हुए आवश्यक सूत्र में बताया है—

तस्स उत्तरीकरणेणं पायच्छित्त करणेणं, विसोही करणेणं, विसल्ली करणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं।

—उस संयम जीवन को विशेष रूप से परिष्कृत करने के लिए, लगे हुए दोषों का प्रायश्चित्त करने के लिए, आत्मा को विशुद्ध करने के लिए, शल्य रहित करने के लिए पाप कर्मों का निर्घात—उन्हें नष्ट करने के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।

कायोत्सर्ग में साधक अपने अज्ञान—प्रमाद वश हुई भूलों के लिए—प्रायश्चित्त करता है, मन में पश्चात्ताप करता है और शरीर की ममता को त्याग कर उन दोषों को दूर करने के लिए कृतसंकल्प होता है। उस दृढ़ संकल्प से, पश्चात्ताप से किये हुए कर्मों का भार हलका हो जाता है, आत्मा पर से जैसे कोई बोझ उठजाता है, वैसी लघुता और प्रसन्नता अनुभव होने लगती है।

भगवान महावीर से पूछा गया है—कायोत्सर्ग करने से क्या फल मिलता है? उत्तर में बताया है—

काउस्सग्गेणं तीय पडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ। विसुद्धपायच्छित्ते य

जीवे निव्वुयहियए ओहरिय भरुव्व भारवहे पसत्थ झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरई।[1]

संयम जीवन में प्रमाद वश साधक कभी जो इधर-उधर भटक जाता है, और दोष सेवन कर लेता है—जाने अन जाने जो भूलें कर बैठता है—कायोत्सर्ग करने से उन सब भूलों और दोषों की शुद्धि कर लेता है। आत्मा को निर्मल एवं निष्पाप बना लेता है। निर्मल आत्मा अपने आपको बहुत हलका और प्रसन्न अनुभव करता है। कल्पना करिए—जेठ का महीना हो, मंजिल दूर हो, ऊँचा-नीचा ऊबड़-खावड़ रास्ता हो, और सिर पर मन भर की गठरी लिए कोई मजदूर चल रहा हो। बोझ से सिर की नसें टूट रही हों, पसीने से तर-बतर हो रहा हो, दम फूल रहा हो। उस समय में कोई आदमी उस मजदूर का बोझ उतार कर अलग रखवा दे, उसे शीतल छाया में विश्राम करने देवे—तो उसे कितना आनन्द होगा और कितनी प्रसन्नता तथा हलकापन उसे अनुभव होगी। मजदूर की भांति पापों के भार से दबी आत्मा की स्थिति है। वह पापों के भार से इतनी खेदखिन्न हो रही है कि यदि उसे क्षणभर भी कहीं हलकापन अनुभव हों, विश्रान्ति मिले तो वह बड़ी प्रसन्नता अनुभव करेगी ! कायोत्सर्ग द्वारा पापों का वह भार दूर हटा दिया जाता है। आत्मा हलका हो जाता है। उसके भीतर प्रशस्त ध्यान की शीतल धारा बहने लगती है और प्रसन्नता की उर्मियां उठने लगती हैं—आत्मा स्वयं को बड़ा ही सुखमय एवं आनन्द मय अनुभव करने लगता है।

देह-बुद्धि का विसर्जन

कायोत्सर्ग शब्द दो शब्दों के योग से बना है—इसमें काय और उत्सर्ग—ये दो शब्द हैं। दोनों का मिलकर अर्थ होता है काया का त्याग। प्रश्न होता है काया का त्याग तब तक कैसे हो सकता है जब तक प्राण है ! प्राणधारण के लिए तो शरीर आवश्यक है ! यहां समाधान यह है कि काया का त्याग करने का अर्थ है- काया की ममता का त्याग। क्योंकि यह तो कई बार स्पष्ट किया जा चुका है—शरीर, उपधि आदि बंधन नहीं हैं, बंधन व

---

1 उत्तराध्ययन २६।१२

परिग्रह है—उनकी ममता। ममता छूट गई तो फिर यह शरीर तो उपकारी हो जायेगा। तो इसलिए शरीर की ममता, मोह, सार संभाल-इसका त्याग करना—अर्थात् ममता कम करते जाना—यही कायोत्सर्ग का अर्थ है। देह का नहीं, किन्तु देह-बुद्धि का विसर्जन करना—कायोत्सर्ग का उद्देश्य है। इसमें साधक कुछ समय के लिए शरीर को स्थिर कर, जिनमुद्रा धारण करके खड़ा हो जाता है, मन में संकल्प करता है—**अप्पाणं वोसिरामि** मैं कुछ समय के लिए अपने शरीर का त्याग कर रहा हूं, अर्थात् दंश, मंस आदि काटें, खाज खुजली आये, सर्दी लगे, गर्मी लगे—शरीर को कुछ भी कष्ट हो, पर मैं उस ओर तनिक भी ध्यान नही दूंगा—यह सोचूंगा अभी मैं शरीर से दूर हूं, आत्मा में विचरण कर रहा हूं। और यही भावन करूँगा—

> **शरीरतः कर्तुमनन्तशक्ति**
> **विभिन्नमात्मानमपास्त दोषं।**
> **जिनेन्द्र! कोषादिव खड्गयष्टि**
> **तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः!**

हे प्रभो! आप की कृपा से मेरी आत्मा में ऐसी शक्ति प्रकट हो! ऐसा आध्यात्मिक बल जागृत हो कि मैं अपनी अनन्त शक्ति सम्पन्न दोष रहित निर्मल आत्मा को शरीर से सर्वथा अलग समझ सकूं—जैसे म्यान से तलवार अलग रहती है।

शरीर म्यान है, आत्मा तलवार है—कायोत्सर्ग में इन दोनों को अलग-अलग समझने की भावना जागृत होती है, इन दोनों का भिन्नत्व भी अनुभव होता है। शरीर पर चाहे जितनी वेदना का प्रभाव हो, उपसर्ग हो, कोई प्रहार करे किन्तु उस समय साधक शरीर की पीड़ा से अर्थात् पीड़ा की अनुभूति से जैसे सर्वथा दूर चला जाता है, उसको शरीर के दुःख-दर्द से कोई सम्बन्ध भी नहीं रहता, बस, वह तो अपने आत्मध्यान में स्थिर खड़ा रहता है। और देह में होते हुए भी देह बुद्धि से, देह भाव से सर्वथा मुक्त-सा हो जाता है।

हमारे इतिहास के प्राचीन ग्रंथों में ऐसे सैकड़ों—हजारों उदाहरण मिलते हैं, जहां साधु संत, साधक जंगल में, श्मशान में, कहीं शून्य एकांत स्थान में कायोत्सर्ग करके खड़े होते हैं, देह भाव से निकलकर आत्मा की परम ज्योति में लीन हो जाते हैं और उस समय उन्हें भयंकर उपसर्ग होते हैं, कोई प्रहार करता है, कोई मारता है, शरीर का छेदन भेदन करता है, किन्तु साधक ऐसे स्थिर खड़ा रहता है जैसे यह शरीर का उसका है ही नहीं ! आचार्य भद्रबाहु ने साधक की उस स्थिति का चित्रण किया है—

वासी - चंदणकप्पो
जो मरणे जीविए य समसण्णो ।
देहे य अप्पडिबद्धो
काउसग्गो हवइ तस्स ।१५४८।

चाहे कोई भक्ति भावपूर्वक चंदन का लेप करे या कोई द्वेष पूर्वक बसौले से छीले । चाहे जीवित रहे या मृत्यु आ जाय, किन्तु उन सभी स्थितियों में साधक देह में आसक्ति नहीं रखता है, समभाव पूर्वक स्थिर रहता है, वस्तुतः ऐसा साधक ही कायोत्सर्ग कर सकता है ।

तिविहाणुवसग्गाणं
दिव्वाणं माणुसाण तिरियाणं ।
सम्ममहियासणाए
काउस्सग्गो हवइ सुद्धो ।१५४९।

कायोत्सर्ग की साधना करते समय देवता, मनुष्य तथा तिर्यंच सम्बन्धी उपसर्ग भी हो सकते हैं, साधक उन उपसर्गों को सम्यक् प्रकार से सहन करें तभी उसका कायोत्सर्ग शुद्ध हो सकता है ।

इतनी निस्पृहता, वीतरागता और सहिष्णुता का प्रत्यक्ष दर्शन कायोत्सर्ग में होता है । साधु ही नहीं, गृहस्थ भी इस कायोत्सर्ग तप की साधना करता है, वह भी विदेह भाव में रमण करने की तैयारी कर सकता है । इतिहास में एक उदाहरण आता है राजा चन्द्रावतंस का । जो इस प्रकार है—

राजा चन्द्रावतंस राज्य करते हुए भी बड़ा साधनामय जीवन जीता था। एक बार उसने किसी पर्व तिथि पर उपवास किया। रात्रि में कायोत्सर्ग करने का विचार कर महलों में ही एकांत स्थान पर जाकर खड़ा हो गया। सामने एक दीपक जल रहा था, धीमे-धीमे टिमटिमा रहा था। राजा ने कायोत्सर्ग करने के साथ ही मन में संकल्प किया—"जब तक यह दीपक जलता रहेगा मैं कायोत्सर्ग में खड़ा अपना आत्मध्यान करता रहूंगा।" कुछ समय बीता। राजा की परिचारिका दासी उधर आई। उसने सोचा—महाराज साधना कर रहे हैं, दीपक टिम-टिमा रहा है, कहीं तेल खत्म न हो जाय, अंधेरा हो जायेगा, तो महाराज को कष्ट होगा। दासी ने तुरन्त दीपक को लबालब भर दिया, उसकी लौ और तेज जल उठी ! दीपक जलता रहा तो राजा भी अपने संकल्प के अनुसार कायोत्सर्ग किये स्थिर खड़ा रहा। मध्य रात्रि का समय हो गया। दासीने सोचा—महाराज अभी तक खड़े हैं ! आज तक कभी इतनी देर खड़े नहीं रहे, जरूर आज कोई विशेष साधना कर रहे हैं, कहीं ऐसा न हो कि दीया गुल हो जाय, अंधेरा हो जाय ! दासी ने फिर दीये को छलाछल भर दिया। राजा अपने संकल्प के अनुसार खड़ा रहा। उसके पैरों में भयंकर वेदना होने लगी, नसें फटने लगी, पर राजा दृढ़ता के साथ अपने कायोत्सर्ग-ध्यान में खड़ा रहा। बाहर वह तेल का दीपक जलता रहा, भीतर में उसके निर्मल भावों का दीपक जलता रहा, जैसे-जैसे तेल कम होता, दासी तैल भरती गई, राजा का संकल्प भी दृढ़-दृढ़तर होता गया। उसने शरीर की असह्य वेदना से मन को हटा लिया। प्रातः पौ फटते-फटते दीपक का तेल खत्म होने आया इधर राजा के शरीर का तेल (शक्ति) भी प्रायः समाप्त हो चुका था, पैर सूज गये थे, वह धड़ाम से भूमि पर गिर पड़ा और परम पवित्र ध्यान में देह विसर्जन कर उच्च गति को प्राप्त कर लिया।

तो, इस प्रकार कायोत्सर्ग साधना के बल पर साधक अपनी देह को, देह ममत्व को पूर्णतः विसर्जन करने की स्थिति में भी पहुंच जाता है।

जब तक शरीर के प्रति ममत्व रहता है साधक कोई भी साधना कर

नहीं सकता। शरीर की ममता घटाने के लिए उसे प्रतिक्षण यह भावना करनी चाहिए—कि शरीर मेरा नहीं है, मुझे इस शरीर से कुछ आध्यात्मिक लाभ उठाना है। कायोत्सर्ग की साधना साधक के जीवन की प्रतिदिन की साधना है। प्रतिक्रमण में बार-बार जो यह पाठ बोला जाता है—**अप्पाणं वोसिरामि ठाएमि काउस्सग्गं** उसका भाव यही है कि देह के प्रति अममत्व का भाव बार-बार मन में जगता रहना चाहिए। सिर्फ प्रतिक्रमण के समय में ही नहीं, किन्तु रात-दिन साधना के समय मन में इस प्रकार के संकल्प जगते रहने चाहिए और क्षण-क्षण कायोत्सर्ग की भावना करनी चाहिए। भगवान ने कहा है—**अभिक्खणं काउस्सग्गकारी**[1] अभीक्षण-प्रतिक्षण कायोत्सर्ग करता रहे, अर्थात् हर समय देह की ममता से दूर रहने का अभ्यास करता रहे। साधक के प्रत्येक चिंतन में, प्रत्येक सांस में यह भाव गूंजता रहे—

अन्नं इमं सरीरं अन्नो जीवु त्ति

शरीर अन्य है, जीव-आत्मा अन्य है, और इसी भाव की अनुभूति हृदय में प्रतिक्षण करता रहे।

कायोत्सर्ग में ध्यान

कायोत्सर्ग का अर्थ सिर्फ यह नहीं है कि शरीर की चंचलता का त्याग कर, वृक्ष की भांति,पर्वत की तरह या काठ की भांति निष्पंद खड़े हो जाना। मात्र इतने से कार्य के लिए कायोत्सर्ग नहीं किया जाता। मूल बात तो यह है कि शरीर की निष्पंदता तो एकेन्द्रिय आदि प्राणियों में भी हो सकती है, पर्वत पर चाहे जितने प्रहार करो, वह कब चंचल होता है और कब किसी पर रोष करता है? किन्तु वह निष्पंदता और स्थिरता तो जड़ (अविकसित प्राणी) की स्थिरता है। सचेतन स्थिरता नहीं। इसीलिए जैन आचार्यों ने कायोत्सर्ग के भी दो प्रकार के बताए हैं—द्रव्य कायोत्सर्ग और भाव कायोत्सर्ग। आचार्य जिनदास गणी ने बताया है—

---

१ दशवैकालिक, चूलिका द्वितीय

सो पुण काउस्सग्गो दव्वतो भावतो य भवति।
दव्वतो कायचेट्ठा निरोहो, भावतो काउस्सग्गो झाणं।[1]

वह कायोत्सर्ग भी द्रव्य एवं भाव से दो प्रकार का होता है। द्रव्य-काय चेष्टा का निरोध और भाव—धर्म एवं शुक्ल ध्यान में रमण करना। प्रथम शरीर की चंचलता एवं ममता का त्याग कर जिनमुद्रा में स्थिर खड़ा होना चाहिए, यह कायचेष्टा निरोध है। उसके आगे धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान में रमण करना चाहिए। मन को जब पवित्र विचारों में, उच्च संकल्पों में बाँधा जायेगा तभी वह शरीर पर होने वाले प्रहार व वेदना के कष्ट से अनुभव शून्य रह सकता है। अतः कायोत्सर्ग में मुख्य बात ध्यान की है। ध्यान की भूमिका तैयार करने के लिए ही प्रथम द्रव्य कायोत्सर्ग किया जाता है फिर द्रव्य से भाव में प्रवेश करना होता है। यही भाव कायोत्सर्ग का प्राण है कायोत्सर्ग को चमत्कारी बनाने वाला तत्त्व ध्यान ही है। इसी ध्यान युक्त कायोत्सर्ग को सब दुःखों से मुक्ति दिलानेवाला कहा है—**काउस्सग्गं तओ कुज्जा सव्वदुक्खविमोक्खणो**[2]—यह सब दुःख विमोचक कायोत्सर्ग कौन सा है? भाव कायोत्सर्ग! ध्यान कायोत्सर्ग!

कायोत्सर्ग के चार प्रकार

कायोत्सर्ग के द्रव्य-भाव भेद का स्वरूप समझाने के लिए आचार्यों ने उसके चार प्रकार बताये हैं—[3]

१ **उत्थित-उत्थित**—कायोत्सर्ग के लिए खड़ा होने वाला साधक जब शरीर से खड़ा हो जाता है तो उसके साथ उसका मन-अन्तरचेतना भी खड़ी—जागृत रहती है। अशुभ ध्यान का त्याग कर वह शुभ-प्रशस्त ध्यान में लीन होता है। इस प्रकार प्रथम श्रेणी का साधक तन एवं मन—द्रव्य एवं भाव दोनों दृष्टियों से उत्थित होता है।

२ **उत्थित-निविष्ट**—कुछ साधक शरीर से खड़े होकर आँखें तो मूँद

---

१ आवश्यक चूर्णि
२ उत्तराध्ययन २६।४२
३ देखिए—श्रमण सूत्र पृ० १०२ (उपाध्याय श्री अमरमुनि)

लेते हैं किन्तु उनका मन वास्तव में सुप्त रहता है, वे भाव से गिरे रहते हैं। मन विविध विकल्पों में, अशुभ ध्यानों में उलझा रहता है। इसमें शरीर खड़ा, मन—आत्मा बैठा रहता है।

३ **उपविष्ट-उत्थित**—कभी-कभी शरीर की अस्वस्थता, अशक्ति तथा वृद्ध अवस्था आदि के कारण साधक कायोत्सर्ग के लिए खड़ा नहीं हो सकता, किंतु उसके हृदय में शुभ भावों का तीव्र वेग उमड़ता रहता है। उसका मन खड़ा रहता है, किंतु अशक्ति के कारण तन बैठा रहता है।

४ **उपविष्ट-निविष्ट**—यह चौथी श्रेणी कायोत्सर्ग की एक विडम्बना मात्र है। आलस्य एवं कर्तव्यशून्यता के कारण साधक शरीर से भी बैठा रहता है तथा उसका मन, विषय भोगों में, सांसारिक चिंतन में फँसा रहता है। उसका तन, मन दोनों ही गिरे होते हैं।

इन चारों कायोत्सर्गों में पहला एवं तीसरा कायोत्सर्ग वास्तव में ही कायोत्सर्ग है, वह तप है और उनके द्वारा साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

यद्यपि शरीर व्युत्सर्ग को द्रव्यव्युत्सर्ग में गिना गया है किंतु वास्तव में यह द्रव्य से भाव की ओर महाप्रयाण है। शरीर द्रव्य है, स्थूल है, अतः इस दृष्टि से द्रव्य के साथ इसे लिया है किंतु वास्तव में यह स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ने की सर्वोत्कृष्ट प्रक्रिया है। उत्तराध्ययन में कायोत्सर्ग को ही व्युत्सर्ग तप बताया है इसके पीछे भी यही दृष्टि प्रतीत होती है कि सब में मुख्य तत्व शरीर ही है, शरीर है तभी गण, उपधि, आहार, कर्म आदि उसके साथ संलग्न है और उनका अस्तित्व है। शरीर से जब ममत्व हट गया तो उपधि, आहार आदि से फिर ममत्व करने का कोई कारण ही नहीं रहता। इस विचार ने कायोत्सर्ग स्वयं ही समस्त व्युत्सर्ग तप का प्रतिनिधि स्वरूप माना जा सकता है जैसे कि उत्तराध्ययन में भी दर्शाया है—

कायस्स विउस्सग्गो छट्ठो सो परिकित्तिओ।

काय का व्युत्सर्ग करना - छठा व्युत्सर्ग तप है।

व्युत्सर्ग के अन्य भेद

३ **उपधि व्युत्सर्ग** - यह द्रव्य व्युत्सर्ग का तीसरा भेद है। उपधि नाम

है—संयम साधना में आवश्यक मर्यादानुसार रखे गये वस्त्र, पात्र आदि साधनों का। साधक को वस्त्र की आवश्यकता रहती है, पात्र आदि अन्य वस्तुओं की भी। उनके रखने की मर्यादा शास्त्र में बताई गई है। उस मर्यादा से उपरांत तो रखना ही नहीं चाहिए, किन्तु यह भी जरूरी नहीं है कि जितनी मर्यादा है उतने वस्त्र-पात्र रखना ही चाहिए। उनमें से भी कमी करते जाना, कम से कम पात्र तथा अन्य वस्तुएं रखकर शरीर का संकोच करना चाहिए, सुविधा का संकोच करना चाहिए। साधु के सामने आदर्श है—**अप्पोवहि उवगरणजाए** अल्पउपधि और अल्पउपकरण रखकर अपनी जीवन चर्या चलाए। साधक के लिए भगवती सूत्र में कहा है—**लाघवियं पसत्थं** लघुता, हल्कापन प्रशस्त है। अल्प उपकरण, अल्प उपधि रखना—द्रव्य लघुता है, बाह्य हल्कापन है और यह संयमी साधक के लिए आवश्यक है। उपधि व्युत्सर्ग में साधक तीन वस्त्रों में से एक वस्त्र का परित्याग करे, फिर दो वस्त्र का परित्याग कर सिर्फ एक ही वस्त्र में सर्दी गर्मी बिताए तथा समय आने पर उस एक वस्त्र का भी परित्याग कर अचेल अवस्था प्राप्त करे—इसी प्रकार अन्य उपकरणों का भी त्याग करते हुए स्वयं को संयम की कसौटी पर कसता जाए, परीषहों से जूझता रहे।

४ **भक्तपान व्युत्सर्ग**—भोजन पानी का परित्याग करना। इसमें अनशन और ऊनोदरी दोनों तपों की साधना समाविष्ट है। क्रमशः आहार का त्याग करते हुए समय पर संपूर्ण आहार का त्याग कर देना—यह भक्तपान व्युत्सर्ग की साधना है। इसका विस्तृत वर्णन अनशन एवं ऊनोदरी तप में किया गया है पाठक वहां देखें।

भाव व्युत्सर्ग

भाव व्युत्सर्ग के तीन भेद बताये गए हैं—

१ **कषायव्युत्सर्ग**—चार कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ इनको क्षीण करना, धीरे-धीरे इन को छोड़ने का प्रयत्न करना कषाय व्युत्सर्ग है। शास्त्र में चार कषायों को जीतने का एक-एक साधन बताया है—जैसे—

उवसमेण हणे कोहं माणं मद्दवया जिणे
माय मज्जवभावेण लोहं संतोसओ जिणे ।[1]

क्रोध को क्षमा से, मान को मृदुता-विनय से, माया को ऋजुता-सरलता से तथा लोभ को संतोष से जीतना। इन चार धर्मों की साधना के द्वारा चार कषायों को क्षीण करते रहना कषाय व्युत्सर्ग की साधना है। इसका विस्तृत वर्णन कषाय प्रतिसंलीनता तप में किया गया है।

२ **संसार व्युत्सर्ग**—संसार का अर्थ हैं नरक, तिर्यंच, मनुष्य एवं देव रूप चार गतियाँ। स्थानांग सूत्र में संसार चार प्रकार का बताया है—

चउव्विहे संसारे पण्णत्ते तं जहा—
दव्वसंसारे, खेत्तसंसारे, कालसंसारे, भावसंसारे ।[2]

द्रव्य संसार—चार गति रूप।

क्षेत्र संसार—लोकाकाश रूप। अधः,ऊर्ध्व एवं मध्यलोक रूप।

काल संसार—एक समय से लेकर पुद्‌गल परावर्त तक काल रूप।

भाव संसार—संसार परिभ्रमण के हेतु रूप कषाय, प्रमाद आदि।

यहां संसार से चार गति रूप द्रव्य संसार ही समझना चाहिए। क्योंकि क्षेत्र व काल संसार का व्युत्सर्ग होता नहीं और वह साधक के लिए आवश्यक भी नहीं। भाव संसार वास्तव में संसार है। संसार परिभ्रमण का मूल हेतु वही है, इसे ही वास्तविक संसार कह सकते हैं। कहा है—

जे गुणे से आवट्टे[3]

जो गुण हैं,इन्द्रियों के विषय हैं वे ही वास्तव में आवर्त—संसार है, क्योंकि उन्हीं में आसक्त हुआ आत्मा संसार में परिभ्रमण करता है। गुणातीत (इन्द्रिय विषय मुक्त) आत्मा कभी संसार में जन्म मरण नहीं करता। हां, तो इस भाव संसार के परित्याग का वर्णन इन्द्रिय प्रतिसंलीनता, कषाय-प्रति

---

१ दशवैकालिक ८।३९
२ स्थानांग ४।१।२६१
३ आचारांग १।५।५

संलीनता आदि के अन्तर्गत कई बार आ ही चुका है। अतः यहां संसार से चार गति रूप संसार ही अभिप्रेत है– ऐसा अनुमान है।

आगमों में स्थान-स्थान पर **चाउरंत ससारकंतारे** शब्द आता है, जिसका अर्थ है चार गतिरूप, चार अंत—किनारे हैं जिस संसार अरण्य के, वह संसार कंतार! स्थानांग में आगे चार प्रकार के संसार में, नरक संसार तिर्यञ्च संसार, मनुष्य संसार एवं देव संसार बताया गया है।[1]

प्रश्न होता है चार गति का व्युत्सर्ग कैसे किया जाय और उसका क्या प्रयोजन है? समाधान है—चार गति आत्मा के परिभ्रमण की चार स्थितियां है। आत्मा जैसा शुभाशुभ कर्म करता है, तदनुसार ही शुभ-अशुभ गति में जन्म लेता है। उस गति को प्राप्त होने का कारण तदर्थ कर्म है, अतः गति का त्याग तभी हो सकता है जब उस गति के योग्य व हेतुभूत कर्मों का —कारणों का त्याग किया जाय। आगमों में चार गति के योग्य कर्म बंधन के चार-चार कारण बताये हैं। जैसे[2]

नरक गति के योग्य कर्म बंधन के चार कारण हैं—

१ महारंभ, २ महापरिग्रह ३ पञ्चेन्द्रिय प्राणि का वध ४ मांसाहार।

तिर्यंच गति के हेतु भूत चार कर्म है--

१ मायाचरण, २ शठता, ३ असत्य वचन ४ कूटतोल कूट माप।

मनुष्य गति के हेतु भूत चार कर्म हैं—

१ प्रकृति भद्रता,२ प्रकृति की विनीतता,३ दयालुता ४ अन ईर्ष्याभाव।

देवगति के हेतु भूत चार कारण है—

१ सराग संयम, २ संयमासंयम ३ बालतप ४ अकाम निर्जरा

इन कारणों में कुछ शब्द—सुनने में अच्छे लगते हैं, जैसे मनुष्य गति के चार कारण हैं। ये चार गुण तो हैं, किन्तु इनके साथ अज्ञान, मिथ्यात्व आदि भी संलग्न है। क्योंकि सम्यग् दर्शनी की दयालुता, विनीतता, सरलता तो

---

१ स्थानांग सूत्र ४।४।२९४

२ स्थानांग ४।४।३७३

मनुष्य गति ही क्या, वे तो परम गति—मुक्ति के कारण बन सकते हैं। इन गुणों में राग एवं अज्ञान आदि के योग होने के कारण इन गुणों की फल-शक्ति भी कम हो जाती है, अतः दयालुता आदि का त्याग नहीं, किन्तु उनके साथ रहे हुए अज्ञान व राग भाव का त्याग ही उस गति के कारण का त्याग समझना चाहिए।

तो इन सोलह कारणों का त्याग करना, और इनमें भी मूल पांच ही है— मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग, और इन पांचों का भी समावेश राग-द्वेष—दो कारणों में हो जाता है। ये राग-द्वेष ही चार गति में परिभ्रमण के कारण हैं, अतः उनका त्याग करना संसार व्युत्सर्ग है।

३. **कर्म व्युत्सर्ग**—कर्मों का त्याग करना। कर्म आठ हैं—१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयुष्य, ६ नाम, ७ गोत्र, ८ अन्तराय।[1]

जैन कर्म शास्त्र में इन आठ कर्मों के बंधन के अलग-अलग कारण बताये हैं—जैसे ज्ञान की निंदा करना, ज्ञानी की अवहेलना करना, आदि ज्ञानावरण कर्म के बंधन के कारण होते हैं। इसी प्रकार देव-गुरु-धर्म की निंदा, अवर्णवाद बोलना, कुगुरु आदि की पूजा करना दर्शनावरण के बंधन के कारण हैं। अन्य कारण भी जैन आगमों व ग्रंथों में विस्तार के साथ बताये गये हैं जिन्हें प्रज्ञापना सूत्र-(कर्म पद) व कर्म ग्रंथ आदि से जानना चाहिए।

अलग-अलग कर्म बंधन के जो अलग-अलग कारण हैं उन्हें समझकर उनका परित्याग करना चाहिए तथा साथ ही इन कर्मों के तोड़ने के भिन्न-भिन्न उपाय भी शास्त्र में बताये हैं, उनका आचरण करना चाहिए। जैसे बताया है—स्वाध्याय करने से ज्ञानावरण कर्म की निर्जरा होती है।[2] चतुर्विंशतिस्तव से दर्शन की विशुद्धि होती है, दर्शनावरण कर्म हल्का

---

1 आद्यो ज्ञान दर्शनावरण वेदनीय मोहनीयायुष्कनाम गोत्रान्तरायाः।
—तत्त्वार्थसूत्र ८।५

2 उत्तराध्ययन २९।१८

होता।[1] विनय-वन्दना आदि से नीच गोत्र कर्म का क्षय होता है।[2] इत्यादि आठ कर्मों को नष्ट करने के अनेक—उपाय शास्त्र में बताये हैं उन उपायों को आचरण में लाते रहने से कर्म व्युत्सर्ग की साधना होती है।

उपसंहार

इस प्रकार द्रव्य एवं भाव व्युत्सर्ग के स्वरूपों पर यह विचार किया गया है। साधक पहले द्रव्य व्युत्सर्ग की साधना करता है, आहार, वस्त्र-पात्र आदि से ममत्व घटाता है, उनका उपयोग कम करता है, फिर शरीर पर का ममत्व बंधन ढीला करता है। ध्यान समाधि आदि में लीन होकर—**वोसट्ठकाए** काया को वोसराने का अभ्यास करता है। (**अप्पाणं वोसिरामि**—जो पाठ बोला जाता है, वह सिर्फ शब्दों तक नहीं रहता, किन्तु उसकी भावना हृदय के कण-कण में रम जाती है। आत्मा का प्रत्येक प्रदेश यह अनुभव-संवेदन करने लगता है—कि मैं इस देह से भिन्न चिदात्म स्वरूप हूं। शरीर का नाश होने पर भी मेरी आत्मा का नाश नहीं हो सकता। शरीर तो मरणधर्मा है, विनाशशील है ही—इस पर ममत्व करना—बंधन का कारण है, दुख का कारण है और शरीर को धर्म साधना के लिए उत्सर्ग कर देना—मुक्ति का मार्ग है। शरीर की ममता, प्राणों का मोह जब मिट जाता है तो साधक देहातीत दशा में विचरण करने लगता है। फिर भय, उपसर्ग, कष्ट उसको जरा भी विचलित नहीं कर सकते। सुकौशल अणगार का उदाहरण हमारे प्राचीन ग्रन्थों में आता है, विकराल सिंहिनी को सामने आते देखकर निष्कम्प भाव से वहीं स्थिर हो गए। शरीर को वोसरा कर आत्मा के भीतर रमण करने लग गये। विकराल व्याघ्री ने शरीर के टुकड़े टुकड़े कर नोंच लिए पर वे अपने कायोत्सर्ग से हिले भी नहीं। मन की एक रूंआली—(रोमराजि) भी चंचल नहीं हुई। कायोत्सर्ग में स्थित गजसुकुमाल, मैतार्य, स्कन्धक आर्य के सैकड़ों उदाहरण हमारे सामने हैं जिन्होंने सचमुच में ही

---

१ उत्तराध्ययन २९।९
२ „ २९।१०

काया का उत्सर्ग करके जीवन के मोह पर विजय प्राप्त की थी। भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर के जीवन प्रसंग तो आज भी हमारे सामने जैसे बोल रहे हैं। विकराल दैत्यों के अट्टहास, उपसर्ग एवं प्राणांतक पीड़ा देने पर भी वे प्रसन्न और आनन्द मग्न बने रहे। इस का रहस्य और कुछ नहीं, यही कायोत्सर्ग की साधना थी! काया को धारण करते हुए भी काया की अनुभूति, काया की ममता से वे मुक्त हो गये थे। इसीलिए **वोसट्ठकाए, वोसट्ठचत्तदेहे**—जैसे विशेषणों द्वारा उनकी ध्यान स्थिति का चित्रण किया गया है। बस, काया की ममता छूट गई, प्राणों का मोह छूट गया तो साधक प्राण-विजेता, अर्थात् मृत्यु-विजेता बन गया।

व्युत्सर्ग तप में सबसे प्रमुख **कायोत्सर्ग** ही है, यही कारण है कि आगमों में कहीं-कहीं **काउस्सग्ग** को ही पूर्ण व्युत्सर्ग तप बता दिया है। अर्थात् कायोत्सर्ग में जो साधक सिद्ध हो गया, वह सम्पूर्ण व्युत्सर्ग तप में ही सिद्ध हो गया।

अनशन से प्रारम्भ करके व्युत्सर्ग तक यह बारह तपों का एक अस्खलित क्रम है, तपःधारा का अखण्ड निर्मल प्रवाह है जो उद्गम से लेकर विलय तक निरंतर विकास-विस्तार पाता हुआ मुक्ति-महासागर के अनन्त सुख-गर्भ में विलीन होता है।

जैनधर्म की इस तपःसाधना में एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि दुर्बल से दुर्बल, और महानशक्तिशाली पुरुष—अपनी शक्ति के अनुसार, बल और पुरुषार्थ के अनुसार इस तपोमार्ग की आराधना कर सकता है। छोटे से छोटा व्रत-त्याग–एक पोरुषी (सिर्फ ढाई-तीन घंटा का आहार त्याग) करके भी इस तप की आराधना प्रारम्भ की जा सकती है, और फिर ऊनोदरी तो रोगी-भोगी-योगी – हर कोई कर सकता है भोजन के विषय में विविध प्रकार से संकोच भी किया जा सकता है। इस तरह तप की सरलतम साधना भी यहां बताई गई है, और धीरे-धीरे तन-मन-सध जाने पर कठोर दीर्घ उपवास, ध्यान और कायोत्सर्ग तक की साधना के द्वारा साधक तप की उच्चतम चोटी पर पहुंच सकता है।

एक बात यह भी ध्यान देने की है कि जैन तपःसाधना का मार्ग हठयोग का मार्ग नहीं है। तन-मन के साथ किसी प्रकार का बलात्कार यहां नहीं किया जाता। किन्तु मन को धीरे-धीरे प्रबुद्ध किया जाता है, जागृत किया जाता है और तन को साधा जाता है। पहले मन को, फिर तन को साधने का मतलब है—मन की प्रसन्नता बनाए रखकर ही साधक तन को तपस्या में झोंकता है और तन, तप करते हुए भी मन प्रसन्न और आनन्दमग्न बना रहता है। इसी क्रम से साधक अपनी तपःसाधना करके शरीर की ममता से सर्वथा दूर हट कर **तवेण परिसुज्झइ**—तप के द्वारा संपूर्ण शुद्धता, निर्मलता एवं उज्ज्वलता प्राप्त कर लेता है।

●●

परिशिष्ट

- तप-चित्र
  संकलन—श्री सुकनमुनि

- तप-सूक्त
  संकलन—श्री 'रजतमुनि'

- पुस्तक में प्रयुक्त ग्रन्थ सूची

- प्रकाशन समिति के सहयोगी-परिचय एवं सदस्यों की शुभ नामावली

१
तप-चित्र

---
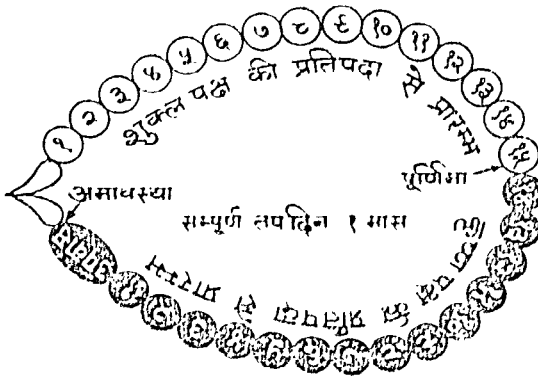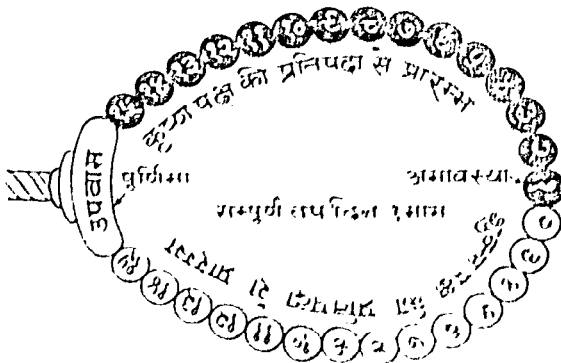
१ इस परिशिष्ट में प्रदर्शित चित्रों के विषय में विशेष जानकारी अनशन तप के प्रकरण में पृ० १९३ से १९६ पर देखें।

गुणरत्न संवत्सर तप

महासिंह निष्क्रीड़ित तप
एक परिपाटी में १ वर्ष, ६ मास और १८ दिन। सम्पूर्ण तप (चारों परिपाटी) में ६ वर्ष, २ मास और १२ दिन का समय लगता है।

मुक्तावली तप
एक परिपाटी में ११ मास, १५ दिन। सम्पूर्ण
(चारों परिपाटी) तप में ५ वर्ष, २ मास २८
दिन का समय लगता है।

रत्नावली तप
एक परिपाटी में १ वर्ष, ३ मास और २२ दिन। सम्पूर्ण तप (चारों परिपाटी) में ५ वर्ष २ मास और २८ दिन का समय लगता है।

एकावली तप
एक परिपाटी में १वर्ष, २मास और २दिन।
सम्पूर्ण तप (चारों परिपाटी) में ४वर्ष, ८मास
और ८दिन का समय लगता है।

कनकावली तप
१
२
३
४
५
६
७
८
९
१०
११
१२
१३
१४
१५
१६
एक परिपाटी में १ वर्ष, ५ मास और
१२ दिन। सम्पूर्ण तप (चारों परिपाटी) में
५ वर्ष, ९ मास और १८ दिन का समय लगता है।

२

तप-सूक्त

जैन वाङ्मय में 'तप'

परिभाषा :

१ तापयति अष्टप्रकारं कर्म इति तपः ।

—आवश्यक मलयगिरि खण्ड २ अ० १

जो आठ प्रकार के कर्मों को तपाता है, उसका नाम तप है ।

२ तप्पते अणेण पावं कम्ममिति तवो ।

—निशीथचूर्णि ४६

जिस साधना से पाप कर्म तप्त होता है, वह तप है ।

३ इच्छा निरोधस्तपः ।

—उमास्वाति, तत्वार्थ सूत्र

अपनी इच्छाओं को नियंत्रण में लाना तप है ।

४ देहदुक्खं महाफलं ।

—दशवैकालिक ८

देह का दमन करना तप है, वह महान् फलप्रद है ।

५ भव कोडिय संचियं कम्मं
तवसा णिज्जरिज्जइ । —उत्तराध्ययन ३०।६

कोटि-कोटि भवों के संचित कर्म तपस्या की अग्नि में भस्म हो जाते हैं।

६ नो पूयणं तवसा आवहेज्जा।

—सूत्रकृतांग ७।२७

तप के द्वारा पूजा-प्रतिष्ठा की अभिलाषा नहीं करनी चाहिए।

७ नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेजा।

—दशवैकालिक ९।४

केवल कर्म-निर्जरा के लिए तपस्या करना चाहिए इहलोक परलोक व यशःकीर्ति के लिए नहीं।

८ सउणी जह पंसुगुंडिया, विहुणिय धंसयइ सियं रयं।
एवं दविओवहाणवं कम्मं खवइ तवस्सि माहणे।।

— सूत्रकृतांग २।१।१५

जिस प्रकार पक्षी अपने परों को फड़फड़ा कर उन पर लगी धूल को झाड़ देता है उसी प्रकार तपस्या के द्वारा मुमुक्ष अपने कृतकर्मों का बहुत शीघ्र ही अपनयन कर देता है।

९ न हु बालतवेण मुक्खुति।

—आचारांग निर्युक्ति २।४

अज्ञान तप से कभी मुक्ति नहीं मिलती है।

१० जह खलु मइलं वत्थं सुज्झइ उदगाइएहिं दव्वेहिं।
एवं भावुवहाणेणं सुज्झए कम्मट्ठविहं।।

—आचारांग नि० २८२

जिस प्रकार जल आदि शोधक द्रव्यों से मलिन वस्त्र भी शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक तपःसाधना द्वारा आत्मा ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्म मल से मुक्त हो जाता है।

११ तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं।

—सूत्रकृतांग ६।२३

अर्थात्—तपों में सर्वोत्तम तप है—ब्रह्मचर्य।

१२ असिधारागमणं चेव, दुक्करं चरिउं तवो।

—उत्तराध्ययन १९।३८

अर्थात्—तप का आचरण तलवार की धार पर चलने के समान दुष्कर है।

१३ एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरगं।

—आचारांग १।४।३

आत्मा को शरीर से पृथक् जानकर भोगलिप्त शरीर को तपस्या के द्वारा धुन डालो।

१४ छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्खं

—उत्तराध्ययन ४।८

इच्छा निरोध-तप से मोक्ष प्राप्त होता है।

१५ सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो,
न दीसई जाइविसेस कोई

—उत्तराध्ययन १२।३७

तप की विशेषता तो प्रत्यक्ष दिखलाई देती है, किन्तु जाति की तो कोई विशेषता नजर नहीं आती।

१६ तवो जोई जीवो जोइठाणं,
जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजमजोग सन्ती,
होमं हुणामि इसिणं पसत्थं॥

—उत्तराध्ययन ११

तप ज्योति अर्थात् अग्नि है, जीव ज्योति स्थान है, मन, वचन, काया के योग स्रुवा=आहुति देने की कड़छी है, शरीर कारीषांग=अग्नि प्रज्वलित करने का साधन है, कर्म जलाये जाने वाला ईंधन है, संयम योग शांति पाठ है। मैं इस प्रकार का यज्ञ करता हूँ, जिसे ऋषियों ने श्रेष्ठ बताया है।

१७ जहा तवस्सी धुणते तवेणं, कम्मं तहा जाण तवोऽणुमंता।

—बृहत्कल्पभाष्य ४४०१

जिस प्रकार तपस्वी तप के द्वारा अपने कर्मों को धुन डालता है, वैसे ही तप का अनुमोदन करने वाला भी।

१८ निउणो वि जीव पोओ, तव संजम मारुअ विहूणो ।

—आवश्यकनिर्युक्ति ९६

शास्त्रज्ञान में कुशल साधक भी तप, संयम रूप पवन के बिना संसार सागर से तैर नहीं सकता ।

१९ कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं ।

—आचारांग १।४।३

तप के द्वारा अपने को कृश करो, तन-मन को हल्का करो । अपने को जीर्ण करो, भोगवृत्ति को जर्जर करो ।

२० अप्पपिण्डासि पाणासि, अप्पं भासेज्ज सुव्वए ।

—सूत्रकृतांग १।८।२५

सुव्रती साधक कम खाए, कम पीये और कम बोले ।

२१ णो पाणभोयणस्स अतिमत्तं आहारए सया भवई ।

—स्थानांगसूत्र ९

ब्रह्मचारी को कभी भी अधिक मात्रा में भोजन नहीं करना चाहिए ।

२२ अणण्हये तवे चेव ।

—भगवतीसूत्र २।५

तप से पूर्वबद्ध कर्मों का नाश होता है ।

२३ जं मे तव नियम-संजम-सज्झाय-झाणा—
ऽवस्सय मादीएसु जोगेसु जयणा, सेत्तं जत्ता ।

भगवतीसूत्र १८।१०

तप, नियम, संयम, स्वाध्याय, ध्यान, आवश्यक आदि योगों में जो यतना विवेक युक्त प्रवृत्ति है, वह मेरी वास्तविक यात्रा-जीवनचर्या है ।

२४ भीतो तव संजमं पि हु मुएज्जा ।
भीतो य भरं न नित्थरेज्जा ।

— प्रश्नव्याकरण २।२

भयभीत व्यक्ति तप और संयम की साधना छोड़ बैठता है । वह किसी भी गुरुतर दायित्व को नहीं निभा सकता है ।

२५ बलं थामं च पेहाए, सद्धामारोग्गमप्पणो।
खेत्तं कालं च विन्नाय, तहप्पाणं निजुंजए॥
- दशवैकालिक ८।३५

(अपना बल, दृढ़ता, श्रद्धा आरोग्य तथा क्षेत्रकाल को देखकर आत्मा को तपश्चर्या में लगाना चाहिये।)

२६ तवस्स मूलं धिती।
—निशीथ चूर्णि ४

तप का मूल धृति अर्थात् धैर्य है।

२७ यत्र तपः तत्र नियमात्संयमः।
यत्र संयमः तत्रापि नियमात् तपः।
—निशीथ चूर्णि ३३३२

जहाँ तप है वहाँ नियम से संयम है, और जहाँ संयम है वहाँ नियम से तप है।

तप के प्रकार :

२८ सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भिंतरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एव मब्भितंरो तवो॥
—उत्तराध्ययन सूत्र ३०।८

तप दो प्रकार का है - बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप अनशन आदि छः प्रकार का है, एवं आभ्यन्तर तप के प्रायश्चित्त आदि छः भेद हैं।

२९ अणसण मूणोयरिया, भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो, संलीणया य बज्झो तवो होई॥
पायच्छित्तं, विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउसग्गो एस अब्भिंतरो तवो॥
—उत्तराध्ययन ३०।९-१०

बाह्य तप के छः भेद हैं—१ अनशन २ ऊनोदरी ३ भिक्षाचरी ४ रस परित्याग ५ कायक्लेश ६ और प्रतिसंलीनता। आभ्यन्तर तप के छः भेद हैं—१ प्रायश्चित्त २ विनय ३ वैयावृत्त्य ४ स्वाध्याय ५ ध्यान ६ और कायोत्सर्ग।

अनशन :

३० आहार पच्चक्खाणेणं जीवियासंसप्पओगं वोच्छिंदइ।

—उत्तराध्ययन २९।३५

आहार का प्रत्याख्यान (त्याग) अनशन कहलाता है। इससे जीव आशा का व्यवच्छेद करता है, अर्थात् लालसाओं से मुक्त हो जाता है।

३१ जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णं भिक्खमणेसण मधते समणा अणाहारा॥

—प्रवचनसार ३।२९

पर वस्तु की आसक्ति से रहित होना ही आत्मा का निराहार रूप वास्तविक अनशन तप है। अस्तु, जो श्रमण भिक्षा में दोष रहित शुद्ध आहार ग्रहण करता है, वह निश्चय दृष्टि से अनाहार तपस्वी ही है।

३२ तदेव हि तपः कार्यं, दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत्।
ये न योगा न हीयन्ते, क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि च।

—तपोष्टक (यशोविजयजी कृत)

तप वैसा ही करना चाहिए, जिसमें दुर्ध्यान न हो और इन्द्रियाँ क्षीण न हों। योगों में हानि न हो!

३३ सो नाम अणसण तवो, जेण मणोमंगुलं न चिंतेइ।
जेण न इंदिय हाणी जेण य जोगा न हायंति।

—मरणसमाधि प्रकीर्णक १३४

वही अनशन तप श्रेष्ठ है, जिससे कि मन अमंगल न सोचे, इन्द्रियों को हानि न हो, और नित्य प्रति की योग-धर्म क्रियाओं में विघ्न न आए।

३४ चतुर्विधाशन-त्याग उपवासो मतो जिनैः।

—सुभाषितरत्नसंदोह

अशन आदि चारों प्रकार के आहार का त्याग करना भगवान के द्वारा उपवास माना गया है।

ऊनोदरी :

३५ हियाहारा, मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा।
न ते विज्जा तिगिच्छंति अप्पाणं ते तिगिच्छिया॥

—ओघनिर्युक्ति ५७८

२५ बलं थामं च पेहाए, सद्धामारोग्गमप्पणो ।
खेत्तं कालं च विन्नाय, तहप्पाणं निजुंजए ॥

- दशवैकालिक ८।३५

(अपना बल, दृढ़ता, श्रद्धा आरोग्य तथा क्षेत्रकाल को देखकर आत्मा को तपश्चर्या में लगाना चाहिये ।)

२६ तवस्स मूलं धिती ।

—निशीथ चूर्णि ४

तप का मूल धृति अर्थात् धैर्य है ।

२७ यत्र तपः तत्र नियमात्संयमः ।
यत्र संयमः तत्रापि नियमात् तपः ।

—निशीथ चूर्णि ३३३२

जहाँ तप है वहाँ नियम से संयम है, और जहाँ संयम है वहाँ नियम से तप है ।

तप के प्रकार :

२८ सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भिंतरो तहा ।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एव मब्भिंतरो तवो ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र ३०।८

तप दो प्रकार का है - बाह्य और आभ्यन्तर । बाह्य तप अनशन आदि छः प्रकार का है, एवं आभ्यन्तर तप के प्रायश्चित्त आदि छः भेद हैं ।

२९ अणसण मूणोयरिया, भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो, संलीणया य वज्झो तवो होई ॥
पायच्छित्तं, विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं च विउसग्गो एस अब्भिंतरो तवो ॥

—उत्तराध्ययन ३०।९-१०

बाह्य तप के छः भेद हैं—१ अनशन २ ऊनोदरी ३ भिक्षाचरी ४ रस परित्याग ५ कायक्लेश ६ और प्रतिसंलीनता । आभ्यन्तर तप के छः भेद हैं—१ प्रायश्चित्त २ विनय ३ वैयावृत्त्य ४ स्वाध्याय ५ ध्यान ६ और कायोत्सर्ग ।

४६ उद्धरिय सव्वसल्लो, आलोइय-निंदिओ गुरु सगासे।
होइ अतिरेगलहुओ, ओहरियभारोव्व भारवहो ॥

—ओघनिर्युक्ति ८०३

जो साधक गुरुजनों के समक्ष मन के समस्त शल्यों (कांटों) को निकाल कर आलोचना, निन्दा (आत्मनिन्दा) करता है, उसकी आत्मा उसी प्रकार हल्की हो जाती हैं, जैसे—सिर का भार उतार देने पर भार वाहक।

४७ जह बालो जंपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भवइ।
तं तह आलोएज्जा, माया-मयविप्पमुक्को उ ॥

—ओघनिर्युक्ति ८०१

बालक को जो भी उचित अनुचित कार्य कर लेता है, वह सब सरल भाव से कह देता हे। इसी प्रकार साधक को भी गुरुजनों के समक्ष दंभ और अभिमान से रहित होकर यथार्थ आत्मालोचना करनी चाहिये।

४८ आलोयणापरियाओ, सम्मं संपट्ठिओ गुरुसगासं।
जइ अंतरो उ कालं, करेज्ज आराहओ तह वि ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति ४

कृत पापों की आलोचना करने की भावना से जाता हुआ व्यक्ति यदि बीच में मर जाये तो भी वह आराधक है।

विनय :

४९ रायणिएसु विणयं पउंजे।

—दशवैकालिक ८।४१

अपने से बड़ों (रत्नाधिक) के साथ सदा विनय पूर्वक व्यवहार करना चाहिए।

५० जे आयरिय-उवज्झायाणं सुस्सूसा वयणं करे।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति जलसित्ता इव पायवा ॥

—दशवैकालिक ९।२।१२

जो अपने आचार्य—उपाध्याय आदि की विनयपूर्वक शुश्रूषा सेवा तथा आज्ञाओं का पालन करता है, उनकी शिक्षाएं (विद्याएं) वैसे ही बढ़ती हैं जैसे कि जल से सींचे जाने पर वृक्ष।

५१ विवत्ती अविणीयस्स, सम्पत्ती विणीयस्स य।

—दशवैकालिक ९।२।२२

अविनीत विपत्ति (दुःख) का भागी होता है और विनीत सम्पत्ति (सुख) का।

५२ जो छंदं आराहयई स पुज्जो।

—दशवैकालिक ९।३।१

जो गुरुजनों की भावनाओं का आदर करता है वही शिष्य पूज्य होता है।

५३ आणा निद्देसकरे, गुरुणमुववाय कारए।
इंगियागारसम्पन्ने से विणीए त्ति वुच्चई॥

—उत्तराध्ययन १।२

जो गुरुजनों की आज्ञाओं का पालन करता है, उनके निकट सम्पर्क में रहता है, एवं उनके हर संकेत व चेष्टा के प्रति सजग रहता है—उसे विनीत कहा जाता है।

५४ विणओ वि तवो, तवो पि धम्मो

—प्रश्नव्याकरण सूत्र २।३

विनय स्वयं एक तप है, और वह श्रेष्ठ धर्म है।

५५ नच्चा नमइ मेहावी।

—उत्तराध्ययन १।५

बुद्धिमान् ज्ञान प्राप्त करके नम्र हो जाता है।

५६ विणओव वेयस्स इह परलोगे वि विज्जाओ फलं पयच्छंति।

—निशीथचूर्णि १३

विनयशील की विद्याएं इहलोक एवं परलोक—सर्वत्र ही फल प्रदान करती है।

वैयावृत्य :

५७ वैयावृत्यम्-भक्तादिभिर्धर्मोपग्रहकारि वस्तुभिरुपग्रह-करणे ।

—स्थानांग टीका ५।१

धर्म में सहारा देने वाली आहार आदि वस्तुओं द्वारा उपग्रह—सहायता करना "वैयावृत्य" कहलाता है। वैयावृत्य शब्द सेवा के अर्थ का प्रतीक है।

५८ दसविहे वेयावच्चे पण्णत्ते तं जहा—आयरियवेयावच्चे, उवज्झाय वेयावच्चे, थेर वेयावच्चे, तवस्सि वेयावच्चे, गिलाण वेयावच्चे, सेह वेयावच्चे, कुल वेयावच्चे, गण वेयावच्चे, संघ वेयावच्चे, साहम्मिय वेयावच्चे । —स्थानांगसूत्र १०।४४६

आचार्य की वैयावृत्य (सेवा) उपाध्याय की वैयावृत्य, स्थविर की वैयावृत्य, तपस्वी की वैयावृत्य, ग्लान की वैयावृत्य, नवदीक्षित की वैयावृत्य कुल की वैयावृत्य, संघ की वैयावृत्य, सहधर्मी की वैयावृत्य। इन दशों को यथायोग्य सेवा भक्ति करना वैयावृत्य तप कहा जाता है।

५६ वेयावच्चेणं तित्थयरनाम गोयं कम्मं निबंधेइ ।

—उत्तराध्ययन २६।३

आचार्य आदि की वैयावृत्य (सेवा) करने से जीव तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म का उपार्जन करता है। आहार, पानी, शैया, आसन आदि से लेकर औषधि आदि समयोचित सेवा संरक्षण आदि सत् क्रियाएं वैयावृत्य तप में आती हैं।

६० असंगिहीय परिजणस्स संगिण्हणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ—

—स्थानांग ८

अनाश्रित—असहाय जनों को आश्रय एवं सहयोग देने के लिए सदा तत्पर रहो।

६१ गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चकरणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ ।

—स्थानांग ८

रोगी की सेवा के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए।

६२ जे भिक्खू गिलाणं सोच्चा णच्चा न गवेसइ,
न गवेसंतं वा साइज्जइ.............आवज्जइ,
चउम्मासियं परिहारठाणं अणुग्घाइयं।

—निशीथ भाष्य १०।३७

यदि कोई समर्थ साधु किसी साधु को बीमार सुनकर एवं जानकर बेपरवाही से उसकी सार-सम्भाल न करे तथा न करने वाले की अनुमोदना करे तो उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित आता है।

६३ दव्वेण भावेण वा जं अप्पणो परस्स वा।
उवकारकरणं, तं सव्वं वेयावच्चं।

—निशीथचूर्णि ६६०५

भोजन, वस्त्र आदि द्रव्य रूप से और उपदेश एवं सत्प्रेरणा आदि भाव रूप से जो भी अपने को तथा अन्य को उपकृत किया जाता है, वह सब वैयावृत्य है।

स्वाध्याय :

६४ सज्झाए वा निउत्तेण सव्वदुक्खविमोक्खणो।

—उत्तराध्ययन २६।१०

शास्त्रों का स्वाध्याय करते रहने से समस्त दुःखों से मुक्ति मिलती है।

६५ सज्झायं च तओ कुज्जा सव्वभावविभावणं।

—उत्तराध्ययन २६।३७

स्वाध्याय सब भावों (विषयों) का प्रकाश करने वाला है।

६६ सज्जाए णं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।

—उत्तराध्ययन २६।१८

स्वाध्याय करने से ज्ञानावरण (ज्ञान को ढकने वाले) कर्म का क्षय होता है।

६७ नवि अत्थि, नवि अ होही, सज्झाय समं तवो कम्मं।

—बृहत्कल्पभाष्य ११६६

स्वाध्याय के समान दूसरा तप न अतीत में कभी हुआ है, न वर्तमान में कहीं है, और न भविष्य में कभी होगा।

६८ जो वि पगासो बहुसो गुणिओ पच्चक्खओ न उवलद्धो।
जच्चंधस्स व चंदो फुडो वि संतो तहा स खलु॥

— बृहत्कल्प भाष्य १२२४

शास्त्र का बार बार अध्ययन कर लेने पर भी यदि उससे अर्थ की साक्षात् अनुभूति न हुई हो तो वह अध्ययन वैसा ही अप्रत्यक्ष रहता है जैसा कि जन्मांध के समक्ष चन्द्रमा प्रकाशमान होते हुए भी अप्रत्यक्ष ही रहता है।

६९ णाणं पि काले अहिज्जमाणं णिज्जरा हेऊ भवति।
अकाले पुण उवघायकरं कम्म बंधाय भवति॥

—निशीथ चूर्णि ११

शास्त्र का अध्ययन उचित समय पर किया हुआ ही निर्जरा का हेतु होता है, अन्यथा वह हानिकर तथा कर्म बंध का कारण बन जाता है।

ध्यान :

७० चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं।

—आवश्यकनिर्युक्ति १४५६

किसी एक विषय पर चित्त को एकाग्र स्थिर करना ध्यान कहलाता है।

७१ एकाग्रचिन्ता योगनिरोधो वा ध्यानम्

—जैनसिद्धान्तदीपिका ५।२८

एकाग्र चिन्तन एवं मन, वचन-काया की प्रवृत्ति रूप योगों को रोकना ध्यान है।

७२ झाणणिलीणो साहू, परिचागं कुणइ सव्व दोसाणं।
तम्हा दु झाणमेवहि सव्वदिचारस्स पडिक्कमणं॥

—नियमसार ६३७

ध्यान में लीन साधक सब दोषों का निवारण कर सकता है। अतः ध्यान ही सब अतिचारों का प्रतिक्रमण है।

७३ यस्य चित्तं स्थिरीभूतं स हि ध्याता प्रशस्यते ।

—ज्ञानार्णव पृ० ८४

जिसका चित्त स्थिर हो, वही ध्यान करने वाला प्रशंसा के योग्य है ।

७४ वीतरागो विमुच्यते, वीतरागं विचिन्तयन् ।

—योगशास्त्र ९।१३

वीतराग का ध्यान करता हुआ योगी स्वयं वीतराग होकर कर्मों से या वासनाओं से मुक्त हो जाता है !

७५ उपयोगे विजातीय - प्रत्ययाव्यवधानभाक् ।
शुभैकप्रत्ययो ध्यानं, सूक्ष्माभोगसमन्वितम् ॥

— द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका १८।११

स्थिर दीपक की लौ के समान मात्र शुभ लक्ष्य में लीन और विरोधी लक्ष्य के व्यवधान रहित ज्ञान, जो सूक्ष्म विषयों के आलोचन सहित हो, उसे ध्यान कहते हैं ।

७६ मोक्षः कर्मक्षयादेव स चात्मज्ञानतो भवेत् ।
ध्यानसाध्यं मतं तच्च, तद्ध्यानं हितमात्मनः ॥

—योगशास्त्र ४।११३

कर्म के क्षय से मोक्ष होता है, आत्म ज्ञान से कर्म का क्षय होता है और ध्यान से आत्म ज्ञान प्राप्त होता है । अतः ध्यान आत्मा के लिये हितकारी माना गया है ।

७७ संगत्यागः कषायाणां, निग्रहो व्रतधारणम् ।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति, सामग्री ध्यानजन्मनि ॥

—तत्वानुशासन ७५

परिग्रह का त्याग, कषाय का निग्रह, व्रत धारण करना तथा मन और इन्द्रियों को जीतना—ये सब कार्य ध्यान की उत्पत्ति में सहायता करने वाली सामग्री है ।

७८ वैराग्यं तत्वविज्ञानं, नैर्ग्रन्थ्यं समचित्तता ।
परिग्रहो जयश्चेति, पञ्चैते ध्यानहेतवः ॥

—बृहद्द्रव्यसंग्रह संस्कृत टीका, पृ० २८१

१ वैराग्य, २—तत्त्वविज्ञान, ३—निर्ग्रन्थता, ४—समचित्तता, ५—परिग्रहजय— ये ५ ध्यान के हेतु हैं।

७९ स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन, ध्याते स्वस्मै स्वतो यतः।
षट्कारकमयस्तस्माद्, ध्यानमात्मैव निश्चयात्॥

—तत्त्वानुशासन ७४

आत्मा का आत्मा में, आत्मा द्वारा, आत्मा के लिये, आत्मा से ही ध्यान करना चाहिये। निश्चयनय में षट्कारकमय— यह आत्मा ही ध्यान है।

८० निश्चयाद् व्यवहाराच्च, ध्यानं द्विविधमागमे।
स्वरूपालम्बनं पूर्वं, परालम्बनमुत्तरम्॥

—तत्त्वानुशासन ९६

निश्चय दृष्टि से और व्यवहार दृष्टि से ध्यान दो प्रकार का है। प्रथम में स्वरूप का आलम्बन है एवं दूसरे में पर वस्तु का आलम्बन है।

८१ स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां, ध्यानात् स्वाध्यायमामनेत्।
ध्यान - स्वाध्यायसंपत्त्या, परमात्मा प्रकाशते॥
यथाभ्यासेन शास्त्राणि, स्थिराणि सुमहान्त्यपि।
तथाध्यानापिसुस्थैर्यं, लभतेऽभ्यासवर्तिनाम्॥

—तत्त्वानुशासन

स्वाध्याय से ध्यान का अभ्यास करना चाहिये और ध्यान से स्वाध्याय को चरितार्थ करना चाहिये। स्वाध्याय एवं ध्यान की संप्राप्ति से परमात्मा प्रकाशित होता— अर्थात् अपने अनुभव में लाया जाता है। अभ्यास से जैसे महान शास्त्र स्थिर हो जाते हैं, उसी प्रकार अभ्यास करने वालों का ध्यान स्थिर हो जाता है।

८२ उपश्रान्तो विशेद् ध्यानं, ध्यानश्रन्तो विशेज्जपम्।
द्वाभ्यां श्रान्तः पठेत् स्तोत्र-मित्येव गुरुभिः स्मृतम्॥

—श्राद्धविधि, पृ० ७९ श्लोक ३

जाप से श्रांत होने पर ध्यान एवं ध्यान से श्रांत होने पर जाप करना चाहिये तथा दोनों से श्रान्त होने पर स्तोत्र पढ़ना चाहिए। ऐसे ही

८३ मा मुज्झह ! मा रज्जह ! मा दुस्सह ! इट्ठ ! निट्ठअट्ठेसु ।
थिरमिच्छह जइ चित्तं, विचित्तं, विचित्तझाणापसिद्धीए ।
मा चिट्ठह ! मां जंपह ! मा चिंतह ! किं वि जेण होई थिरो ।
अप्पा अप्पंमिरओ, इणमेव परं हवे झाणं ।

— द्रव्य संग्रह

हे साधक ! विचित्र ध्यान की सिद्धि से यदि चित्त को स्थिर करना चाहता है, तो इष्ट अनिष्ट पदार्थों में मोह, राग और द्वेष मत कर । किसी भी प्रकार की चेष्टा, जल्पन व चिन्तन मत कर, जिससे मन, स्थिर हो जाये । आत्मा का आत्मा में रक्त हो जाना ही उत्कृष्ट ध्यान है ।

८४ जितेन्द्रियस्य धीरस्य प्रशान्तस्य स्थिरात्मनः ।
सुखासनस्य नासाग्र-न्यस्तनेत्रस्य योगिना ।।

—तत्त्वानुशासन ३७

ध्यान के इच्छुक योगी को योग के आठ अंगों को अवश्य जानना चाहिए, यथा—

१—ध्याता—इन्द्रिय और मन का निग्रह करने वाला ;
२—ध्यान—इष्ट विषय में लीनता ।
३—फल-संवर-निर्जरा रूप ।
४—ध्येय—इष्ट देवादि ।
५— यस्य—ध्यान का स्वामी ।
६—यत्र—ध्यान का क्षेत्र ।
७—यदा—ध्यान का समय ।
८—ध्यान की विधि ।

सरदार मल
1934, सोंथलों वालों
चौड़ा
जौहरी बाजार, जयपुर-302
दू. भाष - 48589

८५ झाण जोगं समाहट्टु कायं विउसेज्ज सव्वसो

—सूत्रकृतांग ८।२६

ध्यान योग का अवलम्बन कर देहभाव का सर्वतोभावेन विसर्जन करना चाहिए ।

कायोत्सर्ग (व्युत्सर्ग)

८६　　काउसग्गेणं तीय पडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ, विसुद्धपायच्छित्तो य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभारुव्व भारवाहे पसत्थज्झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ।

—उत्तराध्ययन २९।१२

कायोत्सर्ग (ध्यान) करने से जीव अतीत एवं वर्तमान के दोषों की विशुद्धि करता है और प्रायश्चित्त के द्वारा सिर पर से भार उतर जाने से भारवाहकवत् हल्का होकर सद्-ध्यान में रमण करता हुआ सदा सुखपूर्वक विचरण करता है।

८७　　व्युत्सर्गोर्हि यत्कायचेष्टा निरोधतः।

—स्थानांग-टीका ६

शरीर की चपलताजन्य चेष्टाओं का निरोध करना व्युत्सर्ग तप है।

८८　　इन्द्रियमनसोर्नियमानुष्ठानं तपः।

—नीतिवाक्यामृत १।२२

पांच इन्द्रिय (स्पर्शन, रसना-घ्राण-चक्षु-श्रोत्र) और मन को वश में करना या बढ़ती हुई लालसाओं को रोकना तप है।

● ●

वैदिक वाङ्मय में 'तप'

१ तपो वाऽग्निस्तपो दीक्षा ।

—शतपथ ब्राह्मण ३।४।३।३

तप एक अग्नि है, तप एक दीक्षा है।

२ तपसा वै लोकं जयन्ति ।

—शतपथ ब्राह्मण ३।४।४।२७

तप के द्वारा ही सच्ची विश्वविजय प्राप्त होती है।

३ तपो मे प्रतिष्ठा ।

—तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।७।७

तप मेरी प्रतिष्ठा है, मेरी स्थिरता का हेतु है।

४ श्रेष्ठो ह वेदस्तपसोऽधिजातः ।

—गोपथब्राह्मण १।१।६

श्रेष्ठ ज्ञान तप के द्वारा ही प्रकट होता है।

५ तपो हि स्वाध्यायः ।

—तैत्तिरीयआरण्यक २।१४

स्वाध्याय स्वयं एक तप है।

६ स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत ।

—तैत्तिरीय आरण्यक—८।६

उस (ब्रह्म) ने तप किया और तप करके इस सब की रचना की।

७ तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व ।

—तैत्तिरीय आरण्यक—९।२

तपके द्वारा ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को जानिए ।

८ तपो ब्रह्मेति ।

—तैत्तिरीय आरण्यक—९।२

तप ही ब्रह्म है ।

९ ऋतंतपः, सत्यंतपः, श्रुतंतपः, शान्तं तपो, दानंतपः ।

—तैत्तिरीयआरण्यक नारायणोपनिषद् १०।८

ऋत (मन का सत्य संकल्प) तप है । सत्य (वाणी से सत्य भाषण) तप है । श्रुत (शास्त्र श्रवण) तप है । शान्ति (ऐन्द्रियिक विषयों से विरक्ति) तप है । दान तप है ।

१० तपो नानशनात् परम् ।
यद्धि परं तपस्तद् दुर्धर्षम् तद् दुराधर्षम् ।

—तैत्तिरीय आरण्यक १०।६२

अनशन से बढ़कर कोई तप नहीं है । साधारण साधक के लिए यह परम तप दुर्धर्ष है, दुराधर्ष है, अर्थात् सहन करना बड़ा ही कठिन है ।

११ नाऽतपस्कस्याऽत्मज्ञानेऽधिगमः कर्मशुद्धिर्वा ।

—मैत्रायणी आरण्यक ४।३

जो तपस्वी नहीं है, उसका ध्यान आत्मा में नहीं जमता और इसलिए उसकी कर्म शुद्धि भी नहीं होती ।

१२ तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात् संप्राप्यते मनः ।
मनसा प्राप्यते त्वात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्त्तते ।।

—यजुर्वेदीय मैत्रायणी आरण्यक ४।३

तप द्वारा सत्त्व (ज्ञान) प्राप्त होता है, सत्त्व से मन वश में आता है, मन वश में आने से आत्मा की प्राप्ति होती है, और आत्मा की प्राप्ति हो जाने पर संसार से छुटकारा मिल जाता है ।

१३ विद्यया तपसा चिन्तया चोपलभते ब्रह्म ।

— य० मै० आ० ४।४

आध्यात्मिक विद्या से, तप से, और आत्मचिन्तन से ब्रह्म की उपलब्धि होती है।

१४ अहिंसा सत्य वचन मानृशंस्यं दमो घृणा ।
एतत्तपो विदुर्धीरा न शरीरस्य शोषणम् ।

— महा० शान्तिपर्व १८९।१८

किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, सत्य बोलना, क्रूरता को त्याग देना मन और इन्द्रियों को संयम में रखना, तथा सबके प्रति दया भाव रखना, इन्हीं को धीर (ज्ञानी) पुरुषों ने तप माना है। केवल शरीर को सुखाना ही तप नहीं है।

१५ देव द्विज गुरु प्राज्ञ-पूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४।

देवता, ब्राह्मण, गुरु एवं ज्ञानीजनों का पूजन, पवित्रता सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—ये शारीरिक तप हैं।

१६ अनुद्वेगकरं वाक्यं, सत्यं प्रिय हितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५।

उद्वेग (अशान्ति) न करने वाला, प्रिय, हितकारी यथार्थ सत्य भाषण और स्वाध्याय का अभ्यास— ये सब वाणी के तप कहे जाते हैं।

१७ मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥१६।

— भगवद्गीता १७

मन की प्रसन्नता, सौम्यभाव, मौन, आत्म-निग्रह तथा शुद्ध भावना—ये मानस तप कहे जाते हैं।

१८ श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७।

मन, वाणी और शरीर इन तीनों का तप यदि फल की आकांक्षा किए बिना परम श्रद्धापूर्वक किया जाए तो वह सात्त्विकतप कहलाता है।

१६ सत्कार मान पूजार्थं तपो दम्भेन चैव तत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८।

जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिए तथा अन्य किसी स्वार्थ के लिए पाखण्ड भाव से किया जाता है, वह अनिश्चित तथा अस्थिर तप होता है, उसे 'राजस' तप कहते हैं।

२० मूढ़ग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत् तामसमुदाहृतम् ॥१६।

—भगवद्गीता १७।

जो तप मूढ़तापूर्वक, हठ से तथा मन, वचन, और शरीर की पीड़ा के सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है,वह 'तामस' तप कहा जाता है।

२१ तपो मूलमिदं सर्वं दैव मानुषकं सुखम्।

—मनुस्मृति ११।२३५

मनुष्यों और देवताओं के सभी सुखों का मूल तप है।

२२ ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्त्रस्य रक्षणम्।

—मनुस्मृति ११।२३६

ब्राह्मण का तप ज्ञान है, और क्षत्रिय का तप दुर्बल की रक्षा करना है।

२३ यद् दुस्तरं यद् दुरापं यत् दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वंतत् तपसा साध्यं तपोहि दुरतिक्रमम्॥

— मनुस्मृति ११।२३६

जो दुस्तर है, दुष्प्राप्य है (कठिनता से प्राप्त होने जैसा है) दुर्गम है, और दुष्कर है, वह सब तप से साधा जाता है। साधना क्षेत्र में तप एक दुर्लघन शक्ति है अर्थात् तप से सभी कठिनताओं पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

२४ न विद्यया केवलया तपसा वाऽपि पात्रता।
यत्र वृत्त मिमे चोभे तद्धि पात्रप्रकीर्तितम्॥

—याज्ञवल्क्यस्मृति १।१२२

न केवल विद्या से और न केवल तप से पवित्रता प्राप्त होती है। जिसमें विद्या और तप दोनों ही हों, वही पात्र कहलाता है।

२५ सम्मानात् तपसः क्षयः।

—आपस्तम्व स्मृति १०।९

सम्मान से तप का क्षय हो जाता है।

२६ वेदस्योपनिषत् सत्यं, सत्यस्योपनिषद् दमः।
दमस्योपनिषद् दानं, दानस्योपनिषत् तपः।

—महाभारत शान्ति पर्व २५१।११

वेद का सार है सत्य वचन, सत्य का सार है इन्द्रियों का संयम, संयम का सार है दान, और दान का सार है 'तपस्या'।

२७ तपो हि परमं श्रेयः सम्मोहमितरत्सुखम्।

—वाल्मीकि रामायण ७।८४।९

तप ही परम कल्याणकारी है। तप से भिन्न सुख तो मात्र बुद्धि के सम्मोह को उत्पन्न करने वाला है।

२८ तपसैव महोग्रेण यद् दुरापं तदाप्यते।

—योगवाशिष्ठ ३।९८।१४

जो दुष्प्राप्य वस्तुएं हैं, वे उग्रतपस्या से ही प्राप्त होती हैं।

२९ ध्यानयोगरतो भिक्षुः प्राप्नोति परमां गतिम्।

— शंखस्मृति

ध्यान योग में लीन मुनि मोक्षपद को प्राप्त करता है।

३० ओमित्येव ध्यायथ ! आत्मानं स्वस्ति वः।
पाराय तमसः परास्तात।

—मुण्डकोपनिषद् २।२।६।

इस आत्मा का ध्यान ॐ के रूप में करो ! तुम्हारा कल्याण होगा अन्धकार दूर करने का यह एक ही साधन है।

●●

बौद्ध वाङ्मय में 'तप'

१ तपो च ब्रह्मचरियं च तं सिनानमनोदकं।

—संयुत्तनिकाय १।१।५८

तप और ब्रह्मचर्य बिना पानी का स्नान है।

२ खंति परमं तपो तितिक्खा।

—धम्मपद १४।६

क्षमा (सहिष्णुता) परम तप है।

३ सद्धा बीजं तपो वुट्ठि।

—सुत्तनिपात १।४।२

श्रद्धा मेरा बीज है, तप मेरी वर्षा है।

४ यस्सेते चतुरो धम्मा सद्धस्स घरमेसिनो।
सच्चं धम्मो धिती चागो सवे पेच्च न सोचति॥

— सुत्तनिपात १।१०।८

जिस श्रद्धाशील गृहस्थ में सत्य, धर्म, धृति और त्याग (तप) ये चार धर्म हैं, उसे परलोक में पछताना नहीं पड़ता।

५ अप्पिच्छता सप्पुरिसेहि वण्णिता ।

—थेरगाथा १६।११२७

सत्पुरुषों ने अल्पेच्छता (कम इच्छा) की प्रशंसा की है ।

६ विरियं हि किलेसानं आतापन परितापनट्ठेन ।

—विसुद्धिमग्गो १।७

वीर्य (शक्ति) ही क्लेशों को तपाने, एवं झुलसाने के कारण आताप (तप) कहा जाता है ।

●●

३

पुस्तक में प्रयुक्त ग्रन्थ सूची

१ अगस्त्यसिंह चूर्णि (दशवै०)
२ अथर्ववेद
३ अध्यात्मरामायण
४ अनुत्तरोपपातिक सूत्र
५ अनुयोगद्वार
६ अभिधान चिंतामणिकोष (हेमचंद्र)
७ अभिधानराजेन्द्र कोष
८ अष्टकप्रकरण (हरिभद्रसूरि)
९ अन्तगड़ सूत्र
१० आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन
११ आचारांग सूत्र
१२ आवश्यक निर्युक्ति
१३ आश्वलायन गृह्यसूत्र
१४ इण्डियन फिलौसफी
१५ उत्तराध्ययन सूत्र
१६ उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति
१७ उपदेशप्रासाद
१८ ऐतरेय ब्राह्मण
१९ ओघनिर्युक्ति
२० औपपातिक सूत्र
२१ कल्पसूत्र
२२ कल्पसूत्रबालावबोध
२३ कल्पसूत्र प्रबोधिनी
२४ कृष्ण यजुर्वेद
२५ केन उपनिषद्
२६ गच्छाचार पइन्ना
२७ गोपथ ब्राह्मण
२८ चन्द्रप्रज्ञप्ति
२९ चरक संहिता
३० चाणक्यनीति

३१ छान्दोग्य उपनिषद्
३२ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
३३ जैन परम्परा में योग (निबन्ध)
३४ जैनसिद्धांतदीपिका
३५ तत्त्वार्थ सूत्र
३६ तिलोयपण्णत्ति
३७ तैत्तिरीय ब्राह्मण
३८ तैत्तिरीय आरण्यक
३९ तैत्तिरीय उपनिषद्
४० दशवैकालिक सूत्र
४१ दशवैकालिक चूर्णि (जिनदास गणी)
४२ दशाश्रुतस्कन्ध
४३ द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका
४४ दीघनिकाय
४५ दीपवंश
४६ धर्मसंग्रह
४७ धर्मरत्न
४८ धवला
४९ ध्यान और मनोबल
५० ध्यानबिन्दूपनिषद्
५१ नन्दीसूत्र
५२ निरयावलिया सूत्र
५३ निशीथभाष्य
५४ निशीथ चूर्णि
५५ नीतिवाक्यामृत
५६ नैषधीयचरित
५७ पटिसम्भिदामग्गो
५८ पञ्चतन्त्र
५९ प्रवचनसार
६० प्रवचन सारोद्धार
६१ प्रवचन सारोद्धार वृत्ति
६२ प्रशमरतिप्रकरण
६३ प्रश्नव्याकरण सूत्र
६४ प्रज्ञापना सूत्र
६५ पिण्डनिर्युक्ति
६६ पंचाशक सटीक
६७ बृहत्कल्पभाष्य
६८ बृहत् स्वयंभूस्तोत्र
६९ भगवद्गीता
७० भगवतीसूत्र
७१ भावपाहुड़
७२ मज्झिमनिकाय
७३ मनुस्मृति
७४ मरुधर केसरी ग्रन्थावली
७५ महावीर चरियं
७६ महाभारत
७७ महामंगल सुत्त
७८ महापुराण
७९ मुण्डक उपनिषद्
८० मूलाचार
८१ मैत्रायणी आरण्यक
८२ योगदर्शन

८३ योगवाशिष्ठ
८४ योगशास्त्र
८५ रत्नकरण्ड श्रावकाचार
८६ राजवार्तिक
८७ रामचरित मानस
८८ ललितविस्तर
८९ रामायण
९० व्यवहारभाष्य
९१ व्यवहारभाष्यपीठिका
९२ विदुरनीति
९३ विनयपिटक (महावग्ग)
९४ विनयपिटक (अट्ठकथा)
९५ विवेकचूड़ामणि
९६ विवेकविलास
९७ विसुद्धिमग्गो
९८ शतपथ ब्राह्मण
९९ शांत सुधारस भावना
१०० श्वेताश्वतर उपनिषद्
१०१ षड्दर्शन समुच्चय
१०२ श्रमण सूत्र
१०३ श्रावकाचार
१०४ श्रीमद्भागवत
१०५ समवायांग सूत्र वृत्ति
१०६ सर्वार्थसिद्धि
१०७ स्थानांग सूत्र (व वृत्ति)
१०८ सांख्यायन आरण्यक
१०९ सामवेद पूर्वार्चिक
११० सिद्धिविनिश्चय
१११ सुखविपाक
११२ सुत्तनिपात
११३ सौदरानन्द
११४ संयुक्त निकाय महावग्ग
११५ Carus Gorpal of BUDDHA

●●

४

परिवर्धन

प्रस्तुत ग्रंथ के आलेखन के समय कहीं-कहीं संक्षेप करना आवश्यक समझा गया, कहीं-कहीं पुस्तकाभाव से विस्तृत संदर्भ प्राप्त न हो पाये— इस प्रकार कई कारणों से कुछ स्थानों पर, कुछ महत्वपूर्ण संदर्भ जो कि तप के विषय में विशेष ज्ञातव्य थे, रह गये। पुस्तक को सर्वांग बनाने की दृष्टि से कुछ ग्रंथों का पुन: अवलोकन कर उन संदर्भों को प्राप्त किया गया है जो यहां परिवर्धन शीर्षक से परिशिष्ट में दिये जा रहे हैं।

—संपादक]

१. तप (मोक्षमार्ग) का पलिमंथु : **निदान** इस प्रकरण में पृष्ठ ११२-११३ पर रानी चेलना का प्रसंग है। उसी संदर्भ में निदान के नौ भेद बताये गये हैं, जो विस्तार भय से प्रारंभ में छोड़ दिये गये थे, किन्तु वे विशेष मननीय होने से यहां ससन्दर्भ पढ़िए :—

निदान के नौ भेद :—

(१) एक पुरुष दूसरे समृद्धिशाली पुरुष को देखकर वैसा बनने का नियाणा करता है।

(२) स्त्री अच्छे पुरुष को प्राप्त करने के लिए नियाणा करती है।

(३) पुरुष अच्छी स्त्री को प्राप्त करने के लिये नियाणा करता है।

(४) स्त्री किसी समृद्ध स्त्री को देखकर वैसी बनने का नियाणा करती है।

(५) कोई व्यक्ति देवगति में उत्पन्न होकर अपनी तथा दूसरों की देवियों को वैक्रिय शरीर द्वारा भोगने का नियाणा करता है।

(६) कोई व्यक्ति देव भव में अपनी देवी को बिना वैक्रिय करके भोगने का नियाणा करता है।

(७) कोई व्यक्ति देवभव में अपनी देवी को बिना वैक्रिय (मूल रूप से) भोगने का नियाणा करता है।

(८) कोई व्यक्ति अगले भव में श्रावक बनने का नियाणा करता है।

(९) कोई व्यक्ति अगले भव में साधु होने का नियाणा करता है।

इन नौ नियाणों में से पहले चार नियाणे करने वाला जीव केवलि प्ररूपित धर्म को सुन भी नहीं सकता। पांचवे नियाणे वाला धर्म को सुन तो लेता है किन्तु समझ नहीं सकता, अर्थात दुर्लभबोधि होता है और बहुत काल तक संसार में परिभ्रमण करता है। छठे नियाणे वाला जीव जिन धर्म को सुनकर—समझ कर भी दूसरे धर्म की तरफ रुचि रखने वाला होता है। सातवें नियाणे वाला सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है अर्थात उसे धर्म पर श्रद्धा तो होती है लेकिन व्रत बिलकुल नहीं ले सकता। आठवें नियाणे वाला श्रावक व्रत ले सकता है लेकिन साधु नहीं बन सकता है। नौवें नियाणे वाला साधु बन सकता है लेकिन उसी भव में मोक्ष नहीं जा सकता।

●

२. भिक्षाचरी प्रकरण में **पृष्ठ २५७** पर हमने अभिग्रह के ३० भेद बताए हैं। कहीं-कहीं बढ़ाकर ३२ भेद भी गिने गए हैं। वे अधिक दो भेद इस प्रकार है—

(१)—३१ **पुरिमार्ध चरक** दिन के पूर्वार्ध में भिक्षाचर्या करने वाला

(२)—३२—**भिन्नपिण्डपात चरक**—टुकड़े किए हुए पिण्ड (भोजन) को ग्रहण करने वाला।

●

३. कायक्लेश तप के वर्णन में **पृष्ठ** २९५ पर कायक्लेश के १४ भेद हमने बताए हैं। कुछ आचार्यों ने भेद संख्या १३-१४ को एक ही मानकर १३ भेद ही माने हैं!

कायक्लेश के छठे भेद निषद्या के पांच भेद स्थानांग सूत्र (५।१।४००) में बताए गए हैं :—

सरदार मल चोपड़ा
1934, सोंथली वालों का रास्ता
चोपड़ा हाउस
जौहरी बाजार, जयपुर-302003
दूरभाष - 48589

१. समपादपुता
२. गोनिषद्यिका
२. हस्तिशुण्डिका
४. पर्यङ्का
५. अर्धपर्यङ्का

(क) जिसमें समान रूप से पैर और पुतों—कुल्हों से पृथ्वी या आसन का स्पर्श करते हुये बैठा जाय, वह **समपादपुतानिषद्या** है।

(ख) जिस आसन में गाय की तरह बैठा जाय, वह **गोनिषद्यिका** है।

(ग) जिस आसन में कूल्हों के ऊपर बैठकर एक पैर ऊपर रखा जाय, वह **हस्तशुण्डिका** है।

(घ) पद्मासन से बैठना **पर्यङ्कानिषद्या** है।

(ङ) जंघा पर एक पैर चढ़ाकर बैठना **अर्द्धपर्यङ्कानिषद्या** हैं।

इनमें से किसी एक प्रकार की निषद्या से बैठकर कायोत्सर्ग करना कायक्लेश तप का छठा भेद है।

४. आतापना के भी कई प्रकार बताये गए हैं :—

१ **निष्पन्न** – सोते हुए आतापना लेना।

२ **अनिष्पन्न**—बैठे हुए आतापना लेना।

३ **ऊर्ध्वस्थित**—खड़े हुए आतापना लेना।

ये क्रमशः उत्कृष्ट, मध्यम एवं जघन्य मानी गई है। अर्थात् सोते हुए की आतापना उत्कृष्ट, बैठे हुए की मध्यम, खड़े हुए की जघन्य!

(क) निष्पन्न (सोते हुए) आतापना के तीन भेद हैं—

१ नीचा मुख करके सोना (उत्कृष्ट)

२ एक पसवाडे के बल सोना (मध्यम)

३ सीधा सोना (जघन्य)।

(ख) अनिष्पन्न (बैठे हुए की) आतापना के तीन भेद हैं—

१ गोदोहासन की आतापना (उत्कृष्ट)

२ उत्कटुकासन की आतापना (मध्यम)

३ पर्यंकासन की आतापना (जघन्य)

(ग) ऊर्ध्वस्थित (खड़े हुए की) आतापना तीन प्रकार की हैं—

१ हस्तिशुण्डिकासन की आतापना (उत्कृष्ट)

२ एक पैर पर खड़े रहकर (बगुलासन) की आतापना (मध्यम)

३ सामान्य रूप से खड़े रहकर ली गई आतापना (जघन्य)

●

५. प्रायश्चित्त तप के प्रकरण में **पृष्ठ ३६३ पर प्रतिसेवना** का वर्णन किया गया है। उस सन्दर्भ में कुछ तथ्य और प्राप्त हुआ है। दशवैकालिक हारिभद्रीय (१।१) में तथा स्थानांग ४।१। २६३ में प्रायश्चित्त चार प्रकार का बताया है—

प्रायश्चित के चार भेद ये हैं—१. **प्रतिसेवनाप्रायश्चित**, २. **संयोजनाप्रायश्चित्त**, ३. **आरोपणाप्रायश्चित्त**, ४. **परिकुञ्चनाप्रायश्चित्त**।

(१) प्रतिषिद्ध अर्थात् नहीं करने योग्य कार्य का सेवन करना प्रतिसेवना है। उसकी शुद्धि के लिये जो आलोचना-प्रतिक्रमण आदि किये जाते हैं, उन्हें प्रतिसेवनाप्रायश्चित्त कहते हैं। इसके दस भेद हैं।

(२) एकजातीय अतिचारों—दोषों का मिल जाना संयोजना है। जैसे—कोई साधु शय्यातरपिण्ड लाया, वह भी गीले हाथों से, वह भी सामने लाया हुआ और वह भी आधाकर्मी—इस प्रकार के संयुक्त दोषों का जो प्रायश्चित्त होता है, उसे संयोजनाप्रायश्चित्त कहते हैं।

(३) एक अपराध का प्रायश्चित्त करने पर बार-बार उसी अपराध का सेवन करने से विजातीय-प्रायश्चित का आरोपण करना आरोपणाप्रायश्चित्त है। जैसे—एक अपराध के लिए पांच दिन के तप का प्रायश्चित्त दिया। फिर उसी का सेवन करने पर दस दिन का, फिर सेवन करने

पर पन्द्रह दिन का, इस प्रकार छः मास तक लगातार प्रायश्चित्त देना। छः मास से अधिक तप का प्रायश्चित्त नहीं होता।

(४) द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से अपराध को छिपाना या दूसरा रूप देना परिकुञ्चना है। इसका जो प्रायश्चित्त है, वह परिकुञ्चनाप्रायश्चित्त कहलाता है।

६. 'आलोचना के लाभ' शीर्षक पृष्ठ ३९९-४०० के सन्दर्भ में स्थानांग सूत्र का यह वर्णन भी काफी महत्त्व रखता है, जो विशेष मननीय है।

स्थानांग ८।५९७ में कहा है कि जो व्यक्ति अपने दोषों की आलोचना कर लेता है, वह मरकर विशालसमृद्धि, लम्बी आयु तथा उच्चजाति का देवता बनता है (किल्विषिक, आभियोगिक, कान्दर्पिक आदि नहीं बनता) वह वहां दिव्य वस्त्र, दिव्य आभूषण, दिव्य तेज आदि से दशों दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ विविध नाटक, गीत, वादित्रों के साथ दिव्य भोगों का अनुभव करता है। वह देवताओं में विशेष सम्माननीय होता है तथा जब देव-सभा में भाषण देने लगता है तब चार-पांच देवता खड़े होकर कहते हैं—हे देवानुप्रिय ! और कहिये-और कहिये ! आपका भाषण बहुत प्रिय लगता है।

इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने दोषों की आलोचना किये बिना मरता है, वह नरकादि दुर्गतियों में जाता है। पहले कुछ त्याग तपस्या की हुई होने के कारण कदाचित् व्यन्तर-किल्विषिक आदि देव बन जाता है तो उसकी आयु, ऋद्धि, तेज आदि अल्प होते हैं, उसे उच्चआसन एवं सम्मान नहीं मिलता। जब वह बोलने के लिए खड़ा होता है तो चार या पांच देवता उसे रोकते हुए कहते हैं—बस, रहने दीजिए ! अधिक मत बोलिये !

स्वर्ग से च्यवकर यदि वह मनुष्य लोक में आता है तो अन्त प्रान्त तुच्छ दरिद्र या भिक्षुकादि कुलों में उत्पन्न होता है एवं अमनोज्ञ वर्ण-गन्धरस-स्पर्श वाला तथा हीन दीन स्वर वाला होता है।

७ इसी प्रकरण में **छेदार्ह प्रायश्चित्त** के अन्तर्गत पृष्ठ ४१७ के सन्दर्भ में यह विशेष वर्णन और भी ज्ञातव्य है—

छेद या तप रूप मासिक प्रायश्चित्त के दो भेद हैं[1]—**उद्घातिक** और **अनुद्घातिक**। उद्घातिक-मासिकप्रायश्चित्त दो प्रकार का है—भिन्नमासिक एवं लघुमासिक। भिन्नमासिक के जघन्य रूप में एक दिन निर्विकृति अर्थात् विगय का त्याग करना पड़ता है तथा उत्कृष्ट रूप में २५ दिन का तप या छेद स्वीकार करना पड़ता है। लघु मासिक में जघन्य पुरिमड्ढ़ करना (आधे दिन तक भूखा रहना) पड़ता है एवं उत्कृष्ट २७ दिन का तप या छेद होता है।

अनुद्घातिक का अर्थ गुरुमासिक है—इसमें जघन्य एकासन (दिन में एक ही बार खाकर रहना) और उत्कृष्ट ३० दिन का तप या छेद होता है।

चातुर्मासिक एवं षाण्मासिक प्रायश्चित्त भी दो प्रकार के हैं—उद्घातिक एवं अनुद्घातिक अर्थात् लघु एवं गुरु। लघुचातुर्मासिक में जघन्य आयंम्बिल एवं उत्कृष्ट १०५ दिन का तप या छेद होता है तथा गुरुचातुर्मासिक में जघन्य एक उपवास व उत्कृष्ट १२० दिन का तप या छेद होता है।

लघुपाण्मासिक में जघन्य वेला एवं उत्कृष्ट १६५ दिन का तप या छेद होता है। गुरुषाण्मासिक में जघन्य तेला एवं उत्कृष्ट १८० दिन का तप या छेद होता है।

मासिकादि प्रायश्चित्तों की जघन्यता एवं उत्कृष्टता दोषों की मन्दता-तीव्रता तथा दोषी की परिस्थिति के अनुसार होती है। किसको किस प्रकार का प्रायश्चित्त देना—यह निष्पक्ष-प्रायश्चित्तदाता के विचारों पर निर्भर है।

किन-किन दोषों का सेवन करने से मासिक-चातुर्मासिक एवं पाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है, यह वर्णन निशीथ, वृहत्कल्प एवं व्यवहार सूत्र से जानने योग्य है।

●

८. **पृष्ठ ४२३ पर विनय के तीन** अर्थ किये गए हैं। वहां इतना और भी समझना चाहिए कि विनय के वाचक तीन शब्द काफी प्रचलित हैं—

---

१ यह विधि निशीथ सूत्र के हस्तलिखित टब्बों के आधार पर दी गई है। देखें मोक्ष प्रकाश २५३

१ **भक्ति** – हाथ जोड़ना, सिर झुकाना आदि बाह्य व्यवहार में नम्रता प्रदर्शित करना।

२ **बहुमान** – गुरुजनों के प्रति हृदय में श्रद्धा एवं प्रीति रखना। तथा उनका आदर करना।

३ **वर्णवाद**—गुणों की प्रशंसा करना, उन्हें ग्रहण करने का प्रयत्न करना। ये तीनों शब्द विनय के अर्थ में प्रचलित है।

९. अप्रशस्त मन विनय के अन्तर्गत **पृष्ठ ४३५ पर** सात भेद बताये गए हैं। इन्हीं भेदों में परिवर्धन कर औपपातिक सूत्र में **बारह भेद कर** दिये गए हैं, जो इस प्रकार हैं—

अप्रशस्तमनोविनय—अप्रशस्तमन अर्थात् खराब मन। यह बारह प्रकार का होता है—

(१) **सावद्य**—गर्हित (निन्दित) कार्य से युक्त, अथवा हिंसादि कार्य से युक्त मन की प्रवृत्ति।

(२) **सक्रिय**—कायिकी आदि क्रियाओं से युक्त मन की प्रवृत्ति।

(३) **सकर्कश**—कर्कश (कठोर) भावों से युक्त मन की प्रवृत्ति।

(४) **कटुक** – अपनी आत्मा के लिये और दूसरे प्राणियों के लिए अनिष्टकारी मन की प्रवृत्ति।

(५) **निष्ठुर** – मृदुता (कोमलता)—रहित मन की प्रवृत्ति।

(६) **परुष**—कठोर अर्थात् स्नेहरहित मन की प्रवृत्ति।

(७) **आस्रवकारी**—जिससे अशुभ कर्मों का आगमन हो, ऐसी मन की प्रवृत्ति।

(८) **छेदकारी**—अमुक पुरुष के हाथ-पैर आदि अवयव काट दिये जाएँ इत्यादि मन की प्रवृत्ति।

(९) **भेदकारी**—अमुक पुरुष के नाक-कान आदि का भेदन कर दिया जाएँ, ऐसी मन की प्रवृत्ति।

(१०) **परितापनाकारी**—प्राणियों को संतापित किया जाए इत्यादि मन की प्रवृत्ति ।

(११) **उपद्रवकारी**—अमुक पुरुष को ऐसी वेदना हो कि उसके प्राण छूट जायें या अमुक पुरुष के धन को चोर चुरा ले जाएँ, इस प्रकार मन में चिन्तन करना ।

(१२) **भूतोपघातकारी**—जीवों का विनाश करने वाली मन की प्रवृत्ति ।

१०. वैयावृत्य तप के प्रकरण में पांचवा भेद है ग्लान (रोगी) की सेवा करना । ग्लान वैयावृत्य के सम्बन्ध में प्रवचन सारोद्धार द्वार ७१ गाथा २६ में काफी विस्तार से वर्णन मिलता है । ग्लान प्रतिचारी (रोगी की सेवा करने वाले) के बारह भेद बताये हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) उद्वर्तनप्रतिचारी—ये ग्लान मुनि को पासा बदलाना, उठाना, बैठाना, बाहर ले जाना, भीतर लाना, उनकी पडिलेहणा करना इत्यादि रूप सेवा करते हैं ।

(२) द्वारप्रतिचारी—ये ग्लान मुनि के पास अधिक भीड़ न हो जाये, इसलिए कमरे के द्वार पर बैठे रहते हैं ।

(३) संस्तारप्रतिचारी—ये ग्लान मुनि के लिये साताकारी शय्यासंथारे की व्यवस्था करते हैं ।

(४) कथकप्रतिचारी—ये ग्लानमुनि को धर्मोपदेश सुनाते हैं एवं धैर्य बंधवाते हैं ।

(५) वादिप्रतिचारी—ये विशेष चर्चावादी होते हैं एवं प्रसंग आने पर ग्लान मुनि के पास उत्पन्न विवाद को शान्त करते हैं ।

(६) अग्रद्वारप्रतिचारी—ये उपाश्रय के मुख्य द्वार पर बैठते हैं ताकि कोई प्रत्यनीक ग्लानमुनि के पास आकर क्लेश आदि न कर सके ।

(७) भक्तप्रतिचारी—
(८) पानप्रतिचारी—
} ये ग्लानमुनि के लिए आहार-पानी की व्यवस्था करते हैं ।

(९) पुरीषप्रतिचारी—
(१०) प्रस्रवणप्रतिचारी—
} ये ग्लान मुनि के मल-मूत्र परठने का काम करते हैं ।

(११) बहि:कथकप्रतिचारी—ये ग्लानमुनि के पास धर्म प्रभावना के लिए बाहर के लोगों को कथा सुनाते हैं।

(१२) दिशासमर्थप्रतिचारी—ये ग्लानमुनि के पास छोटे बड़े आकस्मिक उपद्रवों को शान्त करने का काम करते हैं (प्रत्येक कार्य पर ४-४ साधु नियुक्त होते हैं, अतः उत्कृष्ट स्थिति में ग्लानप्रतिचारियों की संख्या ४८ हो जाती है)।

११. पृष्ठ ४६१ पर स्वाध्याय के दूसरे भेद **पृच्छना** का वर्णन किया गया है। उत्तराध्ययन २९।२० में बताया है पृच्छना करने वाला अपनी शंकाओं को दूर कर ज्ञान को निर्मल बनाता है तथा कांक्षामोहनीय कर्म को खपाता है। पृच्छा- प्रश्न अनेक प्रकार के होते हैं। इस संदर्भ में स्थानांग ६।५३४ में प्रश्न छह प्रकार के बताए हैं जो विशेष ज्ञातव्य हैं—

प्रश्न छः प्रकार के माने गये हैं - (१) संशयप्रश्न, (२) व्युद्ग्रहप्रश्न, (३) अनुयोगीप्रश्न (४) अनुलोमप्रश्न (५) तथाज्ञानप्रश्न, (६) अतथाज्ञान प्रश्न।

(१) अर्थ विशेष में संदेह होने पर गुरु आदि से जो पूछा जाता है, वह संशय-प्रश्न है। संसार के सभी व्यक्ति संशय के पात्र हैं, केवल दो ही जीव ऐसे होते हैं, जिनके मन में शंका नहीं होती। उनमें एक तो सर्वज्ञ भगवान है, और दूसरे अभव्य जीव।

संदेह होने पर अनेक देवों, मुनि-महर्षियों एव गृहस्थों ने भगवान् महावीर के पास जो जिज्ञासारूप प्रश्न पूछे थे, वे सब संशय प्रश्न समझने चाहिए। शंका का समाधान करने के लिए प्रश्न अवश्य पूछना चाहिए लेकिन उसके साथ द्रव्य-क्षेत्र काल भाव का ध्यान रखना परम आवश्यक है।

(२) दुराग्रह अथवा परपक्ष को दूषित करने के लिये जो प्रश्न किया जाता है, वह व्युदग्रहप्रश्न है। उसमें प्रश्नकर्ता की भावना प्रतिपक्षी को नीचा दिखाने की रहती है।

(३) तत्त्व विशेष का प्ररूपण करने के लिये व्याख्यानकर्ता एवं ग्रन्थकर्ता अपने आप प्रश्न उठाता है एवं फिर उसका समाधान करता है। इस प्रकार का प्रश्न अनुयोगी प्रश्न है। जैसे—आगम में "**कई किरियाओ पन्नत्ताओ**" यों प्रश्न उठाकर पांच क्रियाओं का स्वरूप समझाया गया है।

(४) सामनेवाले को अनुकूल करने के लिये—"आप कुशल तो हैं"—इत्यादि शिष्टाचार रूप जो प्रश्न पूछा जाता है, वह अनुलोम प्रश्न है।

(५) प्रश्न का उत्तर जानते हुए भी गौतमआदिवत् जो प्रश्न पूछा जाता है, वह तथाज्ञानप्रश्न है। केशीस्वामी द्वारा किये गये प्रश्न भी इसी कोटि के हैं।

(६) प्रश्न का उत्तर न जानते हुए अज्ञानी व्यक्ति द्वारा यत्किंचित् प्रश्न किया जाता है वह अतथाज्ञानप्रश्न है।

●

१३. पृष्ठ ४६६ पर **धर्म कथा के चार** भेद बताये गये हैं। इन चारों के चार-चार अन्तर्भेद करके कुल १६ भेद भी किये गये हैं। इनका विस्तृत वर्णन **स्थानांग** ४।२।२८२ की **टीका** तथा **दशवैकालिक** अ० ३ की **निर्युक्ति गाथा** १९७-९८ की टीका में प्राप्त होता है। वह वर्णन विशेष ज्ञातव्य होने से यहाँ दिया जा रहा है—

१. **आक्षेपणीधर्मकथा**—श्रोताओं को मोह से हटाकर धर्मतत्व की ओर आकर्षित करने वाली कथा आक्षेपणी कहलाती है। यह चार प्रकार की होती है—१. आचारआक्षेपणी, २. व्यवहारआक्षेपणी ३. प्रज्ञप्ति आक्षेपणी, (४) दृष्टिवाद आक्षेपणी

(क) केश-लोच-अस्नान आदि साधुआचार के द्वारा अथवा दशवैकालिक-आचारांग आदि आचार-प्रदर्शक सूत्रों के व्याख्यान द्वारा श्रोताओं को तत्त्व के प्रति आकर्षित करने वाली कथा आचार-आक्षेपणी है।

(ख) किसी तरह का दोष लगाने पर उसकी शुद्धि के लिये आलोचना आदि प्रायश्चित्तों अथवा व्यवहार वृहत्कल्प आदि सूत्रों के व्याख्यान द्वारा

श्रोताओं को आत्मशुद्धि की तरफ आकर्षित करने वाली कथा व्यवहार आक्षेपणी है।

(ग) श्रोताओं की शंकाओं का समाधान करने वाली, उनकी श्रद्धा को दृढ़ बनाने वाली अथवा प्रज्ञप्ति (भगवती) आदि सूत्रों के व्याख्यान द्वारा तत्व के प्रति झुकाने वाली कथा प्रज्ञप्ति आक्षेपणी है।

(घ) नय-निक्षेप आदि से जीवादि-सूक्ष्म तत्त्वों को समझाने वाली अथवा श्रोताओं की दृष्टि को विशुद्ध करने वाली अथवा दृष्टिवादविषयक व्याख्यान द्वारा तत्त्व के प्रति आकर्षित करने वाली कथा दृष्टिवाद आक्षेपणी है।

२ **विक्षेपणीधर्मकथा**—श्रोता को कुमार्ग से हटाकर सुमार्ग पर लाने वाली धर्मकथा विक्षेपणी कहलाती है। इसमें कुश्रद्धा को हटा कर सुश्रद्धा स्थापित करने की दृष्टि रहती है। इसके चार भेद हैं :—

(क) स्व-सिद्धान्त के गुणों का प्रकाश करके पर-सिद्धान्तों के दोषों का दर्शन कराना प्रथमविक्षेपणीकथा है।

(ख) पर-सिद्धान्त का कथन करते हुए स्वसिद्धान्त की स्थापना करना द्वितीयविक्षेपणीकथा है।

(ग) पर-सिद्धान्त में घुणाक्षर—न्याय से जितनी बातें जिनागम सदृश हैं उन्हें कहकर जिनागम विपरीत वाद के दोष दिखाना अथवा आस्तिकवादी का अभिप्राय बताकर नास्तिकवाद का निराकरण करना तृतीयविक्षेपणीकथा है।

(घ) पर-सिद्धान्त में कही हुई मिथ्या बातों का वर्णन करके स्वसिद्धान्त द्वारा उनका निराकरण करना अथवा नास्तिकवादी की दृष्टि का वर्णन करके आस्तिकवाद की स्थापना करना चतुर्थविक्षेपणीकथा है।

सर्वप्रथम आक्षेपणीकथा कहनी चाहिये, इससे श्रोताओं को यदि सम्यक्त्व का लाभ हो जावे तो फिर उनके सामने विक्षेपणी कथा का प्रयोग करना चाहिये। इस कथा से सम्यक्त्वलाभ हो या, नहीं भी हो। अनुकूल रीति से ग्रहण करने पर शिष्य को सम्यक्त्व दृढ़ भी हो सकती है लेकिन शिष्य

को यदि मिथ्याभिनिवेश हो तो वह पर सिद्धान्त के दोषों को न समझकर गुरु को पर-सिद्धान्त का निन्दक भी समझ सकता है।

३ **संवेगनीधर्मकथा**—जिसके द्वारा विपाक की विरसता बताकर श्रोता-जन में वैराग्य उत्पन्न किया जाये, वह संवेगनी धर्म कथा है। इसको संवेजनी तथा संवेदनी भी कहते हैं। इसके चार भेद हैं ?

(१) इहलोकसंवेगनी, (२) परलोकसंवेगनी (३) स्वशरीरसंवेगनी, (४) परशरीरसंवेगनी।

(क) मनुष्य शरीर एवं भोगों की असारता तथा अस्थिरता बताकर वैराग्य पैदा करना इहलोकसंवेगनीकथा है।

(ख) देव भी पारस्परिक ईर्ष्या, भय और वियोग तथा तृष्णा आदि के दुःखों से दुःखी हैं। उन्हें भी मरकर मनुष्य तिर्यञ्च रूप दुर्गति में जाने की एवं गर्भ तथा जन्म सम्बन्धी घोर कष्ट उठाने की चिन्ता लगी रहती है—इस प्रकार परलोक का स्वरूप बताकर वैराग्य उत्पन्न करना परलोकसंवेगनीकथा है।

(ग) यह शरीर स्वयं अशुचिरूप है, अशुचि (रजवीर्य) से उत्पन्न हुआ है और अशुचि का कारण है—इस प्रकार मानव शरीर के स्वरूप को बताकर वैराग्य उत्पन्न करना स्वशरीरसंवेगनीकथा है।

(घ) किसी मृत शरीर (मुर्दा) के स्वरूप को समझ कर वैराग्य उत्पन्न करना परशरीरसंवेगनीकथा है।

४. **निर्वेदनीधर्मकथा**—इहलोक-परलोक में प्राप्त होने वाले पुण्य-पाप के शुभाशुभ फलों को समझाकर संसार में उदासीनता पैदा करना निर्वेदनी धर्मकथा है। इसके चार भेद हैं ?

(क) इस भव में किये गये चोरी-जारी आदि दुष्कर्म एवं दानादि सत्कर्म यहीं फल जाते हैं। जैसे—चोरी-जारी से बदनामी तथा अशान्ति मिलती है और तीर्थंकरादि महामुनियों को दान देने से मन की प्रसन्नता एवं स्वर्णादि द्रव्य प्राप्त होते हैं। तपस्या से अनेक प्रकार की लब्धियां मिलती हैं। इस प्रकार का वर्णन करने वाली कथा प्रथमनिर्वेदनीकथा है।

(ख) यहां किए हुए दुष्कर्मों का फल नरकादि दुर्गति में तथा सत्कर्मों का फल स्वर्गादि सद्गति में मिलने का वर्णन करना द्वितीय निर्वेदनी कथा है।

(ग) पूर्व भव में किये हुये पापों के उदय से यहां दुःख, दौर्भाग्य, रोग और शोक मिलते हैं तथा पुण्यों के उदय से सुख-सौभाग्य-आरोग्य और आनन्दादि मिलते हैं। इस प्रकार का वर्णन करना तृतीयनिर्वेदनी-कथा है।

(घ) पूर्व भव में किये हुये शुभ-अशुभ कर्मों का आगामीभव में फल मिलने रूप वर्णन सुनाना। जैसे—पूर्व भव में किसी जीव ने नरक योग्य कुछ कर्म करके बीच में काक-गीध एवं तन्दुलमच्छ आदि का जन्म ले लिया एवं बँधे हुए अधूरे नरक योग्य कर्मों को पूर्ण करके नरक में उत्पन्न हो गया एवं पिछले तीसरे भव में बांधे हुये अधूरे अशुभ कर्मों को भोगने लगा। इसी प्रकार तीर्थंकरनाम कर्म बांधने के बाद भी जीव तीसरे भव में तीर्थंकर होकर भोगता है। जिस कथा में इस प्रकार का वर्णन हो, वह चतुर्थनिर्वेदनीकथा है।

०

१४. पृष्ठ ४७० पर ध्यान का स्वरूप बताया गया है। उसी संदर्भ में ध्यान के आठ अंगों का स्वरूप भी समझने जैसा है। वहां विस्तारभय से नहीं दिया गया है जो यहाँ पर दिया जा रहा है—

ध्यान के आठ अंग—

(१) ध्याता, (२) ध्यान, (३) फल, (४) ध्येय, (५) ध्यान का स्वामी, (६) ध्यान के योग्य क्षेत्र, (७) ध्यान के योग्य समय, (८) ध्यान के योग्य अवस्था।

(१) ध्याता—वह व्यक्ति ध्यान के योग्य माना गया है, जो जितेन्द्रिय है, धीर है, जिसके क्रोधादि कषाय शान्त हैं, जिसकी आत्मा स्थिर है, जो सुखासन में स्थित है एवं नाशा के अग्र भाग पर नेत्र टिकाने वाला है।

(२) ध्यान—अपने इष्ट विषय (ध्येय में लीन हो जाना अर्थात आज्ञाविचयादि रूप से स्वयं परिणित हो जाना—रम जाना ध्यान है।

आसक्ति का त्याग, कषायों का निग्रह, व्रत धारण तथा मन एवं इन्द्रियों को जीतना—ये सब कार्य ध्यान की सामग्री है।

(३) फल—ध्यान का फल संवर-निर्जरा है। अर्थात् आते हुये नये कर्मों को रोकना एवं पुराने कर्मों को तोड़ना है। भौतिक सुख सुविधाओं की प्राप्ति के लिये ध्यान करना निषिद्ध है।

(४) ध्येय—जिस इष्ट का अवलम्बन लेकर ध्यान-चिन्तन किया जाता है, उसे ध्येय कहते हैं। ध्येय के चार प्रकार है—(१) पिण्डस्थ, (२) पदस्थ, (३) रूपस्थ, (४) रूपातीत।

(५) ध्यान का स्वामी—(१) वैराग्य, (२) तत्त्व ज्ञान, (३) निर्ग्रन्थता, (४) समचित्तता, (५) परिग्रह जय—ये पाँच ध्यान के हेतु हैं। इनसे सम्पन्न व्यक्ति ध्यान का स्वामी (अधिकारी) कहलाता है।

(६) ध्यान का क्षेत्र—जहां ध्यान में विघ्न करने वाले उपद्रवों एवं विकारों की सम्भावना न हो—ऐसा क्षेत्र ध्यान के योग्य माना जाता है।

(७) ध्यान के योग्य काल—यद्यपि जब भी मन स्थिर हो उसी समय ध्यान किया जा सकता है, फिर भी अनुभवियों ने प्रातः काल को सर्वोत्तम माना है।

(८) ध्यान के योग्य अवस्था—शरीर की स्वस्थता एवं मन की शान्त अवस्था ध्यान के लिये उपयुक्त कहलाती है। तभी तक ध्यान स्थिर रहता है, जब तक शरीर या मन में खिन्नता न हो—इसलिये कहा है कि जाप से श्रान्त होने पर ध्यान एवं ध्यान से श्रान्त होने पर जाप में लग जाना चाहिये तथा दोनों में मन न लगे तो स्तोत्र पढ़ना शुरु कर देना चाहिये।

●●

प्रस्तुत पुस्तक प्रकाशन में विशिष्ट सहयोगी

शाह-वच्छराज जी सुराना

आप सोजत (मारवाड) के निवासी हैं। शाह-जयवंतराजजी हीराचंदजी सुराना सिंघियों की पालवालों के सुपुत्र स्वर्गीय बच्छराजजी सुराना, शांत स्वभावी, मिलनसार एवं सेवाभावी भद्रपुरुष थे। आपके भरे पूरे परिवार मे विद्यमान जोधराजजी-संपतराजजी, मदनलाल जी, शुभराजजी, डूंगरचन्दजी आदि ५ पुत्र एवं दो पुत्रिया है—आपका व्यापार—सेलम (मद्रास) में है। सारे भाई उदारमना एवं गुरुदेव के अनन्य भक्त है।
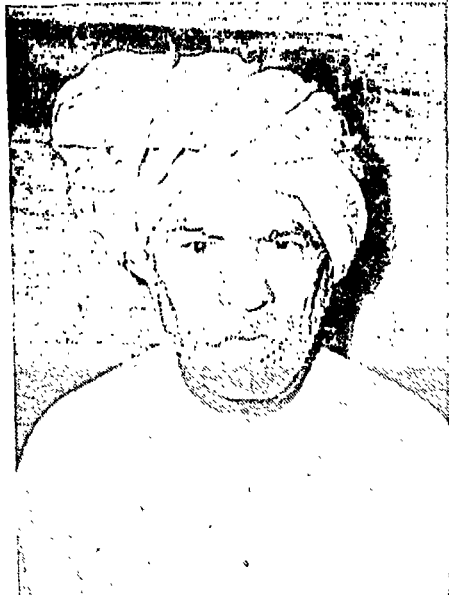
श्री बलवन्तराजजी खाटेड

आप बगड़ी निवासी दिलेर, उत्साही और क्रान्तिकारी विचारों के नवयुवक हैं। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती सज्जनकुंवर बाई भी बड़ी धर्मपरायणा एवं विवेकशील हैं। श्री खाटेडजी का व्यवसाय मद्रास में है। बगड़ी के हाईस्कूल तथा छात्रावास के लिए आपकी सहायता प्रशंसनीय रही है। आप भी गुरुदेव के परम भक्त हैं।
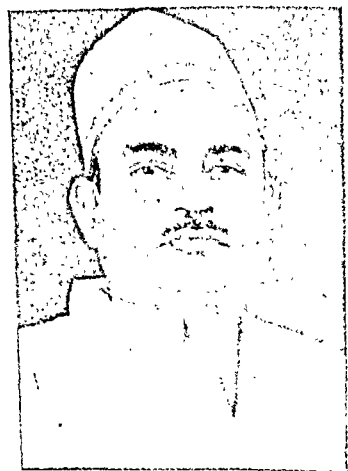
श्रीमान रेखचंदजी रांका

आप बगड़ीनिवासी रांका परिवार के तेजस्वी नक्षत्र हैं। वोरीदास छगनमल फर्म के मालिक हैं। सादगी, सभ्यता, विनम्रता एवं सेवा परायणता आपकी चिरसंगिनी है। मुस्काता चेहरा, मिलनसार स्वभाव और अतिथिसत्कार में अग्रणी श्री रेखचंदजी बड़े ही शांत, गंभीर एवं गुरुभक्त सज्जन पुरुष हैं। समाज सेवा के कार्यों में आपने खुले दिल से लक्ष्मी का सदुपयोग किया है। आप बगड़ी व. स्था. जैन श्रावक संघ के मन्त्री एवं समाज में सम्माननीय व्यक्ति हैं। मद्रास (चिताधरी पेठ) में डी. आर. रांका ब्रदर्स नाम से आपकी सुप्रसिद्ध फर्म है।

श्रीमान् किशनलालजी बोहरा

आपकी जन्मभूमि अटपडा है। आपके पिताजी अनोपचंदजी बहुत ही धार्मिक प्रवृत्ति एवं उदारमना सज्जन प्रकृति के प्रामाणिक श्रावक थे। गुरुदेव के प्रति अनन्य भक्ति रखते थे। आपके सुपुत्र श्री किशनलालजी भी अपने पिताजी के आज्ञाकारी पुत्र हैं। अपने पिताजी की यादगार में आप द्रव्य का अच्छे कार्यों में उदारतापूर्वक उपयोग कर रहे हैं।

फोटू अप्राप्त

श्रीमान् छगनराज जी केवलचंदजी कोठारी

(मद्रास)

श्री केवलचंदजी बड़े उत्साही उदारमना एवं सेवाभावी पूज्य गुरुदेव के परम भक्त हैं। आप निम्बोल के मूल निवासी हैं तथा अभी तिरवन्नामलै (मद्रास) में आपका व्यापार चल रहा है।

फोटू प्राप्त नहीं

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति

(प्रवचन प्रकाशन विभाग)

सदस्यों की शुभ नामावली

प्रथम श्रेणी

१ बी. सी. ओसवाल, जवाहर रोड रत्नागिरी (सिरीयारी)
२ शा० इन्दरसिंह जी मुनोत, जालोरी गेट, जोधपुर
३ शा० लादूराम जी छाजेड़, ब्यावर, (राजस्थान)
४ शा० चम्पालाल जी डुंगरवाल, नागरथपेठ बेंगलोर सिटी (करमावास)
५ शा० कामदार प्रेमराज जी, जुमा मस्जिद रोड, बेंगलोर सिटी (चावंडिया)
६ शा० चांदमल जी मानमल जी पोकरना, पेरम्पर मद्रास ११ (चावंड़िया)
७ जे. वस्तीमल जी जैन, जैनगर बेंगलोर ११ (पुजलू)
८ शा० पुखराज जी सीसोदीया, ब्यावर
९ शा० बालचंद जी रूपचंद जी बाफना,
   ११८/१२० जवेरीबाजार बम्बई-२ (सादड़ी)
१० शा० बालावगस जी चम्पालाल जी बोहरा, राणीवाल
११ शा० केवलचंद जी सोहनराज बोहरा, राणीवाल
१२ शा० अमोलकचंदजी धर्मीचंदजी आछा, बड़ी कांनचीपुर, मद्रास (सोजतरोड़)
१३ शा० भुरमल जी मीठालाल जी बाफना, तिरकोयलूर मद्रास (आगेवा)

१४ शा० पारसमल जी कावेडिया, आरकाट मद्रास (सादड़ी)

१५ शा० पुकराज जी अनराज जी कटारिया, आरकोनम् मद्रास (सेवाज)

१६ शा० सिमरतमल जी मानमल जी संखलेचा, मद्रास (बीजाजी का गुड़ा)

१७ शा० प्रेमसुख जी मोतीलाल जी नाहर, मद्रास (काप्पू)

१८ शा० गूदड़मल जी शांतिलाल जी तालेरा, एनावरम, मद्रास

१९ शा० चम्पालाल जी नेमीचंद जी, जबलपुर (जैतारण)

२० शा० रतनलाल जी पारसमल जी चतर, ब्यावर

२१ शा० सम्पतराज जी कन्हैयालाल जी मूथा, कूपल (मारवाड़-मादलिया)

२२ शा० हीराचन्द जी लालचन्द जी धोका, नक्साबाजार, मद्रास

२३ शा० नेमीचन्द जी धर्मीचन्द जी आच्छा, चंगलपेट, मद्रास

२४ शा० एच० घीसुलाल जी पोकरना एन्ड सन्स आरकाट—N.A.D.T. (बगड़ी नगर)

२५ शा० गीसुलाल जी पारसमल जी सिंघवी, चांगलपेट मद्रास

२६ शा० अमोलकचन्द जी भंवरलाल जी विनायकिया, नक्शा बाजार, मद्रास

२७ शा० पी० बींजराज नेमीचंद धारीवाल, तीरुवेलूर

२८ शा० रूपचंद जी माणकचंद जी बोरा, बुशी

२९ शा० जेठमल जी राणमल जी सर्राफ, बुशी

द्वितीय श्रेणी

१ श्री लालचंद जी श्रीश्रीमाल, ब्यावर

२ श्री सूरजमल जी इन्दरचंद जी संकलेचा, जोधपुर

३ श्री मुन्नालाल जी प्रकाशचंद जी नम्बरिया चौधरी चौक, कटक

४ श्री घेवरचंद जी रातड़िया, रावर्टसनपैठ

५ श्री बगतावरमल जी अचलचंद जी खीवसरा ताम्बरम, मद्रास

६ श्री छोतमल जी सायबचंद जी खीवसरा, बोपारी

७ श्री गणेशमल जी मदनलाल जी भंडारी, नीमली

८ श्री माणकचंद जी गुलेछा, ब्यावर

९ श्री पुखराज जी बोहरा, राणीवाल वाला हालमुकाम पीपलिया कलाँ
१० श्री धर्मीचंद जी बोहरा जुठावाला, हा० मु० पीपलिया कलाँ
११ श्री नथमल जी मोहनलाल जी लूणिया, चन्डावल
१२ श्री पारसमल जी शान्तीलाल जी ललवाणी, बिलाड़ा
१३ श्री जुगराज जी मुणोत, मारवाड़ जंक्शन
१४ श्री रतनचन्द जी शान्तीलाल जी मेहता—सादड़ी (मारवाड़)
१५ श्री मोहनलाल जी पारसमल जी भंडारी, बिलाड़ा
१६ श्री चम्पालाल जी नेमीचन्द जी कटारिया, बिलाड़ा
१७ श्री गुलाबचन्द जी गंभीरमल जी मेहता—गोलवड
[तालुका डेणु—जि० थाणा (महाराष्ट्र)]
१८ श्री भंवरलाल जी गौतमचंद जी पगारिया, कुशालपुरा
१९ श्री चनणमल जी भीकमचन्द जी रांका, कुशालपुरा
२० श्री मोहनलाल जी भंवरलाल जी बोहरा, कुशालपुरा
२१ श्री संतोकचन्द जी जवरीलाल जी जामड़
१४६ बाजार रोड, मदरानगतम
२२ श्री कन्हैयालाल जी गादिया, आरकोनम्
२३ श्री धरमीचन्द जी ज्ञानचन्द जी मूथा, बगडीनगर
२४ श्री मिश्रीमल जी नगराज जी गोठी—बिलाड़ा
२५ श्री दुलराज जी इन्दरचन्द जी कोठारी
११४, तैयप्पा मुदलीस्ट्रीट, मद्रास-१
२६ श्री गुमानमल जी मांगीलाल जी चौरडिया चिन्ताधरी पैठ—मद्रास-१
२७ श्री सायरचन्द जी चौरडिया, ६० एलीफेन्ट गेट मद्रास-१
२८ श्री जीवराज जी जबरचन्द जी चौरडिया—मेड़ता सिटी
२९ श्री हजारीमल जी निहालचन्द जी गादिया १६२ कोयमतूर—१
३० श्री केसरीमल जी झूमरलाल भी तालेसरा—पाली

३८ श्री मिश्रीमल जी साहिबचन्द जी गांधी, केसरसिंह जी का गुड़ा

३९ श्री अनराजजी बादलचन्दजी कोठारी, खवासपुरा

४० श्री चम्पालालजी अमरचन्दजी कोठारी, खवासपुरा

४१ श्री पुखराजजी दीपचन्दजी कोठारी, खबासपुरा

४२ शा. सालमसींग जी ढाबरिया, गुलाबपुरा

४३ शा. मिट्ठालाल जी कातरेला, बगड़ीनगर

४४ शा. पारसमल जी लक्षमीचन्द जी कांठेड, ब्यावर

४५ शा. धनराज जी महावीरचंद जी खींवसरा, वेंगलूर

४६ शा. गजराज जी भंडारी, एड्वोकेट, पाली

४७ शा. धनराज जी महावीरचंद जी खींवसरा, बैंगलोर ३०

४८ शा. गजराज जी भंडारी, बाली

४९ शा. पी० एम० चौरड़िया, मद्रास

५० शा. अमरचंद जी नेमीचंद जी पारसमल जी नागौरी, मद्रास

९ श्री पुखराज जी बोहरा, राणीवाल वाला हालमुकाम पीपलिया कलाँ
१० श्री धर्मीचंद जी बोहरा जुठावाला, हा० मु० पीपलिया कलाँ
११ श्री नथमल जी मोहनलाल जी लूणिया, चन्डावल
१२ श्री पारसमल जी शान्तीलाल जी ललवाणी, बिलाड़ा
१३ श्री जुगराज जी मुणोत, मारवाड़ जंक्शन
१४ श्री रतनचन्द जी शान्तीलाल जी मेहता—सादड़ी (मारवाड़)
१५ श्री मोहनलाल जी पारसमल जी भंडारी, बिलाड़ा
१६ श्री चम्पालाल जी नेमीचन्द जी कटारिया, बिलाड़ा
१७ श्री गुलाबचन्द जी गंभीरमल जी मेहता—गोलवड
[तालुका डेणु—जि० थाणा (महाराष्ट्र)]
१८ श्री भंवरलाल जी गौतमचंद जी पगारिया, कुशालपुरा
१९ श्री चनणमल जी भीकमचन्द जी रांका, कुशालपुरा
२० श्री मोहनलाल जी भंवरलाल जी बोहरा, कुशालपुरा
२१ श्री संतोकचन्द जी जवरीलाल जी जामड़
१४६ बाजार रोड, मदरानगतम
२२ श्री कन्हैयालाल जी गादिया, आरकोनम्
२३ श्री धरमीचन्द जी ज्ञानचन्द जी मूथा, बगडीनगर
२४ श्री मिश्रीमल जी नगराज जी गोठी—बिलाड़ा
२५ श्री दुलराज जी इन्दरचन्द जी कोठारी
११४, तैयप्पा मुदलीस्ट्रीट, मद्रास-१
२६ श्री गुमानमल जी मांगीलाल जी चौरडिया चिन्तावरी पैठ—मद्रास-१
२७ श्री सायरचन्द जी चौरडिया, ६० एलीफेन्ट गेट मद्रास-१
२८ श्री जीवराज जी जबरचन्द जी चौरडिया—मेड़ता सिटी
२९ श्री हजारीमल जी निहालचन्द जी गादिया १६२ कोयमतूर—१
३० श्री केसरीमल जी झूमरलाल भी तालेसरा—पाली

३८ श्री मिश्रीमल जी साहिबचन्द जी गांधी, केसरसिंह जी का गुड़ा
३९ श्री अनराजजी वादलचन्दजी कोठारी, खवासपुरा
४० श्री चम्पालालजी अमरचन्दजी कोठारी, खवासपुरा
४१ श्री पुखराजजी दीपचन्दजी कोठारी, खवासपुरा
४२ शा. सालमसींग जी ढावरिया, गुलाबपुरा
४३ शा. मिट्ठालाल जी कातरेला, बगड़ीनगर
४४ शा. पारसमल जी लक्षमीचन्द जी कांठेड, ब्यावर
४५ शा. धनराज जी महावीरचंद जी खींवसरा, बेंगलूर
४६ शा. गजराज जी भंडारी, एड्वोकेट, पाली
४७ शा. धनराज जी महावीरचंद जी खींवसरा, बैंगलोर ३०
४८ शा. गजराज जी भंडारी, वाली
४९ शा. पी० एम० चौरड़िया, मद्रास
५० शा. अमरचंद जी नेमीचंद जी पारसमल जी नागौरी, मद्रास

सन्माननीय नये सदस्य

[श्री मरुधरकेसरी जी म० सा० का साहित्य वर्तमान में अत्यन्त लोकप्रिय हो रहा है। जो सज्जन इसे पढ़ते हैं, वे हृदय से इसकी सराहना करते हैं तथा प्रवचन प्रकाशन समिति के सदस्य बनने में स्वयं उत्साह प्रदर्शित करते हैं।

प्रवचन प्रकाशन विभाग के सदस्यों की शुभ नामावली छपते समय कुछ सन्मान्य सदस्यों के नाम विलम्ब से प्राप्त हुए। इसलिए उन्हें यथाक्रम नहीं दे सके, एतदर्थ क्षमा चाहते हैं। उन सदस्यों के शुभ नाम यहां पढ़िए।]

प्रथम श्रेणी

३० शा० पारसमल जी सोहनलाल जी सुराणा, कुंभकोनम, मद्रास
३१ शा० हस्तीमल जी मुणोत, सिकंदराबाद (आन्ध्र)
३२ शा० चन्द्रभान जी रूपचंद जी बोरा, बाशरमेन पेठ, मद्रास
३३ शा० जेठमल जी राणमल जी सर्राफ एण्ड सन्स, जलगांव
३४ शा० देवराज जी मोहनलाल जी चोधरी, तीरुकोईलूर मद्रास
३५ शा० बच्छराज जी जोधराज जी सुराणा, सोजत सिटी
३६ शा० गेवरचंद जी जसराज जी गोलेछा, बंगलोर सिटी
३७ शा० डी० छगनलाल जी नौरतमल जी बंब, बैंगलोर सिटी
३८ शा० एम० मंगलचंद जी कटारीया, मद्रास

निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा !

आत्मा को कर्म मुक्त बनाने के लिए सतत तप करना चाहिए ।

●

तपो मूलमिदं सर्वं देव-मानुषकं सुखम् ।

देवता और मनुष्य सम्बन्धी सभी सुखों का मूल 'तप' है ।

●

सन्माननीय नये सदस्य

[श्री मरुधरकेसरी जी म० सा० का साहित्य वर्तमान में अत्यन्त लोकप्रिय हो रहा है। जो सज्जन इसे पढ़ते हैं, वे हृदय से इसकी सराहना करते हैं तथा प्रवचन प्रकाशन समिति के सदस्य बनने में स्वयं उत्साह प्रदर्शित करते हैं।

प्रवचन प्रकाशन विभाग के सदस्यों की शुभ नामावली छपते समय कुछ सम्मान्य सदस्यों के नाम विलम्ब से प्राप्त हुए। इसलिए उन्हें यथाक्रम नहीं दे सके, एतदर्थ क्षमा चाहते हैं। उन सदस्यों के शुभ नाम यहां पढ़िए।]

प्रथम श्रेणी

३० शा० पारसमल जी मोहनलाल जी सुराणा, कुंभकोनम, मद्रास
३१ शा० हस्तीमल जी मुणोत, सिकंदराबाद (आन्ध्र)
३२ शा० चन्द्रभान जी रूपचंद जी बोरा, वाशरमेन पेठ, मद्रास
३३ शा० जेठमल जी राणमल जी सर्राफ एण्ड सन्स, जलगांव
३४ शा० देवराज जी मोहनलाल जी चौधरी, [illegible] मद्रास
३५ शा० पुखराज जी जोधराज जी सुराणा, मैसूर सिटी
३६ शा० गेवरचंद जी अमराज जी गोलेछा, बंगलोर सिटी
३७ शा० डी० छगनलाल जी मोतीलाल जी बंब, बंगलोर सिटी
३८ शा० एम० मगनचंद जी कटारिया, मद्रास

निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा !

आत्मा को कर्म मुक्त बनाने के लिए सतत तप करना चाहिए।

तपो मूलमिदं सर्वं देव-मानुषकं सुखम् ।

देवता और मनुष्य सम्बन्धी सभी सुखों का मूल 'तप' है।

●